राजस्थान विश्वविद्यालय भारतीय दर्शन अध्ययन माला का सप्तदश पुष्प

महाभारतीय–गीतामहोदधिः

द्वितीयभागः

भगवद्–विदुर–जनक–सेनजिद् I–अश्म–स्वायंभुवमनु–भीष्मस्तवराज–मनु–उशनो–भार्गव–यज्ञ–नारायण–आङ्गिरस (बृहस्पति)–कैकेय–उतथ्य–वामदेव–ऋषभ–ब्रह्म–I–भीष्म–खड्ग–षड्ज–सेनजिद् II–पिङ्गला–शम्पाक–मङ्कि–बोध्य–आजगर–शृगाल–कर्मफल–भृगु–जापक–मनु–गीताः।

(महाभारत की 32 गीताएँ हिन्दी भाषानुवाद सहित)

राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

राजस्थान विश्वविद्यालय भारतीय दर्शन अध्ययन माला - 17

प्रधान सम्पादक : **डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा**
समन्वयक, उच्च अध्ययन केन्द्र, दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के उच्च अध्ययन केन्द्र के
अन्तर्गत दर्शन विभाग के द्वारा 2018 में प्रकाशित ग्रन्थ।

ISBN - 81-86027-27-6 (Set)
ISBN - 81-86027-28-4 (Vol. I)
ISBN - 81-86027-29-2 (Vol. II)
ISBN - 81-86027-30-0 (Vol. III)
ISBN - 81-86027-31-9 (Vol. IV)

मूल्य : **600/– रुपये (प्रति खण्ड)**
सम्पूर्ण सेट 2400/–

विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर द्वारा सङ्गणक टङ्कित
टेक्नोक्रेट प्रिन्टर्स प्रा. लि., जयपुर द्वारा मुद्रित।

University of Rajasthan Studies in Indian Philosophy -17

MAHĀBHĀRĀTĪYA-GĪTĀMAHODADHIḤ

Volume - II

(Bhagavad-Vidurā-Janaka-Senajid-I-Aśma-Svāyambhuvamanu-Bhīṣmastavarāja-Manu-Uśano-Bhāragava-Yajña-Nārāyaṇa-Āngirasa (Bṛhaspati)-Kaikeya-Utathya-Vāmadeva-Ṛṣabha-Brhma-Bhīṣma-Khaḍga-Ṣadja- Senajid-II-Pingalā-Śampāka-Manki-Bodhya-Ājagara-Śṛgāla-Karmafala-Bhṛgu-Jāpaka-Manu -Gītāḥ)

(32 Gītā's of Mahābhārata With Hindi Commentary)

Rajendra Prasad Sharma

Department of Philophy
University of Rajasthan
Jaipur

University of Rajasthan Studies in Indian Philosophy-17

General Editor : **Dr. Rajendra Prasad Sharma**
Co-ordinator, Centre of Advanced Study
Department of Philosophy,
University of Rajasthan, Jaipur

Published in 2018 by the Department of Philosophy, University of Rajasthan, Jaipur-302004 (Rajasthan) India with financial assistance from the UGC under its CAS budget.

ISBN - 81-86027-27-6 (Set)
ISBN - 81-86027-28-4 (Vol. I)
ISBN - 81-86027-29-2 (Vol. II)
ISBN - 81-86027-30-0 (Vol. III)
ISBN - 81-86027-31-9 (Vol. IV)

Price : Rs. 600/- (Per-Volume)
Rs. 2400/- (Full Set.)

Computer typed by : Vishal Computers, Jaipur
Printed by : Technocrat Printers Pvt. Ltd, Jaipur.

महाभारतीय–गीतामहोदधिः

द्वितीय भाग

अनुक्रमणिका

	महाभारतीय गीता–महोदधिः (मूल एवं अनुवाद)	1–1734
	महाभारतीय–गीतामहोदधिः प्रथमभागः	1–408
	महाभारतीय–गीतामहोदधि की भूमिका (द्वितीय भाग)	**1–34**
	अकारादिक्रमानुसार महाभारतीय गीताओं की सूची	**35–38**
	❊ महाभारतीय–गीतामहोदधिः ❊ द्वितीयभागः	**409–842**
	भगवद्गीता	**409–500**
1	दोनों सेनाओं के प्रधान–प्रधान वीरों एवं शङ्खध्वनि का वर्णन तथा स्वजनवध के पाप से भयभीत हुए अर्जुन का विषाद	409
2	अर्जुन को युद्ध के लिए उत्साहित करते हुए भगवान् के द्वारा नित्यानित्य वस्तु के विवेचनपूर्वक सांख्ययोग, कर्मयोग एवं स्थितप्रज्ञ की स्थिति और महिमा का प्रतिपादन	414
3	ज्ञानयोग और कर्मयोग आदि समस्त साधनों के अनुसार कर्तव्यकर्म करने की आवश्यकता का प्रतिपादन एवं स्वधर्मपालन की महिमा तथा कामनिरोध के उपाय का वर्णन	424
4	सगुण भगवान् के प्रभाव, निष्काम कर्मयोग तथा योगी महात्मा पुरुषों के आचरण और उनकी महिमा का वर्णन करते हुए विविध यज्ञों एवं ज्ञान की महिमा का वर्णन	429
5	सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तिसहित ध्यानयोग का वर्णन	435
6	निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन करते हुए आत्मोद्धार के लिए प्रेरणा तथा मनोनिग्रहपूर्वक ध्यानयोग एवं योगभ्रष्ट की गति का वर्णन	439
7	ज्ञान–विज्ञान, भगवान् की व्यापकता, अन्य देवताओं की उपासना एवं भगवान् को प्रभावसहित न जानने वालों की निन्दा और जानने वालों की महिमा का कथन	445

8	ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादि के विषय में अर्जुन के सात प्रश्न और उनका उत्तर, एवं भक्तियोग तथा शुक्ल और कृष्ण मार्गों का प्रतिपादन	449
9	ज्ञान, विज्ञान और जगत् की उत्पत्ति का, आसुरी और दैवी सम्पदावालों का, प्रभावसहित भगवान् के स्वरूप का, सकाम-निष्काम उपासना का एवं भगवद्-भक्ति की महिमा का वर्णन	453
10	भगवान् की विभूति और योगशक्ति का तथा प्रभावसहित भक्तियोग का कथन, अर्जुन के पूछने पर भगवान् द्वारा अपनी विभूतियों का और योग शक्ति का पुनः वर्णन	457
11	विश्वरूप का दर्शन कराने के लिए अर्जुन की प्रार्थना, भगवान् और संजय द्वारा विश्वरूप का वर्णन, अर्जुन द्वारा भगवान् के विश्वरूप का देखा जाना, भयभीत हुए अर्जुन द्वारा भगवान् की स्तुति-प्रार्थना, भगवान् द्वारा विश्वरूप और चतुर्भुजरूप के दर्शन की महिमा और केवल अनन्य भक्ति से ही भगवान् की प्राप्ति का कथन	463
12	साकार और निराकार के उपासकों की उत्तमता का निर्णय तथा भगवत्प्राप्ति के उपाय का एवं भगवत्प्राप्ति वाले पुरुषों के लक्षणों का वर्णन	471
13	ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-पुरुष का वर्णन	473
14	ज्ञान की महिमा और प्रकृति-पुरुष से जगत् की उत्पत्ति का, सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणों का, भगवत्प्राप्ति के उपाय का एवं गुणातीत पुरुष के लक्षणों का वर्णन	478
15	संसारवृक्ष का, भगवत्प्राप्ति के उपाय का, जीवात्मा का, प्रभाव सहित परमेश्वर के स्वरूप का एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम के तत्त्व का वर्णन	481
16	फलसहित दैवी और आसुरी सम्पदा का वर्णन तथा शास्त्रविपरीत आचरणों को त्यागने और शास्त्र के अनुकूल आचरण करने के लिए प्रेरणा	484

17	श्रद्धा का और शास्त्रविपरीत घोर तप करने वालों का वर्णन, आहार, यज्ञ, तप और दान के पृथक्-पृथक् भेद तथा ॐ, तत्, सत् के प्रयोग की व्याख्या	487
18	त्याग का, सांख्यसिद्धान्त का, फलसहित वर्ण-धर्म का, उपासनासहित ज्ञाननिष्ठा का, भक्तिसहित निष्काम कर्मयोग का एवं गीता के माहात्म्य का वर्णन	491
	विदुरगीता	**501–519**
1	राजा धृतराष्ट्र को समझाकर उनको शोक का त्याग करने के लिये कहना	501
2	शरीर की अनित्यता बताते हुए धृतराष्ट्र को शोक त्यागने के लिये कहना	505
3	दु:खमय संसार के गहन स्वरूप का वर्णन और उससे छूटने का उपाय	508
4	गहन वन के दृष्टान्त से संसार के भयंकर स्वरूप का वर्णन	511
5	संसार रूपी वन के रूपक का स्पष्टीकरण	514
6	संसारचक्र का वर्णन और रथ के रूपक से संयम और ज्ञान आदि को मुक्ति का उपाय रूप का वर्णन	515
	जनकगीता	**520–528**
1	युधिष्ठिर द्वारा भीम की बात का विरोध करते हुए मुनि वृत्ति की और ज्ञानी महात्माओं की प्रशंसा	520
2	अर्जुन का राजा जनक और उनकी रानी का दृष्टान्त देते हुए युधिष्ठिर को संन्यास ग्रहण करने से रोकना	523
	सेनजिद्गीता–I	**529–533**
1	सेनजित् के उपदेश युक्त उद्गारों का उल्लेख करके व्यासजी का युधिष्ठिर को समझाना	529
	अश्मगीता	**534–541**
1	अश्मा ऋषि और जनक के संवाद द्वारा प्रारब्ध की प्रबलता बतलाते हुए व्यासजी का युधिष्ठिर को समझाना	534

	स्वायंभुवमनुगीता	**541–548**
1	स्वायम्भुव मनु के कथनानुसार धर्म का स्वरूप, पाप से शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त, अभक्ष्य वस्तुओं का वर्णन तथा दान के अधिकारी एवं अनधिकारी का विवेचन	541
	भीष्मस्तवराजगीता	**549–566**
1.	भीष्मद्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति — भीष्मस्तवराज	549
	मनुगीता एवं उशनोगीता	**567–574**
1	युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म के द्वारा राजधर्म का वर्णन, राजा के लिए पुरुषार्थ और सत्य की आवश्यकता, ब्राह्मणों की अदण्डनीयता तथा राजा की परिहासशीलता और मृदुता से प्रकट होने वाले दोष	567
	भार्गवगीता	**575–580**
1	राजा के धर्मानुकूल नीतिपूर्ण बर्ताव का वर्णन	575
	यज्ञगीता	**581–588**
1	वर्णधर्म का वर्णन	581
	नारायणगीता	**589–592**
	आश्रमधर्म का वर्णन	589
	आङ्गिरस (बृहस्पति) गीता	**593–600**
1	वसुमना और बृहस्पति के संवाद में राजा के न होने से प्रजा की हानि और होने से लाभ का वर्णन	593
	कैकेयगीता	**601–606**
1	केकय राजा तथा राक्षस का उपाख्यान और केकय राज्य की श्रेष्ठता का विस्तृत वर्णन	601
	उतथ्यगीता	**607–619**
1	मान्धाता को उपदेश — राजा के लिए धर्म पालन की आवश्यकता	607
2	धर्माचरण का महत्त्व और राजा के धर्म का वर्णन	612

	वामदेवगीता	**620–630**
1	राजा के धर्मपूर्वक आचार के विषय में वामदेवजी का वसुमना को उपदेश	620
2	वामदेवजी के द्वारा राजोचित बर्ताव का वर्णन	622
3	राजा और राज्य के लिए हितकर बर्ताव	627
	ऋषभगीता	**631–642**
1	युधिष्ठिर की आशा विषयक जिज्ञासा	631
2	राजा सुमित्र का मृग की खोज करते हुए तपस्वी मुनियों के आश्रम पर पहुँचना और उनसे आशा के विषय में प्रश्न करना	633
3	ऋषभ का राजा सुमित्र को वीरद्युम्न और तनु मुनि का वृत्तान्त सुनाना	635
4	तनु मुनि का राजा वीरद्युम्न को आशा के स्वरूप का परिचय देना और ऋषभ के उपदेश से सुमित्र का आशा को त्याग देना	639
	ब्रह्मगीता-I	**643–644**
1	राजा किस का धन ले और किस का न ले तथा किस के साथ कैसा बर्ताव करे—इसका विचार	643
	भीष्मगीता, खड्गगीता एवं षड्जगीता	**645–716**
1	समस्त अनर्थों का कारण लोभ को बताकर उससे होने वाले विभिन्न पापों का वर्णन तथा श्रेष्ठ महापुरुषों के लक्षण	645
2	अज्ञान और लोभ एक-दूसरे का कारण बताकर दोनों की एकता करना और दोनों को ही समस्त दोषों का कारण सिद्ध करना	649
3	मन और इन्द्रियों के संयम रूप दम का माहात्म्य	651
4	तप की महिमा	656
5	सत्य के लक्षण, स्वरूप और महिमा का वर्णन	658
6	काम, क्रोध आदि तेरह दोषों का निरूपण और उनके नाश का उपाय	661
7	नृशंस अर्थात् अत्यन्त नीच पुरुष के लक्षण	664

8	नाना प्रकार के पापों और उनके प्रायश्चित्तों का वर्णन	666
	(खड्गगीता)	**676–686**
9	खड्ग की उत्पत्ति और प्राप्ति की परम्परा की महिमा का वर्णन	676
	(षड्जगीता)	**686–693**
10	धर्म, अर्थ और काम के विषय में विदुर तथा पाण्डवों के पृथक् पृथक् विचार तथा अन्त में युधिष्ठिर का निर्णय	686
11	मित्र बनाने एवं न बनाने योग्य पुरुषों के लक्षण तथा कृतघ्न गौतम की कथा का आरम्भ	694
12	गौतम का समुद्र की ओर प्रस्थान और संध्या के समय एक दिव्य बक पक्षी के घर पर अतिथि होना	700
13	गौतम का राजधर्मा द्वारा आतिथ्य सत्कार और उसका राक्षसराज विरूपाक्ष के भवन में प्रवेश	703
14	गौतम का राक्षसराज के यहाँ से सुवर्ण राशि लेकर लौटना और अपने मित्र बक के वध का घृणित विचार मन में लाना	706
15	कृतघ्न गौतम द्वारा मित्र राजधर्मा का वध तथा राक्षसों द्वारा उसकी हत्या और कृतघ्न के मांस को अभक्ष्य बताना	710
16	राजधर्मा और गौतम का पुन: जीवित होना	714
	सेनजिद्गीता–II एवं पिङ्गला गीता	**717–725**
1	शोकाकुल चित्त की शान्ति के लिए राजा सेनजित् और ब्राह्मण के संवाद का वर्णन एवं पिङ्गला की कथा	717
	शम्पाकगीता	**726–729**
1	त्याग की महिमा के विषय में शम्पाक ब्राह्मण का उपदेश	726
	मङ्किगीता	**730–737**
1	धन की तृष्णा से दु:ख और उसकी कामना के त्याग से परम सुख की प्राप्ति	730
	बोध्यगीता	**738–740**
1	शम, वैराग्य एवं शान्ति प्राप्ति हेतु बोध्य का राजा ययाति को उपदेश	738

	आजगरगीता	**741–746**
1	प्रह्लाद और अवधूत का संवाद वैराग्य साधिका आजगर वृत्ति की प्रशंसा	741
	शृगालगीता	**747–753**
1	सद्बुद्धि का आश्रय लेकर आत्महत्यादि पापकर्म से निवृत्त होने के सम्बन्ध में काश्यप ब्राह्मण और इन्द्र का संवाद	753
	कर्मफलगीता	**754–756**
1	शुभाशुभ कर्मों का परिणाम कर्त्ता को अवश्य भोगना पड़ता है, इसका प्रतिपादन	754
	भृगुगीता	**757–795**
1	भरद्वाज और भृगु के संवाद में जगत् की उत्पत्ति का और विभिन्न तत्त्वों का वर्णन	757
2	आकाश से अन्य चार स्थूल भूतों की उत्पत्ति का वर्णन	762
3	पञ्चमहाभूतों के गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन	764
4	शरीर के भीतर जठरानल तथा प्राण अपान आदि वायुओं की स्थिति आदि का वर्णन	769
5	जीव की सत्ता पर नाना प्रकार की युक्तियों से शङ्का उपस्थित करना	772
6	जीव की सत्ता तथा नित्यता को युक्तियों से सिद्ध करना	774
7	वर्ण विभागपूर्वक मनुष्यों और समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन	778
8	चारों वर्णों के अलग-अलग कर्मों का और सदाचार का वर्णन तथा वैराग्य से परब्रह्म की प्राप्ति	781
9	सत्य की महिमा, असत्य के दोष तथा लोक और परलोक के सुख-दुःख का विवेचन	783
10	ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रमों के धर्म का वर्णन	787
11	वानप्रस्थ और संन्यास धर्मों का वर्णन तथा हिमालय के उत्तर पार्श्व में स्थित उत्कृष्ट लोक की विलक्षणता एवं महत्ता का प्रतिपादन, भृगु-भरद्वाज संवाद का उपसंहार	791

	जापकगीता	**796–819**
1	जापक को सावित्री का वरदान, उसके पास धर्म, यम, मृत्यु और काल का आगमन, राजा इक्ष्वाकु और जापक ब्राह्मण का संवाद, सत्य की महिमा तथा जापक की परम गति का वर्णन	796
2	जापक ब्राह्मण और राजा इक्ष्वाकु की उत्तम गति का वर्णन तथा जापक को मिलने वाले फल की उत्कृष्टता	814
	मनुगीता–II	**820–842**
1	बृहस्पति के प्रश्न के उत्तर में मनु द्वारा कामनाओं के त्याग की एवं ज्ञान की प्रशंसा तथा परमात्म तत्त्व रूप का निरूपण	820
2	आत्म–तत्त्व का और बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थों का विवेचन तथा उसके साक्षात्कार का उपाय	824
3	शरीर, इन्द्रिय और मन–बुद्धि से अतिरिक्त आत्मा की नित्य सत्ता का प्रतिपादन	828
4	आत्मा एवं परमात्मा के साक्षात्कार का उपाय तथा महत्त्व	832
5	परब्रह्म की प्राप्ति का उपाय	834
6	परमात्म तत्त्व का निरूपण—मनु–बृहस्पति संवाद की समाप्ति	838
	*** महाभारतीय–गीतामहोदधिः * तृतीयभागः**	**843–1294**
	विष्णुवराह(अनुस्मृति)गीता	**843–869**
1	श्रीकृष्ण से सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति तथा उनकी महिमा का कथन	843
2	ब्रह्मा के पुत्र मरीचि आदि प्रजापतियों के वंश का तथा प्रत्येक दिशा में निवास करने वाले महर्षियों का वर्णन	851
3	भगवान् विष्णु का वराह रूप में प्रकट होकर देवताओं की रक्षा और दानवों का विनाश कर देना तथा नारद को अनुस्मृति स्तोत्र का उपदेश और नारद द्वारा भगवान् की स्तुति	855
	गुरुशिष्यगीता–I	**870–878**
1	गुरु–शिष्य के संवाद का उल्लेख करते हुए श्रीकृष्ण सम्बन्धी अध्यात्म तत्त्व का वर्णन	870
2	संसार चक्र और जीवात्मा की स्थिति का वर्णन	876

	पञ्चशिखगीता	**879–896**
1	राजा जनक के दरबार में पञ्चशिख का आगमन और उनके द्वारा नास्तिक मतों के निराकरणपूर्वक शरीर से भिन्न आत्मा की नित्य सत्ता का प्रतिपादन	879
2	पञ्चशिख के द्वारा मोक्ष तत्त्व का विवेचन एवं भगवान् विष्णु द्वारा मिथिला नरेश जनकवंशी जनदेव की परीक्षा और उनके लिए वर प्रदान	887
	सनत्कुमारगीता एवं प्रह्लादगीता	**897–907**
1	सनत्कुमारजी का ऋषियों को भगवत्स्वरूप का उपदेश देना	897
	बलिवासवगीता, लक्ष्मीवासवगीता एवं नमुचिवासवगीता	**908–955**
1	इन्द्र और बलि का संवाद — इन्द्र के आक्षेपयुक्त वचनों का बलि के द्वारा कठोर प्रत्युत्तर	908
2	बलि और इन्द्र का संवाद, बलि के द्वारा काल की प्रबलता का प्रतिपादन करते हुए इन्द्र को फटकारना	912
	(लक्ष्मीवासवगीता)	**920–955**
3	इन्द्र और लक्ष्मी का संवाद, बलि को त्याग कर आयी हुई लक्ष्मी की इन्द्र के द्वारा प्रतिष्ठा	920
	(नमुचिवासवगीता)	**926–929**
4	इन्द्र और नमुचि का संवाद	926
5	इन्द्र और बलि का संवाद—काल और प्रारब्ध की महिमा का वर्णन	929
6	दैत्यों को त्याग कर इन्द्र के पास लक्ष्मी देवी का आना तथा किन सद्गुणों के होने पर लक्ष्मी आती हैं और किन दुर्गुणों के होने पर वे त्याग कर चली जाती हैं, इस बात को विस्तारपूर्वक बताना	943
	जैगीषव्यगीता	**956–959**
1	जैगीषव्य का असित देवल को समत्व बुद्धि का उपदेश	956
	व्यासगीता–I	**960–1051**
1	शुकदेवजी का प्रश्न और व्यासजी का उनके प्रश्नों का उत्तर देते हुए काल का स्वरूप बताना	960

2	व्यासजी का शुकदेव को सृष्टि के क्रम तथा युगधर्मों का उपदेश	964
3	ब्राह्मप्रलय एवं महाप्रलय का वर्णन	970
4	ब्राह्मणों का कर्त्तव्य और उन्हें दान देने की महिमा का वर्णन	973
5	ब्राह्मण के कर्त्तव्य का प्रतिपादन करते हुए काल रूप नद को पार करने का उपाय बताना	977
6	ध्यान के सहायक योग, उनके फल और सात प्रकार की धारणाओं का वर्णन तथा सांख्य एवं योग के अनुसार ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति	981
7	सृष्टि के समस्त कार्यों में बुद्धि की प्रधानता और प्राणियों की श्रेष्ठता के तारतम्य का वर्णन	988
8	नाना प्रकार के भूतों की समीक्षापूर्वक कर्म तत्त्व का विवेचन, युगधर्म का वर्णन एवं काल का महत्त्व	991
9	ज्ञान का साधन और उसकी महिमा	994
10	योग से परमात्मा की प्राप्ति का वर्णन	999
11	कर्म और ज्ञान का अन्तर तथा ब्रह्म प्राप्ति के उपाय का वर्णन	1003
12	आश्रम धर्म की प्रस्तावना करते हुए ब्रह्मचर्य आश्रम का वर्णन	1006
13	ब्राह्मणों के उपलक्षण से गार्हस्थ्य धर्म का वर्णन	1111
14	वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के धर्म और महिमा का वर्णन	1015
15	संन्यासी के आचरण और ज्ञानवान् संन्यासी की प्रशंसा	1019
16	परमात्मा की श्रेष्ठता, उसके दर्शन का उपाय तथा इस ज्ञानमय उपदेश के पात्र का निर्णय	1025
17	महाभूतादि तत्त्वों का विवेचन	1028
18	बुद्धि की श्रेष्ठता और प्रकृति पुरुष विवेक	1031
19	ज्ञान के साधन तथा ज्ञानी के लक्षण और महिमा	1034
20	परमात्मा की प्राप्ति का साधन, संसार नदी का वर्णन और ज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति	1037
21	ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण के लक्षण और परब्रह्म की प्राप्ति का उपाय	1040

22	शरीर में पञ्चभूतों के कार्य और गुणों की पहचान	1043
23	स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से भिन्न जीवात्मा का और परमात्मा का योग के द्वारा साक्षात्कार करने का प्रकार	1045
24	कामरूपी अद्भुत वृक्ष का तथा उसे काटकर मुक्ति प्राप्त करने के उपाय का और शरीर रूपी नगर का वर्णन	1047
25	पञ्चभूतों के तथा मन और बुद्धि के गुणों का विस्तृत वर्णन	1049
	मृत्युगीता	**1052–1062**
1	युधिष्ठिर का मृत्यु विषयक प्रश्न, नारदजी का राजा अकम्पन से मृत्यु की उत्पत्ति का प्रसङ्ग सुनाते हुए ब्रह्माजी की रोषाग्नि से प्रजा के दग्ध होने का वर्णन	1052
2	महादेवजी की प्रार्थना से ब्रह्माजी के द्वारा अपनी रोषाग्नि का उपसंहार तथा मृत्यु की उत्पत्ति	1055
3	मृत्यु की घोर तपस्या और प्रजापति की आज्ञा से उसका प्राणियों के संहार का कार्य स्वीकार करना	1057
	जाजलिगीता एवं ब्रह्मगीता-II	**1063–1089**
1	युधिष्ठिर का धर्म की प्रामाणिकता पर सन्देह उपस्थित करना	1063
2	जाजलि की घोर तपस्या, सिर पर जटाओं में पक्षियों के घोंसला बनाने से उनका अभिमान और आकाशवाणी की प्रेरणा से उनका तुलाधार वैश्य के पास जाना	1066
3	जाजलि और तुलाधार का धर्म के विषय में संवाद	1072
4	जाजलि को तुलाधार का आत्म यज्ञ विषयक धर्म का उपदेश	1079
	(ब्रह्मगीता-II)	**1086–1089**
5	ब्रह्मगीता एवं जाजलि को पक्षियों का उपदेश	1086
	विचख्नुगीता	**1090–1092**
1	राजा विचख्नु के द्वारा अहिंसा धर्म की प्रशंसा	1090
	गौतमचिरकारिगीता	**1093–1102**
1	महर्षि गौतम और चिरकारी का उपाख्यान — दीर्घ काल सोच-विचार कर कार्य करने की प्रशंसा	1093

	कपिलगीता	**1103–1124**
1	स्यूमरश्मि और कपिल का संवाद—स्यूमरश्मि के द्वारा यज्ञ की आवश्यक कर्त्तव्यता का निरूपण	1103
2	प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग के विषय में स्यूमरश्मि–कपिल संवाद	1108
3	स्यूमरश्मि–कपिल संवाद—चारों आश्रमों में उत्तम साधनों के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति का कथन	1117
	असितदेवलगीता	**1125–1130**
1	जीवात्मा के देहाभिमान से मुक्त होने के विषय में नारद और असितदेवल का संवाद	1125
	माण्डव्यजनकगीता	**1131–1132**
1	तृष्णा के परित्याग के विषय में माण्डव्य मनु और जनक का संवाद	1131
	पितापुत्रगीता	**1133–1138**
1	शरीर और संसार की अनित्यता तथा आत्म कल्याण की इच्छा रखने वाले पुरुष के कर्त्तव्य का निर्देश—पिता–पुत्र का संवाद	1133
	हारीतगीता	**1139–1142**
1	हारीत मुनि के द्वारा प्रतिपादित संन्यासी के स्वभाव, आचरण और धर्मों का वर्णन	1139
	वृत्रगीता	**1143–1158**
1	ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय तथा उस विषय में वृत्र–शुक्र संवाद का आरम्भ	1143
2	वृत्रासुर को सनत्कुमार का अध्यात्म विषयक उपदेश देना और उसकी परम गति तथा भीष्म द्वारा युधिष्ठिर की शङ्का का निवारण	1147
	समङ्गगीता	**1159–1162**
1	समङ्ग के द्वारा नारदजी से अपनी शोकहीन स्थिति का वर्णन	1159
	श्रेयोवाचिका (गालव) गीता	**1163–1170**
1	नारदजी का गालव मुनि को श्रेय का उपदेश	1163

	अरिष्टनेमिगीता	**1171–1176**
1	अरिष्टनेमि का राजा सगर को वैराग्योत्पादक मोक्ष विषयक उपदेश	1171
	शुक्रगीता	**1177–1182**
1	भृगुपुत्र उशना का चरित्र तथा उसे शुक्र नाम की प्राप्ति	1177
	पाराशरगीता	**1183–1221**
1	राजा जनक को कल्याण की प्राप्ति के साधन का उपदेश	1183
2	कर्मफल की अनिवार्यता तथा पुण्यकर्म से लाभ	1186
3	धर्मोपार्जित धन की श्रेष्ठता, अतिथि-सत्कार का महत्त्व, पाँच प्रकार के ऋणों से छूटने की विधि, भगवत्स्तवन की महिमा एवं सदाचार तथा गुरुजनों की सेवा से महान् लाभ	1190
4	शूद्र के लिए सेवा वृत्ति की प्रधानता, सत्सङ्ग की महिमा और चारों वर्णों के धर्मपालन का महत्त्व	1193
5	ब्राह्मण और शूद्र की जीविका, निन्दनीय कर्मों के त्याग की आज्ञा, मनुष्यों में आसुरभाव की उत्पत्ति और भगवान् शिव के द्वारा उसका निवारण तथा स्वधर्म के अनुसार कर्त्तव्यपालन का आदेश	1198
6	विषयासक्त मनुष्य का पतन, तपोबल की श्रेष्ठता तथा दृढ़तापूर्वक स्वधर्मपालन का आदेश	1199
7	वर्णविशेष की उत्पत्ति का रहस्य, तपोबल से उत्कृष्ट वर्ण की प्राप्ति, विभिन्न वर्णों के विशेष और सामान्य धर्म, सत्कर्म की श्रेष्ठता तथा हिंसारहित धर्म का वर्णन	1204
8	नाना प्रकार के धर्म और कर्त्तव्यों का उपदेश	1209
9	राजा जनक के विविध प्रश्नों का उत्तर	1215
	हंसगीता	**1222–1228**
1	हंसरूपधारी ब्रह्मा का साध्यगणों को उपदेश	1222
	सांख्ययोगगीता	**1229–1250**
1	सांख्य और योग का अन्तर बतलाते हुए योग मार्ग के स्वरूप साधन, फल और प्रभाव का वर्णन	1229

2	सांख्य योग के अनुसार साधन और उसके फल का वर्णन	1236
	वसिष्ठगीता	**1251–1290**
1	वसिष्ठ और करालजनक का संवाद—क्षर और अक्षरतत्त्व का निरूपण और इनके ज्ञान से मुक्ति	1251
2	प्रकृति–संसर्ग के कारण जीव का अपने को नाना कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता मानना एवं नाना योनियों में बारम्बार जन्म ग्रहण करना	1257
3	प्रकृति के संसर्ग दोष से जीवन का पतन	1264
4	क्षर–अक्षर एवं प्रकृति–पुरुष के विषय में राजा जनक की शङ्का और उसका वसिष्ठजी द्वारा उत्तर	1265
5	योग और सांख्य के स्वरूप का वर्णन तथा आत्मज्ञान से मुक्ति	1271
6	विद्या–अविद्या, अक्षर और क्षर तथा प्रकृति और पुरुष के स्वरूप का एवं विवेकी के उद्गार का वर्णन	1277
7	क्षर–अक्षर और परमात्म–तत्त्व का वर्णन, जीव के नानात्व और एकत्व का दृष्टान्त एवं उपदेश के अधिकारी और अनधिकारी का वर्णन	1283
	मुनिगीता	**1291–1294**
1	जनकवंशी वसुमान् को एक मुनि का धर्म विषयक उपदेश	1291
	❊ महाभारतीय–गीतामहोदधिः ❊ चतुर्थ भागः	**1295–1752**
	याज्ञवल्क्यगीता	**1295–1332**
1	राजा जनक को उपदेश—सांख्यमत के चौबीस तत्त्वों और नौ प्रकार के सर्गों का निरूपण	1295
2	अव्यक्त, महत्तत्व, अहङ्कार, मन और विषयों की कालसंख्या का एवं सृष्टि का वर्णन तथा इन्द्रियों में मन की प्रधानाता का प्रतिपादन	1298
3	संहारक्रम का वर्णन	1301
4	अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत का वर्णन तथा सात्त्विक, राजस और तामस भावों के लक्षण	1303

5	सात्त्विक, राजस और तामस प्रकृति के मनुष्यों की गति का वर्णन तथा राजा जनक के प्रश्न	1306
6	प्रकृति-पुरुष का विवेक और उसका फल	1309
7	योग का वर्णन और उसके साधन से परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति	1311
8	विभिन्न अङ्गों से प्राणों के उत्क्रमण का फल तथा मृत्युसूचक लक्षणों का वर्णन और मृत्यु को जीतने का उपाय	1315
9	याज्ञवल्क्य द्वारा सूर्य से वेदज्ञान की प्राप्ति का प्रसङ्ग, विश्वावसु को जीवात्मा और परमात्मा की एकता का उपदेश देकर उसका फल मुक्ति बताना	1318
	सुलभागीता	**1333–1357**
1	राजा जनक की परीक्षा करने के लिए आई हुई सुलभा का उनके शरीर में प्रवेश करना, राजा जनक का उस पर दोषारोपण करना एवं सुलभा का युक्तियों द्वारा निराकरण करते हुए राजा जनक को अज्ञानी बताना	1333
	व्यासगीता-II	**1358–1370**
1	व्यासजी का अपने पुत्र शुकदेव को वैराग्य और धर्म पूर्ण उपदेश देते हुए सावधान करना	1358
	ययातिगीता	**1371–1377**
1	राजा जनक के द्वारा शुकदेवजी का पूजन तथा उनके प्रश्न का समाधान करते हुए ब्रह्मचर्याश्रम में परमात्मा की प्राप्ति होने के बाद अन्य तीनों आश्रमों की अनावश्यकता का प्रतिपादन करना तथा मुक्त पुरुष के लक्षणों का वर्णन	1371
	नारदगीता	**1378–1396**
1	शुकदेवजी को वैराग्य और ज्ञान का उपदेश	1378
2	शुकदेव को नारदजी का सदाचार और अध्यात्मविषयक उपदेश	1385
3	नारदजी का शुकदेव को कर्मफल प्राप्ति में परतन्त्रताविषयक उपदेश तथा शुकदेवजी का सूर्यलोक में जाने का निश्चय	1389
	नारायणीयगीता	**1397–1510**
1	श्वेतद्वीप में नारदजी को भगवान् का दर्शन, भगवान् का वासुदेव-सङ्कर्षण आदि अपने व्यूह-स्वरूपों का परिचय कराना और भविष्य में होने वाले अवतारों के कार्यों की सूचना देना।	1397

2	व्यासजी का अपने शिष्यों को भगवान् द्वारा ब्रह्मादि देवताओं से कहे हुए प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप धर्म के उपदेश का रहस्य बताना	1414
3	भगवान् श्रीकृष्ण का अर्जुन को अपने प्रभाव का वर्णन करते हुए अपने नामों की व्युत्पत्ति एवं माहात्म्य बताना	1428
4	सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था का वर्णन, ब्राह्मणों की महिमा बताने वाली कथाओं का उल्लेख, भगवन्नामों के हेतु तथा रुद्र के साथ होने वाले युद्ध में नारायण की विजय	1434
5	जनमेजय का प्रश्न, देवर्षि नारद का श्वेतद्वीप से लौटकर नर-नारायण के पास जाना और उनके पूछने पर उनसे वहाँ के महत्त्वपूर्ण दृश्य का वर्णन करना	1457
6	नर-नारायण का नारदजी की प्रशंसा करते हुए उन्हें भगवान् वासुदेव का माहात्म्य बतलाना	1464
7	भगवान् वराह के द्वारा पितरों के पूजन की मर्यादा का स्थापित होना	1467
8	नारायण की महिमा सम्बन्धी उपाख्यान का उपसंहार	1471
9	हयग्रीव-अवतार की कथा, वेदों का उद्धार, मधुकैटभ का वध तथा नारायण की महिमा का वर्णन	1474
10	सात्वत-धर्म की उपदेश-परम्परा तथा भगवान् के प्रति ऐकान्तिक भाव की महिमा	1485
11	व्यासजी का सृष्टि के प्रारम्भ में भगवान् नारायण के अंश से सरस्वती पुत्र अपान्तरतमा के रूप में जन्म होने की और उनके प्रभाव की कथा	1495
12	वैजयन्त पर्वत पर ब्रह्मा और रुद्र का मिलन एवं ब्रह्माजी द्वारा परम पुरुष नारायण की महिमा का वर्णन	1504
13	ब्रह्मा और रुद्र के संवाद में नारायण की महिमा का विशेष रूप से वर्णन	1507
	बृहस्पतिगीता	**1511-1532**
1	प्राणियों के जन्म के प्रकार और नानाविध पापों के कारण नरकादि की प्राप्ति एवं तिर्यग्योनियों में जन्म लेने का वर्णन	1511
2	पाप से छूटने के उपाय तथा अन्नदान की विशेष महिमा	1526

3	बृहस्पतिजी का युधिष्ठर को अहिंसा एवं धर्म की महिमा बताकर स्वर्गलोक को प्रस्थान	1530
	व्यासमैत्रेयगीता	**1533–1542**
1	व्यास और मैत्रेय का संवाद — दान की प्रशंसा और कर्म का रहस्य	1533
2	विद्वान् एवं सदाचारी ब्राह्मण को अन्नदान की प्रशंसा	1536
3	तप की प्रशंसा तथा गृहस्थ के उत्तम कर्त्तव्य का निर्देश	1539
	माहेश्वरगीता	**1543–1596**
1	शिव–पार्वती का धर्म विषयक संवाद वर्णाश्रम धर्म सम्बन्धी आचार एवं प्रवृत्ति निवृत्त रूप धर्म का निरूपण	1543
2	उमा–महेश्वर संवाद, वानप्रस्थ धर्म तथा उसके पालन की विधि और महिमा	1570
3	ब्राह्मणादि वर्णों की प्राप्ति में मनुष्य के शुभाशुभ कर्मों की प्रधानता का प्रतिपादन	1581
4	बन्धन मुक्ति, स्वर्ग, नरक एवं दीर्घायु और अल्पायु प्रदान करने वाले शरीर, वाणी और मन द्वारा किए जाने वाले शुभाशुभ कर्मों का वर्णन	1589
	काम–गीता	**1597–1600**
1	श्रीकृष्ण द्वारा ममता के त्याग का महत्त्व, काम–गीता का उल्लेख और युधिष्ठिर को यज्ञ के लिए प्रेरणा करना	1597
	अनुगीता	**1601–1734**
	(काश्यपगीता, ब्राह्मणगीता एवं गुरुशिष्यगीता-II)	
	(काश्यपगीता)	**1601–1624**
1	—अर्जुन का श्रीकृष्ण से गीता का विषय पूछना और श्रीकृष्ण का अर्जुन से सिद्ध, महर्षि एवं काश्यप का संवाद सुनाना	1601
2	काश्यप के प्रश्नों के उत्तर में सिद्ध महात्मा द्वारा जीव की विविध गतियों का वर्णन	1606

3	जीव के गर्भ-प्रवेश, आचार-धर्म, कर्म-फल की अनिवार्यता तथा संसार से तरने के उपाय का वर्णन	1612
4	गुरु-शिष्य के संवाद में मोक्ष प्राप्ति के उपाय का वर्णन एवं काश्यपगीता का उपसंहार	1616
	(ब्राह्मणगीता एवं अम्बरीषगीता)	**1624-1670**
5	ब्राह्मणगीता—एक ब्राह्मण का अपनी पत्नी से ज्ञानयज्ञ का उपदेश करना	1624
6	दस होताओं से सम्पन्न होने वाले यज्ञ का वर्णन तथा मन और वाणी की श्रेष्ठता का प्रतिपादन	1627
7	मन-बुद्धि और इन्द्रिय रूप सप्त होताओं का, यज्ञ तथा मन-इन्द्रिय-संवाद का वर्णन	1631
8	प्राण, अपान आदि का संवाद और ब्रह्माजी का सबकी श्रेष्ठता बतलाना	1635
9	देवर्षि नारद और देवमत का संवाद एवं उदान के उत्कृष्ट रूप का वर्णन	1639
10	चातुर्होम यज्ञ का वर्णन	1641
11	अन्तर्यामी की प्रधानता	1644
12	अध्यात्मविषयक महान् वन का वर्णन	1646
13	ज्ञानी पुरुष की स्थिति तथा अध्वर्यु और यति का संवाद	1649
14	परशुरामजी के द्वारा क्षत्रिय-कुल का संहार	1653
15	अलर्क के ध्यान योग का उदाहरण देकर पितामहों का परशुरामजी को समझाना और परशुराम जी का तपस्या के द्वारा सिद्धि प्राप्त करना	1656
	(अम्बरीषगीता)	**1661-1663**
16	राजा अम्बरीष की गायी हुई लोभ-विजयरूप आध्यात्मिक स्वराज्यविषयक गाथा	1661
17	ब्राह्मणरूपधारी धर्म और जनक का ममत्वत्याग विषयक संवाद	1663

18	ब्राह्मण का पत्नी के प्रति अपने ज्ञाननिष्ठ स्वरूप का परिचय देना	1666
19	भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा ब्राह्मण, ब्राह्मणी और क्षेत्रज्ञ का रहस्य बतलाते हुए ब्राह्मणगीता का उपसंहार	1668
	(गुरुशिष्यगीता-II)	**1670–1734**
20	श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन से मोक्ष-धर्म का वर्णन—गुरु और शिष्य के संवाद में ब्रह्मा और महर्षियों के प्रश्नोत्तर	1670
21	ब्रह्माजी के द्वारा तमोगुण का, उसके कार्य का और फल का वर्णन	1676
22	रजोगुण के कार्य का वर्णन और उसके जानने का फल	1681
23	सत्त्वगुण के कार्य का वर्णन और उसके जानने का फल	1683
24	सत्त्व आदि गुणों का और प्रकृति के नामों का वर्णन	1685
25	महत्तत्व के नाम और परमात्मतत्त्व को जानने की महिमा	1688
26	अहङ्कार की उत्पत्ति और उसके स्वरूप का वर्णन	1689
27	अहङ्कार से पञ्च महाभूतों और इन्द्रियों की सृष्टि, अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत का वर्णन तथा निवृत्ति मार्ग का उपदेश	1690
28	चराचर प्राणियों के अधिपतियों का, धर्म आदि के लक्षणों का और विषयों की अनुभूति के साधनों का वर्णन तथा क्षेत्रज्ञ की विलक्षणता	1697
29	सब पदार्थों के आदि-अन्त का और ज्ञान की नित्यता का वर्णन	1702
30	देहरूपी कालचक्र का तथा गृहस्थ और ब्राह्मण के धर्म का कथन	1704
31	ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी के धर्म का वर्णन	1708
32	मुक्ति के साधनों का, देहरूपी वृक्ष का तथा ज्ञान-खड्ग से उसे काटने का वर्णन	1715
33	आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का विवेचन	1717

34	धर्म का निर्णय जानने के लिए ऋषियों का प्रश्न	1719
35	सत्त्व और पुरुष की भिन्नता, बुद्धिमान् की प्रशंसा तथा परमात्मा की श्रेष्ठता	1721
36	तपस्या का प्रभाव, आत्मा का स्वरूप और उसके ज्ञान की महिमा तथा अनुगीता का उपसंहार	1728
	पाण्डव गीता	**1735–1752**
	महाभारतीय गीताओं की अकारादिक्रमानुसार सूची	**1753–1756**
	संग्रहीत ग्रन्थानुक्रमणिका	**1757–1760**

भूमिका

मात्रे श्रद्धास्वभावायै पित्रे च तपसात्मने।
गुरवे ज्ञानरूपाय त्रितत्त्वाय सदा नमः।।

श्रीमहागणपति, श्रीगुरु एवं भगवती राजराजेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी पराम्बा के असीम अनुग्रह से राजस्थान विश्वविद्यालय दर्शन विभाग के उच्च अध्ययन केन्द्र (द्वितीय चरण) द्वारा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की योजना के अन्तर्गत *महाभारतीय गीतामहोदधिः* विश्वकोशीय ग्रन्थ को वर्ष 2018 में चार भागों में प्रकाशित करने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ है, यह हर्ष एवं सौभाग्य का विषय है।

महाभारतीय गीतामहोदधि के प्रथम भाग में 16 गीतायें समाविष्ट है। प्रस्तुत द्वितीय भाग में अग्रलिखित 32 गीताएँ संकलित की गई है, जिनका विवरण क्रमशः इस प्रकार है—

(17) भगवद्गीता

गीता की पुष्पिका के अनुसार अट्ठारह अध्यायों के नाम इस प्रकार हैं—1. अर्जुन-विषादयोग, 2. सांख्ययोग, 3. कर्मयोग, 4. ज्ञानकर्मसंन्यासयोग, 5. कर्मसंन्यास योग, 6. आत्मसंयम योग, 7. ज्ञानविज्ञानयोग, 8. अक्षरब्रह्मयोग, 9. राजविद्याराजगुह्ययोग, 10. विभूतियोग, 11. विश्वरूपदर्शनयोग, 12. भक्तियोग, 13. क्षेत्रक्षेत्रविभागयोग, 14. गुणत्रयविभागयोग, 15. पुरुषोत्तमयोग, 16. दैवासुरसम्पद्विभागयोग, 17. श्रद्धात्रयविभागयोग, 18. मोक्षसंन्यासयोग।

गीता के व्याख्याकार मधुसूदन सरस्वती ने अपनी मधुसूदनी टीका में गीता का मुख्य प्रतिपाद्य 'तत्त्वमसि' महावाक्यार्थ बताया है। 'वह ब्रह्म तुम हो, मैं ब्रह्म हूँ, वह ब्रह्म है तथा यह आत्मा ब्रह्म है'। इन वैदिक वाक्यों में वर्णित परमात्मा तथा आत्मा का ऐक्य गीता का प्रधान विषय है। वेदान्त में ये महावाक्यार्थ कहलाते हैं। वेदों का भी यही विषय है। सच्चिदानन्दरूप पूर्णब्रह्म विष्णु ही परमेश्वर है उसको तीन मार्गों से प्राप्त किया जा सकता है। वेदों में तीन काण्ड हैं—ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड तथा उपसनाकाण्ड। इसी प्रकार भगवद्गीता में भी तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड (अध्याय 1-6) में कर्म त्याग के मार्ग से 'त्वम्' अर्थात् विशुद्धात्मा का निरूपण है—

सच्चिदानन्दरूपं तत्पूर्णं विष्णोः परं पदम्।
तत्प्राप्तये समारब्धा वेदाः काण्डत्रयात्मका।। — मधुसूदनी उपक्रमणिका
कर्मोपास्तिस्तथा ज्ञानमिति काण्डत्रयं क्रमात्।
तद्भूषाष्टादशाध्याय्या गीता काण्डत्रयात्मिका।।— मधुसूदनी उपक्रमणिका

तत्र तु प्रथमे काण्डे कर्मतत्त्यागवर्त्मना।
त्वं पदार्थो विशुद्धात्मा सोपपतिर्निरूप्यते।। — मधुसूदनी उपक्रमणिका

द्वितीय काण्ड अर्थात् (अध्याय 7-12) में भगवान् की भक्ति तथा दो प्रकार की निष्ठाएँ वर्णित हैं तथा भगवान् जिसे 'तत्' (वह ब्रह्म) कहा जाता है उसका सोपपत्तिक निरूपण है—

द्वितीये भगवद्भक्तिनिष्ठावर्णनवर्त्मना।
भगवान् परमानन्दस्तत्पदार्थोऽवधार्यते।। — मधुसूदनी उपक्रमणिका

तृतीय काण्ड (अध्याय 13-18) में 'तत्' और 'त्वम्' का ऐक्य अर्थात् जीव ब्रह्म की एकता वर्णित है। इस प्रकार इन तीन काण्डों का सम्बन्ध है—

तृतीय तु तयोरेक्यं वाक्यार्थो वर्ण्यते स्फुटम्।
एवमप्यत्र काण्डानां सम्बन्धोऽस्ति परस्परम्।।— मधुसूदनी उपक्रमणिका

गीता के अट्ठारह अध्यायों का विषय-सार इस प्रकार है—

1. यह अध्याय उपोद्घात रूप है। श्लोक 1-11 तक दोनों से के प्रधान शूरवारों की गणना और सामर्थ्य का कथन है। श्लोक 12-19 में दोनों सेनाओं की शङ्खध्वनि का वर्णन, 20-27 तक अर्जुन द्वारा सेना निरीक्षण तथा 28-47 तक मोह से व्याप्त हुए अर्जुन के विषाद, कायरता, स्नेह और शोकयुक्त वचनों का वर्णन किया गया है।
2. इस अध्याय में श्लोक 1-10 तक अर्जुन की कायरता के विषय में सञ्जय द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद, 11-30 सांख्य योग का विषय, 31-38 क्षात्रधर्म की दृष्टि से युद्ध करने की आवश्यकता का प्रतिपादन, 39-53 निष्कामकर्मयोग का विषय तथा 54-72 तक स्थितप्रज्ञ या जीवन्मुक्त के लक्षण तथा महिमा वर्णित है।
3. इस अध्याय में 1-8 तक ज्ञानयोग (सांख्ययोग) और निष्काम कर्मयोग के अनुसार अनासक्त भाव से नियत कर्म करने की श्रेष्ठता का निरूपण, 9-16 में यज्ञ और सृष्टिचक्र की परम्परा को सुरक्षित रखने हेतु यज्ञादि कर्त्तव्य कर्मों के करने की आवश्यकता का निरूपण, 17-24 में ज्ञानवान् और भगवान् के लिए लोकसंग्रहार्थ कर्म करने की आवश्यकता, 25-35 में अज्ञानी और ज्ञानवान् के लक्षण तथा रागद्वेष से रहित होकर कर्म करने के लिए प्रेरणा 36-43 में समस्त पापों के कारणभूत 'काम' (विषयेच्छा) को मारने की प्रेरणा वर्णित है।
4. इस अध्याय में 1-18 तक कर्मयोग की परम्परा, भगवान् के दिव्य जन्म (अवतार) की यथार्थता, सगुण भगवान् का प्रभाव तथा निष्काम कर्मयोग का विषय, 19-23 में योगी महात्मा पुरुषों के आचरण और उनकी महिमा तथा कर्मों के तत्त्व, 24-32 में फल सहित पृथक्-पृथक् चौदह यज्ञों का कथन, तथा 33-42 में ज्ञानयोग तथा कर्मयोग की प्रशंसा व प्रेरणा आदि विषय कहे गये हैं।

5. इस अध्याय में 1-6 सांख्ययोग तथा निष्काम कर्म योग की एकता निरूपित कर कर्मयोग की प्रशंसा, 7-12 में सांख्ययोगी तथा निष्काम कर्मयोगी के लक्षण तथा माहात्म्य, 13-26 में फल सहित ज्ञानयोग (सांख्ययोग) का विषय तथा 27-29 में भक्ति सहित ध्यान योग का वर्णन प्राप्य है।

6. इस अध्याय के श्लोक 1-4 में निष्काम कर्मयोग का विषय तथा योगारूढ़ पुरुष के लक्षण, 5-10 में आत्मोद्धार के लिए प्रेरणा तथा सिद्धकर्मयोगी (भगवत् प्राप्ति करने वाले पुरुष) के लक्षण, 11-15 आसन की विधि और फलसहित सगुण-साकार के ध्यान का वर्णन, 24-28 में निर्गुण के ध्यान, 29-32 में सगुण तथा निर्गुण के ध्यान योगियों का अनुभव, 33-36 में मन का निग्रह तथा 37-47 में योग भ्रष्टपुरुष की गति का विषय तथा ध्यानयोगी (भक्तियोगी) की महिमा प्रतिपादित है।

7. इस अध्याय के 1-7 भगवान् के द्वारा समग्र रूप वर्णन की प्रतिज्ञा करना तथा अपरा-परा प्रकृतियों के संयोग से प्राणियों की उत्पत्ति बताकर स्वयं को मूल कारण बताना, 8-12 में सम्पूर्ण पदार्थ में कारण रूप से भगवान् की व्यापकता, 13-39 में आसुरी भाव (शरण में नहीं आने वाले) वालों की निन्दा तथा भगवद्भक्तों की प्रशंसा, 20-23 में अन्य देवताओं की उपासना का फल सहित वर्णन, 24-30 भगवान् के प्रभाव तथा स्वरूप को न जानने वाले की निन्दा, जानने वाले की प्रशंसा तथा भगवान् के समग्र रूप का वर्णन कथित है।

8. इस अध्याय के 1-7 तक ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादि के विषय में अर्जुन के सात प्रश्न और उनका उत्तर देते हुए सब समय में भगवान् का स्मरण करने की आज्ञा, 8-16 में सगुण तथा निर्गुण भक्ति (उपासना) का वर्णन, 17-22 में ब्रह्मलोक की अवधि और भगवान् की महत्ता तथा भक्ति, 23-38 में शुक्ल और कृष्ण मार्ग का वर्णन तथा उसमें जाने वाले योगी की महिमा विवेचित है।

9. इस अध्याय में 1-6 में प्रभाव सहित विज्ञान का कथन, 7-10 में जगत् की उत्पत्ति (महासर्ग) व प्रलय का विषय, 11-15 में भगवान् का तिरस्कार करने वाले आसुरी, राक्षसी, मोहिनी प्रकृति का आश्रय लेने वालों को निन्दा तथा दैवी प्रकृति का आश्रय लेने वाले भक्तों के भजन का वर्णन, 16-19 कार्यकारण रूप से भगवत् स्वरूप विभूतियों का प्रभाव सहित वर्णन, 20-25 सकाम तथा निष्काम उपासना का फल तथा 26-34 में निष्काम भगवद्भक्ति की महिमा उपलब्ध होती है।

10. इस अध्याय के 1-7 में भगवान् की विभूति एवं योग शक्ति का कथन तथा उनके जानने का फल, 8-11 में फल सहित भगवद्भक्ति और भगवद्कृपा का फल,

12-18 अर्जुन द्वारा भगवान् की स्तुति एवं विभूति और योगशक्ति को कहने के लिए प्रार्थना तथा 19-42 में भगवान् के द्वारा अपनी विभूतियों का तथा योगशक्ति का वर्णन किया गया है।

11. इस अध्याय के श्लोक 1-8 में विराट् रूप दिखाने के लिए अर्जुन की प्रार्थना और भगवान् द्वारा दिव्यचक्षु प्रदान कर विराट् रूप का दर्शन कराना, 9-14 संजय द्वारा धृतराष्ट्र के प्रति विराड् रूप का वर्णन, 15-31 में अर्जुन द्वारा भगवान् के विश्व रूप को देखा जाना और उनकी स्तुति करना, 32-34 में भगवान् द्वारा अपने अत्युग्र विराड्रूप का परिचय तथा अर्जुन को युद्ध के लिए उत्साहित करना, 35-46 भयभीत हुए अर्जुन द्वारा भगवान् की स्तुति और चतुर्भुज रूप का दर्शन कराने के लिए प्रार्थना, 47-50 भगवान् द्वारा विराड्रूप के दर्शन की दुलर्भता बताना तथा भयभीत अर्जुन को आश्वासन रूप में चतुर्भुज व सौम्य रूप दिखाया जाना तथा 51-55 भगवान् के द्वारा चतुर्भुज रूप की महत्ता और उस दुर्लभ दर्शन का उपाय बताना तथा आनन्द भक्ति का वर्णन उपलब्ध है।

12. इस अध्याय के 1-12 में साकार तथा निराकार उपासकों की उत्तमता का निर्णय तथा भगवत् प्राप्ति के चार उपायों का कथन तथा 13-20 में सिद्ध भक्तों (भगवत् प्राप्ति वाले पुरुषों) के उनतालीस लक्षणों को वर्णित किया गया है।

13. इस अध्याय के 1-18 में क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा), ज्ञान और ज्ञेय (परमात्मा) का भक्ति सहित विवेचन तथा 19-34 में ज्ञान सहित प्रकृति और पुरुष का विवेचन वर्णित है।

14. इस अध्याय में 1-4 में ज्ञान की महिमा और प्रकृति पुरुष से जगत् की उत्पत्ति, 5-18 में सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों का विषय तथा 19-27 भगवत् प्राप्ति का उपाय तथा गुणातीत पुरुष के लक्षण कथित हैं।

15. इस अध्याय में 1-6 तक संसार वृक्ष का तथा उसका छेदन करके भगवान् के शरण होने का और भगवद्धाम का वर्णन, 7-11 में जीवात्मा का स्वरूप और उसे जानने वाले तथा न जानने वाले का वर्णन, 12-15 में भगवान् (परमेश्वर) के स्वरूप तथा प्रभाव का वर्णन तथा 16-20 में क्षर, अक्षर तथा पुरुषोत्तम का वर्णन उपलब्ध होता है।

16. इस अध्याय के श्लोक 1-5 तक फल सहित दैवी और आसुरी सम्पत्ति का कथन, 6-8 में सत्कर्मों से विमुख आसुरी सम्पत्ति वाले मनुष्यों की मान्यता का कथन, 9-16 में आसुरी सम्पत्ति वाले मनुष्यों के दुराचारों और मनोरथों का फल सहित वर्णन, 17-20 में आसुरी सम्पत्ति वाले मनुष्यों के दुर्भाव और दुर्गति का

वर्णन तथा 21-24 में आसुरी सम्पत्ति के मूलभूत दोष काम, क्रोध और लोभ से रहित होकर शास्त्र विधि के अनुसार कर्म करने की प्रेरणा विवेचित है।

17. इस अध्याय के श्लोक 1-6 तक तीन प्रकार की श्रद्धा तथा शास्त्र विपरीत घोर तप करने वाले आसुर निश्चयी मनुष्यों का वर्णन, 7-10 में सात्त्विक, राजस और तामस आहारी की रुचि का वर्णन, 11-22 में यज्ञ, तप और दान के तीन-तीन भेदों का वर्णन तथा 23-28 में ॐ तत्सत् के प्रयोग की व्याख्या और असत् कर्म का वर्णन प्रतिपादित है।

18. इस अध्याय के 1-12 में संन्यास (त्याग) के विषय में मतान्तर और कर्मयोग का वर्णन, 13-18 में कर्मों के होने में सांख्य सिद्धान्त का कथन, 19-40 में तीन गुणों के अनुसार ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, बुद्धि, धृति और सुख के पृथक्-पृथक् भेद, 41-48 में कर्मयोग (वर्ण धर्म) का फल (भक्ति) सहित वर्णन, 49-55 सांख्य योग (ज्ञान निष्ठा) का विषय, 56-66 में भगवद्भक्ति सहित निष्काम कर्मयोग वर्णन तथा 67-68 में श्रीमद्भगवद्गीताजी का माहात्म्य प्रतिपादित है।

कुरुक्षेत्र में जब महाभारत युद्ध प्रारम्भ होने वाला था उस समय कौरव ग्यारह अक्षोहिणी सेना अर्थात् चौबीस लाख पाँच हजार सात सौ योद्धा तथा पाण्डव सात अक्षौहिणी सेना अर्थात् पन्द्रह लाख तीस हजार नौ सौ सूरमा लेकर एकत्रित हुए। इतने अधिक युद्धार्थ उपस्थित मानव समुदाय को देखकर अर्जुन विचलित हुए। उन्होंने देखा कि यहाँ उपस्थित अधिकतर लोग आपस में भाई, बान्धव, रिश्तेदार एवं इष्टमित्र हैं, पर इस समय एक-दूसरे के खून के प्यासे हैं। राज्य के तुच्छ लोभ की सिद्धि के लिए यह प्रचण्ड नरसंहार या आत्मजनों की निर्मम हत्या अनुचित लगी और उन्होंने गम्भीरतापूर्वक इस समस्या का विचार किया।

राज्य सुख अकेले भोगने की वस्तु नहीं है जिन प्रिय स्वजन के लिए हम राज्य चाहते हैं वे सब पक्ष या विपक्ष में स्थित होकर मृत्यु को प्राप्त करेंगे, अत: राज्य सुख किसके लिए होगा? युद्ध में स्वजनों व गुरुजनों की हत्या कर राज्य प्राप्त करना कथमपि उचित नहीं है। युद्ध समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि समाज के वीरों को वध होने पर स्त्रियों, बच्चे तथा अशक्त वृद्ध बचते हैं जिनकी सुरक्षा कौन करेगा? अभिभावक के अभाव में कुल मर्यादा नष्ट हो जाएगी। धीरे-धीरे सभी वर्ण-धर्म चौपट हो जाएंगे। धर्म का नाश होगा। अपने इष्टमित्रों का नाश तथा भीषण नरसंहार से जातिधर्म और कुलधर्मों का उच्छेद, इन दो चिन्ताओं की आशङ्का से अर्जुन भयङ्कर मोहग्रस्त व विषादमग्न होते हैं।

द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन भगवान् से कहते हैं कि इस अवस्था में युद्ध को त्याग कर भिक्षा वृत्ति को श्रेयस्कर समझता हूँ, तब श्रीकृष्ण चिन्तित होते हैं कि

निषिद्ध हिंसा के आधार पर आज अर्जुन कुमार्ग (भिक्षा वृत्ति) पर चलने को उद्यत है, हो सकता है भविष्य में काई भी शासक अन्याय से थोपे हुए युद्ध से इसी तरह विमुख हो सकता है। तब दण्डनीति पर आधारित समस्त समाज व्यवस्था उच्छिन्न हो जाएगी। अर्जुन पाण्डवों को कमजोर करने के साथ एक गलत उदाहरण भी प्रस्तुत कर रहे हैं। अत: अर्जुन के शोक तथा मोहरूपी अज्ञान को ध्वंस करने हेतु उन्हें तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया। अर्जुन की समस्त आशङ्काओं का निरसन करके अन्त में (18.73) में अर्जुन से कहलवा लिया कि मेरा मोह नष्ट हो गया, स्मृति प्राप्त हो गई है। हे भगवान् आपकी कृपा से मेरी समस्त आशङ्काएँ समाप्त हो गई हैं। मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। सांसारिक प्राणी राग-द्वेष से अभिभूत होकर उचित-अनुचित का विवेक नहीं कर पाते हैं। तब शास्त्र के द्वारा विहित अभ्युदय तथा निश्रेयस मार्ग समर्थ है। गीता में श्रीकृष्ण इस समस्या को इस प्रकार सुलझाते हैं कि सब लोग वस्तुत नित्य है अत: मृत्यु की चिन्ता (शोक) करना निरर्थक है (2.12-30)। अत: अर्जुन को निर्द्वन्द्व होकर युद्ध करना चाहिए (2.38)। इसकी व्याख्या में भगवान् अर्जुन को कर्मयोग की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि कर्मयोग के द्वारा किए जाने वाले निष्काम कर्म मनुष्य को बन्धनग्रस्त नहीं करते हैं (2.39-52)। कर्मयोग के अभ्यास से मनुष्य की बुद्धि में स्थिरता आती है जिसे स्थितप्रज्ञता कहते हैं, इसी से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है (2.53)। इस अध्याय के अन्त तक स्थितप्रज्ञ के लक्षण स्पष्ट किए हैं।

विचारणीय है कि अर्जुन का युद्ध त्यागने का दृष्टिकोण तीन दृष्टियों से ठीक नहीं है—

1. तात्त्विक दृष्टि से अर्जुन का निर्णय असङ्गत है—युद्ध में स्वयं स्वजनों के मरने का शोक निरर्थक है क्योंकि बुद्धिमान् मरने-जीने की परवाह नहीं करते हैं (2.11)। युद्ध में वस्तुत: आत्मा नहीं मरती है, मरता है शरीर। शरीर की इन्द्रियाँ सुख-दु:ख का अनुभव कराने वाली अनित्य है, इसलिए देह मरने का शोक निरर्थक है (2.12)। मनुष्य का अनित्य सुख-दु:खानुभूति के लिए परेशान होना निरर्थक है। सुख-दु:ख वस्तुत: मिथ्या है। इन्द्रियों के साथ जब तक क्षणिक विषयभोग का संयोग होता है तब तक आनन्द की अनुभूति है। जब विषय संयोग नष्ट होता है तो दु:खी होते हैं। अत: क्षणिक शरीर तथा विषय संयोग को आधार बना कर युद्ध से विमुख होना उचित नहीं है (2.13-18)। आत्मा तो मरती नहीं है वह विकाररहित है, क्रियारहित है। उसका शरीर से सम्बन्ध ऐसा है जैसा शरीर और वस्त्र का सम्बन्ध। वस्त्र नष्ट होने पर शरीर नष्ट नहीं होता है उसी प्रकार शरीर नष्ट होने पर भी अक्षय आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ता है। वह नया शरीर धारण कर लेती है अत: शोक निरर्थक है (2.19-25)। यदि तुम्हें लगे, जन्म तथा मृत्यु वास्तविक है तो भी कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है तब जिसकी मृत्यु होगी उसका जन्म भी

अनिवार्य होगा। इनको तुम रोक नहीं सकते हो। अत: चिन्ता न करो। नाशवान् शरीर की चिन्ता छोड़कर अविनाशी आत्मा का चिन्तन करो। व्यर्थ में क्यों दु:खी हो रहे हो? (2.26-30)।

2. लौकिक दृष्टि से भी अर्जुन का निर्णय असङ्गत—अर्जुन का युद्ध त्यागने का निर्णय भी वर्णधर्मानुसार ठीक नहीं है। क्षत्रिय का धर्मयुद्ध से विमुख होना शास्त्र निषिद्ध है। धर्मयुद्ध से तो क्षत्रिय बड़े प्रसन्न होते हैं। युद्ध त्यागने से तुम कर्त्तव्य भ्रष्ट होओगे, तुम्हारी प्रतिष्ठा धूलधूसरित हो जायेगी। शास्त्र निषिद्धाचरण से पापी बनोगे। लोकापवाद से मुँह छिपाने को जगह नहीं मिलेगी। जिस जीवन के तुम मौत से भागना चाहते हो, तुम्हें निन्दनीय जीवन से मौत ही अच्छी लगेगी (2.31-36)। अत: तुम शास्त्र के मन्तव्य को समझो। युद्ध में मरने से स्वर्ग सुख प्राप्त होगा तथा जीतने पर राज्य सुख मिलेगा। अत: कर्त्तव्य मानकर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाओ (2.37-38)।

3. कर्मयोग की दृष्टि से अर्जुन का निर्णय असङ्गत—कर्मयोग तो जीवन का राजमार्ग है जिस पर चलकर प्राणी कभी दु:खी नहीं हो सकता है। सकाम कर्म ही आत्मा को बाँधते हैं, निष्काम कर्म नहीं। कर्मयोग में चार बाते हैं—1. मनुष्य केवल कर्म करने का अधिकारी है, 2. मनुष्य के हाथ में फल प्राप्ति भगवदाधीन है, 3. अत: हमें कर्मफल को उद्देश्य करके कर्म नहीं करने चाहिए, 4. न ही कर्मों को निष्प्रयोजन समझ कर निक्कमा बनना चाहिए। अत: सकाम कर्म को त्याग कर निष्काम भाव या अनासक्त योग से कर्मों का पालन करना चाहिए जिससे अखण्डानन्द (मोक्ष) प्राप्त हो (2.39-53)। अत: कर्मयोग के मर्म को न समझकर अर्जुन गलत निर्णय ले रहा है। उसे इन तीनों कारणों पर ध्यान देकर तुरन्त युद्ध करना चाहिए।

निष्काम कर्मयोगी को यहाँ स्थितप्रज्ञ कहा गया है जिस पर (2.54) अर्जुन उसके विषय में प्रश्न करता है। स्थितप्रज्ञ (जीवन्मुक्त) का क्या लक्षण है? कैसे बोलता है? कैसे बैठता है? तथा कैसे चलता है? तब भगवान् अर्जुन की शङ्का का समाधान करते हुए स्थितप्रज्ञ का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। गीता (अध्याय 2, श्लोक 55-71) के अनुसार स्थितप्रज्ञ या जीवन्मुक्त के प्रमुख पन्द्रह लक्षण हैं—1. जो मन में रहने वाली सभी कामनाओं का त्याग कर देता है, 2. जो आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट है, 3. जो दु:खों से नहीं घबराता है, 4. जो सुखों की इच्छा नहीं रखता है, 5. जो आसक्ति, भय और क्रोध से मक्त है, 6. जो सर्वत्र ममतायुक्त स्नेह से रहित है, 7. जो शुभ वस्तु को पाकर हर्ष से फूल नहीं जाता है, 8. जो अशुभ वस्तु की प्राप्ति से द्वेष नहीं करता, 9. जो इन्द्रियों को कछुए की भाँति सभी विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी रखता है, 10. जो मन, इन्द्रियों को वश में रखकर भगवान् के परायण रहता है, 11. जो मन, इन्द्रियों को नियन्त्रित करके रागद्वेष रहित हो, इन्द्रियों से विषयों का शास्त्रानुकूल आसक्ति रहित सेवन करता है, 12. जो निर्मल और प्रसन्न चित्त रहता है, 13. जो नित्य शुद्ध

बोधस्वरूप परमानन्द में निरन्तर जाग्रत रहता है और नाशवान् क्षणभङ्गुर सांसारिक सुखों में सोता रहता है अर्थात् आत्मरूप में स्थित और भोगों में उदासीन रहता है, 14. जो भोगों से विचलित न होकर समुद्र की तरह स्वस्वरूप में अचल स्थिर रहता है, 15. जो कामना, ममता, अहङ्कार और स्पृहा का त्याग कर देता है।

इस तरह के लक्षणों को घटित करता हुआ निष्काम कर्मयोगी मुक्ति को अनायास ही अधिगत कर लेता है। वह भवसागर के आवागमन से छूटकर परमगति को प्राप्त कर लेता है (2-55-72)।

तृतीय अध्याय में गीता का प्रधान लक्ष्य स्पष्ट किया गया है। मोक्ष के दो वैदिक उपाय हैं प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग। सांख्य योग या ज्ञानमार्ग निवृत्ति मार्ग है। निष्काम कर्मयोग या योगमार्ग प्रवृत्ति मार्ग है। सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थ मृगतृष्णा के जल की तरह या स्वप्नवत् मायिक हैं। अत: माया के कार्यरूप सम्पूर्ण गुणों में गुण ही रहते हैं, ऐसा मानकर ज्ञानी पुरुष अपने को प्रकृति से पृथक् अर्थात् मन-इन्द्रियों तथा शरीर के कर्मों कर्त्तापन से रहित समझे तथा सर्वव्यापी परमात्मा में एकीभाव से नित्य रहता हुआ जगत् को ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं समझे। यह ज्ञान मार्ग या सांख्य योग है।

कर्मयोग में सब कुछ भगवान् का समझ कर कार्य की सिद्धि तथा असिद्धि में समत्व भाव रखते हुए, आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करके भगवान् की आज्ञानुसार भगवान् के लिए ही सब कर्म करना है। यहाँ काम या फलासक्ति का त्याग आवश्यक है। इन दोनों मार्ग को एक ही माना जाता है, भेद केवल अधिकारी के लिए है। कर्मयोग संन्यासी के लिए सम्भव नहीं है। ज्ञानयोग सबके लिए सम्भव है। पर कर्मयोग व्यावहारिक होने पर ज्ञानयोग से सरल है। कर्मों का त्याग हम क्षण भर के लिए भी नहीं कर सकते हैं अत: अनासक्ति भाव से नियत कर्म करने चाहिए (3.1-8)।

यज्ञ कर्म हमें बाँधते नहीं हैं क्योंकि ये परमात्मा के कर्म हैं। प्रजापति ने प्रजा के साथ ही यज्ञ को पैदा किया है तथा इसे सम्पूर्ण मानव जाति की इच्छाओं का पूरक बताया है। यज्ञ से देवता पुष्ट होकर साधक को पुष्ट करते हैं। यज्ञशेष अमृत होता है, यज्ञ नहीं करने से चोर समझा जाता है। हमें जो प्रकृति ने प्रदान किया उस ऋण के लिए उन्हें परमात्मा को धन्यवाद देना ही यज्ञ है। यज्ञ से सृष्टि चक्र चलता है। अन्न से प्राणी जीवित है, अन्न वर्षा से होता है, वर्षा यज्ञ से होती है। अत: प्राणी मात्र के लिए यज्ञ से श्रेष्ठतर कर्म कोई नहीं है (3.9-16)। यद्यपि आत्मज्ञानी के लिए कर्म करना कोई आवश्यक प्रतीत नहीं होता है, फिर भी आत्मसन्तुष्ट होने पर भी लोकसंग्रहार्थ कर्म करना आवश्यक है। जनकादि विदेह कहलाते हैं। वे ज्ञानी होकर भी लोकसंग्रह के लिए कर्म करते हैं। यह सत्य है कि भगवान् को कोई आवश्यकता कर्म करने के लिए दिखाई नहीं देती है। फिर लोक उनका अनुसरण करता है। यदि श्रेष्ठ ज्ञानी, या भगवान् कर्म

करना छोड़ दें तो समस्त संसार भी देखादेखी में कर्मत्याग देगा। ऐसा ज्ञानी का अभीष्ट नहीं है (3.17-24)। अत: कर्म तो करणीय है। ज्ञानी भी अज्ञानी की तरह कर्मों को लोकसंग्रह के लिए करे। अज्ञानी अपने को कर्मों का कर्त्ता अज्ञानवश समझता है। तत्त्वज्ञ ऐसा अहङ्कार नहीं करता है। उसे चाहिए कि अज्ञानी को कर्म त्यागने को प्रेरित नहीं करे। कर्मयोगी समस्त कर्मों को ईश्वरार्पित करता हुआ आशा तथा ममता रहित हो जाए। संसार में स्वधर्म वा कर्त्तव्य पालन रूपी युद्ध के लिए सर्वदा तैयार रहे (3.25-33)। अज्ञानीजन इन्द्रिय सुखों के लिए कर्म करते हैं। इसलिए उन्हें कुछ प्रिय कर्म अच्छे तथा अप्रिय कर्म बुरे लगते हैं। राग-द्वेष ही अज्ञान है। अच्छा-बुरा कुछ नहीं है। व्यक्ति को स्वधर्म का पालन करना चाहिए भले ही उमसे मृत्यु क्यों नहीं हो जाए। दूसरे के अच्छे धर्म का पालन कथमपि नहीं करना चाहिए (3.34-35)। अब अर्जुन पाप का कारण क्या है? इस विषय में जिज्ञासा रखते हैं (3.36)। जिसके उत्तर में भगवान् कृष्ण ने कामना को ही पाप कारण सिद्ध किया है। भोगेच्छा ही मनुष्य को पतित करती है। इसकी तृप्ति कदापि नहीं हो सकती है। इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि इसके स्थान हैं। अत: इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर इसे वश में रखना चाहिए। काम (भोगेच्छा) ही हमारा सबसे बड़ा शत्रु है। इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन है, मन से श्रेष्ठ बुद्धि है तथा बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा है। अत: आत्मा के लिए इन सबका निग्रह करे वही योगी है, वही ज्ञानी है। यही कर्मयोग की शिक्षा है (3.37-43)।

चतुर्थ अध्याय में कृष्ण प्रकृत विषय का व्याख्यान आगे बढ़ाते हैं। कर्मयोग की प्राचीन परम्परा को सङ्केतित करते हैं। वे कहते हैं कि मैंने इस योग (कर्मयोग) को विवस्वान् को दिया उसने अपने पुत्र मनु को दिया अब वह योग लोक में अज्ञात हो गया है, अत: पुन: अर्जुन को बता रहा हूँ। तब अर्जुन जिज्ञासा करते हैं कि आप का जन्म कब और कैसे होता है। तब भगवान् स्पष्ट करते हैं, हे अर्जुन! तेरे और मेरे अनेक जन्म हो गये हैं। मैं अजन्मा होकर भी मायावश धर्मरक्षा तथा अधर्म के नाश के लिए जन्म ग्रहण करता हूँ। जिससे साधुओं की रक्षा तथा दुष्टों का विनाश होता है तथा धर्म की पुन: स्थापना होती है। तब तुम इस अवतार का मर्म समझो। हम इस महाभारत में धर्मरक्षा के लिए एकत्रित हैं (4.1-9)। अत: ज्ञानी जन राग, भय तथा क्रोध को त्याग कर भगवान् की आज्ञानुसार व्यवहार करते हैं। जो जिसकी उपासना करते हैं उन्हें वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है। मैंने चारों वर्णों को पैदा किया, पर मैं उनका कर्त्ता भी हूँ पर ज्ञानी होने पर अकर्त्ता हूँ। इसी तरह कर्मों से निर्लिप्त होकर कर्म करना चाहिए। यही सनातन मार्ग है (4.10-15)। कर्म वेदविहित या नियत कृत्य है। अकर्म वह है जहाँ कर्म करके भी मनुष्य उसके कर्तृत्व भाव से युक्त नहीं होता। विकर्म निषिद्ध कर्म को कहते हैं। अत: ज्ञानी को अकर्म करना चाहिए। ज्ञान योग सर्वश्रेष्ठ है जिसमें व्यक्ति आसक्ति को त्याग कर कर्म करता हुआ भी नहीं करता है। सिद्धि और असिद्धि में

समान रहकर द्वन्द्वातीत, ईर्ष्यारहित ज्ञानी कार्य करके भी उनके दोषों या गुणों से नहीं बन्धता है। इस तरह सब तरह की फलासक्ति रहित व्यक्ति मुक्त कहलाता है। ऐसे ज्ञानी के सभी कर्मों के जाल ज्ञानाग्नि से नष्ट हो जाते हैं। वह केवल यज्ञार्थ कर्म कर सकता है (4.16-23)।

यद्यपि तृतीय अध्याय में यज्ञ से तात्पर्य हवन से प्रतीत होता है क्योंकि उस से वर्षा होती है परन्तु भगवान् यज्ञ को व्यापक अर्थों में प्रस्तुत करते हैं। यहाँ वर्णित यज्ञों का सार सङ्क्षेप इस प्रकार है।

गीतोक्त यज्ञ चौदह है जिन्हें सात वर्गों में बाँटा जा सकता है—1. जड़ वस्तु सम्बन्धी यज्ञ (द्रव्य यज्ञ और देव यज्ञ), 2. शरीर सम्बन्धी यज्ञ (ज्ञानेन्द्रिय यज्ञ और विषय यज्ञ), 3. वाणी सम्बन्धी यज्ञ (स्वाध्याय ज्ञान यज्ञ), 4. प्राण सम्बन्धी यज्ञ (प्राण यज्ञ, अपान यज्ञ, प्राणापान यज्ञ तथा अन्तर प्राणयज्ञ), 5. बुद्धिसम्बन्धी यज्ञ (योग यज्ञ), 6. मिश्रित प्रकार यज्ञ (तपोयज्ञ, जपयज्ञ तथा इन्द्रिय प्राणयज्ञ), 7. परमात्म सम्बन्धी यज्ञ।

अब चौदह यज्ञों का सङ्क्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—1. द्रव्ययज्ञ—इस यज्ञ में धन-धान्य-वस्त्रादि सम्पत्ति को ईश्वर प्रीत्यर्थ दान, धर्म और परोपकारी कार्यों में खर्च करना होता है (4.18), 2. देवयज्ञ—इस यज्ञ में देवताओं के लिए जड़ द्रव्यों का हवन करना होता है (4.25), 3. ज्ञानेन्द्रिय यज्ञ—इस यज्ञ में ज्ञानेन्द्रियों के संयम का अभ्यास यानी इन्द्रियों को विषयों से रोकना होता है (4.26), 4. विषययज्ञ—इस यज्ञ में इन्द्रियों के द्वारा उन्हीं विषयों का सेवन करना जो यज्ञावशिष्ट हों (4.26), 5. स्वाध्यायज्ञानयज्ञ—अर्थज्ञानसहित धर्म ग्रन्थों के पढ़ने का अभ्यास होता है (वेदाध्ययन स्तोत्रपारायण आदि) (नामजप) (4.28), 6. प्राणयज्ञ—अपान, व्यान, उदान और समान इन चारों का प्राणवायु में हवन करना यानी पूरक प्राणायाम करना होता है (4.29), 7. अपानयज्ञ—प्राण, व्यान, उदान और समान—इन चारों का अपान वायु में हवन करना यानी रेचक प्राणायाम करना होता है (4.29), 8. प्राणापानयज्ञ—शरीर में दोषरहित हुई शुद्ध प्राणवायु को स्थिर, स्वस्थ और शान्त करना, सम प्रमाण में रोककर 'आभ्यन्तर' या 'बाह्य', 'कुम्भक' प्राणायाम करना होता है (4.29), 9. अनन्तप्राणयज्ञ—इन्द्रियों को चेतन करने वाली प्राणशक्ति को आहार के संयम से वश में करना होता है (4.30), 10. योगयज्ञ—बुद्धियोग यानी कुशलता से निष्काम कर्म करना अथवा अष्टाङ्ग योग का साधन करना (4.28), 11. तपोयज्ञ—व्रतोपवास या अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों द्वारा शरीर मन को शुद्ध और पवित्र बनाना या स्वधर्म पालन रूप तप करना होता है (4.28), 12. जपयज्ञ—वाचिक, उपांशु, मानसिक, ध्यान या अनन्य जप करना होता है (10.25), 13. इन्द्रिय प्राण कर्मयज्ञ करना या इन्द्रियों की चेष्टा और मन के व्यापार को ज्ञान से प्रकाशित परमात्मा

में स्थिति रूप योग में लगाना होता है (4.27), 14. ज्ञानयज्ञ या ब्रह्मयज्ञ—सब कुछ ब्रह्मरूप समझ कर सर्वदा सर्वत्र समस्त क्रियाओं में सर्वथा ब्रह्म का अनुभव करना होता है (4.24-25)।

यज्ञ से शेष रहा हुआ अमृत होता है उसे प्राप्त करने वाला सनातन ब्रह्म को प्राप्त करता है। यज्ञ रहित के लिए न तो यह लोक है और न परलोक। इस तरह यज्ञ के बहुत भेद होते हैं पर सबसे श्रेष्ठ यज्ञ ज्ञानयज्ञ होता है। अत: अर्जुन ज्ञान प्राप्ति के लिए तत्त्वदर्शियों के समीप जाना चाहिए। उस परमज्ञान को प्राप्त कर तुम्हें दुबारा मोह नहीं होगा। सब कुछ तेरे में है। तू मुझमें है। आत्मज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है। पापों से, पापियों से बचने के लिए ज्ञान नौका में सवार हो जाओ और लकड़ी के ढेर को जैसे अग्नि जलाती है वैसे ही ज्ञान समस्त पाप को नष्ट करता है। इससे पवित्र कुछ भी नहीं है। यही तुम कर्मयोग से स्वयं में पा लोगे। श्रद्धावान् ही ज्ञान को प्राप्त करता है। अज्ञानी और श्रद्धा रहित नष्ट होता है। अत: निष्काम कर्मयोग के द्वारा कर्मों को (फलेच्छा को) छोड़कर ज्ञान से संशयों को नष्ट कर आत्मवान् बनो। आत्मवान् कर्मों से नहीं बंधता है। ज्ञान कटार से अज्ञानरूप शङ्काओं को समाप्त कर कर्मयोग के लिए खड़े हो जाओ, युद्ध के लिए खड़े हो जाओ (4.31-32)। यही गीता का प्रधान लक्ष्य है। निवृत्तिमार्गी गीता का ज्ञान प्राप्ति लक्ष्य निर्धारित करते हैं। प्रवृत्तिमार्गी निष्काम कर्म प्रधान लक्ष्य निर्धारित करते हैं। दोनों एक ही लक्ष्य प्राप्ति के दो मार्ग हैं।

(18) विदुरगीता

यह गीता *महाभारत* के स्त्रीपर्व के जलप्रदानिक पर्व में अध्याय 1-6 तक है। इसमें कुल 144 श्लोक हैं। युद्ध में सौ पुत्रों की मृत्यु के बाद दु:खित धृतराष्ट्र को सान्त्वना देने के लिए विदुरजी उसके पास आते हैं। विदुरजी महाभारतकाल के बड़े सदाचारी नीतिज्ञ एवं न्यायप्रिय सत्पुरुष हैं। यद्यपि वे कौरवों के आश्रित थे पर उनके अनीतिपूर्ण कार्यों को देखकर वे सदैव पाण्डवों के शुभचिन्तक रहे। युद्ध के पश्चात् समग्र कौरव पक्ष के विनाश के बाद शोकसागर में सन्तप्त धृतराष्ट्र को उन्होंने इस गीता के माध्यम से आवश्यक कर्म में प्रवृत्त होने के लिए अमृतमय धर्मोपदेश किया। वे सदा ही कल्याणकारी परामर्श देते थे। उन्होंने जीव के जन्म एवं मरण के शाश्वत सत्य विषय में जो भी कुछ कहा है वह *भगवद्गीता* के अनुकूल ही है। उनका उद्घोष है कि सभी संयोगों का अन्त वियोग में तथा सभी के जीवन का अन्त मृत्यु के रूप में ही होता है। भले ही शूरवीर या कायर हो, दोनों ही प्रकार के व्यक्ति अन्त में कालग्रास बनते ही हैं। युद्ध न करने वाले भी मृत्यु को प्राप्त होते हैं तथा युद्ध करने वालों में अनेक जीवित भी बच जाते हैं। वस्तुत: जब जिसका काल आता है तब उसे प्रस्थान करना ही पड़ता है। उसका उलङ्घन करने में कोई भी प्राणी सक्षम नहीं होता है। प्राणी जन्म से पूर्व भी

अव्यक्त रहते हैं तथा मृत्यु के पश्चात् भी अव्यक्त रहते हैं। केवल बीच में ही व्यक्त होते हैं अत: थोड़ी देर के लिए व्यक्त होने वाली वस्तु अव्यक्त हो गई तो दु:ख किस बात का? इस प्रकार के वचनों से मृत पुत्रों का शोक न करने का धैर्यकारी उपदेश इस गीता में दिया गया है। शरीर अनित्य है, उसके विनाश से आत्म रूप का विनाश नहीं होता है तथा दु:खमय संसार के बन्धनों से छूटना ही मृत्यु है। युद्ध में मृत्यु को प्राप्त क्षत्रिय तो स्वर्गपथ के गामी है। संसार को रूपक के माध्यम से अत्यन्त महाभयानक बताया। इस दु:खमय संसार की निवृत्ति तो ज्ञान और वैराग्य के द्वारा ही है। हे धृतराष्ट्र आप अपने मरे हुए सगे सम्बन्धियों का और्ध्वदैहिक संस्कार कीजिये। इससे आपको उत्तम फल की प्राप्ति होगी तथा सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी तो सनातन ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार इस उपदेश के चमत्कार से धृतराष्ट्र और्ध्वदैहिक कर्मों के लिए तैयार हो गये। नश्वर एवं क्षण विध्वंसी संसार में शोक करना मूर्खता ही है। परिस्थिति पर मानव का वश नहीं चलता है। मनुष्य के लिए अपने कर्तव्यपालन में सचेष्ट रहना ही समझदारी है। अत: मृतकों की अन्त्येष्टि बचे हुए लोगों का ही अनिवार्य परम कर्त्तव्य है। इस प्रकार यह गीता हर परिस्थिति में कर्त्तव्य पर डट जाने की शिक्षा एवं शक्ति प्रदान करती है।

(19) जनकगीता

यह गीता शान्तिपर्व के दो अध्यायों (17-18) में 64 श्लोकों में उपनिबद्ध है। विदेह राजा जनक की संसार से निर्लिप्त दृष्टि को यहाँ प्रदर्शित किया गया है। तत्त्वदर्शी जीवन्मुक्त जनक के मोक्ष विषयक विचारों को प्रतिपाद्य बनाकर यह गीता भीम-युधिष्ठिर संवाद के रूप में सृजित हुई है। इसमें सांसारिकताजन्य बन्धनों में सुख-दु:ख की भूमिका पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है तथा बुद्धि के मन पर नियंत्रण से बन्धन मुक्त रहने का उपदेश दिया है।

(20) सेनजिद्गीता-I

यह गीता शान्तिपर्व के 25वें अध्याय में 36 श्लोकों में प्राप्त है। इसके श्लोक 13 से 29 तक सेनजिद् के उद्गार कहे गये हैं। सेनजित् का मानना था कि सुख और दु:ख दोनों ही अनित्य है तथा बारी-बारी से आते हैं। वस्तुत: संसार में किसी भी आत्मा का मरण नहीं हो सकता है अत: शोक करना व्यर्थ ही सिद्ध होता है। संसार में जो भी सुख या दु:ख प्राप्त हो रहे हैं उन्हें उन्हीं भाव से स्वीकार करना ही सच्ची मानवता है। कोई भी व्यक्ति अपनी पत्नी या पुत्रों का थोड़ा-सा बुरा करके देख ले तब उसे पता चलेगा कि किसका किसके साथ कैसा सम्बन्ध है। पारिवारिक सम्बन्धों की असारता यह गीता स्पष्ट करती है।

(21) अश्मगीता

यह गीता महाभारत के शान्तिपर्व के अट्ठाईसवें अध्याय में 59 श्लोकों के रूप में उपलब्ध है। इसमें अश्म नामक ऋषि के उपाख्यान से स्थितप्रज्ञ होने की सिद्धि की गई है। यह गीता वेदव्यास-युधिष्ठिर संवाद के रूप में प्राप्त होती है। इसमें महर्षि वेदव्यास युधिष्ठिर को सांसारिक सुख-दु:खों के प्रभाव से विचलित न होने का एवं शास्त्र ज्ञानरूप होने से नेत्रतुल्य होने का उपदेश दिया गया है। अश्म ऋषि का उपाख्यान उपनिबद्ध होने से इसे अश्मगीता का नाम दिया गया है। प्रारब्ध को नियंत्रित करने हेतु त्रिवर्ग के संतुलित सेवन का उपदेश भी पर्याप्त कल्याणकारी है।

(22) स्वायंभुव मनुगीता

यह गीता शान्तिपर्व के 36वें अध्याय में 59 पद्यों में उपलब्ध है। इस गीता में स्वायम्भुव मनु के अनुसार धर्म का स्वरूप प्रकट किया गया है। मनुष्यों के द्वारा किये गये पापों की शुद्धि के लिये धर्मशास्त्रीय प्रायश्चित्त विधान बताया गया है। अभक्ष्य वस्तुओं का वर्णन तथा दान के सुपात्र अधिकारी का विवेचन भी किया गया है। किसी अनधिकारी व्यक्ति को दान नहीं दिया जाना चाहिये अत: उसके लक्षण भी यहाँ कहे गये हैं। इस अध्याय का संवाद प्रजापति मनु एवं सिद्ध पुरुषों के बीच हुआ है जो अति विलक्षण है। दान, अध्ययन, तप, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, यज्ञ तथा बिना दी वस्तु का दान न लेना—धर्म का लक्षण है परन्तु देश या काल के भेद से धर्म भी अधर्म हो सकता है तथा अधर्म धर्म बन सकता है।

(23) भीष्मस्तवराजगीता

यह शान्ति-पर्व का 47वां अध्याय हैं। इसमें 113 श्लोक हैं। भीष्म ने यहाँ श्रीकृष्ण की स्तुति की है। कृष्ण हरि हैं, नारायण हैं, परम ब्रह्म हैं। वेदों के ब्रह्म का यहाँ पूर्ण अभेद श्रीकृष्ण से किया गया है। इसके अतिरिक्त यहाँ भगवान् के दस अवतारों का वर्णन है। इसमें सांख्य के तत्वों, वैशेषिक मत के गुणों, योग तथा भक्ति का उल्लेख है। पुनश्च इसमें ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश इन त्रिदेवों या त्रिमूर्तियों का भी वर्णन है। स्पष्ट है कि यह ईश्वरवाद की स्थापना करता है।

(24) मनुगीता एवं उशनोगीता

यह गीता महाभारत के शान्तिपर्व के 56वें अध्याय में है। इसमें 23-25 के श्लोकों में मनुगीता को नामत: उल्लेख किया गया है। मानवसृष्टि के प्रवर्तक चतुर्दशमनुओं में आदिपुरुष के नाम से यह उद्धृत है। मनु द्वारा कथित यह गीता भी भीष्म द्वारा युधिष्ठिर के प्रति कही गयी है। इसमें जल से अग्नि, ब्राह्मण से क्षत्रिय एवं

पत्थर से लोहे की उत्पत्ति को बतलाकर यह उपदेश दिया गया है कि जैसे अग्नि जल का नाश करती है, लोहा पत्थर को विदीर्ण करता है वैसे ही क्षत्रिय स्वयं यदि ब्राह्मण के साथ द्वेषपूर्ण व्यवहार करे तो वह शान्त हो जाता है तथा दुर्बलता को प्राप्त होता है।

(25) उशनोगीता

यह गीता शान्तिपर्व के 56वें अध्याय में प्राप्त होती है जहाँ उशना आचार्य के राजनीति सम्बन्धित सिद्धान्त को वार्तालाप के अन्तर्गत उद्धृत किया गया है। यह गीता कुल चार श्लोकों में प्राप्त होती है। यह गीता भीष्म द्वारा युधिष्ठिर से कही गयी है किन्तु इसमें भीष्म द्वारा कथित उपदेश महर्षि उशना के धर्म सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हैं। धर्म की रक्षा एवं युद्धादि में क्षत्रिय के लिए द्विज की बध्यता-अबध्यता के विषय पर भी चर्चा हुई है। द्विज को वध की अपेक्षा निर्वासन दण्ड दिये जाने के प्रावधान पर अधिक बल दिया गया है जिसे धर्मशास्त्र की परम्परा में स्वीकार किया गया है।

(26) भार्गवगीता

यह गीता शान्तिपर्व के 57वें अध्याय के रूप में प्राप्त है। इसमें कुल 6 श्लोक (40 से 45) भार्गव के नाम से उपदिष्ट हैं। इस गीता की रचना शुक्राचार्य परशुराम संवाद के रूप में होती है। भार्गव शुक्राचार्य का ही सूचक पद है। इसमें मूल प्रकृति का निरूपण कर मानव को अपने मूल यथार्थ स्वरूप के ज्ञान की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया गया है। प्राचेतस मनु ने भी इस गीता के ज्ञान को ग्रहण कर मुक्ति प्राप्त की थी। ऐसा आख्यान भी इसमें उपनिबद्ध हुआ है।

(27) यज्ञगीता

यह गीता शान्तिपर्व के 60वें अध्याय में है जिसमें 15 श्लोक हैं। यज्ञ वैदिक संस्कृति का प्रधान कृत्य है जिससे पवित्र कोई अन्य कर्म नहीं हो सकता है। उसकी महिमा इसमें बताई गई है। इस गीता में भीष्म युधिष्ठिर को वैखानस मुनि द्वारा कथित गाथा को सुनाते हैं। इसमें अग्निहोत्र की महत्ता दर्शायी गयी है तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित यज्ञविधि को लोककल्याण में समर्थ बतलाया गया है। यज्ञ में श्रद्धा के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला गया है। यज्ञ को महान् उत्कृष्ट कर्म मानते हुए कर्मवाद की पृष्ठभूमि को सशक्त बनाया गया है। यज्ञफल के संदर्भ में ग्रन्थकार ने असूयारहित एवं श्रद्धावान् होने का आग्रह व्यक्त किया है।

(28) नारायणगीता

यह गीता शान्तिपर्व के 61वें अध्याय में 21 श्लोक में कही गई है। भगवान् नारायण जो सृष्टि के पालक हैं तथैव गृहस्थ को भी अन्य आश्रमों का पालन करना

चाहिए। यह गीता भी भीष्म-युधिष्ठिर संवाद के रूप में लिखी गयी है। गृहस्थ के लिए सत्य, सौम्यता, अतिथिपूजा, धर्म, अर्थ एवं काम का संतुलित सेवन ही परलोक का कारण बतलाया गया है। स्त्री, पुत्रादि के दायित्व-निर्वाह, अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ, शुद्ध आजीविका को महत्त्व दिया गया है। गृहस्थ के साथ ही ब्रह्मचर्य की उपादेयता भी यहाँ निरूपित हुई है।

(29) आङ्गिरस (बृहस्पति) गीता

यह गीता शान्तिपर्व के 68वें अध्याय में 61 श्लोकों के रूप में उपलब्ध है। इस गीता में वसुमना नामक राजा ने आङ्गिरस वृहस्पति से बिना राजा के राज्य में होने वाली हानि के विषय में पूछा तथा राजा के होने से राज्य में क्या लाभ है? तब बृहस्पति ने राजधर्म के अनुसार राजा के होने से होने वाली समृद्धि को बताया है। राजा के होने से प्रजा परस्पर एक-दूसरे को खाती नहीं है। उसके होने पर भी प्रजा प्रसन्नता से रह सकती है। जैसे राजा के न होने पर देश में हिंसा का ताण्डव फैल जाता है। राजा के अभाव में सुख एवं शान्ति सम्भव नहीं है। मेरी सन्तान, पत्नी, घर, सम्पत्ति आदि भी मेरी नहीं रहती है तथा लूटेरों का राज हो जाता है। राजा समयानुसार पाँच रूप धारण करता है—अग्नि, आदित्य, मृत्यु, यम तथा कुबेर। पापी के लिए अग्नि है, गुप्तचरों के द्वारा प्रजा को देखना आदित्य रूप है, अपवित्रों के विनाश के कारण मृत्यु रूप है, अधार्मिकों को दण्ड के द्वारा काबू करने से यम रूप है तथा उपकारी को धन से तर्पित करना एवं देशद्रोही का धन छीनने के कारण कुबेर माना जाता है। इस गीता में राजा की महिमा विशेष रूप से तार्किक आधार पर स्पष्ट की गई है। अत: राजधर्म के लिए विशेष उल्लेखनीय है।

(30) कैकेयगीता

यह गीता महाभारत के शान्तिपर्व के 77वें अध्याय में उपलब्ध है। इसमें कुल 34 पद्य प्राप्त होते हैं। जहाँ कैकेय देश के राजा के द्वारा सिद्धान्तित राजधर्म का उपदेश प्राप्त होता है। यह गीता भीष्म-युधिष्ठिर संवाद के रूप में प्राप्त होती है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य राजा के धनाधिकार के संदर्भ में प्रस्तुत हुआ है। यह विषय पूर्णतया राजधर्म से सम्बन्धित है। इसमें राजवृत्ति को लेकर ब्राह्मण एवं अब्राह्मण से ग्राह्य धन के विषय में विस्तारपूर्वक बतलाया गया है।

(31) उतथ्य गीता

उतथ्य गीता, महाराज के शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व के 90-91 दो अध्यायों में निरूपित है। इसकी श्लोक संख्या 101 है।

समाज में राजा अथवा शासन कर्त्ता की आवश्यकता किसलिए है और उसका क्या कर्त्तव्य है, यह उतथ्य गीता में बहुत अच्छी तरह बतलाया गया है। यह सत्य है कि राजमद से अधिकांश व्यक्ति मदान्ध हो जाते हैं वे प्राय: अनेक अनुचित कर्म करते हैं। पर यदि राजा न्यायशील और अपने कर्त्तव्य का दृढ़तापूर्वक पालन करने वाला हो तो उससे प्रजा का बड़ा कल्याण हो सकता है। उतथ्य ने इस सिद्धान्त का बहुत अच्छी तरह समझाया था—

"राजा का उद्देश्य धर्म पालन और उसकी रक्षा करना ही है। वह विषय-सुख भोगने के लिए राजा नहीं बनाया जाता। धर्माचरण करने वाला राजा देवता हो जाता है, पर अधर्मरत राजा को नरकगामी होना पड़ता है। सभी प्राणी धर्म के आधार पर स्थित हैं, पर राजा धर्म के ऊपर स्थित होता है। इसलिए जो राजा भले प्रकार धर्म का पालन करता हुआ उसके अनुकूल चलता है वह दीर्घकाल तक पृथ्वी का अधीश्वर बना रहता है। यदि राजा पाप कार्यों को नहीं रोकता या स्वयं पाप करता है तो संसार में धर्म वृत्ति समाप्त हो जाती है और महान् अधर्म फैलने से प्रजा सदा भयभीत रहती है। उस समय धर्म की व्यवस्था का आधार कुछ भी नहीं रहता। जब पाप की शक्ति बढ़ जाती है तब मनुष्यों को अपनी स्त्री, सम्पत्ति, घर, खेत, पशु की रक्षा का उपाय भी नहीं सूझता।"

यद्यपि आज 'राजा' शब्द मिटता चला जाता है और एक व्यक्तिगत राजा के स्थान पर अनेक व्यक्ति शासन सञ्चालक बनाये जाते हैं। उनके दूषित आचरणों से आज जनता की जो दुर्दशा हो रही है उसे देखते हुए हमको उक्त कथन सर्वथा सत्य ही प्रतीत होता है।

भीष्म पितामह और महाराज युधिष्ठिर के मध्य संवाद के रूप में इसमें भीष्म पितामह ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ अङ्गिरापुत्र उतथ्य द्वारा महाराज मान्धाता को राजधर्म विषयक ज्ञानोपदेश का वर्णन करते हैं।

ब्रह्मर्षि उतथ्य ने कहा—मान्धाता! धर्म का पालन और उसका प्रचार करने के लिए ही राजा का अस्तित्व है, विषय-सुखों का उपभोग करने के लिए नहीं। वह संपूर्ण जगत् का रक्षक होता है। धर्माचरण करने वाला राजा देवता बन जाता है। अधर्म का आचरण करने से राजा का नरक में पतन हो जाता है। परम धर्मात्मा राजा श्रीसंपन्न और धर्म का साक्षात् रूप होता है। यदि राजा धर्म का पालन और प्रचार नहीं करता है, तो जगत् में अधर्म और पाप की वृद्धि हो जाती है। उस समय मनुष्यों को अपनी स्त्री, पशु, धन-सम्पत्ति, घर आदि की रक्षा का कोई भरोसा नहीं रहता। समाज में असुरक्षा और अव्यवस्था का वातावरण हो जाता है।

भगवान् धर्म का नाम वृष है और जब धर्म विलीन हो जाता है, तो उसे देवता वृषल समझते हैं। अत: जिसमें धर्म विराज रहा हो, उसी को राजा कहते हैं।

राजन्! ब्रह्माजी ने प्राणियों के कल्याण के लिए ही धर्म की सृष्टि की है। इसलिए राजा को धर्म के प्रचार में सदैव तत्पर रहना चाहिए।

मान्धाता! सम्पत्ति का पुत्र है दर्प, जो अधर्म के अंश से उत्पन्न हुआ है। दर्प को जीतने वाला राजा और दर्प से पराजित होने वाला दास हो जाता है।

अधर्म का आश्रय लेने वाले राजा के राज्य में अनेक प्राकृतिक विपदाएँ आ जाती हैं तथा प्रजा में नाना प्रकार के रोग फैल जाते हैं।

महर्षि उतथ्य ने आगे कहा—राजन्! राजा ही प्राणियों का जीवनदाता और राजा ही उनका विनाश करने वाला है। धर्मात्मा राजा प्रजा का जीवनदाता और पापात्मा राजा उसका विनाश करने वाला होता है।

मान्धाता! कहते हैं कि विधाता ने दुर्बल प्राणियों की रक्षा के लिए ही बलसम्पन्न राजा की सृष्टि की है। राजन्! दुर्बल मनुष्य, मुनि और विषधर सर्प, इन सबकी दृष्टि को मैं अत्यन्त दु:सह मानता हूँ। इसलिए तुम किसी दुर्बल प्राणी को न सताना। राजा को कर्मचारियों के व्यवहार के सम्बन्ध में सदैव सचेत रहना चाहिए। जब राजा के बहुत-से कर्मचारी देश में अन्यायपूर्ण आचरण करने लगते हैं, तब वह बड़ा पाप राजा को ही लगता है।

राजा के धर्म के सम्बन्ध में विस्तार से बताते हुए उतथ्यजी कहते हैं—मन, वाणी और शरीर से सबकी रक्षा करना, आत्मीय अपराधी को भी दण्डित करना, डाकू, लुटेरों को मार भगाना, राष्ट्र की रक्षा करना, प्रजा में सर्वत्र सुरक्षा की भावना निर्मित करना, दीन, अनाथ, वृद्धों, अशक्त आदि का विशेष ध्यान रखना, मित्रों की वृद्धि, शत्रुओं का नाश, साधुजनों का समुचित सम्मान करना। मान्धाता! दुष्टों को दण्ड देने के कारण राजा परमेश्वर के समान होता है। राजन्! तुम सावधानीपूर्वक क्षमा, विवेक, धैर्य और सद्‌बुद्धि की शिक्षा ग्रहण करो।

राज्य की रक्षा तो वही राजा कर सकता है, जो बुद्धिमान् और शूरवीर होने के साथ दुष्टों को दण्ड देने की नीति को जानता हो।

राजन्! इन सब बातों का ध्यान में रखने से तुम्हें सभी प्राणियों के परम धर्म का ज्ञान हो जाएगा। सम्यक् विचार करने पर अर्थ और काम की अपेक्षा धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

भीष्म पितामह ने निष्कर्षत: महाराज युधिष्ठिर से कहा—ब्रह्मर्षि उतथ्य के ज्ञानोपदेश के अनुसार नरेश मान्धाता ने पृथ्वी का एकछत्र राज्य किया।

वत्स! तुम भी नरेश मान्धाता की भाँति धर्म का पालन करते हुए इस पृथ्वी की रक्षा करो। फिर तुम भी स्वर्गलोग में स्थान प्राप्त कर लोगे।

(32) वामदेवगीता

वामदेवगीता, महाभारत में शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व के 93,94 तथा 95—तीन अध्यायों में निरूपित है। इसमें कुल श्लोक 77 है।

महाराज युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा—पितामह! धर्मात्मा राजा को धर्म में स्थित रहने के लिए किस प्रकार का आचरण करना चाहिए?

भीष्म पितामह ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—राजन्! इस विषय में तत्त्वज्ञानी महात्मा वामदेव ने जो उपदेश राजा वसुमना को दिया था, वही मैं तुम्हें सुनाता हूँ।

महर्षि वामदेव ने कहा—राजन् तुम सदैव धर्म का पालन करते रहो। धर्म का अनुसरण करने वाले राजा संपूर्ण पृथ्वी के विजेता हो जाते हैं। इसके विपरीत अधर्म पर चलने वाले राजा शीघ्र ही श्रीहीन हो जाते हैं।

धर्म में स्थित, जितेन्द्रिय, बुद्धिमान् राजा की निरन्तर अभ्युदय में वृद्धि होती रहती है। राजा को चाहिए कि वह धर्म, अर्थ, काम, बुद्धि और मित्रों से सदैव सम्पन्न होने पर भी अपने को पूर्ण न मान ले। प्रत्युत उनके संग्रह में वृद्धि में निरन्तर सचेष्ट रहे।

धर्मात्मा राजा के आचरण का स्वरूप बताते हुए वामदेवजी कहते हैं—विद्वान् राजा के व्यवहार में छल-कपट नहीं होना चाहिए। इन्द्रिय-संयमी होकर उसे सुशील होना चाहिए। उसे सत्यवादी और प्रजा का परम हितैषी होना चाहिए। उसे कोई भी बात बिना सोचे-विचारे नहीं कहनी चाहिए। उसे किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए। उसे प्रिय-अप्रिय दोनों ही स्थितियों में समत्व-भाव रखते हुए सदैव राज्य के कल्याण का ही चिन्तन करना चाहिए।

राजन्! रक्षा के स्थान दुर्ग आदि, युद्ध, धर्म के अनुसार राज्य का शासन, मन्त्र-चिन्तन तथा यथासमय सबको सुख प्रदान करना—इन पाँच के द्वारा राज्य की वृद्धि होती है। जिस राजा के राज्य में ये बातें विद्यमान रहती हैं, वह राजाओं में श्रेष्ठ माना जाता है।

राजा को सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि कौन-सा राजा उससे प्रेम रखता है? कौन-सा राजा भय से आश्रित है? कौन मध्यस्थ है और कौन शत्रु है? राजा स्वयं बलवान् होने पर भी कभी अपने दुर्बल शत्रु का विश्वास न करे, क्योंकि ऐसे शत्रु असावधानी की अवस्था में बाज-पक्षी की तरह झपट्टा मारते हैं।

वामदेवजी आगे कहते हैं—राजन्! राजा को चाहिए कि वह विजय-वृद्धि के लिए पहले युद्ध के सिवा किसी अन्य उपाय की चेष्टा करे। युद्ध से प्राप्त विजय को निम्न श्रेणी का बताया गया है। जो राज्य धर्मात्मा लोकप्रिय राजा के शासन में

समृद्धिशाली, धन-धान्य सम्पन्न और बुद्धिमान् मन्त्रियों से सुशोभित है, उसी राज्य को दृढ़मूल, शक्तिशाली समझना चाहिए।

जिस स्थान पर शत्रु-पक्ष की सेना अधिक प्रबल हो, वहाँ पहले सामनीति ही उचित है। यदि वह सफल नहीं हो तो क्रमशः दान, धन, उपहार अन्यथा भेदनीति का आश्रय लेना चाहिए। यदि यह भी सफल न हो तो शत्रु की दुर्बलता का पता लगाकर दण्डनीति का ही प्रयोग करना उचित है अर्थात् उस शत्रु के साथ युद्ध छेड़ दे।

इस प्रकार जो राजा सदैव प्रजा का हित चाहता है और प्रजा जनों के कल्याण को अपना कर्त्तव्य मानता है, वह इस लोक और परलोक दोनों को जीतकर विश्व में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह इतिहास सुनाकर भीष्म पितामह कहते हैं—वत्स! वामदेवजी का उपदेश सुनकर राजा वसुमना सभी कार्य उसी के अनुसार करने लगे। यदि तुम भी ऐसा ही आचरण करोगे तो निःसन्देह लोक और परलोक दोनों ही सुधार लोगे।

(33) ऋषभगीता

ऋषभगीता, महाराज के शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व में 125वें अध्याय से लेकर 128वें अध्याय तक चार अध्यायों में उपलब्ध है। श्लोक संख्या 91 है।

महाराज युधिष्ठिर अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए भीष्म पितामह से प्रश्न करते हैं—पितामह! आशा की उत्पत्ति कैसे हुई? और वह है क्या? दादाजी! मुझे ऐसी आशा थी कि दुर्योधन बिना युद्ध के ही हमें आधा राज्य लौटा देगा, किन्तु उस दुर्बुद्धि ने मुझे हताश कर दिया। देखिए, मैं कैसा दुर्भाग्यशाली हूँ। आशा परम दुर्लभ और दुर्जय है।

भीष्म पितामह पूर्वकाल में घटित राजा सुमित्र और मुनिवर ऋषभ के इतिहास का वर्णन करते हुए कहते हैं—हैययवंशी राजा सुमित्र एक दिन शिकार के लिए वन में गए। एक मृग का पीछा करते-करते वे बहुत दूर तक सघन वन में निकल गए।

मृग के ओझल हो जाने पर थके-माँदें वे एक तपस्वी आश्रम में जा पहुँचे। राजा को अपने आश्रम में आया देखकर ऋषि-मुनियों ने उनका समुचित आदर-सत्कार किया। तपस्वियों के प्रश्न करने पर राजा सुमित्र ने अपना पूर्ण परिचय तथा वन में आने का उद्देश्य भी बता दिया।

राजा का मन मृग विषयक अपनी आशा की पूर्ति न होने के कारण बहुत दुःखी था। मन की इसी व्यथा को तपस्वियों के सम्मुख प्रकट करते हुए उसने कहा—तपोधनो! नगर तथा राजचिह्नों का परित्याग मुझे वैसी दारुण पीड़ा नहीं दे रहा, जैसा कि मेरी भग्न आशा मुझे व्यथित कर रही है। आशा की विशालता, अगाधता तथा अनन्तता के विषय में आप मुझे तात्त्विक ज्ञान का बोध कराने की कृपा करें।

राजर्षि सुमित्र की इस जिज्ञासा को सुनकर ऋषिवर ऋषभ ने अपनी भगवान् नरनारायण के दिव्य आश्रम की यात्रा का उल्लेख करते हुए कहा—राजन्! उस परम पावन बदरिका आश्रम में मुनिवर नर नारायण का नित्यवास है। उस आश्रम का दर्शन करने के बाद जब मैं निकट के दूसरे आश्रम में ठहरने के लिए गया, तो वहाँ मुझे तनु नाम के एक साक्षात् तपोमूर्ति, अत्यन्त लम्बे और अतीव कृशकाय ऋषि आते हुए दिखाई दिए। मैंने उनके चरणों में सादर प्रणाम किया और फिर उनके आदेश से उनके दिए आसन पर धीरे-से बैठ गया।

जिस समय मुनिवर तनु ऋषियों के मध्य कथा-वार्ता कर रहे थे, उसी समय एक नरेश, सैन्य बल और अन्त:पुर के साथ वहाँ आ पहुँचे। विशाल जंगल में भटक गए अपने पुत्र का स्मरण करके वे नरेश बहुत दु:खी थे। राजा का नाम वीरद्युम्न और खोए हुए राजकुमार का नाम भूरिद्युम्न था।

राजा वीरद्युम्न अपने खोए हुए इकलौते पुत्र की बातों का स्मरण करते हुए मन में यही आशा संजोए हुए थे कि मेरा राजकुमार हमें अवश्य मिल जाएगा।

राजा ने मुनिवर तनु से सविनय पूछा—ऋषिवर! कौन-सी वस्तु दुर्लभ है? और आशा से भी बढ़कर क्या है?

मुनिवर तनु ने ध्यानस्थ होने के बाद राजा वीरद्युम्न से कहा—राजन्! आपके पुत्र ने दुर्भाग्यवश पहले कभी एक तपस्वी मुनि का अपमान कर दिया था। मुनिवर ने उससे एक सुवर्णमय कलश और वल्कल की याचना की थी, किन्तु आपके पुत्र ने अवहेलना करके मुनि की इच्छापूर्ति नहीं की। इससे मुनि खिन्न और निराश हो गए।

मुनिवर ऋषभ ने आगे कहा—राजेन्द्र! राजा वीरद्युम्न मुनि तनु की बात सुनकर तुम्हारी ही तरह थककर शिथिल हो गए। आश्रम के तपस्वियों को उन्होंने अपना पूरा वृत्तान्त सुना दिया।

मुनि ऋषभ ने आगे कहते हुए बताया—पूर्वकाल में कभी राजा वीरद्युम्न ने मुनि तनु का समुचित आदर न करके उनकी आशा भङ्ग कर दी थी। तब तपस्वी मुनि ने संकल्प किया था कि मैं किसी भी राजा का दान ग्रहण नहीं करूँगा।

इसके बाद राजा वीरद्युम्न ने मुनिवर तनु से प्रश्न किया—मुनिवर आप यह बताने की कृपा करें कि आशा से बढ़कर दुर्बलता क्या है? और इससे पृथ्वी पर सबसे दुर्लभ क्या है?

मुनि तनु ने पूर्वकाल में घटित वृत्त का स्मरण करते हुए उसका राजा को भी संकेत करा दिया। फिर राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए मनु तनु ने कहा—आशा या आशावान् की दुर्बलता सबसे बड़ी दुर्बलता है। जिस वस्तु की आशा की जाती है, उसकी दुर्बलता के कारण मैंने बहुत-से राजाओं के यहाँ याचना की है।

जो याचक धैर्य धारण करे अर्थात् किसी वस्तु की आवश्यकता होने पर भी उसकी किसी से याचना न करे, वह दुर्लभ है और जो व्यक्ति याचक की आवश्यकता की पूर्ति ससम्मान कर दे, ऐसा पुरुष संसार में अत्यन्त दुर्लभ है।

मुनि ऋषभ ने आगे कहा—उन मुनि तनु ने संसार में विभिन्न प्रकार की आशाओं का विस्तार से स्वरूप बताया। उनकी बात सुनकर राजा वीरद्युम्न ने मुनि तनु से कहा—भगवन्! मुझे अपने पुत्र से मिलने की बड़ी इच्छा है।

परम तपस्वी मुनिवर तनु ने अपनी साधना के प्रभाव से राजकुमार को वहीं बुला लिया।

इस प्रकार राजा वीरद्युम्न को तत्त्वज्ञान का उपदेश करके मुनि तनु वन में चले गए।

मुनि ऋषभ ने राजा सुमित्र से आगे कहा—राजन्! मैंने यह सब कुछ अपनी आँखों से देखा और मुनि तनु के ये शब्द भी सुने थे—दुराशा शरीर को अत्यन्त दुर्बल कर देती है। अत: तुम भी इसका त्याग कर दो।

भीष्म पितामह ने महाराजा युधिष्ठिर को समझाते हुए कहा—राजन्! महात्मा ऋषभ का उपदेश सुनकर राजा सुमित्र ने आशा का तुरन्त ही त्याग कर दिया। कुन्तीनन्दन! तुम भी आशा का त्याग करके सुदृढ़ रूप से स्थिरचित्त हो जाओ। संकट के समय में भी तुम संयमित बने हुए हो, अत: दुर्योधन के साथ संधि न होने के कारण तुम्हें संतप्त नहीं होना चाहिए।

(34) ब्रह्मगीता–I

यह गीता शान्तिपर्व के 136वें अध्याय में है। इसमें 11 श्लोक हैं। इसमें समाज व्यवस्था और राज्य व्यवस्था का विवेचन पाया जाता है। कहा गया है कि मानव सृष्टि के आदिकाल में कोई राज्य और राजा न था। सम्पूर्ण प्रजा धर्मानुसार आचरण करके परस्पर रक्षा करती थी। सब मनुष्य धर्म द्वारा परस्पर ही पाले-पोसे जाते थे। पर कुछ समय बाद इस व्यवस्था में शिथिलता आ गई, विकृतियाँ उत्पन्न हो गईं और समाज में तरह-तरह के अपराध होने लगे तो सज्जनों की रक्षा और दुष्टों का नियन्त्रण करने वाली किसी सत्ता की आवश्यकता प्रतीत हुई। तब मनीषीजनों ने राजनीति शास्त्र की रचना की और राजा की स्थापना की। यद्यपि बाद में राजपद पुश्तैनी हो जाने के कारण राजाओं में अनेक दोष पैदा हो गये, पर आरम्भ में उसका जो स्वरूप और उद्देश्य बताया गया था, वह सब दृष्टियों से लोकहितकारी ही था। इसका उपदेश करते हुए ब्रह्माजी तथा अन्य ऋषियों ने कहा था—

"दण्ड विधान को साथ लेकर चलने वाली यह नीति सम्पूर्ण विश्व की रक्षा करने में समर्थ होगी। दुष्टों के निग्रह और सज्जनों पर अनुग्रह में लगी रह कर यह सर्वत्र प्रचलित होगी। दण्ड के द्वारा जगत् सन्मार्ग पर चलता है। राजा को वही कार्य करना

चाहिए जिससे धर्म की वृद्धि होती हो। वह प्रिय-अप्रिय का विचार त्याग कर और काम, क्रोध, लोभ तथा अभिमान को मिटा कर सब जीवों के प्रति समभावी बन कर रहे। जो मनुष्य धर्म से हटते दिखाई दें उन्हें दण्ड दे।" जब तक राजाओं ने इस नीति पर आचरण किये वे देवताओं की तरह पूजनीय और सम्मान के पात्र बने रहे। पर जब उन्होंने राज्य को अपनी बपौती समझ कर मनमाना कार्य करना आरम्भ किया तो राज्य प्रथा बदनाम हो गई और राजा अत्याचारी तथा अन्यायी समझे जाने लगे। इसलिए कोई भी राजा अथवा अन्य प्रकार का शासक हो, न्याय का पालन और जनता का हित साधन उसका सर्वप्रथम कर्त्तव्य समझना चाहिए।

(35) भीष्म गीता

यह गीता महाभारत के शान्तिपर्व के अध्याय 158 से 173 तक षोडशाध्याय मे हैं जिसमें 570 श्लोक हैं। इसमें खड्ग गीता 166वाँ अध्याय तथा षड्ज गीता 167वाँ अध्याय भी सम्मिलित है। इसके आरम्भ में लोभी स्वभाव के दोषों का जो वर्णन किया गया है वह सराहनीय है। जैसा किसी कवि ने कहा है कि 'लोभ पाप का मूल है' उसी प्रकार भीष्म जी ने भी पाप का अधिष्ठान लोभ को ही बतलाया है। "लोभ उस ग्राह के समान है जो मनुष्य को निगलने के लिए सदा तैयार रहता है। लोभ से ही पाप, अधर्म तथा महान् दुःख उत्पन्न होते हैं। वही शठता और कपट का मूल कारण है। लोभ से ही मनुष्य पापाचारी हो जाता है। लोभ से ही क्रोध एवं काम की उत्पत्ति होती है। माया-मोह, अभिमान, उद्दण्डता, पराधीनता आदि दोषों का मूल भी लोभ ही होता है। अथवा, निर्लज्जता, श्रीहीनता, धर्मनाश, चिन्ता, अपयश की उत्पत्ति का कारण भी लोभ ही है। लोभ से ही कृपणता, घोर तृष्णा, शास्त्र-विरुद्ध कर्म, कुल तथा विद्या का अहङ्कार, रूप और ऐश्वर्य का मद, सभी प्राणियों के प्रति द्रोह तथा तिरस्कार का भाव, सब के प्रति अविश्वास और कुटिलता की उत्पत्ति होती है। परधन का अपहरण, परनारी से दुराचार, वाणी और मन का आवेश, परनिन्दा की मनोवृत्ति, जननेन्द्रिय का असंयम, पेटूपन, आत्महत्या की प्रवृत्ति, ईर्ष्या, मिथ्यावादिता, घृणा, आत्म-प्रशंसा, मत्सरता, पाप, दुष्कर कर्मों में प्रवृत्ति, अनुचित कार्यों की ओर झुकाव आदि लोभ से ही होते हैं।"

इससे आगे चल कर भीष्म जी ने अज्ञान के कुपरिणाम, संयम, तप, सत्य आदि का महत्त्व, मैत्री भाव का शुभ फल, उपवास की आवश्यकता, क्रोध का त्याग, दुष्टजनों का त्याग आदि अनेक जीवनोपयोगी गुणों पर प्रकाश डाला है। राजा के धर्मों का भी मार्मिकता के साथ वर्णन किया है क्योंकि उसे शासन सञ्चालन के लिए सभी प्रकार के व्यक्तियों से सम्पर्क रखना पड़ता है। पापी मनुष्यों की इस लोक और परलोक में जो दुर्गति होती है, उसके सम्बन्ध में भी अनेक तथ्य पूर्ण बातें इस गीता में मिलती हैं। इस दृष्टि से उसे नीति का भण्डार ही कहना यथार्थ है। इसके अन्त में जो गौतम ब्राह्मण

और राजधर्मा हंस का आख्यान दिया गया है वह सज्जनता और दुष्टता का एक शिक्षाप्रद उदाहरण है।

(36) (खड्गगीता)

यह गीता शान्तिपर्व के 166वें अध्याय में 89 पद्य के रूप में प्राप्त होती है। खड्ग की उत्पत्ति तथा उससे दुष्ट शत्रुओं के नाश रूपी उपयोग को देवों के द्वारा मान्य बताया गया है। इस गीता में नकुल एवं भीष्म के मध्य शस्त्र विद्या के विषय पर वार्तालाप की प्रस्तुति देखने को मिलती है। खड्ग विद्या की परम्परा एवं प्रजा रक्षा के निमित्त राजा द्वारा खड्ग धारणका औचित्य बताया गया है। वाग्दण्ड, धनदण्ड, शारीरिक दण्ड एवं प्राणदण्ड के माध्यम से धर्मरक्षा हेतु राजा को उपदेश दिया गया है।

(37) (षडजगीता)

षडजगीता, महाभारत के अन्तर्गत शान्तिपर्व के आपद्धर्मपर्व में 167वें अध्याय में उपलब्ध है। इसमें 51 श्लोक हैं।

महाराज युधिष्ठिर अपने चारों भ्राताओं—भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा धर्मज्ञ विदुरजी से जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहते हैं—लोकप्रवृत्ति प्राय: धर्म, अर्थ तथा काम में लगी रहती है। इन तीनों में सर्वश्रेष्ठ कौन है? मध्यम कौन-सा और लघु कौन-सा है? इन तीनों पर विजय प्राप्त करने के लिए किसमें मन लगाना चाहिए? आप सभी आस्था और उत्साह के साथ इस पर विचार करके अपना अभिमत बताएँ।

सबसे पहले तत्त्वज्ञ विदुरजी ने धर्मशास्त्र का स्मरण करते हुए इस प्रकार कहा—युधिष्ठिर! धर्म ही श्रेष्ठ गुण है। अर्थ को मध्यम बताया जाता है और काम सबकी तुलना में लघु है, ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं—

धर्मो राजन् गुण: श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते।
कामो यवीयानिति प्रवदन्ति मनीषिण:।। — *षडजगीता*, 4

धर्म से ही ऋषियों ने भवसागर को पार किया है। धर्म से ही देवताओं का उन्नयन हुआ है। धर्म में ही सभी लोक प्रतिष्ठित हैं। धर्म में ही अर्थ भी समाहित है। अत: मन पर संयम करके धर्म को ही अपना परम ध्येय बनाना चाहिए। हमें सभी प्राणियों के साथ वैसा ही आचरण करना चाहिए, जैसा हम अपने लिए चाहते हैं।

इसके बाद अर्जुन ने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा—अर्थ ही समस्त कर्मों की मर्यादा के पालन में सहायक है। अर्थ के बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते, ऐसा श्रुति कहती है। श्रुति का कथन है कि धर्म और काम अर्थ के ही दो अङ्ग है। अर्थ की सिद्धि से उन दोनों की भी सिद्धि हो जाएगी—

अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः।
अर्थसिद्ध्या विनिर्वृत्तावुभावेतौ भविष्यतः॥ – *षडजगीता*, 14

संसार के सभी लोग, अर्थ प्राप्ति के लिए ही प्रयत्नशील रहते हैं। अर्थ की महत्ता को न समझना तमोमय अज्ञान है और अर्थ की प्रधानता का ज्ञान प्रकाशमय है।

इसके बाद नकुल और सहदेव ने अपना अभिमत व्यक्त करते हुए कहा—महाराज! इस बात का सभी को प्रत्यक्ष अनुभव है कि अर्थ की प्राप्ति हो जाने पर मनुष्य संसार की सभी कामनाएँ पूर्ण कर सकता है। जो धन धर्म से युक्त हो और जो धर्म धन से सम्पन्न हो, वह निश्चित रूप से आपके लिए अमृत के समान होगा, यह हम दोनों का मत है। मनुष्य को चाहिए कि वह धर्म का आचरण करते हुए धर्मयुक्त धन का संग्रह करे। इसके बाद दोनों में सामंजस्य स्थापित करके काम का सेवन करे। (*षडजगीता*, 22-24)

इसके पश्चात् भीमसेन ने कहा—संसार के सभी लोग किसी-न-किसी कामना से उत्प्रेरित होकर कर्मों का संपादन करते हैं। कामनाहीन मनुष्य में न तो धर्म के प्रति और न ही अर्थ के प्रति कोई उत्साह होता है। कामना के बिना वह काम (भोग) भी नहीं चाहता। इसी प्रकार त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ, काम—काम ही सबसे बढ़कर है। जिस प्रकार दही का सार मक्खन है, उसी प्रकार धर्म और अर्थ का सार काम है। जिस प्रकार खली से तेल श्रेष्ठ होता है, मट्ठा से घी श्रेष्ठ होता है, वृक्ष की लकड़ी से फूल और फल श्रेष्ठ होते हैं, उसी प्रकार धर्म और अर्थ दोनों में काम श्रेष्ठ है। मेरे विचार में धर्म, अर्थ, काम तीनों का एक साथ ही सेवन करना चाहिए। इनमें से जिसकी केवल एक में अनुरक्ति है, वह अधम है। दो कि सेवन में जिसकी रुचि है, वह मध्यम है, जिसकी तीनों में समान अनुरक्ति है, वह उत्तम है। (*षडजगीता*, 35-40)

अन्त में मनस्वी धर्मराज युधिष्ठिर ने सबके विचारों का सम्यक् आशय समझते हुए कहा—बन्धुओ! आप सभी ने धर्मशास्त्रों के अनुरूप प्रमाण सहित सिद्धान्तों की बात कही है। वास्तव में जो न तो पाप में और न पुण्य में निरत है और न ही जो अर्थ, धर्म, काम में ही लगा है, सभी दोषों से विहीन, दुःख-सुख देने वाली सिद्धियों में भी जिसकी रुचि नहीं है, जो स्वर्ण और मिट्टी के ढेले में समान भाव रखता है, वह मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। लोकपितामह ब्रह्माजी का कथन है कि जिसके मन में आसक्ति है, उसकी कभी मुक्ति नहीं होती। अतः मुक्ति प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति किसी का प्रिय अथवा अप्रिय न करे। विधाता ही सभी प्राणियों विभिन्न कार्यों के लिए प्रेरित करता है। अतः विधाता ही प्रबल है। (*षडजगीता*, 44-48)

धर्मराज युधिष्ठिर की यह बात सुनकर सभी भाई प्रसन्न और संतुष्ट हो गए।

(38) सेनजिद्गीता–II एवं पिङ्गलागीता

सेनजिद् गीता महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व में 174वें अध्याय में उपलब्ध हैं। इसमें कुल श्लोक 63 है। इसी अध्याय के अन्त में श्लोक 56 से 63 तक पिङ्गलागीता गुम्फित है।

महाराज युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से प्रश्न किया—दादाजी! धन के नष्ट हो जाने पर अथवा पत्नी, पुत्र, पिता के मर जाने पर उत्पन्न हुए शोक का मनुष्य किस बुद्धि से निवारण करे? यह मुझे आप बताइए।

भीष्म पितामह ने कहा—वत्स! इस विषय में विद्वान् लोग उस प्राचीन इतिहास का उल्लेख किया करते हैं, जिसमें एक उदारमना ब्राह्मण ने राजा सेनजित् को ज्ञान का उपदेश किया था।

राजा सेनजित् के पुत्र की मृत्यु हो गई थी। वे पुत्र शोक के विषाद में अवसादित और विह्वल थे। उनकी यह दशा देखकर ब्राह्मण ने कहा—राजन्! आप व्यर्थ ही शोक क्यों कर रहे हैं? आप, मैं तथा दूसरे अन्य सभी लोग सब वहीं जाएंगे, जहाँ से हम आए हैं।

सेनजित् ने पूछा—हे तपस्वी ब्राह्मण देव! आपके पास ऐसी कौन-सी बुद्धि, तप, समाधि ज्ञान आदि हैं, जिसके कारण आपको किसी प्रकार का विषाद नहीं है? मैं सुख-दु:ख के घूमते हुए चक्र में प्रसन्न और दु:खी हो जाता हूँ।

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! मैं तो सर्वथा एकाकी हूँ। मुझ पर न तो किसी की ममता है और न ही मेरा किसी पर ममत्व है। यह शरीर भी मेरा नहीं है। सारी पृथ्वी भी मेरी नहीं है। ये सभी वस्तुएँ जैसी मेरी हैं, वैसी ही दूसरों की भी हैं। इसी बुद्धि के कारण न तो मुझे हर्ष होता है और न ही शोक।

जिस प्रकार समुद्र में बहते हुए दो लकड़ियाँ कभी-कभी एक-दूसरे से मिल जाती हैं और फिर बहते-बहते अलग हो जाती हैं, इसी प्रकार इस लोक में प्राणियों का समागम होता है। इसीलिए पारस्परिक सम्बन्धों में आसक्ति नहीं बढ़ानी चाहिए, क्योंकि एक-न-एक दिन उनसे वियोग होना ही है।

तुम्हारा पुत्र किसी अज्ञात स्थल से आया था और अब वह किसी अज्ञात स्थल को ही चला गया। न तो वह तुम्हें जानता था और न तुम ही उससे पूर्व परिचित थे। फिर तुम किस कारण से उसके लिए शोक कर रहे हो? संसार में विषयों की तृष्णा से ही उनके प्रति आसक्ति और व्याकुलता बढ़ती है। उसी का नाम दु:ख है और दु:ख का विनाश ही सुख है। जीवन में दु:ख और सुख चक्र के समान घूमते रहते हैं।

दैव की अनुकूलता और प्रतिकूलता से ही सुख-दु:ख की प्राप्ति होती है। कामनाएँ ही दु:ख का कारण हैं, उनके त्याग से ही सुख प्राप्त होता है। जो तृष्णा को त्याग देता है, वही सुखी रहता है। राजन्! इस विषय में पिङ्गला वेश्या का दृष्टान्त ध्यातव्य है।

(39) पिङ्गलागीता

एक बार पिङ्गला किसी संकेत स्थल पर बैठी-बैठी प्रियतम की बहुत समय तक प्रतीक्षा करती रही, किन्तु वह नहीं आया। उद्विग्न-मन होने पर भी उसने धैर्य नहीं छोड़ा, वह शान्त बनी रही। वह विचार करने लगी—मेरे सच्चे प्रियतम चिरकाल से प्रतिक्षण मेरे निकट रहते हैं। वे कभी उन्मत्त नहीं होते, किन्तु मैं ऐसी मतवाली बनी रही कि आज से पहले उन्हें पहचान ही नहीं पाई। एक खम्भा और नौ द्वार वाले इस शरीर रूपी घर को आज से मैं और दूसरों के लिए बन्द कर दूँगी। अपने उस सच्चे नित्य संगी प्रियतम को जानकर भी भला कौन ऐसी नारी होगी, जो किसी अस्थि-मांस के पुतले को अपना प्राणवल्लभ मानेगी।

अन्त में मैं मोह-निद्रा से जाग गई हूँ और निरन्तर सजग जागरूक हूँ। अब मैंने कामनाओं का भी त्याग कर दिया है। अब वे नरकरूपी धूर्त काम का रूप बनाकर मुझे धोखा नहीं दे सकेंगे। अब मुझे सच्चे ज्ञान की अनुभूति हो गई है और मैंने मन तथा इन्द्रियों को वश में कर लिया है।

वास्तव में जिसे किसी भी प्रकार की आशा नहीं है, वह सुख से सोता है। आशा का न होना ही परम सुख है। देखो, आशा को त्याग कर पिङ्गला सुख से सोने लगी।

भीष्म पितामह महाराज युधिष्ठिर को समझाते हुए बोले—राजन्! ब्राह्मण के ज्ञानोपदेश से राजा सेनजित् स्थिरचित होकर विषादमुक्त हो गए और सुख से रहने लगे।

(40) शम्पाकगीता

शम्पाकगीता महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व के 176वें अध्याय में उपलब्ध हैं। श्लोक संख्या 23 है।

धर्मराज युधिष्ठिर और पितामह भीष्म के मध्य संवाद स्वरूप केवल एक अध्याय की इस गीता में भीष्म पितामह उस पुरातन इतिहास का उल्लेख करते हैं, जिसके अनुसार एक परम त्यागी, शान्त जीवन्मुक्त शम्पाक ने त्याग की महिमा का गुणगान किया था।

धर्मराज युधिष्ठिर जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहते हैं—पितामह! धनवान् और निर्धन, दोनों ही स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करते हैं, तब फिर उन्हें किस रूप में सुख-दु:ख की प्राप्ति होती है?

इसके उत्तर में भीष्म पितामह शम्पाक नामक एक त्यागी ब्राह्मण ने जो कुछ उनसे इस विषय में कहा था, उसका उल्लेख करते हुए कहते हैं—इस संसार में उत्पन्न होने वाले प्रत्येक व्यक्ति का जन्म से ही नाना प्रकार के सुख-दुःख प्राप्त होते रहते हैं। विधाता यदि व्यक्ति को सुख और दुःख इन दोनों में किसी एक के मार्ग पर ले जाएँ, तो वह न तो सुख पाकर प्रसन्न हो और न दुःख में पड़कर दुःखी हो। संग्रह की प्रवृत्ति ही दुःख का कारण है। त्याग में ही सुख का रहस्य है। धन का संग्रह करने पर व्यक्ति में अहंकार, क्रोध, लोभ आदि अनेक दोष आ जाते हैं। ऐसा व्यक्ति सदा भयभीत और चिन्तित बना रहता है। त्याग की भावना वाला व्यक्ति सदैव सुखी बना रहता है।

कोई व्यक्ति त्याग किए बना सुख नहीं पाता। वह त्याग किए बिना परमात्मा को नहीं पा सकता और त्याग किए बिना निर्भय नहीं रह सकता।

(41) मङ्किगीता

मङ्किगीता, महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व के 177वें अध्याय में उपलब्ध है। कुल श्लोक संख्या 54 है।

धर्मराज युधिष्ठिर और पितामह भीष्म के संवाद रूप में इसमें भीष्म द्वारा उस प्राचीन इतिहास का उल्लेख है, जिसमें मङ्कि नामक मुनि ने इस तथ्य की भावना को पुष्ट किया था कि दुःख का मूल कारण है धन की तृष्णा।

भीष्म पितामह सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए जिन पाँच गुणों का संकेत करते हैं, वे हैं—सबमें समता का भाव, निरर्थक परिश्रम न करना, सत्य बोलना, संसार से वैराग्य और कर्मों में अनासक्ति। भीष्म पितामह इस संदर्भ में एक प्राचीन मुनि मङ्कि के विचारों का उल्लेख करते हुए कहते हैं—मुनि मङ्कि धन प्राप्ति के लिए जो भी उपाय करते थे, उनमें उन्हें सफलता नहीं मिलती थी। अपने बचे हुए धन से उन्होंने दो नए बछड़े खरीद लिए। एक दिन वे दोनों बछड़ों को साथ-साथ जोड़कर हल चलाने की शिक्षा देने के लिए ले जा रहे थे। मार्ग में एक बैठे हुए ऊँट को बीच में करके वे सहसा दौड़ पड़े। जब मङ्कि मुनि ऊँट की गर्दन के पास पहुँचे तो ऊँट को यह बात सहन नहीं हुई। वह क्रोध में भरकर दोनों बछड़ों को उठाकर खड़ा हो गया और तेजी से भागने लगा।

उन दोनों बछड़ों को इस प्रकार मृतप्राय देखकर मुनि ने कहा—मनुष्य कितना ही चतुर क्यों न हो, जो उसके भाग्य में नहीं है, वह उसे किसी भी प्रकार प्रयत्न करके नहीं प्राप्त कर सकता।

मङ्कि मुनि सोचने लगे—सुख की इच्छा करने वाले पुरुष को धन आदि की ओर वैराग्य का ही आश्रय लेना चाहिए। अपने मन को सावधान करते हुए वे आत्मचिन्तन करने लगे—हे कामनाओं के दास मन! यदि तुम मेरा विनाश नहीं करना चाहते, तो मुझे

व्यर्थ लोभ में न आकर्षित कर। अकस्मात् ही धन का नाश हो जाने पर मुझे वैराग्य-भाव हो गया है, इससे, मुझे परम सुख और शान्ति मिल रही है। अब मैं भोगों का चिन्तन नहीं करूँगा। तृष्णा का क्षय हो जाना ही सच्चे सुख का रहस्य है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और ममता देहधारियों के प्रबल शत्रु हैं। इसके विपरीत वैराग्य, सुख, तृप्ति, शान्ति, सत्य, दम, क्षमा और दया, ये सभी सद्गुण आनन्द के स्रोत हैं। इस प्रकार बछड़ों को निमित्त बनाकर मुनि मङ्कि ने धन और भोगों से विरक्त होकर समस्त कामनाओं का परित्याग कर दिया। उन्होंने आत्मज्ञान की अनुभूति करके परमानन्दस्वरूप परम ब्रह्म पद को प्राप्त कर लिया।

यह एक बहुत ही छोटी रचना है, पर इसमें एक उपाख्यान के रूप में कामना और तृष्णा के फन्दे में पड़ जाने वाले मनुष्य का जो चित्रण किया है वह वास्तव में शिक्षाप्रद और सांसारिक पदार्थों की लिप्सा का स्पष्टत: निराकरण करने वाला है। मङ्कि ऋषि का यह कथन यथार्थ ही है कि—"धन की कामना सुख देने वाली नहीं है। यदि वह एक बार प्राप्त होकर फिर नष्ट हो जाए तब तो उससे भयङ्कर दु:ख की प्राप्ति होती है। उद्योग करने पर धन का मिलना, न मिलना भी निश्चित नहीं है।" इसलिए संसार में जीवन निर्वाह के लिए निष्काम भावना रखनी ही सर्वोत्तम है। ऐसा व्यक्ति सम्पत्ति और विपत्ति दोनों में समभाव और ठीक मानसिक सन्तुलन रखने वाला होता है और वह चाहे घर में रहे चाहे वन में, सांसारिक सफलता असफलता उसकी मानसिक शान्ति को भङ्ग नहीं कर सकती।

मङ्कि ऋषि की गीता है जिसे मङ्कि-गीता कहा जाता है। कुछ लोग मङ्कि ऋषि को ही मङ्खलिगोशाल मानते हैं जिनका उल्लेख श्रमण-परम्परा में मिलता है, क्योंकि दोनों में कुछ नाम-साम्य है और दोनों का एक ही सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त नियतिवाद या कर्मार्थवाद है और पुरुषकार का विरोध करता है। इसके अनुसार दैववाद सत्य है और हठ से पुरुषकार करना व्यर्थ है—

शुद्धं हि दैवमेवेदं हठेनैवास्ति पौरुषम्। — *मङ्किगीता,* 12

दैववाद के अतिरिक्त मङ्कि के सिद्धान्त हैं—तृष्णा और कामना का त्याग, निर्वेद-निवृत्ति सर्वभूत-दया, सत्य भाषण और क्षमा। उनका कहना है कि काम का मूल संकल्प है। संकल्प को नष्ट कर देने से सुख मिलता है। यह परम सुख तृष्णा-क्षय रूप है। इस सुख का सोलहवाँ भाग भी काम-सुख नहीं हो सकता है। इस प्रकार इह और अमुत्र का वैराग्य ही परम सुख है—

यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्य महात्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हत: षोडशीं कलाम्।। — *मङ्किगीता,* 51

(42) बोध्यगीता

बोध्यगीता महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व में 178वें अध्याय में 13 श्लोकों में उपलब्ध है।

भीष्म पितामह और धर्मराज युधिष्ठिर-सम्वाद के सन्दर्भ में भीष्म पितामह वैराग्य को लक्ष्य करके बोध्य मुनि के वचनों का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि किसी समय राजा ययाति ने परम तत्त्वज्ञ, आत्मज्ञानी बोध्य ऋषि से जिज्ञासा प्रकट की—ऋषिवर! कृपा करके आप मुझे ऐसे ज्ञानका उपदेश दीजिए, जिससे मुझे सच्ची शान्ति मिले। ऐसी वह कौन-सी बुद्धि है, जिसका आश्रय लेकर आप परम शान्त और सन्तुष्ट भाव से आनन्द मन रहते हैं।

बोध्य मुनि ने कहा—राजन्! मैं किसी ज्ञान का उपदेश नहीं करता। मैं स्वयं दूसरों से प्राप्त उपदेश का अनुपालन करते हुए शान्त और संतुष्ट रहता हूँ। पिङ्गला कुरर पक्षी, सर्प, पपीहा, बाण निर्माता और कुमारी मेरे ज्ञानोपदेशक गुरु हैं। पिङ्गला वेश्या से मैंने आशा-त्याग की शिक्षा ग्रहण की है। इसी प्रकार कुरर (क्रौंच) से भोगों के त्याग, सर्प से गृहनिर्माण की चिन्ता का त्याग, पपीहा से प्राप्त हुए आहार से जीवन-निर्वाह की वृत्ति और कुमारी द्वारा एक चूड़ी मात्र के धारण से अकेले रहने में सुख का अनुभव सीखे हैं। इन्हीं बातों का पालन करके मैं सुखी और संतुष्ट रहता हूँ।

(43) आजगरगीता

यह गीता शान्तिपर्व के अध्याय 179 में प्रज्ञप्त है। इसमें कुल श्लोक 37 है। अजगर अपने स्थान पर स्थित रहता है।जो भोजन उसके पास पहुँचता वह उसे ही सन्तोष वृत्ति से प्राप्त करता है। इस गीता के वक्ता अजगर वृत्ति को धारण करने वाले कोई मुनि थे, जिन्होंने इसका उपदेश प्रह्लाद को दिया था। पितामह भीष्म इस गीता के माध्यम से युधिष्ठिर को यह शिक्षा देते हैं कि अजगर वृत्ति को धारण करने से तृष्णा का त्यागकर परमगति प्राप्त की जा सकती है। इस गीता का मूल ध्येय प्राणी में अनासक्ति भाव को जाग्रत् करना, देह की क्षणभङ्गुरता का अनुभव करना तथा मुक्ति प्राप्त्यर्थ अजगरवृत्ति की उपयोगिता का प्रतिपादन करना रहा है। इसलिये हिन्दी में मलूकदास कहते हैं—

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये सबका दाता राम।।

(44) शृगालगीता

यह गीता महाभारत के शान्तिपर्व के 180वें अध्याय के रूप में है। इसमें 54 श्लोक है जिसमें कश्यप ऋषि ने शृगाल रूपधारी इन्द्र को आत्महनन के विषय में

बताया था। यह गीता भी भीष्म युधिष्ठिर संवाद की ही अङ्गभूत है। इस गीता को ऋषि कश्यप ने शृगाल का रूप धारण करने वाले इन्द्र से कहा था। अत: इसका नाम शृगाल गीता प्रसिद्ध हो गया। इसमें शरीर त्याग को आत्महत्या रूपी पाप बतलाया गया है तथा उसका अनौचित्य भी बतलाया गया है। देह त्याग से देवत्व या इन्द्रत्व तो मिल सकता है किन्तु संतोष नहीं मिल सकता क्योंकि मनुष्य की तृष्णाओं का अन्त नहीं है। अत: तृष्णा का परित्याग करना उचित है। प्रासंगिक तौर पर वेदाध्ययन, अग्निहोत्र, सत्यभाषण, इन्द्रियदमन, दानधर्म के पालन इत्यादि विषयों की भी उपयोगिता बताई गयी है।

(45) कर्मफलगीता

यह गीता शान्तिपर्व के 181वें अध्याय में 20 श्लोकों के रूप में प्राप्त होती है। इसमें भगवान् कृष्ण एवं नारद जी का संवाद है। नारद जी से श्रीकृष्ण जी पूछते हैं कि जब परिवार में दलबन्दी हो तब कुल के प्रधान को क्या करना चाहिये। दो वर्ग आपस में झगड़ रहे हों तब आपसी गृहकलह को दूर करने का क्या उपाय है? नारद जी ने राजनीतिशास्त्र के अनुसार भगवान् को कहा कि राजा में षाड्गुण्य होना चाहिए। राजनीति के छ: गुण हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय। इनका उपयोग आन्तरिक विपत्तियों के विनाशार्थ भी किया जा सकता है। क्षमा, सरलता तथा कोमलता के द्वारा अपने दोषों को परिमार्जित करे तथा यथायोग्य सेवासत्कार से जनों में प्रीति पैदा करे उसे अनुमार्जन कहा गया है। यादवों के झगड़े से पूरे कुल का नाश हो जायेगा। वस्तुत: राजा अपनी बुद्धि, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह तथा धनवैभव का त्याग करके ही अपना आधिपत्य गणतन्त्र पर रख सकता है। किसी भी पक्ष का नाश नहीं होना चाहिए अत: षाड्गुण्य का आश्रय ही एकमात्र रास्ता है। हे कृष्ण आप स्वयं बुद्धिमान् हैं। यह गीता राजधर्म की उत्तम शिक्षा प्रदान करती है।

(46) भृगुगीता

यह गीता शान्तिपर्व में ग्यारह अध्यायों (182-192) में उपलब्ध है। इसमें 261 श्लोक हैं। इसमें विश्व के स्वरूप का जैसा वर्णन किया गया है, वह आधुनिक वैज्ञानिक खोजों से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। जहाँ अन्य पुराणों में तारागणों को सूर्य चन्द्र की अपेक्षा बहुत नगण्य और समीप ही बतलाया है, भृगुजी ने स्पष्टत: कहा है—"इस आकाश का कहीं अन्त नहीं है और सूर्य चन्द्रमा में से ऊपर-नीचे जाने पर सूर्य और अग्नि के समान तेज वाले देवता अपने प्रकाश से स्वयं प्रकाशित होते हैं। परन्तु उन तेजस्वी नक्षत्र रूपधारी देवताओं को भी आकाश का अन्त दिखाई नहीं देता क्योंकि यह अनन्त और दुर्गम है। आकाश का, जल का, अग्नि का और पवन का परिणाम जानना देवताओं के लिए भी सम्भव नहीं। अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी का उद्गम आकाश ही

है और उससे भिन्न कुछ भी नहीं है।" इस अनन्त विश्व के स्वरूप का यही अनुमान एक-एक लाख मन भारी और पचासों गज लम्बी दूरबीनों का उपयोग करने वाले आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी लगाया है।

आत्मा, जीव, परलोक के सम्बन्ध में भी इसमें पूर्ण रूप से तर्कयुक्त प्रश्न किए गए हैं। जैसे—"रक्त और मांस के सङ्घात रूप, मेद, स्नायु और अस्थियों के संग्रह रूप इस देह को चीरने पर उसमें कहीं जीवात्मा तो नहीं मिलता। मरते समय इस आशा से गोदान किया जाता है कि यह गौ मुझे पार लगायेगी? मरने वालों में से किसी को पक्षी खा लेते हैं, कोई ऊपर से गिर कर खण्ड-खण्ड हो जाता है, कोई अग्नि में जल जाता है, तब वे दुबारा जीवित कैसे हो सकते हैं? जब जड़ से कटे वृक्ष के मूल में पुन: अङ्कुर नहीं लगते, केवल नया बीज ही उग सकता है, तो मृत्यु को प्राप्त मनुष्य ही कहाँ से लौट आएगा। प्राचीनकाल में बीज मात्र उत्पन्न हुआ था, उसी से यह विश्व चलता चला जा रहा है। मरने वाले तो नष्ट होकर चले जाते हैं और बीज से बीज की उत्पत्ति होती रहती है।" इस प्रकार प्रत्यक्षवादियों की तरह धर्मशास्त्रों के कथन की ऐसी छान-बीन की गई है कि हम इस गूढ़ विषय की तरह तक पहुँच सकते हैं।

भृगुजी ने चारों वर्णों और आश्रमों के धर्म बहुत स्पष्ट और बुद्धिसङ्गत रूप में बतलाये हैं, पर उनमें जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात हमको मिलती है वह यह है कि उन्होंने वर्ण का निर्णय कर्मानुसार किया है और असन्दिग्ध शब्दों में कहा है कि—

शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणे न च ब्राह्मण:।।

"यदि सत्य आदि सत्कर्म और सद्गुण शूद्र में दिखाई दें तो शूद्र नहीं रहता और यदि ब्राह्मणों में वे गुण न हों तो उसे कभी ब्राह्मण नहीं माना जा सकता।" भृगु गीता का यह वाक्य उन लोगों के लिए विचारणीय है जो जन्म से ऊँच-नीच होने की दुहाई देते रहते हैं और नीचकर्मा ब्राह्मण को भी शूद्र आदि से श्रेष्ठ बतलाते हैं।

(47) जापक-गीता

यह गीता शान्ति पर्व के 199-200 तक दो अध्यायों में प्राप्त है। इसके कुल श्लोक 162 हैं। इसमें जप की श्रेष्ठता दिखलाने के लिए एक ऐसे साधक का उपाख्यान कहा गया है, जिसने केवल जप को ही अपने जीवन का एकमात्र उद्देश्य बना लिया था। जब सावित्री देवी उसे वरदान देने आई तब भी उसने यही याचना की कि उसका चित्त सदैव जप में लगा रहे और वह कभी उससे विलग न हो। दीर्घकाल तक जप करने के उपरान्त जब उसका अन्त समय आया तब भी उसने धर्मराज से यही कहा कि जहाँ जप

नहीं हो सकता वहाँ मैं नहीं जाऊँगा। उसी अवसर पर वहाँ महाराज इक्ष्वाकु आ पहुँचे। जापक ने उनका स्वागत करके कहा कि आपकी जो इच्छा हो वह मुझ से माँग लीजिये। राजा ने पहले तो क्षत्रिय धर्म के विरुद्ध होने के कारण कुछ माँगना अस्वीकार किया, पर जब जापक ने बार-बार कहा तो उन्होंने उसके समस्त जप का फल माँग लिया। जापक इसके लिए तैयार हो गया, पर बाद में उन दोनों विवाद छिड़ गया और जापक ने कहा कि अब अगर आप मेरा दान ग्रहण नहीं करते तो मिथ्याभाषी ठहरेंगे। अपने कथन को प्रमाणित करते हुए उसने कहा—

"आपने कहा—'दीजिये' और मैंने कहा था 'दूँगा' तो अब मैं अपनी बात मिथ्या नहीं होने दूँगा। आप भी सत्य की रक्षा के लिए दृढ़ हो जाइये। मिथ्याभाषी को इस लोक या परलोक में कहीं भी सुख प्राप्त नहीं होता। वह अपने पूर्वजों का भी उद्धार नहीं कर सकता तो सन्तति का उद्धार भी किस प्रकार करेगा? हे राजन्! जिस प्रकार सत्य परलोक में जीवों को तारता है, उस प्रकार यज्ञ, वेदाध्ययन, दान और नियम भी तारने में समर्थ नहीं हैं। अब तक लोगों ने जितने तप किये हैं और आगे भी जितने करेंगे, उन सबको सौ गुणा अथवा लक्ष गुणा करें तो भी सत्य से बढ़ कर उनका महत्त्व नहीं हो सकता।" इस प्रकार जापक ने सत्य के महत्त्व की जो स्थापना की वह सदैव स्थिर रहेगी।

(48) मनुगीता-II

यह गीता शान्तिपर्व के अध्याय 201-206 तक है। इन पाँच अध्यायों में 151 श्लोक हैं। इसमें परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग दिखलाते हुए कर्मफल के त्याग करने पर विशेष रूप से जोर दिया गया है। साथ ही उस परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—

"वह अनिर्वचनीय वस्तु विभिन्न प्रकार के रस-गन्धों से रहित है। शब्द, स्पर्श और रूप से भी दूर है। मन, बुद्धि और वाणी द्वारा भी अग्राह्य है। वह अव्यक्त, अद्वितीय और रूप-रङ्ग से हीन है, तो भी उसी ने प्रजाओं के लिए पाँचों विषयों को रचा है। वह न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। न वह सत् है, न असत् और न सदसत् प्रकार से उभय रूप वाला है। ब्रह्मज्ञानी ही उसका साक्षात् कर सकते हैं। वह कभी क्षय नहीं होता इसलिए उस अविनाशी ब्रह्म को अक्षर भी कहते हैं। अविनाशी ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से इस पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। फिर पृथ्वी पर समस्त पार्थिव जगत् उत्पन्न होता है। जब इस जगत् का अन्त होने लगता है तो सब प्राणियों के साथ पृथ्वी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में और वायु आकाश में लीन हो जाती है। यह प्रलय और पुनः सृष्टि होने का नियम है।

परन्तु ज्ञानीजन उस मोक्ष स्वरूप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होकर इस जगत् में पुनर्जन्म धारण नहीं करते।"

'मनु-गीता' के लेखक ने सृष्टि की उत्पत्ति सांख्य सिद्धान्त के अनुसार मानी है। उनका मत यह है कि सभी प्राणी प्रकृति से उत्पन्न होते और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं। पुरुष, प्रकृति, पाँचों विषय, दसों इन्द्रियाँ, अहङ्कार, मन, बुद्धि और पञ्चभूत इन पच्चीस तत्त्वों के समूह को ही प्राणी कहा गया है। बुद्धि आदि तत्त्व पहले प्रकृति से ही उत्पन्न हुए। फिर दूसरी बार वे मैथुन धर्म से सम्पन्न होकर प्रकट होने लगे। पुरुष का आत्मा अव्यक्त है और उसके कर्म व्यक्त हैं, इसलिए मरण काल में वह अव्यक्तत्व को प्राप्त होता है, परन्तु कामनाओं के कारण वह संसार में पुन: लौट आता है।

कृतज्ञताज्ञापन

इस ग्रन्थमाला के प्रकाशनार्थ वित्तीय सहायता के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली को राजस्थान विश्वविद्यालय, दर्शनशास्त्र विभाग का हार्दिक साधुवाद।

शोध-परियोजना के लिए भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली के द्वारा अनुदान देने के कारण यह कार्य सम्पन्न हो सका है एतदर्थ सर्वप्रथम परिषद् को हार्दिक साधुवाद।

इस प्रकाशन योजना को सफलतापूर्वक सम्पन्न कराने में मेरे अनन्य सहकर्मी आदरणीय डॉ. अरविन्द विक्रमसिंह, श्री अनुभव वार्ष्णेय, डॉ. मनीष सिनसिनवार, श्री मनीष गोठवाल एवं डॉ. विनीता नायर प्रभृति अध्यापकगणों का निरन्तर भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ अत: आभार।

भगवती की असीम अनुकम्पा से यह कार्य सम्पन्न हुआ है अत: उनके चरणों में कोटिश: प्रणाम। इस ग्रन्थ की सम्पूर्ति में जिन शोध कार्यों से लेखक उपकृत हुआ उन सबके प्रति सादर नतमस्तक हूँ।

प्रात:स्मरणीय विद्यागुरु पं. सूर्य्यनारायण झा, प्रो. विश्वम्भर पाहि, दीक्षागुरु श्री दत्तात्रेयानन्द नाथ को सादर प्रणामाञ्जलि, जिनकी असीम कृपा से यह कार्य सम्पन्न हुआ है। 'ब्राह्मणस्य शरीरं हि क्षुद्रकामाय नेष्यते' इस उत्कृष्ट शास्त्रवाक्य के चरितार्थ रूप दिवङ्गत पूज्य पिता श्री गजानन्द शर्मा एवं माता श्रीमती पार्वती देवी के शुभाशीष से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। अत: इनके श्रीचरणों में श्रद्धा सुमनाञ्जलि समर्पित कर रहा हूँ। धर्मपत्नी श्रीमती शशिकला शर्मा, पुत्र उज्ज्वल शर्मा एवं उत्कर्ष शर्मा के सहयोग से इस कार्य की पूर्णता हुई है।

इस कार्य को सकलशब्दमयी तनुरूपा भगवती पराम्बा की स्तुति मानते हुए क्षमामण्डित पण्डितजनों से क्षमा याचना चाहता हूँ। यहाँ जो उत्कृष्ट विशेषता है उसका श्रेय आचार्य परम्परा को है तथा जो त्रुटि है वह मेरी असावधानी के कारण। अन्त में अभिनवगुप्त की भगवति स्तुति के साथ इस निवेदन को विराम देता हूँ।

तव च का किल न स्तुतिरम्बिके,
सकलशब्दमयी किल ते तनुः।
निखिलमूर्तिषु मे भवदन्वयो,
मनसिजासु बहिः प्रसरासु च।।

जयपुर
विक्रम संवत् 2075
सितम्बर, 2018 ई.

विद्वच्चरणचञ्चरीक
डॉ. राजेन्द्रप्रसाद शर्मा
समन्वयक, उच्च अध्ययन केन्द्र
दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
दूरभाष : 9413970601

अकारादिक्रमानुसार महाभारतीय गीताओं की सूची

1.	अनुगीता	1601-1734
2.	अम्बरीषगीता	1661-1663
3.	अरिष्टनेमिगीता	1171-1176
4.	अश्मगीता	534-541
5.	अष्टावक्रगीता	94-112
6.	असितदेवलगीता	1125-1130
7.	आङ्गिरस (बृहस्पति) गीता	593-600
8.	आजगरगीता	741-746
9.	आर्ष्टिषेणगीता	146-149
10.	उतथ्यगीता	607-619
11.	उशनोगीता	567-574
12.	ऋषभगीता	631-642
13.	कपिलगीता	1103-1124
14.	कर्मफलगीता	754-756
15.	काम-गीता	1597-1600
16.	काश्यपगीता	1601-1624
17.	कैकेयगीता	601-606
18.	कौशिकगीता (व्याधगीता)	273-333
19.	खड्गगीता	676-686
20.	गुरुशिष्यगीता-I	870-878
21.	गुरुशिष्यगीता-II	1670-1734
22.	गौतमचिरकारिगीता	1093-1102
23.	जनकगीता	520-528
24.	जाजलिगीता	1063-1089

25.	जापकगीता	796-819
26.	जैगीषव्यगीता	956-959
27.	धौम्यगीता	78-93
28.	नमुचिवासवगीता	926-929
29.	नहुषगीता	150-162
30.	नारदगीता	1378-1396
31.	नारायणगीता	589-592
32.	नारायणीयगीता	1397-1510
33.	पञ्चशिखगीता	879-896
34.	पाराशरगीता	1183-1221
35.	पाण्डवगीता	1735-1752
36.	पिङ्गला गीता	717-725
37.	पितापुत्रगीता	1133-1138
38.	पुलस्त्यगीता	12-77
39.	प्रह्लादगीता	897-907
40.	बकगीता	234-238
41.	बलिवासवगीता	908-955
42.	बृहस्पतिगीता	1511-1532
43.	बोध्यगीता	738-740
44.	ब्रह्मगीता-I	643-644
45.	ब्रह्मगीता-II	1086-1089
46.	ब्राह्मणगीता	1624-1670
47.	भगवद्गीता	409-500
48.	भार्गवगीता	575-580
49.	भीष्मगीता	645-716
50.	भीष्मस्तवराजगीता	549-566
51.	भृगुगीता	757-795
52.	मङ्किगीता	730-737

53.	मत्स्योपाख्यानगीता	189-195
54.	मनुगीता	567-574
55.	मनुगीता-II	820-842
56.	माण्डव्यजनकगीता	1131-1132
57.	मार्कण्डेयगीता	163-233
58.	माहेश्वरगीता	1543-1596
59.	मुनिगीता	1291-1294
60.	मृत्युगीता	1052-1062
61.	यज्ञगीता	581-588
62.	ययातिगीता	1371-1377
63.	याज्ञवल्क्यगीता	1295-1332
64.	युधिष्ठिरगीता-।	239-272
65.	युधिष्ठिरगीता-II	350-382
66.	लक्ष्मीवासवगीता	920-955
67.	वसिष्ठगीता	1251-1290
68.	वामदेवगीता	620-630
69.	विचख्नुगीता	1090-1092
70.	विदुरगीता	501-519
71.	विष्णुवराह(अनुस्मृति)गीता	843-869
72.	वृत्रगीता	1143-1158
73.	व्यासगीता-I	960-1051
74.	व्यासगीता-II	1358-1370
75.	व्यासमैत्रेयगीता	1533-1542
76.	शम्पाकगीता	726-729
77.	शुक्रगीता	1177-1182
78.	शृगालगीता	747-753
79.	शौनकगीता	1-11
80.	श्रेयोवाचिका (गालव) गीता	1163-1170

81.	षड्जगीता	686-693
82.	सनत्कुमारगीता	897-907
83.	सनत्सुजातीयगीता	383-408
84.	समङ्गीता	1159-1162
85.	सरस्वतीगीता	183-188
86.	सांख्ययोगगीता	1229-1250
87.	सावित्रीगीता	334-349
88.	सुलभागीता	1333-1357
89.	सेनजिद्गीता-I	529-533
90.	सेनजिद्गीता-II	717-725
91.	स्वायंभुवमनुगीता	541-548
92.	हंसगीता	1222-1228
93.	हनुमद्गीता	113-145
94.	हारीतगीता	1139-1142

महाभारतीय–गीतामहोदधिः

द्वितीयभागः

भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

दोनों सेनाओं के प्रधान–प्रधान वीरों एवं शङ्खध्वनि का वर्णन तथा स्वजनवध के पाप से भयभीत हुए अर्जुन का विषाद

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥ 1।।

धृतराष्ट्र बोले—हे सञ्जय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में इकट्ठे हुए युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने भी क्या किया?।।1।।

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥ 2।।
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥ 3।।
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराट्श्च द्रुपदश्च महारथः॥ 4।।
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ 5।।
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ 6।।
अस्माकं तु विशिष्टा ये तान् निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते॥ 7।।
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ 8।।
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ 9।।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ 10।।

सञ्जय बोले—उस समय वज्र व्यूह से खड़ी हुई पाण्डव सेना को देखकर और द्रोणाचार्य के पास जाकर राजा दुर्योधन यह वचन बोला।।2।। हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूह रचना से खड़ी हुई पाण्डवों की इस बड़ी भारी सेना को देखिए।।3।। यहाँ (पाण्डवों की सेना में) बड़े-बड़े शूरवीर हैं, जिनके बहुत बड़े-बड़े धनुष हैं तथा जो युद्ध में भीम और अर्जुन के समान हैं। उनमें युयुधान (सात्यकि), राजा विराट् और महारथी द्रुपद भी हैं। धृष्टकेतु और चेकितान तथा पराक्रमी काशिराज भी हैं। पुरुजित् और कुन्तिभोज—ये (दोनों भाई) तथा मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य भी हैं। पराक्रमी युधामन्यु और पराक्रमी उत्तमौजा भी हैं। सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पाँचों पुत्र भी हैं। ये सब-के-सब महारथी हैं।।4-6।। हे द्विजोत्तम! हमारे पक्ष में भी जो मुख्य हैं, उन पर भी आप ध्यान दीजिये। आपको याद दिलाने के लिए मेरी सेना के जो नायक हैं, उनको मैं कहता हूँ।।7।। आप (द्रोणाचार्य) और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्राम विजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा।।8।। इनके अतिरिक्त बहुत-से शूरवीर हैं, जिन्होंने मेरे लिए अपने जीने की इच्छा का भी त्याग कर दिया है और जो अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्रों को चलाने वाले हैं तथा जो सब-के-सब युद्ध कला में अत्यन्त चतुर हैं।।9।। (द्रोणाचार्य को चुप देखकर दुर्योधन के मन में विचार हुआ कि वास्तव में) हमारी वह सेना (पाण्डवों पर विजय करने में) अपर्याप्त है, असमर्थ है; क्योंकि उसके संरक्षक (उभय पक्षपाती) भीष्म हैं। परन्तु इन पाण्डवों की यह सेना (हम पर विजय करने में) पर्याप्त है, समर्थ है; क्योंकि इसके संरक्षक (निज सेना पक्षपाती) भीमसेन हैं।।10।।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥ 11।।
तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥ 12।।
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥ 13।।
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥ 14।।
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥ 15।।
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥ 16।।
काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराट्श्च सात्यकिश्चापराजितः॥ 17।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक्॥ 18।।
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥ 19।।

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।20।।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।21।।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥ 22।।
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ 23।।

दुर्योधन बाह्य दृष्टि से अपनी सेना के महारथियों से बोला—आप सब-के-सब लोग सभी मोर्चों पर अपनी-अपनी जगह दृढ़ता से स्थित रहते हुए निश्चित रूप से पितामह भीष्म की ही चारों ओर से रक्षा करें।।11।। उस (दुर्योधन) के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए कौरवों में वृद्ध प्रभावशाली पितामह भीष्म ने सिंह के समान गरजकर जोर से शङ्ख बजाया।।12।। उसके बाद शङ्ख और भेरी (नगाड़े) तथा ढोल, मृदङ्ग और नरसिंघे बाजे एक साथ ही बज उठे। उनका वह शब्द बड़ा भयङ्कर हुआ।।13।। उसके बाद सफेद घोड़ों से युक्त महान् रथ पर बैठे हुए लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण और पाण्डुपुत्र अर्जुन ने भी दिव्य शङ्खों को बड़े जोर से बजाया।।14।। अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण ने पाञ्चजन्य नामक तथा धनञ्जय अर्जुन ने देवदत्त नामक शङ्ख बजाया और भयानक कर्म करने वाले वृकोदर भीम ने पौण्ड्र नामक महाशङ्ख बजाया।।15।। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शङ्ख बजाया तथा नकुल और सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाये।।16।। हे राजन्! श्रेष्ठ धनुष वाले काशिराज और महारथी शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न एवं राजा विराट् और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद और द्रौपदी के पाँचों पुत्र तथा लम्बी-लम्बी भुजाओं वाले सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु—इन सभी ने सब ओर से अलग-अलग (अपने-अपने) शङ्ख बजाये।।17-18।। और (पाण्डव सेना के शङ्खों के) उस भयङ्कर शब्द ने आकाश और पृथ्वी को भी गुंजाते हुए अन्यायपूर्वक राज्य हड़पने वाले दुर्योधन आदि के हृदय विदीर्ण कर दिये।।19।। हे महीपते धृतराष्ट्र! अब शस्त्र चलने की तैयारी हो ही रही थी कि उस समय अन्यायपूर्वक राज्य को धारण करने वाले राजाओं और उनके साथियों को व्यवस्थित रूप से सामने खड़े हुए देखकर कपिध्वज पाण्डुपुत्र अर्जुन ने अपना गाण्डीव धनुष उठा लिया और अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण से यह वचन बोले।।20।।

अर्जुन बोले—हे अच्युत! दोनों सेनाओं के मध्य में मेरे रथ को (आप तब तक) खड़ा कीजिये, जब तक मैं (युद्ध क्षेत्र में) खड़े हुए इन युद्ध की इच्छा वालों को देख न लूँ कि इस युद्ध रूप उद्योग में मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना योग्य है।।21-22।। दुष्ट बुद्धि दुर्योधन युद्ध में प्रिय करने की इच्छा वाले जो ये राजा लोग इस सेना में आये हुए हैं, युद्ध करने को उतावले हुए (इन सबको) मैं देख लूँ।।23।।

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ 24।।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति॥ 25।।
तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा॥ 26।।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।।27।।
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

सञ्जय बोले—हे भरतवंशजी राजन्! निद्रा विजयी अर्जुन के द्वारा इस प्रकार कहने पर अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के मध्य भाग में पितामह भीष्म और द्रोण के सामने तथा सम्पूर्ण राजाओं के सामने श्रेष्ठ रथ को खड़ा करके इस प्रकार कहा कि—हे पार्थ! इन इकट्ठे हुए कुरुवंशियों को देख।।24-25।। इसक बाद पृथानन्दन अर्जुन ने उन दोनों ही सेनाओं में स्थित पिताओं को, पितामहों को, आचार्यों को, मामाओं, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को तथा मित्रों को, ससुरों को और सुहृदों को देख।।26।। अपनी-अपनी जगह पर स्थित उन सम्पूर्ण बान्धवों को देखकर वे कुन्तीनन्दन अर्जुन अत्यन्त कायरता से युक्त होकर विषाद करते हुए ऐसा बोले।।27।।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।28।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ 29।।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥ 30।।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥ 31।।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ 32।।
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥ 33।।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥ 34।।
एतान् न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥ 35।।
निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः॥ 36।।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥ 37।।

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! युद्ध की इच्छा वाले इस कुटुम्ब समुदाय को अपने समने उपस्थित देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हो रहे हैं और मुख सूख रहा है तथा मेरे शरीर में कँपकँपी आ रही है एवं रोंगटे खड़े हो रहे हैं। हाथ से गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी जल रही है। मेरा मन भ्रमित सा हो रहा है और मैं खड़े रहने में भी असमर्थ हो रहा हूँ।।28-30।। हे केशव! मैं लक्षणों (शकुनों) को भी विपरीत देख रहा हूँ और युद्ध में स्वजनों को मारकर श्रेय (लाभ) भी नहीं देख रहा हूँ।।31।। हे कृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ, न राज्य चाहता हूँ और न सुखों को ही चाहता हूँ। हे गोविन्द! हम लोगों को राज्य से क्या लाभ? भोगों से क्या लाभ? अथवा जीने से भी क्या लाभ?।।32।। जिनके लिए हमारी राज्य, भोग और सुख की इच्छा है, वे ही ये सब अपने प्राणों और धन की आशा का त्याग करके युद्ध में खड़े हैं।।33।। आचार्य, पिता, पुत्र और उसी प्रकार पितामह, मामा, ससुर, पौत्र, साले तथा अन्य जितने भी सम्बन्धी हैं, मुझ पर प्रहार करने पर भी मैं इनको मारना नहीं चाहता और हे मधुसूदन! मुत्रे त्रिलोकी का राज्य मिलता हो तो भी मैं इनको मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वी के लिए तो मैं इनको मारूँ ही क्या?।।34-35।। हे जनार्दन! इन धृतराष्ट्र सम्बन्धियों को मारकर हम लोगों को क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियों को मारने से तो हमें पाप ही लगेगा।।36।। इसलिए अपने बान्धव इन धृतराष्ट्र सम्बन्धियों को मारने के लिए हम योग्य नहीं हैं; क्योंकि हे माधव! अपने कुटुम्बियों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे?।।37।।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥ 38।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥ 39।।
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥ 40।।
अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥ 41।।
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ 42।।
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ 43।।
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ 44।।
अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ 45।।
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ 46।।

यद्यपि लोभ के कारण जिनका विवेक विचार लुप्त हो गया है, ऐसे ये (दुर्योधन आदि) कुल का नाश करने से होने वाले दोष को और मित्रों के साथ द्वेष करने से होने वाले पाप को नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन! कुल का नाश करने से होने वाले दोष को

ठीक-ठीक जानने वाले हम लोग इस पाप से निवृत्त होने का विचार क्यों न करें?।।38-39।। कुल का क्षय होने पर सदा से चलते आये कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्म का नाश होने पर बचे हुए सम्पूर्ण कुल को अधर्म दबा लेता है।।40।। हे कृष्ण! अधर्म के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, और हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के दूषित होने पर वर्ण सङ्कर पैदा हो जाते हैं।।41।। वर्णसङ्कर कुलघातियों को और कुल को नरक में ले जाने वाला ही होता है। श्राद्ध और तर्पण न मिलने से इन कुलघातियों के पितर भी (अपने स्थान से) गिर जाते हैं।।42।। इन वर्णसङ्कर पैदा करने वाले दोषों से कुलघातियों के सदा से चलते आये कुल धर्म और जाति धर्म नष्ट हो जाते हैं।।43।। हे जनार्दन! जिनके कुल धर्म नष्ट हो जाते हैं, उन मनुष्यों का बहुत काल तक नरकों में वास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं।।44।। यह बड़े आश्चर्य और खेद की बात है कि हम लोग बड़ा भारी पाप करने का निश्चय कर बैठे हैं, जो कि राज्य और सुख के लोभ से अपने स्वजनों को मारने के लिए तैयार हो गये हैं।।45।। अगर ये हाथों में शस्त्र-अस्त्र लिए हुए धृतराष्ट्र के पक्षपाती लोग युद्धभूमि में सामना न करने वाले तथा शस्त्र रहित मुझे मार भी दें तो वह मेरे लिए बड़ा ही हितकारक होगा।।46।।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ 46।।

सञ्जय बोले—ऐसा कहकर शोकाकुल मन वाले अर्जुन बाण सहित धनुष का त्याग करके युद्धभूमि में रथ के मध्य भाग में बैठ गये।।47।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ 1 ॥
भीष्मपर्वणि तु पञ्चविंशोऽध्यायः।।25।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में अर्जुनविषादयोग नामक पहला अध्याय पूरा हुआ।।1।। भीष्मपर्व में पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।25।।

द्वितीयोऽध्यायः

अर्जुन को युद्ध के लिए उत्साहित करते हुए भगवान् के द्वारा नित्यानित्य वस्तु के विवेचनपूर्वक सांख्ययोग, कर्मयोग एवं स्थितप्रज्ञ की स्थिति और महिमा का प्रतिपादन

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥ 1।।

सञ्जय बोले—वैसी कायरता से व्याप्त हुए उन अर्जुन के प्रति, जो कि विषाद कर रहे हैं और आँसुओं के कारण जिनके नेत्रों की देखने की शक्ति अवरुद्ध हो रही है, भगवान् मधुसूदन यह (आगे कहे जाने वाले) वचने बोले।।1।।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ 2।।
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ 3।।

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! इस विषम अवसर पर तुम्हें यह कायरता कहाँ से प्राप्त हुई, जिसका कि श्रेष्ठ पुरुष सेवन नहीं करते, जो स्वर्ग को देने वाली नहीं है और कीर्ति करने वाली भी नहीं है।।2।। हे पृथानन्दन अर्जुन! इस नपुंसकता को मत प्राप्त हो; क्योंकि तुम्हारे में यह उचित नहीं है। हे परन्तप! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता का त्याग करके (युद्ध के लिए) खड़े हो जाओ।।3।।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥ 4।।
गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्॥ 5।।
न चैतद् विद्मः कतरन्नो गरीयो यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥ 7।।
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥ 7।।
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥ 8।।

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! मैं रणभूमि में भीष्म और द्रोण के साथ बाणों से कैसे युद्ध करूँ? क्योंकि हे अरिसूदन! ये दोनों ही पूजा के योग्य हैं।।4।। महानुभाव गुरुजनों को न मारकर इस लोक में मैं भिक्षा का अन्न खाना भी श्रेष्ठ समझता हूँ; क्योंकि गुरुजनों को मारकर यहाँ रक्त से सने हुए तथा धन की कामना की मुख्यता वाले भोगों को ही तो भोगूँगा!।।5।। हम यह भी नहीं जानते कि हम लोगों के लिए (युद्ध करना और न करना—इन) दोनों में से कौन-सा अत्यन्त श्रेष्ठ है अथवा हम उन्हें जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे। जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के सम्बन्धी हमारे सामने खड़े हैं।।6।। कायरता रूप दोष से तिरस्कृत स्वभाव वाला और धर्म के विषय में मोहित अन्तःकरण वाला मैं आपसे पूछता हूँ कि जो निश्चित कल्याण करने वाली हो, वह बात मेरे लिए कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ। आपके शरण हुए मुझे शिक्षा दीजिये।।7।। कारण कि पृथ्वी पर धन-धान्य समृद्ध और शत्रु रहित राज्य तथा (स्वर्ग

में) देवताओं का आधिपत्य मिल जाए तो भी इन्द्रियों को सुखाने वाला मेरा जो शोक है, वह दूर हो जाए—ऐसा मैं नहीं देखता हूँ।।8।।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोवन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ 9।।
तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ 10।।

सञ्जय बोले—हे शत्रुतापन धृतराष्ट्र! ऐसा कहकर निद्रा को जीतने वाले अर्जुन अन्तर्यामी भगवान् गोविन्द से 'मैं युद्ध नहीं करूँगा।' ऐसा साफ-साफ कह कर चुप हो गये।।9।। हे भरतवंशोद्भव धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओं के मध्य भाग में विषाद करते हुए उस अर्जुन के प्रति हँसते हुए से भगवान् हृषीकेश यह (आगे कहे जाने वाले) वचन बोले।।10।।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ 11।।
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ 12।।
देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ 13।।
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ 14।।
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ 15।।
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ 16।।
अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कुर्तुमर्हति॥ 17।।
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥ 18।।
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ 19।।
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ 20।।

श्रीभगवान् बोले—तुमने शोक न करने योग्य का शोक किया है और विद्वत्ता (पण्डिताई) की बातें कह रहे हो; परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिए और

जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिए पण्डित लोग शोक नहीं करते।।11।। किसी काल में मैं नहीं था और तू नहीं था तथा ये राजा लोग नहीं थे, यह बात भी नहीं है; और इसके बाद (भविष्य में मैं, तू और राजा लोग)—हम सभी नहीं रहेंगे, यह बात भी नहीं है।।12।। देहधारी के इस मनुष्य शरीर में जैसे बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, ऐसे ही दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है। उस विषय में धीर मनुष्य मोहित नहीं होता।।13।। हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रियों के विषय (जड़ पदार्थ) तो शीत (अनुकूलता) और उष्ण (प्रतिकूलता)—के द्वारा सुख और दुःख देने वाले हैं तथा आने-जाने वाले और अनित्य हैं। हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! उनको तुम सहन करो।।14।। कारण कि हे पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन! सुख-दुःख में सम रहने वाले जिस बुद्धिमान् मनुष्य को ये मात्रा स्पर्श (पदार्थ) विचलित (सुखी-दुःखी) नहीं करते, वह अमर होने में समर्थ हो जाता है अर्थात् वह अमर हो जाता है।।15।। असत् का तो भाव (सत्ता) विद्यमान नहीं है और सत् का अभाव विद्यमान नहीं है। तत्त्वदर्शी महापुरुषों ने इन दोनों का ही तत्त्व देखा अर्थात् अनुभव किया है।।16।। अविनाशी तो उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है। इस अविनाशी का विनाश कोई भी नहीं कर सकता।।17।। अविनाशी, जानने में न आने वाले और नित्य रहने वाले इस शरीरी के देह अन्त वाले कहे गये हैं। इसलिए हे अर्जुन! तुम युद्ध करो।।18।। जो मनुष्य इस अविनाशी शरीरी को मारने वाला मानता है और जो मनुष्य इसको मरा मानता है, वे दोनों ही इसको नहीं जानते; क्योंकि यह न मारता है और न मारा जाता है।।19।। यह शरीरी न कभी जन्मता है और न मरता है तथा यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला नहीं है। यह जन्मरहित, नित्य-निरन्तर रहने वाला, शाश्वत और अनादि है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता।।20।।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ 21।।
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ 22।।
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥ 23।।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ 24।।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ 25।।
अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥ 26।।
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥ 27।।
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ 28।।

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ 29॥
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥ 30॥

हे पृथानन्दन! जो मनुष्य इस शरीरी को अविनाशी, नित्य, जन्म रहित और अव्यय जानता है, वह कैसे किसको मारे और कैसे किसको मरवाये?॥21॥ मनुष्य जैसे पुराने कपड़ों को छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही देही पुराने शरीरों को छोड़कर दूसरे नये शरीरों में चला जाता है॥22॥ शस्त्र इस शरीरी को काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसको सुखा नहीं सकती॥23॥ यह शरीरी काटा नहीं जा सकता, यह जलाया नहीं जा सकता, यह गीला नहीं किया जा सकता और यह सुखाया भी नहीं जा सकता। कारण कि यह नित्य रहने वाला, सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाव वाला और अनादि है॥24॥ यह देही प्रत्यक्ष नहीं दीखता, यह चिन्तन का विषय नहीं है और यह निर्विकार कहा जाता है। अतः इस देही को ऐसा जानकर शोक नहीं करना चाहिए॥25॥ हे महाबाहो! अगर तुम इस देही का नित्य पैदा होने वाला अथवा नित्य मरने वाला भी मानो, तो भी तुम्हें इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिए॥26॥ कारण कि पैदा हुए की जरूर मृत्यु होगी और मरे हुए का जरूर जन्म होगा। अतः (इस जन्म-मरण रूप परिवर्तन के प्रवाह का) निवारण नहीं हो सकता। अतः इस विषय में शोक नहीं करना चाहिए॥27॥ हे भारत! सभी प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे और मरने के बाद अप्रकट हो जाएंगे, केवल बीच में ही प्रकट दीखते हैं। अतः इसमें शोक करने की बात ही क्या है?॥28॥ कोई इस शरीरी को आश्चर्य की तरह देखता (अनुभव करता) है और वैसे ही दूसरा कोई इसका आश्चर्य की तरह वर्णन करता है तथा अन्य कोई इसको आश्चर्य की तरह सुनता है और इसको सुनकर भी कोई नहीं जानता अर्थात् यह दुर्विज्ञेय है॥29॥ हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! सबके देह में यही देही नित्य ही अवध्य है। इसलिए सम्पूर्ण प्राणियों के लिए अर्थात् किसी भी प्राणी के लिए तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए॥30॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥ 31॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ 32॥
अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यति॥ 33॥
अकीर्तिञ्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥ 34॥
भयाद् रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥ 35॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥ 36।।
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ 37।।
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ 38।।
एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ 39।।
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ 40।।

और अपने क्षात्र धर्म को देखकर भी तुम्हें विकम्पित अर्थात् कर्त्तव्य कर्म से विचलित नहीं होना चाहिए; क्योंकि धर्ममय युद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए दूसरा कोई कल्याणकारक कर्म नहीं है।।31।। अपने आप प्राप्त हुआ युद्ध खुला हुआ स्वर्ग का दरवाजा भी है। हे पृथानन्दन! वे क्षत्रिय बड़े सुखी (भाग्यशाली) हैं, जिनको ऐसा युद्ध प्राप्त होता है।।32।। अब अगर तू यह धर्ममय युद्ध नहीं करेगा तो अपने धर्म और कीर्ति का त्याग करके पाप को प्राप्त होगा।।33।। और सब प्राणी भी तेरी सदा रहने वाली अपकीर्ति का कथन अर्थात् निन्दा करेंगे। वह अपकीर्ति सम्मानित मनुष्य के लिए मृत्यु से भी बढ़कर दुःखदायी होती है।।34।। तथा महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से हटा हुआ मानेंगे। जिनकी धारणा में तू बहुमान्य हो चुका है, (उनकी दृष्टि में) तू लघुता को प्राप्त हो जाएगा।।35।। तेरे शत्रु लोग तेरी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए बहुत-से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे। उससे बढ़कर और दुःख की बात क्या होगी?।।36।। अगर (युद्ध में) तू मारा जाएगा तो तुझे स्वर्ग की प्राप्ति होगी और अगर (युद्ध में) तू जीत जाएगा तो पृथ्वी का राज्य भोगेगा। अत: हे कुन्तीनन्दन! तू युद्ध के लिए निश्चय करके खड़ा हो जा।।37।। जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख को समान करके फिर युद्ध में लग जा। इस प्रकार (युद्ध करने से) तू पाप को प्राप्त नहीं होगा।।38।। हे पार्थ! यह समबुद्धि तेरे लिए (पहले) सांख्ययोग में कही गयी और अब तू इसको कर्मयोग के विषय में सुन; जिस समबुद्धि से युक्त हुआ तू कर्म बन्धन का त्याग कर देगा।।39।। मनुष्य लोक में इस समबुद्धि रूप धर्म के आरम्भ का नाश नहीं होता तथा इसके (अनुष्ठान का) उल्टा फल भी नहीं होता और इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान (जन्म-मरण रूप) महान् भय से रक्षा कर लेता है।।40।।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ 41।।
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ 42।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ 43।।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ 44।।
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ 45।।
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ 46।।
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ 47।।
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ 48।।
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ 49।।
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद् यागाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ 50।।
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ 51।।
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ 52।।
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ 53।।

हे कुरुनन्दन! इस (समबुद्धि की प्राप्ति) के विषय में निश्चय वाली बुद्धि एक ही होती है। जिनका निश्चय नहीं है, ऐसे मनुष्यों की बुद्धियाँ अनन्त और बहुत शाखाओं वाली ही होती हैं।।41।। हे पृथानन्दन! जो कामनाओं में तन्मय हो रहे हैं, स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानने वाले हैं, वेदों में कहे हुए सकाम कर्मों में प्रीति रखने वाले हैं, (भोगों के सिवाय) और कुछ है ही नहीं—ऐसा कहने वाले हैं, वे अविवेकी मनुष्य इस प्रकार की जिस पुष्पित (दिखाऊ शोभायुक्त) वाणी को कहा करते हैं तथा भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए बहुत-सी क्रियाओं का वर्णन करने वाली है।।42-43।। उस पुष्पित वाणी से जिसका अन्तःकरण हर लिया गया है अर्थात् भोगों की तरफ खिंच गया है, और जो भोग तथा ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्यों की परमात्मा में एक निश्चय वाली बुद्धि नहीं होती।।44।। वेद तीनों गुणों के कार्य का ही वर्णन करने वाले हैं; हे अर्जुन! तू तीनों गुणों से रहित हो जा, राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित हो जा, निरन्तर नित्य वस्तु परमात्मा में स्थित हो जा, योगक्षेम की चाहना भी मत रख और परमात्म परायाण हो जा।।45।। सब तरफ से परिपूर्ण महान् जलाशय के प्राप्त होने पर छोटे गड्ढों में भरे जल में मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता, (वेदों और शास्त्रों को) तत्त्व से जानने वाले ब्रह्मज्ञानी का सम्पूर्ण वेदों में उतना ही

प्रयोजन रहता है अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता।।46।। कर्त्तव्य कर्म करने में ही तेरा अधिकार है, फलों में कभी नहीं। अत: तू कर्मफल का हेतु भी मत बन और तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो।।47।। हे धनञ्जय! तू आसक्ति त्याग करके सिद्धि-असिद्धि में सम होकर योग में स्थित हुआ कर्मों को कर; क्योंकि समत्व ही योग कहा जाता है।।48।। बुद्धियोग (समता) की अपेक्षा सकाम कर्म दूर से (अत्यन्त) ही निकृष्ट हैं। अत: हे धनञ्जय! तू बुद्धि (समता) का आश्रय ले; क्योंकि फल के हेतु बनने वाले अत्यन्त दीन हैं।।49।। बुद्धि (समता) से युक्त मनुष्य यहाँ (जीवित अवस्था में ही) पुण्य और पाप—दोनों का त्याग कर देता है। अत: तू योग (समता) में लग जा; क्योंकि कर्मों में योग ही कुशलता है।।50।। कारण कि समता युक्त बुद्धिमान् साधक कर्मजन्य फल का अर्थात् संसार मात्र का त्याग करके जन्म रूप बन्धन से मुक्त होकर निर्विकार पद को प्राप्त हो जाते हैं।।51।। जिस समय तेरी बुद्धि मोहरूपी दलदल को भलीभाँति तर जाएगी, उसी समय तू सुने हुए और सुनने में आने वाले भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो जाएगा।।52।। जिस काल में शास्त्रीय मतभेदों से विचलित हुई तेरी बुद्धि निश्चल हो जाएगी और परमात्मा में अचल हो जाएगी, उस काल में तू योग को प्राप्त हो जाएगा।।53।।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥ 54।।

अर्जुन बोले—हे केशव! परमात्मा में स्थित स्थिर बुद्धि वाले मनुष्य के क्या लक्षण होते हैं? वह स्थिर बुद्धि वाला मनुष्य कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है अर्थात् व्यवहार करता है?।।54।।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ 55।।
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ 56।।
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 57।।
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 58।।
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ 59।।
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥ 60।।
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 61।।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ 62॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ 63॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ 64॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठति]ते[॥ 65॥

श्रीभगवान् बोले—हे पृथानन्दन! जिस काल में साधक मन में आयी सम्पूर्ण कामनाओं का भलीभाँति त्याग कर देता है और अपने आप से अपने आपमें ही सन्तुष्ट रहता है, उस काल में वह स्थिर बुद्धि कहा जाता है।।55।। दुःखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता और सुखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में स्पृहा नहीं होती तथा जो राग, भय और क्रोध से सर्वथा रहित हो गया है, वह मननशील मनुष्य स्थिर बुद्धि कहा जाता है।।56।। सब जगह आसक्ति रहित हुआ जो मनुष्य उस-उस शुभ-अशुभ को प्राप्त करके न तो प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।।57।। जिस तरह कछुआ अपने अङ्गों को सब ओर से समेट लेता है, ऐसे ही जिस काल में यह (कर्मयोगी) इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को सब प्रकार से हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।।58।। निराहारी (इन्द्रियों को विषयों से हटाने वाले) मनुष्य के भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर रस निवृत्त नहीं होता। परन्तु परमात्म तत्त्व का अनुभव होने से इस स्थितप्रज्ञ मनुष्य का रस भी निवृत्त हो जाता है अर्थात् उसकी संसार में रसबुद्धि नहीं रहती।।59।। कारण कि हे कुन्तीनन्दन! (रसबुद्धि रहने से) यत्न करते हुए विद्वान् मनुष्य भी प्रमथनशील इन्द्रियाँ उसके मन को बलपूर्वक हर लेती हैं।।60।। कर्मयोगी साधक उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके मेरे परायण होकर बैठे; क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है।।61।। विषयों का चिन्तन करने वाले मनुष्य की उन विषयों में आसक्ति पैदा हो जाती है। आसक्ति से कामना पैदा होती है। कामना से (बाधा लगने पर) क्रोध पैदा होता है। क्रोध होने पर सम्मोह (मूढ़ भाव) हो जाता है। सम्मोह से स्मृति भ्रष्ट हो जाती है। स्मृति भ्रष्ट होने पर बुद्धि (विवेक) का नाश हो जाता है। बुद्धि का नाश होने पर मनुष्य का पतन हो जाता है।।62-63।। परन्तु वशीभूत अन्तःकरण वाला (कर्मयोगी साधक) राग-द्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करता हुआ (अन्तःकरण की) निर्मलता को प्राप्त हो जाता है। (अन्तःकरण की निर्मलता) प्राप्त होने पर साधक के सम्पूर्ण दुःखों का नाश हो जाता है और ऐसे शुद्ध चित्त वाले साधक की बुद्धि निःसन्देह बहुत जल्दी (परमात्मा में) स्थिर हो जाती है।।64-65।।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ 66॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ 67।।
तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ 68।।
या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ 69।।
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ 70।।
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥ 71।।
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥ 72।।

जिसके मन-इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं, ऐसे मनुष्य की व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती और (व्यवसायात्मिका बुद्धि न होने से) उस अयुक्त मनुष्य में निष्काम भाव अथवा कर्त्तव्य परायणता का भाव नहीं होता। निष्काम भाव न होने से उसको शान्ति नहीं मिलती। फिर शान्ति रहित मनुष्य को सुख कैसे मिल सकता है?।।66।। कारण कि (अपने-अपने विषयों में) विचरती हुई इन्द्रियों में से (एक ही इन्द्रिय) जिस मन को अपना अनुगामी बना लेती है, वह (अकेला मन) जल में नौका को वायु की तरह इस की बुद्धि को हर लेता है।।67।। इसलिए हे महाबाहो! जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों में सर्वथा वश में की हुई हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है।।68।। सम्पूर्ण प्राणियों की जो रात (परमात्मा से विमुखता) है, उसमें संयमी मनुष्य जागता है और जिसमें सब प्राणी जागते हैं (भोग और संग्रह में लगे रहते हैं), वह तत्त्व को जानने वाले मुनि की दृष्टि में रात है।।69।। जैसे (सम्पूर्ण नदियों का) जल चारों ओर से जल द्वारा परिपूर्ण समुद्र में आकर मिलता है, पर (समुद्र अपनी मर्यादा में) अचल स्थित रहता है, ऐसे ही सम्पूर्ण भोग पदार्थ जिस संयमी मनुष्य को (विकार उत्पन्न किए बिना ही) प्राप्त होते हैं, वही मनुष्य परम शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों की कामना वाला नहीं।।70।। जो मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करके स्पृहा रहित, ममता रहित और अहंता रहित होकर आचरण करता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है।।71।। हे पृथानन्दन! यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको प्राप्त होकर कभी कोई मोहित नहीं होता। इस स्थिति में यदि अन्त काल में भी स्थित हो जाए तो निर्वाण (शान्त) ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।।72।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ 2 ॥
भीष्मपर्वणि तु षड्विंशोऽध्यायः॥ 26 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में सांख्य योग नामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ।।2।। भीष्मपर्व में छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।26।।

तृतीयोऽध्यायः

ज्ञानयोग और कर्मयोग आदि समस्त साधनों के अनुसार कर्तव्यकर्म करने की आवश्यकता का प्रतिपादन एवं स्वधर्मपालन की महिमा तथा कामनिरोध के उपाय का वर्णन

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ 1।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥ 2।।

अर्जुन बोले—हे जनार्दन! अगर आप कर्म से बुद्धि (ज्ञान) को श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर हे केशव! मुझे घोर कर्म में क्यों लगाते हैं? आप अपने मिले हुए से वचनों से मेरी बुद्धि को मोहित सी कर रहे हैं। अतः आप निश्चय करके उस एक बात को कहिये, जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ।।1-2।।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ 3।।
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ 4।।
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ 5।।
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ 6।।
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ 7।।
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥ 8।।
यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ 9।।
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ 10।।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥ 11।।

श्रीभगवान् बोले—हे निष्पाप अर्जुन! इस मनुष्य लोक में दो प्रकार से होने वाली निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है। उनमें ज्ञानियों की निष्ठा ज्ञानयोग से और योगियों की निष्ठा कर्मयोग से होती है।।3।। मनुष्य न तो कर्मों का आरम्भ किए बिना निष्कर्मता का अनुभव करता है और न कर्मों के त्याग मात्र से सिद्धि को ही प्राप्त होता है।।4।। कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्था में क्षण मात्र भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता; क्योंकि प्रकृति के परवश हुए सब प्राणियों से प्रकृतिजन्य गुण कर्म करवा लेते हैं।।5।। जो कर्मेन्द्रियों (सम्पूर्ण इन्द्रियों) को हठपूर्वक रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करते हुए बैठता है, वह मूढ़ बुद्धि वाला मनुष्य मिथ्याचारी (मिथ्या आचरण करने वाला) कहा जाता है।।6।। परन्तु हे अर्जुन! जो मनुष्य मन से इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके आसक्ति रहित होकर (निष्काम भाव से) कर्मेन्द्रियों (समस्त इन्द्रियों) के द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है।।7।। तू शास्त्र विधि से नियत किए हुए कर्त्तव्य कर्म कर; क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।।8।। यज्ञ (कर्त्तव्य पालन) के लिए किए जाने वाले कर्मों से अन्यत्र (अपने लिए किए जाने वाले) कर्मों में लगा हुआ यह मनुष्य समुदाय कर्मों से बन्धता है; इसलिए हे कुन्तीनन्दन! तू आसक्ति रहित होकर उस यज्ञ के लिए ही कर्त्तव्य कर्म कर।।9।। प्रजापति ब्रह्माजी ने सृष्टि के आदिकाल में कर्त्तव्य कर्मों के विधान सहित प्रजा (मनुष्य आदि) की रचना करके (उनसे, प्रधानतया मनुष्यों से) कहा कि तुम लोग इस कर्त्तव्य के द्वारा सबकी वृद्धि करो और यह (कर्त्तव्य कर्मरूप यज्ञ) तुम लोगों को कर्त्तव्य पालन की आवश्यक सामग्री प्रदान करने वाला हो। इस (अपने कर्त्तव्य कर्म) के द्वारा तुम लोग देवताओं को उन्नत करो और वे देवता लोग (अपने कर्त्तव्य के द्वारा) तू लोगों को उन्नत करें। इस प्रकार एक-दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे।।10-11।।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥ 12।।
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ 13।।
अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ 14।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ 15।।
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ 16।।
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ 17।।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ 18।।
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ 19।।
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥ 20।।

यज्ञ से पुष्ट हुए देवता भी तुम लोगों को (बिना माँगे ही) कर्त्तव्य पालन की आवश्यक सामग्री देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओं की दी हुई सामग्री को दूसरों की सेवा में लगाये बिना जो मनुष्य (स्वयं ही उसका) उपभोग करता है, वह चोर ही है।।12।। यज्ञशेष (योग) का अनुभव करने वाले श्रेष्ठ मनुष्य सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाते हैं। परन्तु जो केवल अपने लिए ही पकाते अर्थात् सब कर्म करते हैं, वे पापी लोग तो पाप का ही भक्षण करते हैं।।13।। सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं। अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है। वर्षा यज्ञ से होती है। यज्ञ कर्मों से सम्पन्न होता है। कर्मों को तू वेद से उत्पन्न जान और वेद को अक्षर ब्रह्म से प्रकट हुआ जान। इसलिए वह सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञ (कर्त्तव्य कर्म) में नित्य स्थित है।।14-15।। हे पार्थ! जो मनुष्य इस लोक में इस प्रकार (परम्परा से) प्रचलित सृष्टि चक्र के अनुसार नहीं चलता, वह इन्द्रियों के द्वारा भोगों में रमण करने वाला अघायु (पापमय जीवन बिताने वाला) मनुष्य संसार में व्यर्थ ही जीता है।।16।। परन्तु जो मनुष्य अपने आपमें ही रमण करने वाला और अपने आप में ही तृप्त तथा अपने आप में ही सन्तुष्ट है, उसके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं है।।17।। उस (कर्मयोग से सिद्ध हुए महापुरुष) का इस संसार में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्म करने से ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियों में (किसी भी प्राणी के साथ) इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता।।18।। इसलिए तू निरन्तर आसक्ति रहित होकर कर्त्तव्य कर्म का भलीभाँति आचरण कर; क्योंकि आसक्ति रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।।19।। राजा जनक जैसे अनेक महापुरुष भी कर्म (कर्मयोग) के द्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे। इसलिए लोकसंग्रह का देखते हुए भी तू (निष्काम भाव से) कर्म करने के ही योग्य है अर्थात् अवश्य करना चाहिए।।20।।

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ 21।।
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ 22।।
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ 23।।
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥ 24।।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्॥ 25।।
न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥ 26।।
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ 27।।
तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणो गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥ 28।।
प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ 29।।
मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥ 30।।

श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य वैसा वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, दूसरे मनुष्य उसी के अनुसार आचरण करते हैं।।21।। हे पार्थ! मुझे तीनों लोकों में न तो कुछ कर्त्तव्य है और न कोई प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, फिर भी मैं कर्त्तव्य कर्म में ही लगा रहता हूँ।।22।। क्योंकि हे पार्थ! अगर मैं किसी समय सावधान होकर कर्त्तव्य कर्म न करूँ (तो बड़ी हानि हो जाए; क्योंकि) मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं। यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट भ्रष्ट हो जाएँ और वर्ण सङ्करता को करने वाला होऊं तथा इस समस्त प्रजा को नष्ट करने वाला बनूँ।।23-24।। हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्ति रहित तत्त्वज्ञ महापुरुष भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे। सावधान तत्त्वज्ञ महापुरुष कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानी मनुष्यों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न न करे, प्रत्युत स्वयं समस्त कर्मों को अच्छी तरह से करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवाये।।25-26।। सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति के गुणों द्वारा किए जाते हैं; परन्तु अहङ्कार से मोहित अन्तःकरण वाला अज्ञानी मनुष्य मैं कर्त्ता हूँ—ऐसा मान लेता है।।27।। परन्तु हे महाबाहो! गुण विभाग और कर्म विभाग को तत्त्व से जानने वाला महापुरुष 'सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बरत रहे हैं' ऐसा मानकर उनमें आसक्त नहीं होता।।28।। प्रकृतिजन्य गुणों से अत्यन्त मोहित हुए अज्ञानी मनुष्य गुणों और कर्मों में आसक्त रहते हैं। उन पूर्णतया न समझने वाले मन्द बुद्धि अज्ञानियों को पूर्णतया जानने वाला ज्ञानी मनुष्य विचलित न करे।।29।। तू विवेकवती बुद्धि के द्वारा सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों को मेरे अर्पण करके कामना रहित, ममता रहित और संताप रहित होकर युद्ध रूप कर्त्तव्य कर्म को कर।।30।।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥ 31।।
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।

सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥ 32।।
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ 33।।
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ 34।।
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ 35।।

जो मनुष्य दोष दृष्टि से रहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे इस (पूर्व श्लोक में वर्णित) मत का सदा अनुसरण करते हैं, वे भी कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।।31।। परन्तु जो मनुष्य मेरे इस मत में दोष दृष्टि करते हुए इसका अनुष्ठान नहीं करते, उन सम्पूर्ण ज्ञानों में मोहित और अविवेकी मनुष्यों को नष्ट हुए ही समझो अर्थात् उनका पतन ही होता है।।32।। सम्पूर्ण प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं। ज्ञानी महापुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है (फिर इसमें किसी का) हठ क्या करेगा?।।33।। इन्द्रिय-इन्द्रिय के अर्थ में (प्रत्येक इन्द्रिय के प्रत्येक विषय में) मनुष्य के राग और द्वेष व्यवस्था से (अनुकूलता और प्रतिकूलता को लेकर) स्थित हैं। मनुष्य को उन दोनों के वश में नहीं होना चाहिये; क्योंकि वे दोनों ही इसके (पारमार्थिक मार्ग में) विघ्न डालने वाले शत्रु हैं।।34।। अच्छी तरह आचरण में लाये हुए दूसरे के धर्म से गुणों की कमी वाला अपना धर्म श्रेष्ठ है। अपने धर्म में तो मरना भी कल्याण कारक है और दूसरे का धर्म भय को देने वाला है।।35।।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ 36।।

अर्जुन बोले—हे वार्ष्णेय! फिर यह मनुष्य न चाहता हुआ भी जर्बदस्ती लगाये हुए की तरह किससे प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है?।।36।।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ 37।।
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥ 38।।
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ 39।।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ 40।।
तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ 41।।
इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ 42।।
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥ 43।।

श्रीभगवान् बोले—रजोगुण से उत्पन्न यह काम अर्थात् कामना (ही पाप का कारण है)। यह काम ही क्रोध (में परिणत होता) है। यह बहुत खाने वाला और महापापी है। इस विषय में तू इसको ही वैरी जान।।37।। जैसे धुएँ से अग्नि और मैल से दर्पण ढक जाता है तथा जैसे जेर से गर्भ ढका रहता है, ऐसे ही उस कामना के द्वारा यह (ज्ञान अर्थात् विवेक) ढका हुआ है।।38।। हे कुन्तीनन्दन! इस अग्नि के समान कभी तृप्त न होने वाले और अविवेकियों के कामना रूप नित्य वैरी के द्वारा मनुष्य का विवेक ढका हुआ है।।39।। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस कामना के वास स्थान कहे गये हैं। यह कामना इन (इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि) के द्वारा ज्ञान को ढक कर देहाभिमानी मनुष्य को मोहित करती है।।40।। इसलिए हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! तू सबसे पहले इन्द्रियों को वश में करके इस ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले महान् पापी काम को अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल।।41।। इन्द्रियों को (स्थूल शरीर से) पर (श्रेष्ठ, सबल, प्रकाशक, व्यापक तथा सूक्ष्म) कहते हैं। इन्द्रियों पर मन है, मन से भी पर बुद्धि है और जो बुद्धि से भी पर है, वह (काम) है। इस तरह बुद्धि से पर (काम) को जानकर अपने द्वारा अपने आपको वश में करके हे महाबाहो! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रु को मार डाल।।42-43।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ 3 ॥
भीष्मपर्वणि तु सप्तविंशोऽध्यायः॥ 27 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ।।3।। भीष्मपर्व में सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।27।।

चतुर्थोऽध्यायः

सगुण भगवान् के प्रभाव, निष्काम कर्मयोग तथा योगी महात्मा पुरुषों के आचरण और उनकी महिमा का वर्णन करते हुए विविध यज्ञों एवं ज्ञान की महिमा का वर्णन

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ 1।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥ 2।।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ 3।।

श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी योग (कर्मयोग) को सूर्य से कहा था। फिर सूर्य ने (अपने पुत्र) वैवस्वत मनु से कहा और मनु ने (अपने पुत्र) राजा इक्ष्वाकु से कहा।।1।। हे परन्तप! इस तरह परम्परा से प्राप्त इस कर्मयोग को राजर्षियों ने जाना। परन्तु बहुत समय बीत जाने के कारण वह योग इस मनुष्य लोक में लुप्त प्राय हो गया।।2।। तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिए वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझसे कहा है; क्योंकि यह बड़ा उत्तम रहस्य है।।3।।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद् विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ 4।।

अर्जुन बोले—आपका जन्म तो अभी का है और सूर्य का जन्म बहुत पुराना है; अतः आपने ही सृष्टि के आरम्भ में (सूर्य से) यह योग कहा था—यह बात मैं कैसे समझूँ?।।4।।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ 5।।
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ 6।।
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥ 7।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ 8।।
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ 9।।
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ 10।।
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ 11।।
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ 12।।
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ 13।।
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ 14।।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ 15।।

श्रीभगवान् बोले—हे परन्तप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सबको मैं जानता हूँ, पर तू नहीं जानता।।5।। मैं अजन्मा और अविनाशी स्वरूप होते हुए भी तथा सम्पूर्ण प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ।।6।। हे भरतवंशी अर्जुन! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने आपको (साकार रूप से) प्रकट करता हूँ।।7।। साधुओं (भक्तों) की रक्षा करने के लिए, पापकर्म करने वालों का विनाश करने के लिए और धर्म की भलीभाँति स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ।।8।। हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं। इस प्रकार (मेरे जन्म और कर्म को) जो मनुष्य तत्त्व से जान लेता है अर्थात् दृढ़तापूर्वक मान लेता है, वह शरीर का त्याग करके पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत मुझे प्राप्त होता है।।9।। राग, भय और क्रोध से सर्वथा रहित, मुझमें तल्लीन, मेरे ही आश्रित तथा ज्ञान रूप तप से पवित्र हुए बहुत-से भक्त मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं।।10।। हे पृथानन्दन! जो भक्त जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग का अनुसरण करते हैं।।11।। कर्मों की सिद्धि (फल) चाहने वाले मनुष्य देवताओं की उपासना किया करते हैं; क्योंकि इस मनुष्य लोक में कर्मों से उत्पन्न होने वाली सिद्धि जल्दी मिल जाती है।।12।। मेरे द्वारा गुणों और कर्मों के विभागपूर्वक चारों वर्णों की रचना की गई है। उस (सृष्टि रचना आदि) का कर्त्ता होने पर भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू अकर्त्ता जान! कारण कि कर्मों के फल में मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिए मुझे कर्म लिप्त नहीं करते। इस प्रकार जो मुझे तत्त्व से जान लेता है, वह भी कर्मों से नहीं बन्धता।।13-14।। पूर्वकाल के मुमुक्षुओं ने भी इस प्रकार जानकर कर्म किए हैं, इसलिए तू भी पूर्वजों के द्वारा सदा से किए जाने वाले कर्मों को ही (उन्हीं की तरह) कर।।15।।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत् ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ 16।।
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ 17।।
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
सबुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ 18।।
यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ 19।।
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः॥ 20।।
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ 21।।
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ 22।।
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ 23।।
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ 24।।
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ 25।।

कर्म क्या है और अकर्म क्या है—इस प्रकार इस विषय में विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। अतः वह कर्म तत्त्व मैं तुझे भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू अशुभ (संसार बन्धन) से मुक्त हो जाएगा।।16।। कर्मों का तत्त्व भी जानना चाहिए और अकर्म का तत्त्व भी जानना चाहिए तथा विकर्म का तत्त्व भी जानना चाहिए; क्योंकि कर्मों की गति गहन है अर्थात् समझने में बड़ी कठिन है।।17।। जो मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वह योगी है और सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला (कृतकृत्य) है।।18।। जिसके सम्पूर्ण कर्मों के आरम्भ सङ्कल्प और कामना से रहित हैं तथा जिसके सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूपी अग्नि से जल गये हैं, उसको ज्ञानिजन भी पण्डित (बुद्धिमान्) कहते हैं।।19।। जो कर्म और फल की आसक्ति का त्याग करके आश्रय से रहित और सदा तृप्त है, वह कर्मों में अच्छी तरह लगा हुआ भी वास्तव में कुछ भी नहीं करता।।20।। जिसका शरीर और अन्तःकरण अच्छी तरह से वश में किया हुआ है, जिसने सब प्रकार के संग्रह का परित्याग कर दिया है, ऐसा इच्छा रहित (कर्मयोगी) केवल शरीर सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता।।21।। (जो कर्मयोगी फल की इच्छा के बिना) अपने आप जो कुछ मिल जाए, उसमें सन्तुष्ट रहता है और जो ईर्ष्या से रहित, द्वन्द्वों से रहित तथा सिद्धि और असिद्धि में सम है, वह कर्म करते हुए भी उससे नहीं बन्धता।।22।। जिसकी आसक्ति सर्वथा मिट गई है, जो मुक्त हो गया है, जिसकी बुद्धि स्वरूप के ज्ञान में स्थित है, ऐसे केवल यज्ञ के लिए कर्म करने वाले मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं।।23।। जिस यज्ञ में अर्पण अर्थात् जिससे अर्पण किया जाए, वे स्रुक् आदि पात्र भी ब्रह्म है, हव्य पदार्थ (तिल, जौ, घी आदि) भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप कर्त्ता के द्वारा ब्रह्म रूप अग्नि में आहुति देना रूप क्रिया भी ब्रह्म है, (ऐसे यज्ञ को करने वाले) जिस मनुष्य की ब्रह्म में ही कर्म समाधि हो गयी है, उसके द्वारा प्राप्त करने योग्य (फल भी) ब्रह्म ही है।।24।। अन्य योगी लोग दैव (भगवदर्पण रूप) यज्ञ का ही अनुष्ठान करते हैं और दूसरे योगी लोग ब्रह्मरूप अग्नि में (विचार रूप) यज्ञ के द्वारा ही (जीवात्मा रूप) यज्ञ का हवन करते हैं।।25।।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ 26।।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ 27।।
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ 28।।
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ 29।।
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥ 30।।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ 31।।
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ 32।।
श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ 33।।
तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ 34।।
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ 35।।

अन्य योगी लोग श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियों का संयम रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं और दूसरे योगी लोग शब्दादि विषयों का इन्द्रिय रूप अग्नियों में हवन किया करते हैं।।26।। अन्य योगी लोग सम्पूर्ण इन्द्रियों की क्रियाओं को और प्राणों की क्रियाओं को ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयमयोग (समाधियोग) रूप अग्नि में हवन किया करते हैं।।27।। दूसरे कितने ही तीक्ष्ण व्रत करने वाले प्रयत्नशील साधक द्रव्यमय यज्ञ करने वाले हैं और कितने ही तपोयज्ञ करने वाले हैं और दूसरे कितने ही योगयज्ञ करने वाले हैं तथा कितने ही स्वाध्याय रूप ज्ञानयज्ञ करने वाले हैं।।28।। दूसरे कितने ही प्राणायाम के परायण हुए योगी लोग अपान में प्राण का (पूरक करके) प्राण और अपान की गति रोककर (कुम्भक करके), फिर प्राण में अपान का हवन (रेचक) करते हैं; तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करने वाले प्राणों का प्राणों में हवन किया करते हैं। ये सभी (साधक) यज्ञों द्वारा पापों का नाश करने वाले और यज्ञों को जानने वाले हैं।।29-30।। हे कुरुवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ से बचे हुए अमृत का अनुभव करने वाले सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। यज्ञ न करने वाले मनुष्य के लिए यह मनुष्य लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक होगा?।।31।। इस प्रकार और भी बहुत तरह के यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार से कहे गये हैं। उन सब यज्ञों को तू कर्मजन्य जान। इस प्रकार जानकर (यज्ञ करने से) तू कर्मबन्धन से मुक्त हो जाएगा।।32।। हे परन्तप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। सम्पूर्ण कर्म और पदार्थ ज्ञान (तत्त्वज्ञान) में समाप्त (लीन) हो जाते हैं।।33।। उस तत्त्व ज्ञान को

(तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषों के पास जाकर) समझ। उनको साष्टाङ्ग दण्डवत प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और सरलतापूर्वक प्रश्न करने से वे तत्त्वदर्शी (अनुभवी) ज्ञानी (शास्त्रज्ञ) महापुरुष तुझे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश देंगे।।34।। जिस (तत्त्वज्ञान) का अनुभव करने के बाद तू फिर इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा और हे अर्जुन! जिस (तत्त्वज्ञान) से तू सम्पूर्ण प्राणियों को निःशेष भाव से पहले अपने में और उसके बाद मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में देखेगा।।35।।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ 36।।
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ 37।।
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ 38।।
श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ 39।।
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ 40।।
योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥ 41।।
तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ 42।।

अगर तू सब पापियों से भी अधिक पापी है तो भी ज्ञानरूपी नौका के द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप समुद्र से अच्छी तरह तर जाएगा।।36।। जे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनों को सर्वथा भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को सर्वथा भस्म कर देती है।।37।। इस मनुष्य लोक में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसन्देह दूसरा कोई साधन नहीं है। जिसका योग भलीभाँति सिद्ध हो गया है, (वह कर्मयोगी) उस तत्त्वज्ञान को अवश्य ही स्वयं अपने आपमें पा लेता है।।38।। जो जितेन्द्रिय तथा साधन परायण है, ऐसा श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञान को प्राप्त होता है और ज्ञान को प्राप्त होकर वह तत्काल परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है।।39।। विवेकहीन और श्रद्धारहित संशयात्मा मनुष्य का पतन हो जाता है। ऐसे संशयात्मा मनुष्य के लिए न तो यह लोक (हितकारक) है, न परलोक (हितकारक) है और न सुख ही है।।40।। हे धनञ्जय! योग (समता) के द्वारा जिसका सम्पूर्ण कर्मों से सम्बन्ध विच्छेद हो गया है और विवेक ज्ञान के द्वारा जिसके सम्पूर्ण संशयों का नाश हो गया है, ऐसे स्वरूप परायण मनुष्य को कर्म नहीं बाँधते।।41।। इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन! हृदय में स्थित इस अज्ञान से उत्पन्न अपने संशय का ज्ञानरूप तलवार से छेदन करके योग (समता) में स्थित हो जा और (युद्ध के लिए) खड़ा हो जा।।42।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ 4 ॥ भीष्मपर्वणि तु अष्टाविंशोऽध्यायः॥ 28 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ॥4॥ भीष्मपर्व में अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥28॥

पञ्चमोऽध्यायः

सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तिसहित ध्यानयोग का वर्णन

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥ 1॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! आप कर्मों का स्वरूप से त्याग करने की और फिर कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। अतः इन दोनों साधनों में जो एक निश्चित रूप से कल्याणकारक हो, उसको मेरे लिए कहिये॥1॥

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥ 2॥
ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥ 3॥
साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥ 4॥
यत् साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ 5॥
सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति॥ 6॥
योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ 7॥
नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥ 8॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ 9॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ 10।।

श्रीभगवान् बोले—संन्यास (सांख्ययोग) और कर्मयोग दोनों ही कल्याण करने वाले हैं। परन्तु उन दोनों में भी कर्मसंन्यास (सांख्ययोग) से कर्मयोग श्रेष्ठ है।।2।। हे महाबाहो! जो मनुष्य न किसी से द्वेष करता है और न किसी की प्रशंसा आकाङ्क्षा करता है, वह (कर्मयोगी) सदा संन्यासी समझने योग्य है; क्योंकि द्वन्द्वों से रहित मनुष्य सुखपूर्वक संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है।।3।। बेसमझ लोग सांख्ययोग और कर्मयोग को अलग-अलग (फल वाले) कहते हैं, न कि पण्डितजन; क्योंकि इन दोनों में से एक साधन में भी अच्छी तरह से स्थित मनुष्य दोनों के फल (परमात्मा को) प्राप्त कर लेता है।।4।। सांख्ययोगियों के द्वारा जो तत्त्व प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों के द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। अतः जो मनुष्य सांख्ययोग और कर्मयोग को (फल रूप में) एक देखता है, वही ठीक देखता है।।5।। परन्तु हे महाबाहो! कर्मयोग के बिना सांख्ययोग सिद्ध होना कठिन है। मननशील कर्मयोगी शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।।6।। जिसकी इन्द्रियाँ अपने वश में हैं, जिसका अन्तःकरण निर्मल है, जिसका शरीर अपने वश में है और सम्पूर्ण प्राणियों की आत्मा ही जिसकी आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करते हुए लिप्त नहीं होता।।7।। तत्त्व को जानने वाला सांख्ययोगी देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, ग्रहण करता हुआ, बोलता हुआ (मल-मूत्र का) त्याग करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ तथा आँख खोलता हुआ और मूंदता हुआ भी 'सम्पूर्ण इन्द्रियाँ' इन्द्रियों के विषयों में बरत रही हैं—ऐसा समझकर 'मैं स्वयं कुछ नहीं करता हूँ' ऐसा माने।।8-9।। जो (भक्तियोगी) सम्पूर्ण कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके और आसक्ति का त्याग करके कर्म करता है, वह जल से कमल के पत्ते की तरह पाप से लिप्त नहीं होता।।10।।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥ 11।।
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्ता निबध्यते॥ 12।।
सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्॥ 13।।
न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ 14।।
नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥ 15।।
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम्॥ 16।।
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ 17।।
विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ 18।।
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥ 19।।
न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥ 20।।

कर्मयोगी आसक्ति का त्याग करके केवल (ममता रहित) इन्द्रियाँ, शरीर, मन और बुद्धि के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ही कर्म करते हैं।।11।। कर्मयोगी कर्म फल का त्याग करके नैष्ठिकी शान्ति को प्राप्त होता है। परन्तु सकाम मनुष्य कामना के कारण फल में आसक्त होकर बँध जाता है।।12।। जिसकी इन्द्रियाँ और मन वश में हैं, ऐसा देहधारी पुरुष नौ द्वारों वाले (शरीर रूपी) पुर में सम्पूर्ण कर्मों का (विवेकपूर्वक) मन से त्याग करके निःसन्देह न करता हुआ और न करवाता हुआ सुखपूर्वक (अपने स्वरूप में) स्थित रहता है।।13।। परमेश्वर मनुष्यों के न कर्त्तापन की, न कर्मों की और न कर्म फल के साथ संयोग की रचना करते हैं; किन्तु स्वभाव ही बरत रहा है।।14।। सर्वव्यापी परमात्मा न किसी के पाप कर्म को और न शुभ कर्म को ही ग्रहण करता है; किन्तु अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है, उसी से सब जीव मोहित हो रहे हैं।।15।। परन्तु जिन्होंने अपने जिस ज्ञान के द्वारा उस अज्ञान का नाश कर दिया है, उनका वह ज्ञान सूर्य की तरह परम तत्त्व परमात्मा को प्रकाशित कर देता है।।16।। जिनका मन तदाकार हो रहा है, जिनकी बुद्धि तदाकार हो रही है, जिनकी स्थिति परमात्म तत्त्व में है, ऐसे परमात्म परायण साधक ज्ञान के द्वारा पाप रहित होकर अपुनरावृत्ति (परमगति) को प्राप्त होते हैं।।17।। ज्ञानी महापुरुष विद्या विनययुक्त ब्राह्मण में और चाण्डाल में तथा गाय, हाथी एवं कुत्ते में भी समरूप परमात्मा को देखने वाले होते हैं।।18।। जिनका अन्तःकरण समता में स्थित है, उन्होंने इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार को जीत लिया है अर्थात् वे जीवन्मुक्त हो गये हैं; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इसलिए वे ब्रह्म में ही स्थित हैं।।19।। जो प्रिय को प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रिय को प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिर बुद्धि वाला मूढ़ता रहित (ज्ञानी) तथा ब्रह्म को जानने वाला मनुष्य ब्रह्म में स्थित है।।20।।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥ 21।।
ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ 22।।
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ 23।।
योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ 24।।
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ 25।।
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥ 26।।
स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ 27।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ 28।।
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ 29।।

बाह्य स्पर्श (प्राकृत वस्तु मात्र के सम्बन्ध) में आसक्ति रहित अन्तःकरण वाला साधक अन्तःकरण में जो (सात्त्विक) सुख है, उसको प्राप्त होता है। फिर वह ब्रह्म में अभिन्न भाव से स्थित मनुष्य अक्षय सुख का अनुभव करता है।।21।। क्योंकि हे कुन्तीनन्दन! जो इन्द्रियों और विषयों के संयोग से पैदा होने वाले भोग (सुख) हैं, वे आदि-अन्त वाले और दुःख के ही कारण हैं। अतः विवेकशील मनुष्य उनमें रमण नहीं करता।।22।। इस मनुष्य शरीर में जो कोई मनुष्य शरीर छूटने से पहले ही काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने में समर्थ होता है, वह नर योगी है और वही सुखी है।।23।। जो मनुष्य केवल परमात्मा में सुख वाला और केवल परमात्मा में रमण करने वाला है तथा जो केवल परमात्मा में ज्ञान वाला है, वह ब्रह्म में अपनी स्थिति का अनुभव करने वाला (ब्रह्म रूप बना हुआ) सांख्य योगी निर्वाण ब्रह्म को प्राप्त होता है।।24।। जिनका शरीर मन-बुद्धि-इन्द्रियों सहित वश में है, जो सम्पूर्ण प्राणियों के हित में रत हैं, जिनके सम्पूर्ण संशय मिट गये हैं, जिनके सम्पूर्ण दोष नष्ट हो गये हैं, वे विवेकी साधक निर्वाण ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।।25।। काम-क्रोध से सर्वथा रहित, जीते हुए मन वाले और स्वरूप का साक्षात्कार किए हुए सांख्ययोगियों के लिए सब ओर से (शरीर के रहते हुए अथवा शरीर छूटने के बाद) निर्वाण ब्रह्म परिपूर्ण है।।26।। बाहर के पदार्थों को बाहर ही छोड़कर और नेत्रों की दृष्टि को भौंहों के बीच में (स्थित करके) तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अपने वश में हैं, जो केवल मोक्ष परायण हैं तथा जो इच्छा, भय और क्रोध से सर्वथा रहित है, वह मुनि सदा मुक्त ही है।।27-28।। मुझे सब यज्ञों और तपों का भोक्ता, सम्पूर्ण लोकों का महान् ईश्वर तथा सम्पूर्ण प्राणियों का सुहृद् (स्वार्थ रहित दयालु और प्रेमी) जानकर भक्त शान्ति को प्राप्त हो जाता है।।29।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसन्न्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥5॥
भीष्मपर्वणि तु एकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ 29 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में कर्मसंन्यासयोग नामक पाचवाँ अध्याय पूरा हुआ।।5।। भीष्मपर्व में उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।29।।

षष्ठोऽध्यायः

निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन करते हुए आत्मोद्धार के लिए प्रेरणा तथा मनोनिग्रहपूर्वक ध्यानयोग एवं योगभ्रष्ट की गति का वर्णन

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ 1।।
यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥ 2।।
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ 3।।
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ 4।।
उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ 5।।
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥ 6।।
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ 7।।
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ 8।।
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ 9।।
योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥ 10।।

श्रीभगवान् बोले—कर्म फल का आश्रय न लेकर जा कर्त्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी नहीं होता तथा केवल क्रियाओं का त्याग करने वाला योगी नहीं होता।।1।। हे अर्जुन! लोग जिसको संन्यास—ऐसा कहते हैं, उसी को तुम योग समझो; क्योंकि सङ्कल्पों का त्याग किये बिना मनुष्य कोई सा भी योगी नहीं हो सकता।।2।। जो योग (समता) में आरूढ़ होना चाहता है, ऐसे मननशील योगी के लिए कर्त्तव्य कर्म करना कारण कहा गया है

और उसी योगारूढ़ मनुष्य का शम (शान्ति) परमात्म प्राप्ति में कारण कहा गया है।।3।। कारण कि जिस समय न इन्द्रियों के भोगों में तथा न कर्मों में ही आसक्त होता है, उस समय वह सम्पूर्ण सङ्कल्पों का त्यागी मनुष्य योगारूढ़ कहा जाता है।।4।। अपने द्वारा अपना उद्धार करे, अपना पतन न करे; क्योंकि आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।।5।। जिसने अपने आपसे अपने आपको जीत लिया है, उसके लिए आप ही अपना बन्धु है और जिसने अपने आपको नहीं जीता है, ऐसे अनात्मा का आत्मा ही शत्रुता में शत्रु की तरह बर्ताव करता है।।6।। जिसने अपने पर विजय कर ली है, उस शीत-उष्ण (अनुकूलता-प्रतिकूलता), सुख-दुःख तथा मान-अपमान में निर्विकार मनुष्य को परमात्मा नित्य प्राप्त हैं।।7।। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जो कूट की तरह निर्विकार है, जितेन्द्रिय है और मिट्टी, ढेले, पत्थर तथा स्वर्ण में समबुद्धि वाला है—ऐसा योगी युक्त (योगारूढ़) कहा जाता है।।8।। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और सम्बन्धियों में तथा साधु आचरण करने वालों में और पाप आचरण करने वालों में भी समबुद्धि वाला मनुष्य श्रेष्ठ है।।9।। भोगबुद्धि से संग्रह न करने वाला, इच्छा रहित और अन्तःकरण तथा शरीर को वश में रखने वाला योगी अकेला एकान्त में स्थित होकर मन को निरन्तर (परमात्मा में) लगाये।।10।।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥ 11।।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये॥ 12।।
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥ 13।।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥ 14।।
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ 15।।
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ 16।।
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ 17।।
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥ 18।।
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ 19।।
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ 20।।

शुद्ध भूमि पर, जिस पर (क्रमशः) कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न अत्यन्त ऊँचा है और न अत्यन्त नीचा, ऐसे अपने आसन को स्थिर स्थापन करके।।11।। उस आसन पर बैठकर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करे।।12।। काया, सिर और गले को सीधे अचल धारण करके तथा दिशाओं को न देखकर केवल अपनी नासिका के अग्रभाग को देखते हुए स्थिर होकर बैठे।।13।। जिसका अन्तःकरण शान्त है, जो भय रहित है और जो ब्रह्मचारिव्रत में स्थित है, ऐसा सावधान ध्यान योगी मन का संयम करके मुझ में चित्त लगाता हुआ मेरे परायण होकर बैठे।।14।। वश में किए हुए मन वाला योगी मन को इस तरह से सदा (परमात्मा में) लगाता हुआ मुझ में सम्यक् स्थिति वाली जो निर्वाण परमा शान्ति है, उसको प्राप्त हो जाता है।।15।। हे अर्जुन! यह योग न तो अधिक खाने वाले का और न बिल्कुल न खाने वाले का तथा न अधिक सोने वाले का और न बिलकुल न सोने वाले का ही सिद्ध होता है।।16।। दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार और विहार करने वाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का तथा यथायोग्य सोने और जागने वाले का ही सिद्ध होता है।।17।। वश में किया हुआ चित्त जिस काल में अपने स्वरूप में ही स्थित हो जाता है और स्वयं सम्पूर्ण पदार्थों से निःस्पृह हो जाता है, उस काल में वह योगी है—ऐसा कहा जाता है।।18।। जैसे स्पन्दन रहित वायु में स्थित दीपक की लौ चेष्टा रहित हो जाती है, योग का अभ्यास करते हुए वश में किए हुए चित्त वाले योगी के चित्त की वैसी ही उपमा कही गयी है।।19।। योग का सेवन करने से जिस अवस्था में निरुद्ध चित्त उपराम हो जाता है तथा जिस अवस्था में स्वयं अपने आपसे अपने आपको देखता हुआ अपने आपमें ही सन्तुष्ट हो जाता है।।20।।

सुखमात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥ 21।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ 22।।
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ 23।।
सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥ 24।।
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ 25।।
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ 26।।
प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ 27।।

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ 28।।
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ 29।।
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ 30।।
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥ 31।।
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ 32।।

जो सुख आत्यन्तिक, अतीन्द्रिय और बुद्धि ग्राह्य है, उस सुख का जिस अवस्था में अनुभव करता है और जिस सुख में स्थित हुआ यह ध्यान योगी तत्त्व से फिर कभी विचलित नहीं होता।।21।। जिस लाभ की प्राप्ति होने पर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ उसके मानने में भी नहीं आता और जिसमें स्थित होने पर वह बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं किया जा सकता।।22।। जिसमें दुःखों के संयोग का ही वियोग है, उसी को 'योग' नाम से जानना चाहिए। (वह योग जिस ध्यान योग का लक्ष्य है) उस ध्यान योग का अभ्यास न उकताये हुए चित्त से निश्चयपूर्वक करना चाहिए।।23।। सङ्कल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं का सर्वथा त्याग करके और मन से ही इन्द्रिय समूह को सभी ओर से हटाकर।।24।। धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा (संसार से) धीरे-धीरे उपराम हो जाए और मन (बुद्धि) को परमात्म स्वरूप में सम्यक् प्रकार से स्थापन करके फिर कुछ भी चिन्तन न करे।।25।। यह अस्थिर और चञ्चल मन जहाँ जहाँ विचरण करता है, वहाँ वहाँ से हटाकर इसको एक परमात्मा में ही भलीभाँति लगाये।।26।। जिसके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है तथा जिसका मन सर्वथा शान्त (निर्मल) हो गया है, ऐसे इस ब्रह्म रूप बने हुए योगी को निश्चित ही उत्तम (सात्त्विक) सुख प्राप्त होता है।।27।। इस प्रकार अपने आपको सदा परमात्मा में लगता हुआ पाप रहित योगी सुखपूर्वक ब्रह्म प्राप्ति रूप अत्यन्त सुख का अनुभव कर लेता है।।28।। सब जगह अपने स्वरूप को देखने वाला और ध्यान योग से युक्त अन्तःकरण वाला (सांख्ययोगी) अपने स्वरूप को सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित देखता है और सम्पूर्ण प्राणियों को अपने स्वरूप में देखता है।।29।। जो (भक्त) सबमें मुझे देखता है और मुझमें सबको देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता।।30।। मुझमें एकीभाव से स्थित हुआ जो भक्ति योगी सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित मेरा भजन करता है, वह सब कुछ बर्ताव करता हुआ भी मुझमें ही बर्ताव कर रहा है अर्थात् वह नित्य निरन्तर मुझमें ही स्थित है।।31।। हे अर्जुन! जो (भक्त) अपने शरीर की उपमा से सब जगह मुझे समान देखता है और सुख अथवा दुःख को भी समान देखता है, वह परम योगी माना गया है।।32।।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥ 33।।
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ 34।।

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! आपने समतापूर्वक जो यह योग कहा है, मन की चञ्चलता के कारण मैं इस योग की स्थिर स्थिति नहीं देखता हूँ।।33।। कारण कि हे कृष्ण! मन (बड़ा ही) चञ्चल, प्रमथनशील, दृढ़ (जिद्दी) और बलवान् है। उसको रोकना मैं (आकाश में स्थित) वायु की तरह अत्यन्त कठिन मानता हूँ।।34।।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ 35।।
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ 36।।

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! यह मन बड़ा चञ्चल है और इसका निग्रह करना भी बड़ा कठिन है—यह तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है। परन्तु हे कुन्तीनन्दन! अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इसका निग्रह किया जाता है।।35।। जिसका मन पूरा वश में नहीं है, उसके द्वारा योग प्राप्त होना कठिन है। परन्तु उपायपूर्वक यत्न करने वाले तथा वश में किए हुए मन वाले साधक को योग प्राप्त हो सकता है, ऐसा मेरा मत है।।36।।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥ 37।।
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ 38।।
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥ 39।।

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जिसकी साधन में श्रद्धा है, पर जिसका प्रयत्न शिथिल है, वह (अन्त समय में) अगर योग से विचलित हो जाए तो वह योग सिद्धि को प्राप्त न करके किस गति को चला जाता है?।।37।। हे महाबाहो! संसार के आश्रय से रहित और परमात्मा प्राप्ति के मार्ग में मोहित अर्थात् विचलित—इस तरह दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ साधक क्या छिन्न-भिन्न बादल की तरह नष्ट नहीं हो जाता?।।38।। हे कृष्ण! मेरे इस सन्देह का सर्वथा छेदन करने के लिए आप ही योग्य हैं; क्योंकि इस संशय का छेदन करने वाला आपके सिवाय दूसरा कोई हो नहीं सकता।।39।।

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥ 40।।
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥ 41।।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ 42।।
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥ 43।।
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ 44।।
प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ 45।।
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन॥ 46।।
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ 47।।

श्रीभगवान् बोले—हे पृथानन्दन! उसका न तो इस लोक में और न परलोक में ही विनाश होता है; क्योंकि हे प्यारे! कल्याणकारी काम करने वाला कोई भी मनुष्य दुर्गति को नहीं जाता।।40।। वह योगभ्रष्ट पुण्य कर्म करने वालों के लोकों को प्राप्त होकर और वहाँ बहुत वर्षों तक रहकर फिर यहाँ शुद्ध (ममता रहित) श्रीमानों के घर में जन्म लेता है।।41।। अथवा (वैराग्यवान् योगभ्रष्ट) ज्ञानवान् योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। इस प्रकार का जो यह जन्म है, यह संसार में निःसन्देह बहुत ही दुर्लभ है।।42।। हे कुरुनन्दन! वहाँ पर उसको पिछले मनुष्य जन्म की साधन सम्पत्ति (अनायास ही) प्राप्त हो जाती है। फिर उससे (वह) साधन की सिद्धि के विषय में पुनः (विशेषता से) यत्न करता है।।43।। वह (श्रीमानों के घर में जन्म लेने वाला योगभ्रष्ट मनुष्य) भोगों के परवश होता हुआ भी उस पहले मनुष्य जन्म में किए हुए अभ्यास (साधन) के कारण ही (परमात्मा की तरफ) खिंच जाता है; क्योंकि योग (समता) का जिज्ञासु भी वेदों में कहे हुए सकाम कर्मों का अतिक्रमण कर जाता है।।44।। परन्तु जो योगी प्रयत्नपूर्वक यत्न करता है और जिसके पाप नष्ट हो गये हैं तथा जो अनेक जन्मों से सिद्ध हुआ है, वह योगी फिर परम गति को प्राप्त हो जाता है।।45।। (सकाम भाव वाले) तपस्वियों से भी योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानियों से भी योगी श्रेष्ठ है और कर्मियों से भी योगी श्रेष्ठ है—ऐसा मेरा मत है। अतः हे अर्जुन! तू योगी हो जा।।46।। सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें तल्लीन हुए मन से मेरा भजन करता है, वह मेरे मत में सर्वश्रेष्ठ योगी है।।47।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ 6 ॥
भीष्मपर्वणि तु त्रिंशोऽध्यायः॥ 30 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में आत्मसंयमयोग नामक छठा अध्याय पूरा हुआ।।6।। भीष्मपर्व में तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।30।।

सप्तमोऽध्यायः

ज्ञान–विज्ञान, भगवान् की व्यापकता, अन्य देवताओं की उपासना एवं भगवान् को प्रभावसहित न जानने वालों की निन्दा और जानने वालों की महिमा का कथन

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥ 1।।
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ 2।।
मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ 3।।
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ 4।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ 5।।
एतद् योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥ 6।।
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ 7।।
रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥ 8।।
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥ 9।।
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥ 10।।

श्रीभगवान् बोले—हे पृथानन्दन! मुझमें आसक्त मन वाला, मेरे आश्रित होकर योग का अभ्यास करता हुआ तू मेरे जिस समग्र रूप को निःसन्देह जिस प्रकार से

जानेगा, उसको (उसी प्रकार से) सुन।।1।। तेरे लिए मैं यह विज्ञान सहित ज्ञान सम्पूर्णता से कहूँगा, जिसको जानने के बाद फिर इस विषय में जानने योग्य अन्य (कुछ भी) शेष नहीं रहेगा।।2।। हजारों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि (कल्याण) के लिए यत्न करता है और उन यत्न करने वाले सिद्धों (मुक्त पुरुषों) में कोई एक ही मुझे यथार्थ रूप से जानता है।।3।। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश (ये पञ्चमहाभूत) और मन, बुद्धि तथा अहङ्कार—इस प्रकार यह आठ प्रकार के भेदों वाली मेरी यह अपरा प्रकृति है; और हे महाबाहो! इस अपरा प्रकृति से भिन्न जीव रूप बनी हुई मेरी परा प्रकृति को जान, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है।।4-5।। सम्पूर्ण प्राणियों के उत्पन्न होने में अपरा और परा—इन दोनों प्रकृतियों का संयोग ही कारण है—ऐसा तुम समझो। मैं सम्पूर्ण जगत् का प्रभव तथा प्रलय हूँ।।6।। इसलिए हे धनञ्जय! मेरे सिवाय (इस जगत् का) दूसरा कोई किञ्चिन्मात्र भी (कारण तथा कार्य) नहीं है। जैसे सूत की मणियाँ सूत के धागे में पिरोयी हुई होती हैं, ऐसे ही यह सम्पूर्ण जगत् मुझमें ही ओत-प्रोत है।।7।। हे कुन्तीनन्दन! जलों में रस मैं हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रभा (प्रकाश) मैं हूँ, सम्पूर्ण वेदों में प्रणव (ओङ्कार), आकाश में शब्द और मनुष्यों में पुरुषत्व मैं हूँ।।8।। पृथ्वी में पवित्र गन्ध मैं हूँ और अग्नि में तेज मैं हूँ तथा सम्पूर्ण प्राणियों में जीवनी शक्ति मैं हूँ और तपस्वियों में तपस्या मैं हूँ।।9।। हे पृथानन्दन! सम्पूर्ण प्राणियों का अनादि बीज मुझे जान। बुद्धिमानों में बुद्धि और तेजस्वियों में तेज मैं हूँ।।10।।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ 11।।
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तमसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ 12।।
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ 13।।
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ 14।।
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ 15।।
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ 16।।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ 17।।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ 18।।
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ 19।।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥ 20॥

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! बलवानों में काम और राग से रहित बल मैं हूँ और प्राणियों में धर्म से अविरुद्ध (धर्मयुक्त) काम मैं हूँ॥11॥ (और तो क्या हूँ) जितने भी सात्त्विक भाव हैं और जितने भी राजस तथा तामस भाव हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं—ऐसा उनको समझो। परन्तु मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं॥12॥ किन्तु इन तीनों गुण रूप भावों से मोहित यह सम्पूर्ण जगत् (प्राणिमात्र) इन गुणों से अतीत और अविनाशी मुझे नहीं जानता॥13॥ क्योंकि मेरी यह गुणमयी दैव माया दुरत्यय है अर्थात् इससे पार पाना बड़ा कठिन है। जो केवल मेरे ही शरण होते हैं, वे इस माया को तर जाते हैं॥14॥ परन्तु माया के द्वारा जिनका ज्ञान हरा गया है, वे आसुर भाव का आश्रय लेने वाले और मनुष्यों में महान् नीच तथा पाप कर्म करने वाले मूढ़ मनुष्य मेरे शरण नहीं होते॥15॥ हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! पवित्र कर्म करने वाले अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी अर्थात् प्रेमी—ये चार प्रकार के मनुष्य मेरा भजन करते हैं अर्थात् मेरे शरण होते हैं॥16॥ उन चार भक्तों में मुझमें निरन्तर लगा हुआ अनन्य भक्ति वाला ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त श्रेष्ठ है; क्योंकि ज्ञानी भक्त को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है॥17॥ पहले कहे हुए सब-के-सब (चारों) ही भक्त बड़े उदार (श्रेष्ठ भाव वाले) हैं। परन्तु ज्ञानी (प्रेमी) तो मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है। कारण कि वह मुझसे अभिन्न है और जिससे श्रेष्ठ दूसरी कोई गति नहीं है, ऐसे मुझमें ही दृढ़ स्थित है॥18॥ बहुत जन्मों के अन्तिम जन्म में अर्थात् मनुष्य जन्म में सब कुछ परमात्मा ही हैं—इस प्रकार जो ज्ञानवान् मेरे शरण होता है, वह महात्मा[1] अत्यन्त दुर्लभ है॥19॥ परन्तु उन-उन कामनाओं से जिनका ज्ञान हरा गया है, ऐसे मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव से नियन्त्रित होकर उस-उस अर्थात् देवताओं के उन-उन नियमों को धारण करते हुए अन्य देवताओं के शरण हो जाते हैं॥20॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ 21॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥ 22॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥ 23॥
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ 24॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ 25॥

---

1. गीता में 'महात्मा' शब्द केवल भक्त के लिए ही अया है। इसी तरह 'उदार', 'युक्ततम', 'सर्ववित्' आदि शब्द भी भक्त के लिए ही आये हैं।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥ 26।।
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ 27।।
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ 28।।
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥ 29।।
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ 30।।

जो-जो भक्त जिस-जिस देवता का श्रद्धापूर्वक पूजन करना चाहता है, उस-उस देवता में ही मैं उसी श्रद्धा को दृढ़ कर देता हूँ।।21।। उस (मेरे द्वारा दृढ़ की हुई) श्रद्धा से युक्त होकर वह मनुष्य उस देवता की (सकाम भावपूर्वक) उपासना करता है और उसकी वह कामना पूरी भी होती है; परन्तु वह कामना पूर्ति मेरे द्वारा ही विहित की हुई होती है।।22।। परन्तु उन तुच्छ बुद्धि वाले मनुष्यों को उन देवताओं की आराधना का फल अन्त वाला (नाशवान्) ही मिलता है। देवताओं का पूजन करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं।।23।। बुद्धिहीन मनुष्य मेरे परम, अविनाशी और सर्वश्रेष्ठ भाव को न जानते हुए अव्यक्त (मन-इन्द्रियों से पर) मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा को मनुष्य की तरह शरीर धारण करने वाला मानते हैं।।24।। यह जो मूढ़ मनुष्य समुदाय मुझे अज और अविनाशी ठीक तरह से नहीं जानता (मानता), उन सबके सामने योगमाया से अच्छी तरह ढका हुआ मैं प्रकट नहीं होता।।25।। हे अर्जुन! जो प्राणी भूतकाल में हो चुके हैं तथा जो वर्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे, उन सब प्राणियों को तो मैं जानता हूँ; परन्तु मुझे (भक्त के सिवाय) कोई भी प्राणी नहीं जानता।।26।। कारण कि हे भरतवंश में उत्पन्न शत्रुतापन अर्जुन! इच्छा (राग) और द्वेष से उत्पन्न होने वाले द्वन्द्व-मोह से मोहित सम्पूर्ण प्राणी संसार में (अनादि काल से) मूढ़ता को अर्थात् जन्म मरण को प्राप्त हो रहे हैं।।27।। परन्तु जिन पुण्यकर्मा मनुष्यों के पाप नष्ट हो गये हैं, वे द्वन्द्व मोह से रहित हुए मनुष्य दृढ़व्रती होकर मेरा भजन करते हैं।।28।। वृद्धावस्था और मृत्यु से मुक्ति पाने के लिए जो मनुष्य मेरा आश्रय लेकर प्रयत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को जान जाते हैं। जो मनुष्य अधिभूत तथा अधिदैव के सहित और अधियज्ञ के सहित मुझे जानते हैं, वे मुझमें लगे हुए चित्त वाले मनुष्य अन्त काल में भी मुझे ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।।29-30।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥7॥
भीष्मपर्वणि तु एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ 31 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में ज्ञान-विज्ञानयोग नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ।।7।। भीष्मपर्व में इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।31।।

अष्टमोऽध्यायः

ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादि के विषय में अर्जुन के सात प्रश्न और उनका उत्तर, एवं भक्तियोग तथा शुक्ल और कृष्ण मार्गों का प्रतिपादन

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥ 1।।
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मुधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ 2।।

अर्जुन बोले—हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत किसको कहा गया है? और अधिदैव किसको कहा जाता है? यहाँ अधियज्ञ कौन है? और वह इस देह में कैसे है? हे मधुसूदन! वशीभूत अन्तःकरण वाले मनुष्यों के द्वारा अन्त काल में आप कैसे जानने में आते हैं?।।1-2।।

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ 3।।
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥ 4।।
अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ 5।।
यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ 6।।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ 7।।
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ 8।।
कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ 9।।
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ 10॥

श्रीभगवान् बोले—परम अक्षर ब्रह्म है और परा प्रकृति (जीव) को अध्यात्म कहते हैं। प्राणियों की सत्ता को प्रकट करने वाला त्याग कर्म कहा जाता है।।3।। हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! क्षर भाव अर्थात् नाशवान् पदार्थ अधिभूत हैं, पुरुष अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्मा अधिदैव हैं और इस देह में (अन्तर्यामी रूप से) मैं ही अधियज्ञ हूँ।।4।। जो मनुष्य अन्त काल में भी मेरा स्मरण करते हुए शरीर छोड़कर जाता है, वह मेरे स्वरूप को ही प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं है।।5।। हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मनुष्य अन्त काल में जिस-जिस भी भाव का स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है, वह उस (अन्त काल के) भाव से सदा भावित होता हुआ उस-उस को ही प्राप्त होता है अर्थात् उस-उस योनि में ही चला जाता है।।6।। इसलिए तू सब समय में मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। मुझमें मन और बुद्धि अर्पित करने वाला तू निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा।।7।। हे पृथानन्दन! अभ्यास योग से युक्त और अन्य का चिन्तन न करने वाले चित्त से परम दिव्य पुरुष का चिन्तन करता हुआ (शरीर छोड़ने वाला मनुष्य) उसी को प्राप्त हो जाता है।।8।। जो सर्वज्ञ, अनादि, सब पर शासन करने वाला, सूक्ष्म से अत्यन्त सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करने वाला, अज्ञान से अत्यन्त परे, सूर्य की तरह प्रकाश स्वरूप अर्थात् ज्ञान स्वरूप—ऐसे अचिन्त्य स्वरूप का चिन्तन करता है।।9।। वह भक्तियुक्त मनुष्य अन्त समय में अचल मन से और योग बल के द्वारा भृकुटी के मध्य में प्राणों को अच्छी तरह से प्रविष्ट करके (शरीर छोड़ने पर) उस परम दिव्य पुरुष को ही प्राप्त होता है।।10।।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत् ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ 11॥
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ 12॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ 13॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ 14॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ 15॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ 16॥
सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ 17॥
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ 18।।
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ 19।।
परस्तस्मात् तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ 20।।

वेदवेत्ता लोग जिसको अक्षर कहते हैं, वीतराग यति जिसको प्राप्त करते हैं और साधक जिसकी प्राप्ति की इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह पद मैं तेरे लिए संक्षेप से कहूँगा।।11।। (इन्द्रियों के) सम्पूर्ण द्वारों को रोक कर मन का हृदय में निरोध करके और अपने प्राणों को मस्तक में स्थापित करके योग धारणा में सम्यक् प्रकार से स्थित हुआ जो साधक 'ॐ' इस एक अक्षर ब्रह्म का (मानसिक) उच्चारण और मेरा स्मरण करता हुआ शरीर को छोड़ कर जाता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।।12-13।। हे पृथानन्दन! अनन्य चित्त वाला जो मनुष्य मेरा नित्य निरन्तर स्मरण करता है, नित्य निरन्तर मुझमें लगे हुए योगी के लिए मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसको सुलभता से प्राप्त हो जाता हूँ।।4।। महात्मा लोग मुझे प्राप्त करके दुःखालय अर्थात् दुःखों के घर और अशाश्वत अर्थात् निरन्तर बदलने वाले पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते; क्योंकि वे परम सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं अर्थात् उनको परम प्रेम की प्राप्ति हो गयी है।।15।। हे अर्जुन! ब्रह्मलोक तक सभी लोक पुनरावर्ती वाले हैं अर्थात् वहाँ जाने पर पुनः लौटकर संसार में आना पड़ता है; परन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता।।16।। जो मनुष्य ब्रह्मा के एक हजार चतुर्युगी वाले एक दिन को और एक हजार चतुर्युगी वाली एक रात्रि को जानते हैं, वे मनुष्य ब्रह्मा के दिन और रात को जानने वाले हैं।।17।। ब्रह्मा के दिन के आरम्भ काल में अव्यक्त (ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर) से सम्पूर्ण शरीर पैदा होते हैं और ब्रह्मा की रात के आरम्भ काल में उस अव्यक्त नाम वाले (ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर) में ही सम्पूर्ण शरीर लीन हो जाते हैं।।18।। हे पार्थ! वही यह प्राणि समुदाय उत्पन्न हो होकर प्रकृति के परवश हुआ ब्रह्मा के दिन के समय उत्पन्न होता है और ब्रह्मा की रात्रि के समय लीन होता है।।19।। परन्तु उस अव्यक्त (ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर) से अन्य (विलक्षण) अनादि अत्यन्त श्रेष्ठ भाव रूप जो अव्यक्त (ईश्वर) है, वह सम्पूर्ण प्राणियों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता।।20।।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ 21।।
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ 22।।
यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ 23।।
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ 24॥
धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ 25॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः॥ 26॥
नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ 27॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ 28॥

उसी को अव्यक्त और अक्षर—ऐसा कहा गया है तथा उसी को परम गति कहा गया है और जिसको प्राप्त होने पर जीव फिर लौट कर संसार में नहीं आते, वह मेरा परम धाम है।।21।। हे पृथानन्दन अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जिसके अन्तर्गत हैं और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, वह परम पुरुष परमात्मा से अनन्य भक्ति से प्राप्त होने योग्य है।।22।। परन्तु हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! जिस काल अर्थात् मार्ग में शरीर छोड़कर गये हुए योगी अनावृत्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर नहीं आते और जिस मार्ग में गये हुए आवृत्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर आते हैं, उस काल को अर्थात् दोनों मार्गों को मैं कहूँगा।।23।। जिस मार्ग में प्रकाश स्वरूप अग्नि का अधिपति देवता, दिन का अधिपति देवता, शुक्ल पक्ष का अधिपति देवता और छः महीनों वाले उत्तरायण का अधिपति देवता है, उस मार्ग से शरीर छोड़कर गये हुए ब्रह्मवेत्ता पुरुष (पहले ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर पीछे ब्रह्मा के साथ) ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं।।24।। जिस मार्ग में धूम का अधिपति देवता, रात्रि का अधिपति देवता, कृष्ण पक्ष का अधिपति देवता और छः महीनों वाले दक्षिणायन का अधिपति देवता है, शरीर छोड़कर उस मार्ग से गया हुआ योगी (सकाम मनुष्य) चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर लौट आता है अर्थात् जन्म मरण को प्राप्त होता है।।25।। क्योंकि शुक्ल और कृष्ण—ये दोनों गतियाँ अनादिकाल से जगत् (प्राणिमात्र) के साथ सम्बन्ध रखने वाली मानी गयी हैं। इनमें से एक गति में जाने वाले को लौटना नहीं पड़ता और दूसरी गति में जाने वाले को पुनः लौटना पड़ता है।।26।। हे पृथानन्दन! इन दोनों मार्गों को जानने वाला कोई भी योगी मोहित नहीं होता। अतः हे अर्जुन! तू सब समय में योगयुक्त (समता में स्थित) हो जा।।27।। योगी (भक्त) इसको (इस अध्याय में वर्णित विषय को) जानकर वेदों में, यज्ञों में, तपों में तथा दान में जो-जो पुण्य फल गहे गये हैं, उन सभी पुण्य फलों का अतिक्रमण कर जाता है और आदि स्थान परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।।28।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ 8 ॥
भीष्मपर्वणि तु द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ 32 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ।।8।। भीष्मपर्व में बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।32।।

नवमोऽध्यायः

ज्ञान, विज्ञान और जगत् की उत्पत्ति का, आसुरी और दैवी सम्पदावालों का, प्रभावसहित भगवान् के स्वरूप का, सकाम-निष्काम उपासना का एवं भगवद्-भक्ति की महिमा का वर्णन

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ 1।।
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ 2।।
अश्रद्धधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ 3।।
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ 4।।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ 5।।
यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ 6।।
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ 7।।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ 8।।
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ 9।।
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते॥ 10।।

श्रीभगवान् बोले—यह अत्यन्त गोपनीय विज्ञान सहित ज्ञान दोष दृष्टि रहित तेरे लिए तो मैं फिर अच्छी तरह से कहूँगा, जिसको जानकर तू अशुभ से अर्थात् जन्म मरण रूप संसार से मुक्त हो जाएगा।।1।। यह (विज्ञान सहित ज्ञान अर्थात् समग्र रूप) सम्पूर्ण विद्याओं का राजा और सम्पूर्ण गोपनीयों का राजा है। यह अतिपवित्र तथा अतिश्रेष्ठ है और इसका फल भी प्रत्यक्ष है। यह धर्ममय है, अविनाशी है और करने में बहुत सुगम है अर्थात् इसको प्राप्त करना

बहुत सुगम है।।2।। हे परन्तप! इस धर्म की महिमा पर श्रद्धा न रखने वाले मनुष्य मुझे प्राप्त न होकर मृत्यु रूप संसार के मार्ग में लौटते रहते हैं अर्थात् बार-बार जन्मते मरते रहते हैं।।3।। यह सब संसार मेरे निराकार स्वरूप से व्याप्त है। सम्पूर्ण प्राणी मुझमें स्थित हैं; परन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ तथा वे प्राणी भी मुझमें स्थित नहीं हैं—मेरे इस ईश्वर सम्बन्धी योग (सामर्थ्य) को देख। सम्पूर्ण प्राणियों को उत्पन्न करने वाला और प्राणियों का धारण, भरण-पोषण करने वाला मेरा स्वरूप उन प्राणियों में स्थित नहीं है।।4-5।। जैसे सब जगह विचरने वाली महान् वायु नित्य ही आकाश में स्थित रहती है, ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी मुझमें ही स्थित रहते हैं—ऐसा तुम मान लो।।6।। हे कुन्तीनन्दन! कल्पों का क्षय होने पर (महाप्रलय के समय) सम्पूर्ण प्राणी मेरी प्रकृति को प्राप्त होते हैं और कल्पों के आदि में (महासर्ग के समय) मैं फिर उनकी रचना करता हूँ।।7।। प्रकृति के वश में होने से परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण प्राणि समुदाय की (कल्पों के आदि में) मैं अपनी प्रकृति को वश में करके बार-बार रचना करता हूँ।।8।। हे धनञ्जय! उन (सृष्टि-रचना आदि) कर्मों में अनासक्त और उदासीन की तरह रहते हुए मुझे वे कर्म नहीं बांधते।।9।। प्रकृति मेरी अध्यक्षता में चराचर सहित सम्पूर्ण जगत् की रचना करती है। हे कुन्तीनन्दन! इसी हेतु से जगत् का (विविध प्रकार से) परिवर्तन होता है।।10।।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ 11।।
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ 12।।
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ 13।।
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ 14।।
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ 15।।
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ 16।।
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च॥ 17।।
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ 18।।
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ 19।।
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥ 20।।

मूर्ख लोग मेरे सम्पूर्ण प्राणियों के महान् ईश्वर रूप श्रेष्ठ भाव को न जानते हुए मुझे मनुष्य शरीर के आश्रित मानकर अर्थात् साधारण मनुष्य मानकर मेरी अवज्ञा करते हैं।।11।। जो आसुरी, राक्षसी और मोहिनी प्रकृति का ही आश्रय लेते हैं, ऐसे अविवेकी मनुष्यों की सब आशाएँ व्यर्थ होती हैं, सब शुभ कर्म व्यर्थ होते हैं और सब ज्ञान व्यर्थ होते हैं अर्थात् उनकी आशाएँ, कर्म और ज्ञान (समझ) सत्-फल देने वाले नहीं होते।।12।। परन्तु हे पृथानन्दन! दैवी प्रकृति के आश्रित अनन्य मन वाले महात्मा लोग मुझे सम्पूर्ण प्राणियों का आदि और अविनाशी समझकर मेरा भजन करते हैं।।13।। नित्य निरन्तर मुझमें लगे हुए मुनष्य दृढ़व्रती होकर लगनपूर्वक साधन में लगे हुए और प्रेमपूर्वक कीर्तन करते हुए तथा मुझे नमस्कार करते हुए निरन्तर मेरी उपासना करते हैं।।14।। दूसरे साधक ज्ञानयज्ञ के द्वारा एकीभाव से (अभेद भाव से) मेरा पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं और दूसरे भी कई साधक (अपने को) पृथक् मानकर चारों तरफ मुख वाले मेरे विराट् रूप की अर्थात् संसार को मेरा विराट् रूप मानकर सेव्य-सेवक भाव से मेरी अनेक प्रकार से उपासना करते हैं।।15।। क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, औषध मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवन रूप क्रिया भी मैं हूँ। जानने योग्य पवित्र ओङ्कार, ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। इस सम्पूर्ण जगत् का पिता, धाता, माता, पितामह, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, आश्रय, सुहृद, उत्पत्ति, प्रलय, स्थान, निधान (भण्डार) तथा अविनाशी बीज भी मैं ही हूँ।।16-18।। हे अर्जुन! (संसार के हित के लिए) मैं ही सूर्य रूप से तपता हूँ, मैं ही जल को ग्रहण करता हूँ और (फिर उस जल को मैं ही) वर्षा रूप से बरसा देता हूँ। (और तो क्या कहूँ) अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत् भी मैं ही हूँ।।19।। तीनों वेदों में कहे हुए सकाम अनुष्ठान को करने वाले और सोमरस को पीने वाले जो पापरहित मनुष्य यज्ञों के द्वारा (इन्द्ररूप से) मेरा पूजन करके स्वर्ग प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं, वे (पुण्यों के फल स्वरूप) पवित्र इन्द्रलोक को प्राप्त करके वहाँ स्वर्ग देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं।।20।।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥ 21।।
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ 22।।
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेव यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ 23।।
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ 24।।
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ 25।।
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ 26॥
यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥ 27॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ 28॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ 29॥
अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः॥ 30॥

वे उस विशाल स्वर्ग लोक के भोगों को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु लोक में आ जाते हैं। इस प्रकार तीनों वेदों में कहे हुए सकाम धर्म का आश्रय लिए हुए भोगों की कामना करने वाले मनुष्य आवागमन को प्राप्त होते हैं॥21॥ जो अनन्य भक्त मेरा चिन्तन करते हुए मेरी भलीभाँति उपासना करते हैं, मुझमें निरन्तर लगे हुए उन भक्तों का योगक्षेम (अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा) मैं वहन करता हूँ॥22॥ हे कुन्तीनन्दन! जो भी भक्त (मनुष्य) श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओं का पूजन करते हैं, वे भी मेरा ही पूजन करते हैं, पर करते हैं अविधिपूर्वक अर्थात् देवताओं को मुझसे अलग मानते हैं॥23॥ क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ; परन्तु वे मुझे तत्त्व से नहीं जानते, इसी से उनका पतन होता है॥24॥ (सकाम भाव से) देवताओं का पूजन करने वाले (शरीर छोड़ने पर) देवताओं को प्राप्त होते हैं। पितरों का पूजन करने वाले पितरों को प्राप्त होते हैं। भूत-प्रेतों का पूजन करने वाले भूत प्रेतों को प्राप्त होते हैं। परन्तु मेरा पूजन करने वाले मुझे ही प्राप्त होते हैं॥25॥ जो भक्त पत्र, पुष्प, फल, जल आदि (यथासाध्य एवं अनायास प्राप्त वस्तु) को प्रेमपूर्वक मेरे अर्पण करता है, उस मुझमें तल्लीन हुए अन्तःकरण वाले भक्त के द्वारा प्रेमपूर्वक दिये हुए उपहार (भेंट) को मैं खा लेता हूँ अर्थात् स्वीकार कर लेता हूँ॥26॥ हे कुन्तीपुत्र! तू जो कुछ करता है, जो कुछ भोजन करता है, जो कुछ यज्ञ करता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर दे॥27॥ इस प्रकार (मेरे अर्पण करने से) कर्म बन्धन से और शुभ (विहित) और अशुभ (निषिद्ध) सम्पूर्ण कर्मों के फलों से तू मुक्त हो जाएगा। ऐसे अपने सहित सब कुछ मेरे अर्पण करने वाला और सबसे सर्वथा मुक्त हुआ तू मुझे प्राप्त हो जाएगा॥28॥ मैं सम्पूर्ण प्राणियों में समान हूँ। (उन प्राणियों में) न तो कोई मेरा द्वेषी है और न कोई प्रिय है। परन्तु जो प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें हूँ॥29॥ अगर कोई दुराचारी से दुराचारी भी अनन्य भक्त होकर मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है॥30॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ 31॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शुद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ 32।।
किं पुनर्ब्राह्मणः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ 33।।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ 34।।

वह तत्काल (उसी क्षण) धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहने वाली शान्ति को प्राप्त हो जाता है। हे कुन्तीनन्दन! मेरे भक्त का पतन नहीं होता—ऐसी तुम प्रतिज्ञा करो।।31।। हे पृथानन्दन! जो भी पाप योनि वाले हों तथा जो भी स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र हों, वे भी सर्वथा मेरे शरण होकर निःसन्देह परम गति को प्राप्त हो जाते हैं।।32।। जो पवित्र आचरण करने वाले ब्राह्मण और ऋषि स्वरूप क्षत्रिय भगवान् के भक्त हों (वे परम गति को प्राप्त हो जाएँ) इसमें तो कहना ही क्या है! इसलिए इस अनित्य और सुखरहित शरीर को प्राप्त करके तू मेरा भजन कर।।33।। तू मेरा भक्त हो जा, मुझमें मन वाला हो जा, मेरा पूजन करने वाला हो जा और मुझे नमस्कार कर। इस प्रकार अपने आपको मेरे साथ लगाकर मेरे परायण हुआ तू मुझे ही प्राप्त होगा।।34।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥9॥ भीष्मपर्वणि त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ 33 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवाँ अध्याय पूरा हुआ।।9।। भीष्मपर्व में तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।33।।

दशमोऽध्यायः

भगवान् की विभूति और योगशक्ति का तथा प्रभावसहित भक्तियोग का कथन, अर्जुन के पूछने पर भगवान् द्वारा अपनी विभूतियों का और योग शक्ति का पुनः वर्णन

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ 1।।
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ 2।।
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ 3।।
बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ 4।।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ 5।।
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ 6।।
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ 7।।
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ 8।।
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ 9।।
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ 10।।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ 11।।

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो अर्जुन! मेरे परम वचन को तुम फिर भी सुनो, जिसे मैं मुझमें अत्यन्त प्रेम रखने वाले तुम्हारे लिए हित की कामना से कहूँगा।।1।। मेरे प्रकट होने को न देवता जानते हैं और न महर्षि; क्योंकि मैं सब प्रकार से देवताओं का और महर्षियों का आदि हूँ।।2।। जो मनुष्य मुझे अजन्मा, अनादि और सम्पूर्ण लोकों का महान् ईश्वर जानता है अर्थात् दृढ़ता से (सन्देह रहित) स्वीकार कर लेता है, वह मनुष्यों में ज्ञानवान है और वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।।3।। बुद्धि, ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम तथा सुख, दुःख, उत्पत्ति, विनाश, भय, अभय और अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश और अपयश—प्राणियों के ये अनेक प्रकार के अलग-अलग (बीस) भाव मुझसे ही होते हैं।।4-5।। सात महर्षि और उनसे भी पहले होने वाले चार सनकादि और चौदह मनु—ये सब-के-सब मेरे मन से पैदा हुए हैं और मुझमें भाव (श्रद्धा भक्ति) रखने वाले हैं।।6।। जो मनुष्य मेरी इस विभूति को और योग (सामर्थ्य) को तत्त्व से जानता है अर्थात् दृढ़तापूर्वक (सन्देह रहित) स्वीकार कर लेता है, वह अविचल भक्ति योग से युक्त हो जाता है; इसमें कुछ भी संशय नहीं है।।7।। मैं संसार मात्र का प्रभव (मूल कारण) हूँ और मुझसे सारा संसार प्रवृत्त हो रहा है अर्थात् चेष्टा कर रहा है—ऐसा मानकर मुझमें ही श्रद्धा-प्रेम रखते हुए बुद्धिमान् भक्त मेरा ही भजन करते हैं—सब प्रकार से मेरे ही शरण होते हैं।।8।। मुझमें चित्त वाले तथा मुझमें प्राणों को अर्पण करने वाले (भक्तजन) आपस में (मेरे गुण, प्रभाव आदि को) जनाते हुए और उनका कथन करते हुए नित्य-निरन्तर सन्तुष्ट रहते हैं और मुझमें ही प्रेम करते हैं।।9।। उन नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करने वाले भक्तों को मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे उनको मेरी प्राप्ति हो जाती है।।10।। उन भक्तों पर

कृपा करने के लिए ही उनके स्वरूप (होनेपन) में रहने वाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकार को देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपक के द्वारा नष्ट कर देता हूँ।।11।।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ 12।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ 13।।
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥ 14।।
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥ 15।।
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ 16।।
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया॥ 17।।
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ 18।।

अर्जुन बोले—परम ब्रह्म, परम धाम और महान् पवित्र आप ही हैं। आप शाश्वत, दिव्य पुरुष, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापक हैं—ऐसा आपको सब-के-सब ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल तथा व्यास कहते हैं और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।।12-13।। हे केशव! मुझसे आप जो कुछ कह रहे हैं, यह सब मैं मानता हूँ। हे भगवन्! आपके प्रकट होने को न तो देवता जानते हैं और न दानव ही जानते हैं।।14।। हे भूतभावन! हे भूतेश! हे देवदेव! हे जगत्पते! हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपने आपसे अपने आपको जानते हैं।।15।। इसलिए जिन विभूतियों से आप इन सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं, उन सभी अपनी दिव्य विभूतियों का सम्पूर्णता से वर्णन करने में आप ही समर्थ हैं।।16।। हे योगिन्! निरन्तर साङ्गोपाङ्ग चिन्तन करता हुआ मैं आपको कैसे जानूँ? और हे भगवन्! किन-किन भावों में आप मेरे द्वारा चिन्तन किए जा सकते हैं अर्थात् किन-किन भावों में आपका चिन्तन करूँ?।।17।। हे जनार्दन! आप अपने योग (सामर्थ्य) को और विभूतियों को विस्तार से कहिये; क्योंकि आपके अमृतमय वचन सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है।।18।।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥ 19।।
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ 20।।
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ 21।।
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ 22।।
रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ 23।।
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥ 24।।
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ 25।।
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ 26।।
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ 27।।
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ 28।।

श्रीभगवान् बोले—हाँ, ठीक है। मैं अपनी दिव्य विभूतियों को तेरे लिए प्रधानता से (संक्षेप से) कहूँगा; क्योंकि हे कुरुश्रेष्ठ! मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है।।19।। हे नींद को जीतने वाले अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियों के आदि, मध्य तथा अन्त मैं ही हूँ और सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तःकरण (हृदय) में स्थित आत्मा भी मैं ही हूँ।।20।। मैं अदिति के पुत्रों में विष्णु (वामन) और प्रकाशमान वस्तुओं में किरणों वाला सूर्य हूँ। मैं मरुतों का तेज और नक्षत्रों का अधिपति चन्द्रमा हूँ।।21।। मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवताओं में इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ और प्राणियों की चेतना हूँ।।22।। रुद्रों में शङ्कर और यक्ष-राक्षसों में कुबेर मैं हूँ। वसुओं में पवित्र करने वाली अग्नि और शिखर वाले पर्वतों में सुमेरु मैं हूँ।।23।। हे पार्थ! पुरोहितों में मुख्य बृहस्पति को मेरा स्वरूप समझो। सेनापतियों में कार्तिकेय और जलाशयों में समुद्र मैं हूँ।।24।। महर्षियों में भृगु और वाणियों (शब्दों) में एक अक्षर अर्थात् प्रणव मैं हूँ। सम्पूर्ण यज्ञों में जप यज्ञ और स्थिर रहने वालों में हिमालय मैं हूँ।।25।। सम्पूर्ण वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूँ।।26।। घोड़ों में अमृत के साथ समुद्र से प्रकट होने वाले उच्चैःश्रवा नामक घोड़े को, श्रेष्ठ हाथियों में ऐरावत नामक हाथी को और मनुष्यों में राजा को मेरी विभूति मानो।।27।। आयुधों में वज्र और धेनुओं में कामधेनु मैं हूँ। सन्तान उत्पत्ति का हेतु कामदेव मैं हूँ और सर्पों में वासुकि मैं हूँ।।28।।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ 29।।
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ 30।।
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ 31।।
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ 32।।
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ 33।।
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥ 34।।
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ 35।।
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ 36।।
वृष्णीनां वासुदेवोस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ 37।।
दण्डो दमयतामऽस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ 38।।

नागों में अनन्त (शेषनाग) और जल-जन्तुओं का अधिपति वरुण मैं हूँ। पितरों में अर्यमा और शासन करने वालों में यमराज मैं हूँ।।29।। दैत्यों में प्रह्लाद और गणना करने वालों (ज्योतिषियों) में काल मैं हूँ तथा पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ मैं हूँ।।30।। पवित्र करने वालों में वायु और शस्त्रधारियों में राम मैं हूँ। जल-जन्तुओं में मगर मैं हूँ और नदियों में गङ्गाजी मैं हूँ।।31।। हे अर्जुन! सम्पूर्ण सृष्टियों के आदि, मध्य तथा अन्त में मैं ही हूँ। विद्याओं में अध्यात्म विद्या (ब्रह्मविद्या) और परस्पर शास्त्रार्थ करने वालों का (तत्त्व निर्णय के लिए किया जाने वाला) वाद मैं हूँ।।32।। अक्षरों में अकार और समासों में द्वन्द्व समास मैं हूँ। अक्षयकाल अर्थात् काल का भी महाकाल तथा सब ओर मुख वाला धाता (सबका पालन-पोषण करने वाला भी) मैं ही हूँ।।33।। सबका हरण करने वाली मृत्यु और भविष्य में उत्पन्न होने वाला मैं हूँ तथा स्त्री जाति में कीर्ति, श्री, वाक् (वाणी), स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ।।34।। गायी जाने वाली श्रुतियों में बृहत्साम और सब छन्दों में गायत्री छन्द मैं हूँ। बारह महीनों में मार्गशीर्ष और

छः ऋतुओं में वसन्त मैं हूँ।।35।। छल करने वालों में जूआ और तेजस्वियों में तेज मैं ही हूँ। (जीतने वालों की) विजय मैं हूँ। (निश्चय करने वालों का) निश्चय और सात्त्विक मनुष्यों का सात्त्विक भाव मैं हूँ।।36।। वृष्णिवंशियों में वसुदेवपुत्र श्रीकृष्ण और पाण्डवों में अर्जुन मैं हूँ। मुनियों में वेदव्यास और कवियों में कवि शुक्राचार्य भी मैं हूँ।।37।। दमन करने वालों में दण्डनीति और विजय चाहने वालों में नीति मैं हूँ। गोपनीय भावों में मौन मैं हूँ और ज्ञानवानों में ज्ञान मैं ही हूँ।।38।।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ 39।।
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ 40।।
यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ 41।।
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ 42।।

और हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियों का जो बीज (मूल कारण) है, वह बीज भी मैं ही हूँ; क्योंकि वह चर-अचर कोई प्राणी नहीं है, जो मेरे बिना हो अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूँ।।39।। हे परन्तप अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। मैंने (तुम्हारे सामने अपनी) विभूतियों का जो विस्तार कहा है, यह तो केवल संक्षेप से नाममात्र कहा है।।40।। जो-जो भी ऐश्वर्ययुक्त, शोभायुक्त और बलयुक्त प्राणी तथा पदार्थ है, उस-उस को तुम मेरे ही तेज (योग अर्थात् सामर्थ्य) के अंश से उत्पन्न हुई समझो।।।41।। अथवा हे अर्जुन! तुम्हें इस प्रकार बहुत-सी बातें जानने की क्या आवश्यकता है, जबकि मैं अपने किसी एक अंश से इस सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके स्थित हूँ अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्ड मेरे किसी एक अंश में है।।42।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ 10 ॥
भीष्मपर्वणि चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ 34 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में विभूतियोग नामक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।10।। भीष्मपर्व में चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।34।।

एकादशोऽध्यायः

विश्वरूप का दर्शन कराने के लिए अर्जुन की प्रार्थना, भगवान् और संजय द्वारा विश्वरूप का वर्णन, अर्जुन द्वारा भगवान् के विश्वरूप का देखा जाना, भयभीत हुए अर्जुन द्वारा भगवान् की स्तुति–प्रार्थना, भगवान् द्वारा विश्वरूप और चतुर्भुजरूप के दर्शन की महिमा और केवल अनन्य भक्ति से ही भगवान् की प्राप्ति का कथन

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत् त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥ 1॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥ 2॥
एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ 3॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ 4॥

अर्जुन बोले—केवल मुझ पर कृपा करने के लिए आपने जो परम गोपनीय अध्यात्म विषयक वचन कहे, उससे मेरा यह मोह नष्ट हो गया है॥1॥ क्योंकि हे कमलनयन! सम्पूर्ण प्राणियों के उत्पत्ति तथा विनाश मैंने विस्तारपूर्वक आपसे ही सुने हैं और आपका अविनाशी माहात्म्य भी सुना है॥2॥ हे पुरुषोत्तम! आप अपने आपको जैसा कहते हैं, यह (वास्तव में) ऐसा ही है। हे परमेश्वर! आपके ईश्वर सम्बन्धी रूप को मैं देखना चाहता हूँ॥3॥ हे प्रभो! मेरे द्वारा आपका वह ऐश्वर रूप देखा जा सकता है—ऐसा अगर आप मानते हैं तो हे योगेश्वर! आप अपने उस अविनाशी स्वरूप को मुझे दिखा दीजिये॥4॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ 5॥
पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ 6॥
इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥ 7॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ 8॥

श्रीभगवान् बोले—हे पृथानन्दन! अब मेरे अनेक तरह के और अनेक वर्णों (रङ्गों) तथा आकृतियों वाले सैकड़ों-हजारों अलौकिक रूपों को तू देख॥5॥ हे भरतवंशोद्भव

अर्जुन! बारह आदित्यों को, आठ वसुओं को, ग्यारह रुद्रों को और दो अश्विनी कुमारों को तथा उनचास मरुद्गणों को देख। जिनको तूने पहले कभी देखा नहीं, ऐसे बहुत-से आश्चर्यजनक रूपों को भी तू देख।।6।। हे नींद को जीतने वाले अर्जुन! मेरे इस शरीर के एक देश में चराचर सहित सम्पूर्ण जगत् को अभी देख ले। इसके सिवाय तू और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह भी देख ले।।7।। परन्तु तू इस अपनी आँख (चर्म चक्षु) से मुझे देख ही नहीं सकता, इसलिए मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ, जिससे तू मेरी ईश्वरीय सामर्थ्य को देख।।8।।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ 9।।
अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ 10।।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥ 11।।
दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥ 12।।
तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद् देवदेवस्य शीरीरे पाण्डवस्तदा॥ 13।।
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ 14।।

सञ्जय बोले—हे राजन्! ऐसा कहकर फिर महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को परम ऐश्वर विराट् रूप दिखाया।।9।। जिनके अनेक मुख और नेत्र हैं, अनेक तरह के अद्भुत दर्शन हैं, अनेक अलौकिक आभूषण हैं, हाथों में उठाये हुए अनेक दिव्य आयुध हैं तथा जिनके गले में दिव्य मालाएँ हैं, जो अलौकिक वस्त्र पहने हुए हैं, जिनके ललाट तथा शरीर पर दिव्य चन्दन, कुङ्कुम आदि लगा हुआ है, ऐसे सम्पूर्ण आश्चर्यमय, अनन्त रूपों वाले तथा सब तरफ मुखों वाले देव (अपने दिव्य स्वरूप) को भगवान् ने दिखाया।।10-11।। अगर आकाश में एक साथ हजारों सूर्यों का उदय हो जाय, तो भी उन सबका प्रकाश मिलकर उस महात्मा (विराट् रूप परमात्मा) के प्रकाश के समान शायद ही हो अर्थात् नहीं हो सकता।।12।। उस समय अर्जुन ने देवों के देव भगवान् के उस शरीर में एक जगह स्थित अनेक प्रकार के विभागों में विभक्त सम्पूर्ण जगत् को देखा।।13।। भगवान् के विश्व रूप को देखकर अर्जुन बहुत चकित हुए और आश्चर्य के कारण उनका शरीर रोमाञ्चित हो गया। वे हाथ जोड़ कर विश्व रूप देव को मस्तक से प्रणाम करके बोले।।14।।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ 15।।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ 16॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ 17॥
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ 18॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥ 19॥
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ 20॥
अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद् भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥ 21॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ 22॥
रूपं महत् ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ 23॥
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥ 24॥
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ 25॥

अर्जुन बोले—हे देव! मैं आपके शरीर में सम्पूर्ण देवताओं तथा प्राणियों के विशेष विशेष समुदायों को और कमलासन पर बैठे हुए ब्रह्माजी को, शङ्करजी को, सम्पूर्ण ऋषियों को और दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ।।15।। हे विश्वरूप! हे विश्वेश्वर! आपको मैं अनेक हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रों वाला तथा सब ओर से अनन्त रूपों वाला देख रहा हूँ। मैं आपके न आदि को, न मध्य को और न अन्त को ही देख रहा हूँ।।16।। मैं आपको किरीट (मुकुट), गदा, चक्र (तथा शङ्ख और पद्म) धारण किए हुए देख रहा हूँ। आपको तेज की राशि, सब ओर प्रकाश वाले, देदीप्यमान अग्नि तथा सूर्य के समान कान्ति वाले, नेत्रों के द्वारा कठिनता से देखे जाने योग्य और सब तरफ से अप्रमेय स्वरूप देख रहा हूँ।।17।। आप ही जानने योग्य परम अक्षर (अक्षर ब्रह्म) हैं, आप ही इस सम्पूर्ण विश्व के परम आश्रय हैं, आप ही सनातन धर्म के रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं—ऐसा मैं मानता हूँ।।18।। आपको मैं आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनन्त प्रभावशाली, अनन्त भुजाओं वाले, चन्द्र और सूर्य रूप नेत्रों वाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखों वाले और अपने तेज से इस संसार को तपाते हुए देख रहा हूँ।।19।। हे महात्मन्! यह स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का अन्तराल और सम्पूर्ण दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं। आपके इस अद्भुत और उग्र रूप को देखकर तीनों लोक व्यथित (व्याकुल) हो रहे हैं।।20।। वे ही देवताओं के समुदाय आपमें प्रविष्ट हो

रहे हैं। उनमें से कई तो भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए (आपके नामों और गुणों का) कीर्तन कर रहे हैं। महर्षियों और सिद्धों के समुदाय 'कल्याण हो! मङ्गल हो!' ऐसा कहकर उत्तम उत्तम स्तोत्रों के द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं।।21।। जो ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, बारह साध्यगण, दस विश्वेदेव और दो अश्विनीकुमार तथा उनचास मरुद्गण और गरम गरम भोजन करने वाले (सात पितृगण) तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के समुदाय हैं, (वे) सभी चकित होकर आपको देख रहे हैं।।22।। हे महाबाहो! आपके बहुत मुखों और नेत्रों वाले, बहुत भुजाओं, जङ्घाओं और चरणों वाले, बहुत उदरों वाले और बहुत विकराल दाढ़ों वाले महान् रूप को देखकर सब प्राणी व्यथित हो रहे हैं तथा मैं भी व्यथित हो रहा हूँ।।23।। क्योंकि हे विष्णो! आपके देदीप्यमान अनेक वर्ण हैं, आप आकाश को स्पर्श कर रहे हैं अर्थात् सब तरफ से बहुत बड़े हैं, आपका मुख फैला हुआ है, आपके नेत्र प्रदीप्त और विशाल हैं। ऐसे आपको देखकर भयभीत अन्तःकरण वाला मैं धैर्य और शान्ति को प्राप्त नहीं हो रहा हूँ।।24।। आपके प्रलय काल की अग्नि के समान प्रज्वलित और दाढ़ों के कारण विकराल (भयानक) मुखों को देखकर मुझे न तो दिशाओं का ज्ञान हो रहा है और न शान्ति ही मिल रही है। इसलिए हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये।।25।।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥ 26।।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद् विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥ 27।।
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥ 28।।
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥ 29।।
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत् समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥ 30।।
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥ 31।।

हमारे पक्ष के मुख्य-मुख्य योद्धाओं के सहित भीष्म, द्रोण और वह कर्ण भी आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं। राजाओं के समुदायों के सहित धृतराष्ट्र के वे ही सब-के-सब पुत्र आपके विकराल दाढ़ों के कारण भयङ्कर मुखों में बड़ी तेजी से प्रविष्ट हो रहे हैं। उनमें से कई एक तो चूर्ण हुए सिरों सहित आपके दाँतों के बीच में फँसे हुए दीख रहे हैं।।26-27।। जैसे नदियों के बहुत-से जल के प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्र के सम्मुख दौड़ते हैं, ऐसे ही वे संसार के महान् शूरवीर आपके सब तरफ से देदीप्यमान मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।।28।। जैसे पतङ्गे (मोहवश) अपना नाश करने के लिए बड़े वेग से दौड़ते हुए प्रज्वलित अग्नि में प्रविष्ट होते हैं, ऐसे ही ये सब लोग भी (मोहवश) अपना नाश करने के लिए बड़े वेग से दौड़ते हुए आपके मुखों में प्रविष्ट हो रहे हैं।।29।। आप

अपने प्रज्वलित मुखों द्वारा सम्पूर्ण लोकों का ग्रसन करते हुए उन्हें सब ओर से बार-बार चाट रहे हैं; और हे विष्णो! आपका उग्र प्रकाश अपने तेज से सम्पूर्ण जगत् को परिपूर्ण करके सबको तपा रहा है।।30।। मुझे यह बताइये कि उग्र रूप वाले आप कौन हैं? हे देवताओं में श्रेष्ठ! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होइये। आदि रूप आपको मैं तत्त्व से जानना चाहता हूँ; क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्ति को भलीभाँति नहीं जानता।।31।।

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥ 32।।
तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ 33।।
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥ 34।।

श्रीभगवान् बोले—मैं सम्पूर्ण लोकों का नाश करने वाला बढ़ा हुआ काल हूँ और इस समय मैं इन सब लोगों का संहार करने के लिए यहाँ आया हूँ। तुम्हारे प्रतिपक्ष में जो योद्धा लोग खड़े हैं, वे सब तुम्हारे (युद्ध किए) बिना भी नहीं रहेंगे।।32।। इसलिए तुम (युद्ध के लिए) खड़े हो जाओ और यश को प्राप्त करो तथा शत्रुओं को जीतकर धन-धान्य से सम्पन्न राज्य को भोगो। ये सभी मेरे द्वारा पहले से ही मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन् अर्थात् दोनों हाथों से बाण चलाने वाले अर्जुन! (तुम इनको मारने में) निमित्त मात्र बन जाओ।।33।। द्रोण और भीष्म तथा जयद्रथ और कर्ण तथा अन्य सभी मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीरों को तुम मारो। तुम व्यथा मत करो और युद्ध करो। युद्ध में (तुम निःसन्देह) वैरियों को जीतोगे।।34।।

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ 35।।

सञ्जय बोले—भगवान् केशव का यह वचन सुनकर (भय से) काँपते हुए किरीटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर नमस्कार करके और भयभीत होते हुए भी फिर प्रणाम करके गद्गद वाणी से भगवान् कृष्ण से बोले।।35।।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥ 36।।
कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ 37।।
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥ 38।।
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥ 39॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥ 40॥
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि॥ 41॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ 42॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽत्स्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥ 43॥
तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥ 44॥
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ 45॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ 46॥

अर्जुन बोले—हे अन्तर्यामी भगवन्! आपके (नाम, गुण, लीला का) कीर्तन करने से यह सम्पूर्ण जगत् हर्षित हो रहा है और अनुराग (प्रेम) को प्राप्त हो रहा है। (आपके नाम, गुण आदि के कीर्तन से) भयभीत होकर राक्षस लोग दसों दिशाओं में भागते हुए जा रहे हैं और सम्पूर्ण सिद्धगण आपको नमस्कार कर रहे हैं। यह सब होना उचित ही है॥36॥ हे महात्मन्! गुरुओं के भी गुरु और ब्रह्मा के भी आदिकर्त्ता आपके लिए (वे सिद्धगण) नमस्कार क्यों नहीं करें? क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगनिवास! आप अक्षर स्वरूप हैं; आप सत् भी हैं, असत् भी हैं और उनसे (सत्-असत् से) पर भी जो कुछ है, वह भी आप ही है॥37॥ आप ही आदिदेव और पुराण पुरुष हैं तथा आप ही इस संसार के परम आश्रय हैं। आप ही सबको जानने वाले, जानने योग्य और परमधाम हैं। हे अनन्तरूप! आपसे ही सम्पूर्ण संसार व्याप्त है॥38॥ आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, दक्ष आदि प्रजापति और प्रपितामह (ब्रह्माजी के भी पिता) हैं। आपको हजारों बार नमस्कार हो! नमस्कार हो! और फिर भी आपको बार-बार नमस्कार हो! नमस्कार हो!॥39॥ हे सर्वस्वरूप! आपको आगे से भी नमस्कार हो और पीछे से भी नमस्कार हो! आपको सब ओर से (दसों दिशाओं से) ही नमस्कार हो! हे अनन्तवीर्य! असीम पराक्रम वाले आपने सबको (एक देश में) समेट रखा है; अतः सब कुछ आप ही है॥40॥ आपकी इस महिमा को न जानते हुए 'मेरे सखा हैं' ऐसा मानकर मैंने प्रमाद से अथवा प्रेम से भी हठपूर्वक (बिना सोचे-समझे) 'हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे!' इस प्रकार जो कुछ कहा है; और हे अच्युत! हँसी-दिल्लगी में, चलते-फिरते, सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते समय अकेले अथवा उन (सखाओं, कुटुम्बियों आदि) के सामने (मेरे द्वारा आपका) जो कुछ तिरस्कार (अपमान) किया गया है; हे अप्रमेयस्वरूप! वह सब आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ अर्थात्

आपसे क्षमा माँगता हूँ।।41-42।। आप ही इस चराचर संसार के पिता हैं, आप ही पूजनीय हैं और आप ही गुरुओं के महान् गुरु हैं। हे अनन्त प्रभावशाली भगवन्! इस त्रिलोकी में आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक तो हो ही कैसे सकता है।।43।। इसलिए स्तुति करने योग्य आप ईश्वर को मैं शरीर से लम्बा पड़कर, प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ। पिता जैसे पुत्र के, मित्र जैसे मित्र के और प्रिय (पति) जैसे प्रिया (पत्नी) के द्वारा किये गये (अपमान को सह लेता है) ऐसे ही (आप मेरे द्वारा किया गया अपमान) सहने में अर्थात् क्षमा करने में समर्थ हैं।।44।। जिसको पहले कभी नहीं देखा, उस रूप को देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ और साथ-ही-साथ भय से मेरा मन अत्यन्त व्यथित हो रहा है। अत: आप मुझे अपने उसी देवरूप (शान्त विष्णु रूप) को दिखाइये। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये।।45।। मैं आपको वैसे ही किरीट (मुकुट) धारी, गदाधारी और हाथ में चक्र लिए हुए अर्थात् चतुर्भुज रूप से देखना चाहता हूँ। इसलिए हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! आप उसी चतुर्भुज रूप से (शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म सहित) हो जाइए।।46।।

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥ 47।।
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥ 48।।
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥ 49।।

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपनी सामर्थ्य से मेरा यह अत्यन्त श्रेष्ठ, तेज स्वरूप, सबका आदि और अनन्त विश्वरूप तुझे दिखाया है, जिसको तुम्हारे सिवाय पहले किसी ने नहीं देखा है।।47।। हे कुरुश्रेष्ठ! मनुष्य लोक में इस प्रकार के विश्व रूप वाला मैं न वेदों के पाठ से, न यज्ञों के अनुष्ठान से, न शास्त्रों के अध्ययन से, न दान से, न उग्र तपों से और न मात्र क्रियाओं से तेरे (कृपापात्र के) सिवाय और किसी के द्वारा देखा जा सकता हूँ।।48।। यह मेरा इस प्रकार का उग्र रूप देखकर तुझे व्यथा नहीं होनी चाहिए और विमूढ़ भाव भी नहीं होना चाहिए। अब निर्भय और प्रसन्न मन वाला होकर तू फिर उसी मेरे इस (चतुर्भुज) रूप को अच्छी तरह देख ले।।49।।

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥ 50।।

सञ्जय बोले—वासुदेव भगवान् ने अर्जुन से ऐसा कहकर फिर उसी प्रकार से अपना रूप (देवरूप) दिखाया और महात्मा श्रीकृष्ण ने पुन: सौम्य रूप (द्विभुज मानुष रूप) होकर इस भयभीत अर्जुन को आश्वासन दिया।।50।।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥ 51।।

अर्जुन बोले—हे जनार्दन! आपके इस सौम्य मनुष्य रूप को देखकर मैं इस समय स्थिर चित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ।।51।।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥ 52।।
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ 53।।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ 54।।
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ 55।।

श्रीभगवान् बोले—मेरा यह जो (चतुर्भुज) रूप तुमने देखा है, इसके दर्शन अत्यन्त दुर्लभ हैं। देवता भी इस रूप को देखने के लिए नित्य लालायित रहते हैं।।52।। जिस प्रकार तुमने मुझे देखा है, इस प्रकार का (चतुर्भुज रूप वाला) मैं न तो वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही देखा जा सकता हूँ।।53।। परन्तु हे शत्रुतापन अर्जुन! इस प्रकार (चतुर्भुज रूप वाला) मैं केवल अनन्य भक्ति से ही तत्त्व से जानने में और (साकार रूप से) देखने में तथा प्रवेश (प्राप्त) करने में शक्य हूँ।।54।। हे पाण्डव! जो मेरे लिए ही कर्म करने वाला, मेरे ही परायण और मेरा ही प्रेमी भक्त है तथा सर्वथा आसक्ति रहित और प्राणिमात्र के साथ वैर भाव से रहित है, वह भक्त मुझे प्राप्त होता है।।55।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥11॥ भीष्मपर्वणि पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ 35 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।11।। भीष्मपर्व में पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।35।।

द्वादशोऽध्यायः

साकार और निराकार के उपासकों की उत्तमता का निर्णय तथा भगवत्प्राप्ति के उपाय का एवं भगवत्प्राप्ति वाले पुरुषों के लक्षणों का वर्णन

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ 1।।

अर्जुन बोले—जो भक्त इस प्रकार (ग्यारहवें अध्याय के पचपनवें श्लोक के अनुसार) निरन्तर आप में लगे रहकर आप (सगुण-साकार) की उपासना करते हैं और जो अविनाशी निर्गुण निराकार की ही उपासना करते हैं, उन दोनों में से उत्तम योगवेत्ता कौन हैं?।।1।।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ 2।।
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ 3।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ 4।।
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ 5।।
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ 6।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ 7।।
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ 8।।
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ 9।।
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥ 10।।

श्रीभगवान् बोले—मुझमें मन को लगाकर नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए जो भक्त परम श्रद्धा से युक्त होकर मेरी (सगुण-साकार की) उपासना करते हैं, वे मेरे मत में सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।।2।। और जो अपने इन्द्रिय समूह को भलीभाँति वश में करके चिन्तन में न आने वाले, सब जगह परिपूर्ण, देखने में न आने वाले, निर्विकार, अचल, ध्रुव, अक्षर और अव्यक्त की तत्परता से उपासना करते हैं, वे प्राणिमात्र के हित में प्रीति रखने

वाले और सब जगह समबुद्धि वाले मनुष्य मुझे ही प्राप्त होते हैं।।3-4।। अव्यक्त में आसक्त चित्त वाले उन साधकों को (अपने साधन में) कष्ट अधिक होता है; क्योंकि देहाभिमानियों के द्वारा अव्यक्त विषयक गति कठिनता से प्राप्त की जाती है।।5।। परन्तु जो सम्पूर्ण कर्मों को मेरे अर्पण करके और मेरे परायण होकर अनन्य योग (सम्बन्ध) से मेरा ही ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं।।6।। हे पार्थ! मुझमें आविष्ट चित्त वाले उन भक्तों का मैं मृत्यु रूप संसार समुद्र से शीघ्र ही उद्धार करने वाला बन जाता हूँ।।7।। तू मुझमें मन को स्थापन कर और मुझमें ही बुद्धि को प्रविष्ट कर; इसके बाद तू मुझमें ही निवास करेगा—इसमें संशय नहीं है।।8।। अगर तू मन को मुझमें अचल भाव से स्थिर (अर्पण) करने में समर्थ नहीं मानता, तो हे धनञ्जय! अभ्यासयोग के द्वारा तू मेरी प्राप्ति की इच्छा कर।।9।। अगर तू अभ्यासयोग में भी अपने को असमर्थ पाता है तो मेरे लिए कर्म करने के परायण हो जा। मेरे लिए कर्मों को करता हुआ भी तू सिद्धि को प्राप्त हो जाएगा।।10।।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ 11।।
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ 12।।
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥ 13।।
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ 14।।
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ 15।।
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ 16।।
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥ 17।।
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोऽष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ 18।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥ 19।।
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ 20।।

अगर मेरे योग (समता) के आश्रित हुआ तू इस (पूर्वश्लोक में कहे गये साधन) को भी करने में अपने को असमर्थ पाता है, तो मन-इन्द्रियों का वश में करके सम्पूर्ण कर्मों के फल की इच्छा कर त्याग कर।।11।। अभ्यास से शास्त्रज्ञान श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से भी सब कर्मों के फल की इच्छा का त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि त्याग से तत्काल ही परम

शान्ति प्राप्त हो जाती है।।12।। सब प्राणियों में द्वेषभाव से रहित और मित्र भाव वाला तथा दयालु भी और ममता रहित, अहङ्कार रहित, सुख-दुःख की प्राप्ति में सम, क्षमाशील, निरन्तर सन्तुष्ट, योगी, शरीर को वश में किए हुए, दृढ़ निश्चय वाला मुझमें अर्पित मन-बुद्धि वाला जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है।।13-14।। जिससे कोई भी प्राणी उद्विग्न (क्षुब्ध) नहीं होता और जो स्वयं भी किसी प्राणी से उद्विग्न नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्या), भय और उद्वेग (हलचल) से रहित है, वह मुझे प्रिय है।।15।। जो अपेक्षा (आवश्यकता) से रहित, (बाहर-भीतर से) पवित्र, चतुर, उदासीन, व्यथा से रहित और सभी आरम्भों का अर्थात् नये-नये कर्मों का आरम्भ का सर्वथा त्यागी है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।।16।। जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है और शुभ-अशुभ कर्मों से ऊँचा उठा हुआ (राग-द्वेष रहित) है, वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्रिय हैं।।17।। जो शत्रु और मित्र में तथा मान-अपमान में सम है और शीत-उष्ण (शरीर की अनुकूलता-प्रतिकूलता) तथा सुख-दुःख (मन-बुद्धि की अनुकूलता-प्रतिकूलता) में सम है एवं आसक्ति रहित है, और जो निन्दा-स्तुति को समान समझने वाला, मननशील, जिस किस प्रकार से भी (शरीर का निर्वाह होने न होने में) सन्तुष्ट, रहने के स्थान तथा शरीर में ममता-आसक्ति से रहित और स्थिर बुद्धि वाला है, वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्रिय है।।18-19।। परन्तु जो मुझमें श्रद्धा रखने वाले और मेरे परायण हुए भक्त इस धर्ममय अमृत का जैसा कहा है, वैसा ही भलीभाँति सेवन करते हैं, वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।।20।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ 12 ॥
भीष्मपर्वणि तु षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ 36 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में भक्तियोग नामक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।12।। भीष्मपर्व में छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।36।।

त्रयोदशोऽध्यायः

ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और प्रकृति-पुरुष का वर्णन

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ 1।।
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत् तज्ज्ञानं मतं मम॥ 2।।
तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ 3।।
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ 4।।
महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ 5।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ 6।।
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ 7।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥ 8।।
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ 9।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥ 10।।

श्रीभगवान् बोले—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! 'यह' रूप से कहे जाने वाले शरीर को 'क्षेत्र' इस नाम से कहते हैं और इस क्षेत्र को जो जानता है, उसको ज्ञानी लोग 'क्षेत्रज्ञ' इस नाम से कहते हैं।।1।। हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! तू सम्पूर्ण क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझ और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही मेरे मत में ज्ञान है।।2।। वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा जिन विकारों वाला है और जिससे जो पैदा हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभाव वाला है, वह सब संक्षेप में मुझसे सुन।।3।। यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का तत्त्व ऋषियों के द्वारा बहुत विस्तार से कहा गया है तथा वेदों की ऋचाओं द्वारा बहुत प्रकार से विभागपूर्वक कहा गया है और युक्तियुक्त एवं निश्चित किए हुए ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी कहा गया है।।4।। मूल प्रकृति और समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व), समष्टि अहङ्कार, पाँच महाभूत और दस इन्द्रियाँ, एक मन तथा पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय—यही (चौबीस तत्त्वों वाला) क्षेत्र है।।5।। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (शरीर), चेतना (प्राणशक्ति) और धृति—इन विकारों सहित यह क्षेत्र संक्षेप से कहा गया है।।6।। अपने में श्रेष्ठता का भाव न होना, दिखावटीपन न होना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरु की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि, स्थिरता और मन का वश में होना।।7।। इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य का होना, अहङ्कार का भी न होना और जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा व्याधियों में दुःख रूप दोषों को बार-बार देखना।।8।। आसक्ति रहित होना, पुत्र, स्त्री, घर आदि में एकात्मता (घनिष्ठ सम्बन्ध) न होना और अनुकूलता-प्रतिकूलता की प्राप्ति में चित्त का नित्य सम रहना।।9।। मुझमें अनन्य योग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति का होना, एकान्त स्थान में रहने का स्वभाव होना और जन समुदाय में प्रीति का न होना।।10।।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥ 11।।

ज्ञेयं यत् यत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ 12।।
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ 13।।
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ 14।।
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ 15।।
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ 16।।
ज्योतिषामपि तज्जोतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥ 17।।
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥ 18।।
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ 19।।
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ 20।।

अध्यात्म ज्ञान में नित्य-निरन्तर रहना, तत्त्व ज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को सब जगह देखना—यह (पूर्वोक्त बीस साधन-समुदाय) तो ज्ञान है और जो इसके विपरीत है, वह अज्ञान है—ऐसा कहा गया है।।11।। जो ज्ञेय (पूर्वोक्त ज्ञान से जानने योग्य) है, उस परमात्म तत्त्व को मैं अच्छी तरह से कहूँगा, जिसको जानकर मनुष्य अमरता का अनुभव कर लेता है। वह ज्ञेय तत्त्व अनादि वाला और परम ब्रह्म है। उसको न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है।।12।। वे परमात्मा सब जगह हाथों और पैरों वाले, सब जगह नेत्रों, सिरों और मुखों वाले तथा सब जगह कानों वाले हैं। वे संसार में सबको व्याप्त करके स्थित हैं।।13।। वे परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियों से रहित हैं और सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को प्रकाशित करने वाले हैं, आसक्ति रहित हैं और सम्पूर्ण संसार का भरण-पोषण करने वाले हैं तथा गुणों से रहित हैं और सम्पूर्ण गुणों के भोक्ता हैं।।14।। वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियों के बाहर भीतर परिपूर्ण हैं और चर अचर प्राणियों के रूप में भी वे ही हैं एवं दूर से दूर तथा नजदीक से नजदीक भी वे ही हैं और वे अत्यन्त सूक्ष्म होने से जानने में नहीं आते।।15।। वे परमात्मा स्वयं विभाग रहित होते हुए भी सम्पूर्ण प्राणियों में विभक्त की तरह स्थित हैं और वे जानने योग्य परमात्मा ही सम्पूर्ण प्राणियों को उत्पन्न करने वाले तथा उनका भरण-पोषण करने वाले और संहार करने वाले हैं।।16।। वे परमात्मा सम्पूर्ण ज्योतियों के भी ज्योति और अज्ञान से अत्यन्त परे कहे गये हैं। वे ज्ञान स्वरूप, जानने योग्य, ज्ञान से प्राप्त करने योग्य और सबके हृदय में विराजमान हैं।।17।। इस प्रकार क्षेत्र तथा ज्ञान और ज्ञेय को संक्षेप से कहा गया है।

मेरा भक्त इसको तत्त्व से जानकर मेरे भाव को प्राप्त हो जाता है।।18।। प्रकृति और पुरुष—दोनों को ही तुम अनादि समझो और विकारों को तथा गुणों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न समझो। कार्य और करण के द्वारा होने वाली क्रियाओं को उत्पन्न करने में प्रकृति हेतु कही जाती है और सुख दुःखों के भोक्तापन में पुरुष हेतु कहा जाता है।।19-20।।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ 21।।
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ 22।।
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ 23।।
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ 24।।
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥ 25।।
यावत् सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥ 26।।
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥ 27।।
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्॥ 28।।
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति॥ 29।।
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ 30।।

प्रकृति में स्थित पुरुष (जीव) ही प्रकृतिजन्य गुणों का भोक्ता बनता है और गुणों का सङ्ग ही इसके ऊँच-नीच योनियों में जन्म लेने का कारण बनता है।।21।। यह पुरुष (शरीर के साथ सम्बन्ध रखने से), 'उपद्रष्टा' (उसके साथ मिलकर सम्मति, अनुमति देने से) 'अनुमन्ता', (अपने को उसका भरण-पोषण करने वाला मानने से) 'भोक्ता' और (अपने को उसका स्वामी मानने से) 'महेश्वर' बन जाता है। परन्तु (स्वरूप से) यह पुरुष 'परमात्मा' इस नाम से कहा जाता है। यह इस देह में रहता हुआ भी देह से पर (सर्वथा सम्बन्ध रहित) ही है।।22।। इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य (अलग-अलग) जानता है, वह सब तरह का बर्ताव करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता।।23।। कई मनुष्य ध्यानयोग के द्वारा, कई सांख्ययोग के द्वारा और कई कर्मयोग के द्वारा अपने आपसे अपने आपमें परमात्म तत्त्व का अनुभव करते हैं।।24।। दूसरे मनुष्य इस प्रकार (ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग आदि साधनों को) नहीं जानते,

पर दूसरों से (जीवन्मुक्त महापुरुषों से) सुनकर ही उपासना करते हैं, ऐसे वे सुनने के अनुसार आचरण करने वाले मनुष्य भी मृत्यु को तर जाते हैं।।25।। हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! स्थावर और जङ्गम जितने भी प्राणी पैदा होते हैं, उनको तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न हुए समझो।।26।। जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियों में परमेश्वर को नाश रहित और समरूप से स्थित देखता है, वही वास्तव में सही देखता है।।27।। क्योंकि सब जगह समरूप से स्थित ईश्वर को समरूप से देखने वाला मनुष्य अपने आपसे अपनी हिंसा नहीं करता, इसलिए वह परम गति को प्राप्त हो जाता है।।28।। जो सम्पूर्ण क्रियाओं को सब प्रकार से प्रकृति के द्वारा ही की जाती हुई देखता है और अपने आपको अकर्ता देखता (अनुभव करता) है, वही यथार्थ देखता है।।29।। जिस काल में साधक प्राणियों के अलग-अलग भावों को एक प्रकृति में ही स्थित देखता है और उस प्रकृति से ही उन सबका विस्तार देखता है, उस काल में वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।।30।।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात् मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ 31।।
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते॥ 32।।
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ 33।।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥ 34।।

हे कुन्तीनन्दन! यह (पुरुष स्वयं) अनादि होने से और गुणों से रहित होने से अविनाशी परमात्म स्वरूप ही है। यह शरीर में रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।।31।। जैसे सब जगह व्याप्त आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होने से कहीं भी लिप्त नहीं होता, ऐसे ही सब जगह परिपूर्ण आत्मा किसी भी देह में लिप्त नहीं होता।।32।। हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! जैसे एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करता है, ऐसे ही क्षेत्रज्ञ (आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।।33।। इस प्रकार जो ज्ञानरूपी नेत्रों से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विभाग को तथा कार्य-कारण सहित प्रकृति से स्वयं को अलग जानते हैं, वे परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं।।34।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ 13 ॥ भीष्मपर्वणि तु सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ 37 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।13।। भीष्मपर्व में सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।37।।

चतुर्दशोऽध्यायः

ज्ञान की महिमा और प्रकृति-पुरुष से जगत् की उत्पत्ति का, सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणों का, भगवत्प्राप्ति के उपाय का एवं गुणातीत पुरुष के लक्षणों का वर्णन

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ 1।।
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ 2।।
मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ 3।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ 4।।
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ 5।।
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ 6।।
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ 7।।
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ 8।।
सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥ 9।।
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ 10।।

श्रीभगवान् बोले—सम्पूर्ण ज्ञानों में उत्तम और श्रेष्ठ ज्ञान को मैं फिर कहूँगा, जिनको जानकर सब-के-सब मुनि लोग इस संसार से (मुक्त होकर) परम सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं।।1।। इस ज्ञान का आश्रय लेकर जो मनुष्य मेरी सधर्मता को प्राप्त हो गये हैं, वे महासर्ग में भी पैदा नहीं होते और महाप्रलय में भी व्यथित नहीं होते।।2।। हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! मेरी मूल प्रकृति तो उत्पत्ति स्थान है और मैं उसमें जीवरूप गर्भ का स्थापन करता हूँ। उससे सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति होती है।।3।। हे कुन्तीनन्दन! सम्पूर्ण योनियों में (प्राणियों के) जितने शरीर पैदा होते हैं, मूल प्रकृति तो उन सबकी माता है और मैं बीज स्थापन करने वाला पिता हूँ।।4।। हे महाबाहो! प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण अविनाशी देही (जीवात्मा) को देह में

बाँध देते हैं।।5।। हे पापरहित अर्जुन! उन गुणों में सत्त्व गुण निर्मल (स्वच्छ) होने के कारण प्रकाशक और निर्विकार है। वह सुख की आसक्ति से और ज्ञान की आसक्ति से (देही को) बाँधता है।।6।। हे कुन्तीनन्दन! तृष्णा और आसक्ति को पैदा करने वाले रजोगुण को तुम राग स्वरूप समझो। वह कर्मों की आसक्ति से देही (जीवात्मा) को बाँधता है।।7।। और हे भरतवंशी अर्जुन! सम्पूर्ण देहधारियों को मोहित करने वाले तमोगुण को तुम अज्ञान से उत्पन्न होने वाला समझो। वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा (देह के साथ अपना सम्बन्ध मानने वालों को) बाँधता है।।8।। हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! सत्त्व गुण सुख में और रजोगुण कर्म में लगाकर मनुष्य पर विजय प्राप्त करता है। परन्तु तमोगुण ज्ञान को ढककर एवं प्रमाद में लगाकर मनुष्य पर विजय करता है।।9।। हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है, सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण बढ़ता है, वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है।।10।।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद् विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ 11।।
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ 12।।
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ 13।।
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते॥ 14।।
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ 15।।
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ 16।।
सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥ 17।।
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥ 18।।
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥ 19।।
गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥ 20।।

जब इस मनुष्य शरीर में सब द्वारों (इन्द्रियों और अन्तःकरण) में प्रकाश (स्वच्छता) में प्रकाश (स्वच्छता) और विवेक प्रकट हो जाता है, तब यह जानना चाहिए कि सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है।।11।। हे भरतवंश में श्रेष्ठ अर्जुन! रजोगुण के बढ़ने

पर लोभ, प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और स्पृहा—ये वृत्तियाँ पैदा होती हैं।।12।। हे कुरुनन्दन! तमोगुण के बढ़ने पर अप्रकाश, अप्रवृत्ति तथा प्रमाद और मोह—ये वृत्तियाँ भी पैदा होती हैं।।13।। जिस समय सत्त्वगुण बढ़ा हो, उस समय यदि देहधारी मनुष्य मर जाता है तो वह उत्तम वेत्ताओं के निर्मल लोकों में जाता है।।14।। रजोगुण के बढ़ने पर मरने वाला प्राणी कर्मसंगी मनुष्य योनि में जन्म लेता है तथा तमोगुण के बढ़ने पर मरने वाला मूढ़ योनियों में जन्म लेता है।।15।। विवेकी पुरुषों शुभ कर्म का तो सात्त्विक निर्मल फल कहा है, राजस कर्म का फल दुःख कहा है और तामस कर्म का फल अज्ञान (मूढ़ता) कहा है।।16।। सत्त्वगुण से ज्ञान और रजोगुण से लोभ (आदि) ही उत्पन्न होते हैं। तमोगुण से प्रमाद, मोह एवं अज्ञान भी उत्पन्न होते हैं।।17।। सत्त्वगुण में स्थित मनुष्य ऊर्ध्वलोकों में जाते हैं, रजोगुण में स्थित मनुष्य मृत्युलोक में जन्म लेते हैं और निन्दनीय तमोगुण की वृत्ति में स्थित तामस मनुष्य अधोगति में जाते हैं।।18।। जब विवेकी (विचार कुशल) मनुष्य तीनों गुणों के सिवाय अन्य किसी को कर्त्ता नहीं देखता और अपने को गुणों से पर अनुभव करता है, तब वह मेरे सत्स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।।19।। देहधारी (विवेकी मनुष्य) देह को उत्पन्न करने वाले इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करके जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्था रूप दुःखों से रहित हुआ अमरता का अनुभव करता है।।20।।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते॥ 21।।

अर्जुन बोले—हे प्रभो! इन तीनों गुणों से अतीत हुआ मनुष्य किन लक्षणों से युक्त होता है? उसके आचरण कैसे होते हैं? और इन तीनों गुणों का अतिक्रमण कैसे किया जा सकता है?।।21।।

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥ 22।।
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥ 23।।
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दाऽऽत्मसंस्तुतिः॥ 24।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥ 25।।
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ 26।।
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ 27।।

श्रीभगवान् बोले—हे पाण्डव! प्रकाश और प्रवृत्ति तथा मोह—ये सभी अच्छी तरह से प्रवृत्त हो जाएँ तो भी गुणातीत मनुष्य इनसे द्वेष नहीं करता और ये सभी निवृत्त हो जाएँ तो इनकी इच्छा नहीं करता।।22।। जो उदासीन की तरह स्थित है और जो गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता तथा गुण ही गुणों में बरत रहे हैं—इस भाव से जो (अपने स्वरूप में ही) स्थित रहता है और स्वयं कोई भी चेष्टा नहीं करता।।23।। जो धीर मनुष्य दुःख सुख में सम तथा अपने स्वरूप में स्थित रहता है; जो मिट्टी के ढेले, पत्थर और सोने में सम रहता है; जो प्रिय-अप्रिय में सम रहता है; जो अपनी निन्दा-स्तुति में सम रहता है; जो मान-अपमान में सम रहता है; जो मित्र शत्रु के पक्ष में सम रहता है और जो सम्पूर्ण कर्मों के आरम्भ का त्यागी है, वह मनुष्य गुणातीत कहा जाता है।।24-25।। और जो मनुष्य अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा मेरा सेवन करता है, वह इन गुणों का अतिक्रमण करके ब्रह्म प्राप्ति का पात्र हो जाता है।।26।। क्योंकि ब्रह्म का और अविनाशी अमृत का तथा शाश्वत धर्म का और ऐकान्तिक सुख का आश्रय मैं ही हूँ।।27।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ 14 ॥ भीष्मपर्वणि तु अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ 38 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।14।। भीष्मपर्व में छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।38।।

पञ्चदशोऽध्यायः

संसारवृक्ष का, भगवत्प्राप्ति के उपाय का, जीवात्मा का, प्रभाव सहित परमेश्वर के स्वरूप का एवं क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम के तत्त्व का वर्णन

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ 1।।
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥ 2।।
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥ 3।।
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥ 4।।
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ 5।।
न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ 6।।
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ 7।।
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ 8।।
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥ 9।।
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥ 10।।

श्रीभगवान् बोले—ऊपर की ओर मूल वाले तथा नीचे की ओर शाखा वाले जिस संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष को (प्रवाह रूप से) अव्यय कहते हैं और वेद जिसके पत्ते हैं, उस संसार वृक्ष को जो जानता है, वह सम्पूर्ण वेदों को जानने वाला है।।1।। उस संसार वृक्ष की गुणों (सत्त्व, रज और तम) के द्वारा बढ़ी हुई तथा विषय रूप कोंपलों वाली शाखाएँ नीचे (मध्य में) और ऊपर (सब जगह) फैली हुई हैं। मनुष्य लोक में कर्मों के अनुसार बांधने वाले मूल भी नीचे और ऊपर (सभी लोकों में) व्याप्त हो रहे हैं।।2।। इस संसार वृक्ष का जैसा रूप देखने में आता है, वैसा यहाँ (विचार करने पर) मिलता नहीं; क्योंकि इसका न तो आदि है, न अन्त है और न स्थिति ही है। इसलिए इस दृढ़ मूलों वाले संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष को दृढ़ असङ्गता रूप शस्त्र के द्वारा काटकर—।।3।। उसके बाद उस परमपद (परमात्मा) की खोज करनी चाहिए। जिसको प्राप्त हुए मनुष्य फिर लौटकर संसार में नहीं आते और जिससे अनादि काल से चली आने वाली यह सृष्टि विस्तार को प्राप्त हुई है, उस आदि पुरुष परमात्मा के ही मैं शरण हूँ।।4।। जो मान और मोह से रहित हो गये हैं, जिन्होंने आसक्ति से होने वाले दोषों को जीत लिया है, जो नित्य-निरन्तर परमात्मा में ही लगे हुए हैं, जो (अपनी दृष्टि से) सम्पूर्ण कामनाओं से रहित हो गये हैं, जो सुख-दुःख नाम वाले द्वन्द्वों से मुक्त हो गये हैं (ऐसे ऊँची स्थिति वाले) मोहरहित साधक भक्त उस अविनाशी परमपद (परमात्मा) को प्राप्त होते हैं।।5।। उस परमपद को न सूर्य, न चन्द्र और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकती है और जिसको प्राप्त होकर जीव लौटकर संसार में नहीं आते, वही मेरा परमधाम है।।6।। इस संसार में जीव बना हुआ आत्मा (स्वयं) मेरा ही सनातन अंश है; परन्तु वह प्रकृति में स्थित मन और पाँचों इन्द्रियों को आकर्षित करता है (अपना मान लेता है)।।7।। जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को (ग्रहण करके ले जाती है), ऐसे ही शरीरादि का स्वामी बना हुआ जीवात्मा भी जिस शरीर को छोड़ता है, वहाँ से इन (मन सहित इन्द्रियों) को ग्रहण करके फिर जिस शरीर को प्राप्त होता है, उसमें चला जाता है।।8।। यह जीवात्मा मन का आश्रय लेकर ही श्रोत्र और नेत्र तथा त्वचा, रसना और घ्राण—इन पाँचों इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करता है।।9।। शरीर को छोड़कर

जाते हुए या दूसरे शरीर में स्थित हुए अथवा विषयों को भोगते हुए भी गुणों से युक्त जीवात्मा के स्वरूप को मूढ़ मनुष्य नहीं जानते, ज्ञानरूपी नेत्रों वाले (ज्ञानी मनुष्य ही) जानते हैं।।10।।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ 11।।
यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम्॥ 12।।
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥ 13।।
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥ 14।।
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ 15।।
द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ 16।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥ 17।।
यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥ 18।।
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥ 19।।
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥ 20।।

यत्न करने वाले योगी लोग अपने आपमें स्थित इस परमात्म तत्त्व का अनुभव करते हैं। परन्तु जिन्होंने अपना अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अविवेकी मनुष्य यत्न करने पर भी इस तत्त्व का अनुभव नहीं करते।।11।। सूर्य को प्राप्त हुआ जो तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है और जो तेज चन्द्रमा में है तथा जो तेज अग्नि में है, उस तेज को मेरा ही जान।।12।। मैं ही पृथ्वी में प्रविष्ट होकर अपनी शक्ति से समस्त प्राणियों को धारण करता हूँ और (मैं ही) रस स्वरूप चन्द्रमा होकर समस्त ओषधियों (वनस्पतियों) को पुष्ट करता हूँ।।13।। प्राणियों के शरीर में रहने वाला मैं प्राण अपान से युक्त वैश्वानर (जठराग्नि) होकर चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।।14।। मैं ही सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन (संशय आदि दोषों का नाश) होता है। सम्पूर्ण वेदों के द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। वेदों के तत्त्व का निर्णय करने वाला और वेदों को जानने वाला भी मैं ही हूँ।।15।। इस संसार में क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी) ये दो प्रकार के ही पुरुष हैं। सम्पूर्ण प्राणियों के

शरीर क्षर और जीवात्मा अक्षर कहा जाता है।।16।। उत्तम पुरुष तो अन्य (विलक्षण) ही है, जो 'परमात्मा' इस नाम से कहा गया है। वही अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सबका भरण-पोषण करता है।।17।। कारण कि मैं क्षर से अतीत हूँ और अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसलिए लोक में और वेद में 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध हूँ।।18।। हे भरतवंशी अर्जुन! इस प्रकार जो मोह रहित मनुष्य मुझे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ सब प्रकार से मेरा ही भजन करता है।।19।। हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया है। हे भरतवंशी अर्जुन! इसको जानकर मनुष्य ज्ञानवान् (ज्ञात-ज्ञातव्य) तथा कृतकृत्य हो जाता है।।20।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥15॥ भीष्मपर्वणि एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ 39 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में पुरुषोत्तमयोग नामक पन्द्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।15।। भीष्मपर्व में उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।39।।

षोडशोध्यायः

फलसहित दैवी और आसुरी सम्पदा का वर्णन तथा शास्त्रविपरीत आचरणों को त्यागने और शास्त्र के अनुकूल आचरण करने के लिए प्रेरणा

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ 1।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ 2।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ 3।।
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥ 4।।
दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥ 5।।
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥ 6।।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ 7।।
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।

अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥ 8।।
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ 9।।
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ 10।।

श्रीभगवान् बोले—भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की अत्यन्त शुद्धि, ज्ञान के लिए योग में दृढ़ स्थिति और सात्त्विक दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, कर्त्तव्य पालन के लिए कष्ट सहना और शरीर-मन-वाणी की सरलता।।1।। अहिंसा, सत्य भाषण, क्रोध न करना, संसार की कामना का त्याग, अन्तःकरण में राग-द्वेष जनित हलचल का न होना, चुगली न करना, प्राणियों पर दया करना, सांसारिक विषयों में न ललचाना, अन्तःकरण की कोमलता, अकर्त्तव्य करने में लज्जा, चपलता का अभाव।।2।। तेज (प्रभाव), क्षमा, धैर्य, शरीर की शुद्धि, वैर भाव का न होना और मान को न चाहना; हे भरतवंशी अर्जुन! ये सभी दैव सम्पदा को प्राप्त हुए मनुष्य के लक्षण हैं।।3।। हे पृथानन्दन! दम्भ करना, घमण्ड करना और अभिमान करना, क्रोध करना तथा कठोरता रखना और अविवेक का होना भी—ये सभी आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए मनुष्य के लक्षण हैं।।4।। दैवी सम्पत्ति मुक्ति के लिए और आसुरी सम्पत्ति बन्धन के लिए मानी गई है। हे पाण्डव! तुम दैवी सम्पत्ति को प्राप्त हुए हो, इसलिए तुम शोक (चिन्ता) मत करो।।5।। इस लोक में दो तरह के ही प्राणियों की सृष्टि है—दैवी और आसुरी। दैवी को तो मैंने विस्तार से कह दिया, अब हे पार्थ! तुम मुझसे आसुरी को (विस्तार से) सुनो।।6।। आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य किसमें प्रवृत्त होना चाहिए और किससे निवृत्त होना चाहिए—इसको नहीं जानते और उनमें न तो बाह्य शुद्धि, न श्रेष्ठ आचरण तथा न सत्य पालन ही होता है।।7।। वे कहा करते हैं कि संसार असत्य, बिना मर्यादा के और बिना ईश्वर के अपने आप केवल स्त्री-पुरुष के संयोग से पैदा हुआ है। इसलिए काम ही इसका कारण है, इसके सिवाय और क्या कारण है? (और कारण हो ही नहीं सकता)।।8।। इस (पूर्वोक्त नास्तिक) दृष्टि का आश्रय लेने वाले जो मनुष्य अपने नित्य स्वरूप को नहीं मानते, जिनकी बुद्धि तुच्छ है, जो उग्र कर्म करने वाले और संसार के शत्रु हैं, उन मनुष्यों की सामर्थ्य का उपयोग जगत् का नाश करने के लिए ही होता है।।9।। कभी पूरी न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर दम्भ, अभिमान और मद में चूर रहने वाले तथा अपवित्र व्रत धारण करने वाले मनुष्य मोह के कारण दुराग्रहों को धारण करके (संसार में) विचरते रहते हैं।।10।।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ 11।।
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थ सञ्चयान्॥ 12।।
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ 13।।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥ 14।।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ 15।।
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ 16।।
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ 17।।
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ 18।।
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ 19।।
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥ 20।।

वे मृत्यु पर्यन्त रहने वाली अपार चिन्ताओं का आश्रय लेने वाले, पदार्थों का संग्रह और उनका भोग करने में ही लगे रहने वाले और 'जो कुछ है, वह इतना ही है' —ऐसा निश्चय करने वाले होते हैं।।11।। वे आशा की सैकड़ों फाँसियों से बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोध के परायण होकर पदार्थों का भोग करने के लिए अन्यायपूर्वक धन संचय करने की चेष्टा करते रहते हैं।।12।। (वे इस प्रकार के मनोरथ किया करते हैं कि—) इतनी वस्तुएँ तो हमने आज प्राप्त कर लीं और अब इस मनोरथ को प्राप्त (पूरा) कर लेंगे। इतना धन तो हमारे पास है ही, इतना धन फिर भी हो जाएगा।।13।। वह शत्रु तो हमारे द्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओं को भी हम मार डालेंगे। हम ईश्वर (सर्वसमर्थ) हैं। हम भोग भोगने वाले हैं। हम सिद्ध हैं। हम बड़े बलवान् और सुखी हैं।।14।। हम धनवान् हैं, बहुत-से मनुष्य हमारे पास हैं, हमारे समान दूसरा कौन है? हम खूब यज्ञ करेंगे, दान देंगे और मौज करेंगे—इस तरह वे अज्ञान से मोहित रहते हैं।।15।। (कामनाओं के कारण) तरह-तरह से भ्रमित चित्त वाले, मोह जाल में अच्छी तरह से फँसे हुए तथा पदार्थों और भोगों में अत्यन्त आसक्त रहने वाले मनुष्य भयङ्कर नरकों में गिरते हैं।।16।। अपने को सबसे अधिक पूज्य मानने वाले, अकड़ रखने वाले तथा धन और मान के मद में चूर रहने वाले वे मनुष्य दम्भ से अविधिपूर्वक नाम मात्र के यज्ञों से यजन करते हैं।।17।। वे अहङ्कार, हठ, घमण्ड, कामना और क्रोध का आश्रय लेने वाले मनुष्य अपने और दूसरों के शरीर में (रहने वाले) मुझ अन्तर्यामी के साथ द्वेष करते हैं तथा (मेरे और दूसरों के गुणों में) दोष दृष्टि रखते हैं।।18।। उन द्वेष करने वाले, क्रूर स्वभाव वाले और संसार में महान् नीच, अपवित्र मनुष्यों को मैं बार-बार आसुरी योनियों में ही गिराता रहता हूँ।।19।। हे कुन्तीनन्दन! वे मूढ़ मनुष्य मुझे प्राप्त

न करके ही जन्म जन्मान्तर में आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अधिक अधम गति में अर्थात् भयङ्कर नरकों में चले जाते हैं।।20।।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥ 21।।
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥ 22।।
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति च सुखं न परां गतिम्॥ 23।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥ 24।।

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकार के नरक के दरवाजे जीवात्मा का पतन करने वाले हैं, इसलिए इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए।।21।। हे कुन्तीनन्दन! इन नरक के तीनों दरवाजों से रहित हुआ जो मनुष्य अपने कल्याण का आचरण करता है, वह उससे परम गति को प्राप्त हो जाता है।।22।। जो मनुष्य शास्त्र विधि को छोड़कर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धि (अन्तःकरण की शुद्धि) को, न सुख (शान्ति) को और न परम गति को ही प्राप्त होता है।।23।। अतः तेरे लिए कर्त्तव्य अकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है—ऐसा जानकर तू इस लोक में शास्त्र विधि से नियत कर्त्तव्य कर्म करने योग्य है अर्थात् तुझे शास्त्र विधि के अनुसार कर्त्तव्य कर्म करने चाहिए।।24।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ 16 ॥ भीष्मपर्वणि तु चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ 40 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में देवासुरसम्पद्विभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।16।। भीष्मपर्व में चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।40।।

सप्तदशोऽध्यायः

श्रद्धा का और शास्त्रविपरीत घोर तप करने वालों का वर्णन, आहार, यज्ञ, तप और दान के पृथक्-पृथक् भेद तथा ॐ, तत्, सत् के प्रयोग की व्याख्या

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ 1।।

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्र विधि का त्याग करके श्रद्धापूर्वक (देवता आदि का) पूजन करते हैं, उनकी निष्ठा फिर कौन-सी है? सात्त्विकी है अथवा राजसी-तामसी?।।1।।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ 2।।
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ 3।।
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ 4।।
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ 5।।
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ 6।।
आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ 7।।
आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ 8।।
कट्वाम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ 9।।
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ 10।।

श्रीभगवान् बोले—मनुष्यों की वह स्वभाव से उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्त्विकी तथा राजसी और तामसी—ऐसे तीन तरह की ही होती है, उसको (तुम मुझसे) सुनो।।2।। हे भारत! सभी मनुष्यों की श्रद्धा अन्तःकरण के अनुरूप होती है। यह मनुष्य श्रद्धामय है। इसलिए जो जैसी श्रद्धा वाला है, वही उसका स्वरूप है अर्थात् वही उसकी निष्ठा (स्थिति) है।।3।। सात्त्विक मनुष्य देवताओं का पूजन करते हैं, राजस मनुष्य यक्षों तथा राक्षसों का और दूसरे जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेतों और भूतगणों का पूजन करते हैं।।4।। जो मनुष्य शास्त्र विधि से रहित घोर तप करते हैं; जो दम्भ और अहङ्कार से अच्छी तरह युक्त हैं; जो भोग पदार्थ, आसक्ति और हठ से युक्त हैं; जो शरीर में स्थित पाँच भूतों को अर्थात् पाञ्चभौतिक शरीर को तथा अन्तःकरण में स्थित मुझ परमात्मा को भी कृश करने वाले हैं, उन अज्ञानियों को तू आसुर निष्ठा वाले (आसुरी सम्पत्ति वाले) समझ।।5-6।। आहार भी सबको तीन प्रकार का प्रिय होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं अर्थात् शास्त्रीय कर्मों में भी गुणों को लेकर तीन प्रकार की रुचि होती है। तू उनके इस भेद को सुन।।7।। आयु, सत्त्वगुण, बल, आरोग्य, सुख और प्रसन्नता

बढ़ाने वाले, स्थिर रहने वाले, हृदय को शक्ति देने वाले, रसयुक्त तथा चिकने—ऐसे आहार अर्थात् भोजन के पदार्थ सात्त्विक मनुष्य को प्रिय होते हैं।।8।। अति कड़वे, अति खट्टे, अति नमकीन, अति गरम, अति तीखे, अति रूखे और अति दाहकारक आहार अर्थात् भोजन के पदार्थ राजस मनुष्य को प्रिय होते हैं, जो कि दुःख, शोक और रोगों को देने वाले हैं।।9।। जो भोजन सड़ा हुआ, रस रहित, दुर्गन्धित, बासी और जूठा है तथा जो महान् अपवित्र (मांस आदि) भी है, वह तामस मनुष्य को प्रिय होता है।।10।।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ 11।।
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ 12।।
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ 13।।
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ 14।।
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ 15।।
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥ 16।।
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ 17।।
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ 18।।
मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत् तामसमुदाहृतम्॥ 19।।
दातव्यमिति यद् दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद् दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ 20।।

यज्ञ करना ही कर्त्तव्य है—इस तरह मन को समाधान (सन्तुष्ट) करके फलेच्छा रहित मनुष्यों द्वारा जो शास्त्र विधि से नियत यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक है।।11।। परन्तु हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! जो फल की इच्छा को लेकर ही किया जाता है अथवा दम्भ (दिखावटीपन) के लिए भी किया जाता है, उस यज्ञ को तुम राजस समझो।।12।। शास्त्र विधि से हीन, अन्न दान से रहित, बिना मन्त्रों के, बिना दक्षिणा के और बिना श्राद्ध के किए जाने वाले यज्ञ को तामस कहते हैं।।13।। देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और जीवन्मुक्त महापुरुष का यथायोग्य पूजन करना, शुद्धि रखना, सरलता, ब्रह्मचर्य का पालन करना और हिंसा न करना—यह शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है।।14।। जो किसी को भी उद्विग्न न करने वाला, सत्य और प्रिय तथा हितकारक भाषण है, वह तथा स्वाध्याय

और अभ्यास (नामजप आदि) भी वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है।।15।। मन की प्रसन्नता, सौम्य भाव, मननशीलता, मन का निग्रह और भावों की भलीभाँति शुद्धि—इस तरह यह मन सम्बन्धी तप कहा जाता है।।16।। परम श्रद्धा से युक्त फलेच्छा रहित मनुष्यों के द्वारा (जो) तीन प्रकार (शरीर, वाणी और मन) का तप किया जाता है, उसको सात्त्विक कहते हैं।।17।। जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए तथा दिखाने के भाव से भी किया जाता है, वह इस लोक में अनिश्चित और नाशवान् फल देने वाला तप राजस कहा गया है।।18।। जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से अपने को पीड़ा देकर अथवा दूसरों को कष्ट देने के लिए किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।।19।। दान देना कर्त्तव्य है—ऐसे भाव से जो दान देश तथा काल और पात्र के प्राप्त होने पर अनुपकारी को अर्थात् निष्काम भाव से दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।।20।।

यत् तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद् दानं राजसं स्मृतम्॥ 21।।
अदेशकाले यद् दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत् तामसमुदाहृतम्॥ 22।।
ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुराः॥ 23।।
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ 24।।
तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ 25।।
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥ 26।।
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥ 27।।
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥ 28।।

किन्तु जो दान क्लेशपूर्वक और प्रत्युपकार के लिए अथवा फल प्राप्ति का उद्देश्य बनाकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा जाता है।।21।। जो दान बिना सत्कार के तथा अवज्ञापूर्वक अयोग्य देश और काल में कुपात्र को दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है।।22।। ॐ, तत्, सत्—इन तीन प्रकार के नामों से जिस परमात्मा का निर्देश (संकेत) किया गया है, उसी परमात्मा से सृष्टि के आदि में वेदों तथा ब्राह्मणों और यज्ञों की रचना हुई है।।23।। इसलिए वैदिक सिद्धान्तों को मानने वाले पुरुषों की शास्त्र विधि से नियत यज्ञ, दान और तप रूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्मा के नाम का उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं।।24।। 'तत्' नाम से कहे जाने वाले परमात्मा के लिए ही सब कुछ है—ऐसा मानकर मुक्ति चाहने वाले मनुष्यों द्वारा फल की इच्छा

से रहित होकर अनेक प्रकार की यज्ञ और तप रूप क्रियाएँ तथा दान रूप क्रियाएँ की जाती हैं।।25।। हे पार्थ! 'सत्' ऐसा यह परमात्मा का नाम सत्ता मात्र में और श्रेष्ठ भाव में प्रयोग किया जाता है तथा प्रशंसनीय कर्म के साथ 'सत्' शब्द जोड़ा जाता है।।26।। यज्ञ तथा तप और दान रूप क्रिया में जो स्थिति (निष्ठा) है, वह भी 'सत्'—ऐसे कही जाती है और उस परमात्मा के निमित्त किया जाने वाला कर्म भी 'सत्'—ऐसा कहा जाता है।।27।। हे पार्थ! अश्रद्धा से किया हुआ हवन, दिया हुआ दान और तपा हुआ तप तथा और भी जो कुछ किया जाए, वह सब 'असत्'—ऐसा कहा जाता है। उसका फल न तो यहाँ होता है और न मरने के बाद ही होता है अर्थात् उसका कहीं भी सत् फल नहीं होता।।28।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥17॥ भीष्मपर्वणि तु एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ 41 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सतरहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।17।। भीष्मपर्व में इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।41।।

अष्टादशोऽध्यायः

त्याग का, सांख्यसिद्धान्त का, फलसहित वर्ण–धर्म का, उपासनासहित ज्ञाननिष्ठा का, भक्तिसहित निष्काम कर्मयोग का एवं गीता के माहात्म्य का वर्णन

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ 1।।

अर्जुन बोले—हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन! मैं संन्यास और त्याग का तत्त्व अलग–अलग जानना चाहता हूँ।।1।।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ 2।।
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥ 3।।
निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥ 4।।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ 5।।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥ 6।।
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ 7।।
दुःखमित्येव यत् कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ 8।।
कार्यमित्येव यत् कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥ 9।।
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥ 10।।

श्रीभगवान् बोले—कई विद्वान् काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास समझते हैं और कई विद्वान् सम्पूर्ण कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं। कई विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्मों को दोष की तरह छोड़ देना चाहिए और कई विद्वान् ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप रूप कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए।।2-3।। हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! तू संन्यास और त्याग—इन दोनों में से पहले त्याग के विषय में मेरा निश्चय सुन; क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! त्याग तीन प्रकार का कहा गया है।।4।। यज्ञ, दान और तप रूप कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए, प्रत्युत उनको तो करना ही चाहिए; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म मनीषियों को पवित्र करने वाले हैं।।5।। हे पार्थ! इन (यज्ञ, दान और तप रूप) कर्मों को तथा दूसरे भी कर्मों को आसक्ति और फलों की इच्छा का त्याग करके करना चाहिए—यह मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है।।6।। नियत कर्म का तो त्याग करना उचित नहीं है। उसका मोहपूर्वक त्याग करना तामस कहा गया है।।7।। जो कुछ कर्म है, वह दुःख रूप ही है—ऐसा समझकर कोई शारीरिक परिश्रम के भय से उसका त्याग कर दे तो वह राजस त्याग करके भी त्याग के फल को नहीं पाता।।8।। हे अर्जुन! 'केवल कर्त्तव्य मात्र करना है'—ऐसा समझ कर जो नियत कर्म आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करके किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है।।9।। जो अकुशल कर्म से द्वेष नहीं करता और कुशल कर्म में आसक्त नहीं होता, वह त्यागी, बुद्धिमान्, सन्देह रहित और अपने स्वरूप में स्थित है।।10।।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ 11।।
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्॥ 12।।
पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥ 13।।
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ 14।।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ 15।।
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ 16।।
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ 17।।
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः॥ 18।।
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥ 19।।
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ 20।।

कारण कि देहधारी मनुष्य के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करना सम्भव नहीं है। इसलिए जो कर्म फल का त्यागी है, वही त्यागी है—ऐसा कहा जाता है।।11।। कर्म फल का त्याग न करने वाले मनुष्यों को कर्मों का इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित—ऐसे तीन प्रकार का फल मरने के बाद भी होता है; परन्तु कर्म फल का त्याग करने वालों को कहीं भी नहीं होता।।12।। हे महाबाहो! कर्मों का अन्त करने वाले सांख्य सिद्धान्त में सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिए ये पाँच कारण बताये गये हैं, इनको तू मुझसे समझ।।13।। इसमें (कर्मों की सिद्धि में) अधिष्ठान तथा कर्त्ता और अनेक प्रकार के कारण एवं विविध प्रकार की अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ कारण दैव (संस्कार) है।।14।। मनुष्य शरीर, वाणी और मन के द्वारा शास्त्र विहित अथवा शास्त्र विरुद्ध जो कुछ भी कर्म आरम्भ करता है, उसके ये (पूर्वोक्त) पाँचों हेतु होते हैं।।15।। परन्तु ऐसे पाँच हेतुओं के होने पर भी जो उस (कर्मों के) विषय में केवल (शुद्ध) आत्मा को कर्त्ता देखता है, वह दुष्ट बुद्धि वाला ठीक नहीं देखता; क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है अर्थात् उसने विवेक को महत्त्व नहीं दिया है।।16।। जिसका अहङ्कृत भाव ('मैं कर्त्ता हूँ'—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह (युद्ध में) इन सम्पूर्ण प्राणियों को मारकर भी न मारता है और न बन्धता है।।17।। ज्ञान, ज्ञेय तथा करण, कर्म और कर्ता—इन तीनों से कर्म संग्रह होता है।।18।। गुणों का विवेचन करने वाले शास्त्र में गुणों के भेद से ज्ञान और कर्म तथा कर्त्ता तीन-तीन प्रकार से ही कहे जाते हैं, उनको भी तुम यथार्थ रूप से सुनो।।19।। जिस ज्ञान के द्वारा साधक सम्पूर्ण विभक्त प्राणियों में विभाग रहित एक अविनाशी भाव (सत्ता) को देखता है, उस ज्ञान को तुम सात्त्विक समझो।।20।।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥ 21।।
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।

अतत्त्वार्थवदल्पं च तत् तामसमुदाहृतम्॥ 22।।
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते॥ 23।।
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद् राजसमुदाहृतम्॥ 24।।
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत् तत् तामसमुच्यते॥ 25।।
मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्धयोर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥ 26।।
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥ 27।।
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥ 28।।
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥ 29।।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ 30।।

परन्तु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों में अलग-अलग रूप से अनेक भावों को अलग-अलग जानता है, उस ज्ञान को तुम राजस समझो।।21।। किन्तु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य एक कार्य रूप शरीर में ही सम्पूर्ण की तरह आसक्त रहता है तथा जो युक्ति रहित, वास्तविक ज्ञान से रहित और तुच्छ है, वह तामस कहा गया है।।22।। जो कर्म शास्त्र विधि से नियत किया हुआ और कर्तृत्वाभिमान से रहित हो तथा फलेच्छा रहित मनुष्य के द्वारा बिना राग-द्वेष के किया हुआ हो, वह सात्त्विक कहा जाता है।।23।। परन्तु जो कर्म भोगों की इच्छा से अथवा अहङ्कार से और परिश्रमपूर्वक किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है।।24।। जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न देखकर मोहपूर्वक आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है।।25।। जो कर्त्ता राग रहित, कृर्तत्वाभिमान से रहित, धैर्य और उत्साह युक्त तथा सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार है, वह सात्त्विक कहा जाता है।।26।। जो कर्त्ता रागी, कर्म फल की इच्छा वाला, लोभी, हिंसा के स्वभाव वाला, अशुद्ध और हर्ष-शोक से युक्त है, वह राजस कहा गया है।।27।। जो कर्त्ता असावधान, अशिक्षित, ऐंठ-अकड़ वाला, जिद्दी, उपकार का अपकार करने वाला, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री है, वह तामस कहा जाता है।।28।। हे धनञ्जय! अब तू गुणों के अनुसार बुद्धि और धृति के भी तीन प्रकार के भेद अलग-अलग रूप से सुन, जो कि मेरे द्वारा पूर्ण रूप से कहे जा रहे हैं।।29।। हे पृथानन्दन! जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति को, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को, भय और अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है।।30।।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥ 31।।
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ 32।।
धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ 33।।
यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ 34।।
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥ 35।।
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥ 36।।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत् सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥ 37।।
विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥ 38।।
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत् तामसमुदाहृतम्॥ 39।।
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥ 40।।

हे पार्थ! मनुष्य जिसके द्वारा धर्म और अधर्म को तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को भी ठीक तरह से नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है।।31।। हे पृथानन्दन! तमोगुण से घिरी हुई जो बुद्धि अधर्म का धर्म—ऐसा मान लेती है और सम्पूर्ण चीजों को उलटा मान लेती है, वह तामसी है।।32।। हे पार्थ! समता से युक्त जिस अव्यभिचारिणी धृति के द्वारा मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है अर्थात् संयम रखता है, वह धृति सात्त्विकी है।।33।। हे पृथानन्दन अर्जुन! फल की इच्छा वाला मनुष्य जिस धृति के द्वारा धर्म, काम (भोग) और धन को अत्यन्त आसक्तिपूर्वक धारण करता है, वह धृति राजसी है।।34।। हे पार्थ! दुष्ट बुद्धि वाला मनुष्य जिस धृति के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और घमण्ड को भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किए रहता है, वह धृति तामसी है।।35।। हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! अब तीन प्रकार के सुख को भी तुम मुझसे सुनो। जिसमें अभ्यास से रमण होता है और जिससे दुःखों का अन्त हो जाता है, ऐसा वह परमात्म विषयक बुद्धि की प्रसन्नता से पैदा होने वाला जो सुख (सांसारिक आसक्ति के कारण) आरम्भ में विष की तरह और परिणाम में अमृत की तरह होता है, वह सुख सात्त्विक कहा गया है।।36-37।। जो सुख इन्द्रियों और विषयों के संयोग से होता है, वह आरम्भ में अमृत की तरह और परिणाम में विष की तरह प्रतीत होता है; अतः वह सुख राजस कहा गया है।।38।। निद्रा, आलस्य और प्रमाद से

उत्पन्न होने वाला जो सुख आरम्भ में और परिणाम में भी अपने को मोहित करने वाला है, वह सुख तामस कहा गया है।।39।। पृथ्वी में या स्वर्ग में अथवा देवताओं में तथा इनके सिवाय और कहीं भी वह (ऐसी कोई) वस्तु नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीन गुणों से रहित हो।।40।।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ 41।।
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ 42।।
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ 43।।
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ 44।।
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ 45।।
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ 46।।
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ 47।।
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ 48।।
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥ 49।।
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥ 50।।

हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न हुए तीनों गुणों के द्वारा विभक्त किए गए हैं।।41।। मन का निग्रह करना; इन्द्रियों को वश में करना; धर्म पालन के लिए कष्ट सहना; बाहर भीतर से शुद्ध रहना; दूसरों के अपराध को क्षमा करना; शरीर, मन आदि में सरलता रखना; वेद, शास्त्र आदि का ज्ञान होना; यज्ञविधि को अनुभव में लाना और परमात्मा, वेद आदि में आस्तिक भाव रखना—ये सब-के-सब ही ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।।42।। शूरवीरता, तेज, धैर्य, प्रजा के संचालन आदि की विशेष चतुरता तथा युद्ध में कभी पीठ न दिखाना, दान करना और शासन करने का भाव—ये सब-के-सब क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।।43।। खेती करना, गायों की रक्षा करना और व्यापार करना—ये सब-के-सब वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा चारों वर्णों की सेवा करना शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है।।44।। अपने-अपने कर्म में प्रीतिपूर्वक लगा हुआ मनुष्य सम्यक् सिद्धि (परमात्मा) को प्राप्त कर लेता

है। अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार सिद्धि को प्राप्त होता है, उस प्रकार को तू मुझसे सुन।।45।। जिस परमात्मा से सम्पूर्ण प्राणियों की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) होती है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्मा को अपने कर्म के द्वारा पूजन करके मनुष्य मात्र सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।।46।। अच्छी तरह अनुष्ठान किए हुए परधर्म से गुण रहित स्ववर्ण धर्म श्रेष्ठ है। कारण कि स्वभाव से नियत किए हुए स्वधर्मरूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता।।47।। हे कुन्तीनन्दन! दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए; क्योंकि सम्पूर्ण कर्म धुएँ से अग्नि की तरह (किसी-न-किसी) दोष से युक्त हैं।।48।। जिसकी बुद्धि सब जगह आसक्ति रहित है, जिसने शरीर को वश में कर रखा है, जो स्पृहा रहित है, वह मनुष्य सांख्ययोग के द्वारा सर्वश्रेष्ठ नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।।49।। हो कौन्तेय! सिद्धि (अन्तःकरण की शुद्धि) को प्राप्त हुआ साधक ब्रह्म को, जो कि ज्ञान की परा निष्ठा है, जिस प्रकार से प्राप्त होता है, उस प्रकार को तुम मुझसे संक्षेप में ही समझो।।50।।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥ 51।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥ 52।।
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ 53।।
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥ 54।।
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ 55।।
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥ 56।।
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ 57।।
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।
अथ चेत् त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥ 58।।
यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ 59।।
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥ 60।।

जो विशुद्ध (सात्त्विकी) बुद्धि से युक्त, वैराग्य के आश्रित, एकान्त का सेवन करने वाला और नियमित भोजन करने वाला साधक धैर्यपूर्वक इन्द्रियों को नियमन करके, शरीर-वाणी-मन को वश में करके, शब्दादि विषयों का त्याग करके और राग-द्वेष को छोड़कर निरन्तर

ध्यानयोग के परायण हो जाता है, वह अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह से रहित होकर एवं ममतारहित तथा शान्त होकर ब्रह्म प्राप्ति का पात्र हो जाता है।।51-53।। वह ब्रह्म रूप बना हुआ प्रसन्न मन वाला साधक न तो (किसी के लिए) शोक करता है और न (किसी की) इच्छा ही करता है। ऐसा सम्पूर्ण प्राणियों में समभाव वाला साधक मेरी पराभक्ति को प्राप्त हो जाता है।।54।। उस पराभक्ति से मुझे, मैं जितना हूँ और जो हूँ—इसको तत्त्व से जान लेता है, फिर मुझे तत्त्व से जानकर तत्काल मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।।55।। मेरा आश्रय लेने वाला भक्त सदा सब कर्म करता हुआ भी मेरी कृपा से शाश्वत अविनाशी पद को प्राप्त हो जाता है।।56।। चित्त से सम्पूर्ण कर्म मुझमें अर्पण करके मेरे परायण होकर तथा समता का आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें चित्त वाला हो जा।।57।। मुझमें चित्त वाला होकर तू मेरी कृपा से सम्पूर्ण विघ्नों को तर जाएगा और यदि तू अहङ्कार के कारण मेरी बात नहीं सुनेगा, तो तेरा पतन होकर नष्ट हो जाएगा।।58।। अहङ्कार का आश्रय लेकर तू जो ऐसा मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तेरा यह निश्चय मिथ्या (झूठा) है; क्योंकि तेरी क्षात्र प्रकृति तुझे युद्ध में लगा देगी।।59।। हे कुन्तीनन्दन! अपने स्वभावजन्य कर्म से बँधा हुआ तू मोह के कारण जिस युद्ध को नहीं करना चाहता, उसको भी तू (क्षात्र प्रकृति के) परवश होकर करेगा।।60।।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ 61।।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ 62।।
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥ 63।।
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥ 64।।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ 65।।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ 66।।
इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ 67।।
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ 68।।
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥ 69।।
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥ 70।।
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।

सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम्॥ 71।।
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥ 72।।

हे अर्जुन! ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में रहता है और अपनी माया से शरीर रूपी यन्त्र पर आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को (उनके स्वभाव के अनुसार) भ्रमण कराता रहता है।।61।। हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! तू सर्वभाव से उस ईश्वर की ही शरण में चला जा। उसकी कृपा से तू परम शान्ति (संसार से सर्वथा उपरति) को और अविनाशी परमपद को प्राप्त हो जाएगा।।62।। यह गुह्य से गुह्यतर (शरणागति रूप) ज्ञान मैंने तुझे कह दिया। अब तू इस पर अच्छी तरह से विचार करके जैसा चाहता है, वैसा कर।।63।। सबसे अत्यन्त गोपनीय सर्वोत्कृष्ट वचन तू फिर मुझसे सुन। तू मेरा अत्यन्त प्रिय मित्र है, इसलिए यह (विशेष) हित की बात मैं तुझे कहूँगा।।64।। तू मेरा भक्त हो जा, मुझमें मन वाला हो जा, मेरा पूजन करने वाला हो जा और मुझे नमस्कार कर। ऐसा करने से तू मुझे ही प्राप्त हो जाएगा—यह मैं तेरे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।।65।। सम्पूर्ण धर्मों का आश्रय छोड़कर तू केवल मेरी शरण में आ-जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर।।66।। यह सर्वगुह्यतम वचन तुझे अतपस्वी को नहीं कहना चाहिए; अभक्त को नहीं कहना चाहिए तथा जो सुनना नहीं चाहता, उसको नहीं कहना चाहिए और जो मुझमें दोषदृष्टि करता है, उसको भी नहीं कहना चाहिए।।67।। मुझमें पराभक्ति करके जो इस परम गोपनीय संवाद (गीताग्रन्थ) को मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझे ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है।।68।। उसके समान मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई भी नहीं है और इस भूमण्डल पर उसके समान मेरा दूसरा कोई प्रियतर होगा भी नहीं।।69।। जो मनुष्य हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययन करेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है।।70।। श्रद्धावान् और दोषदृष्टि से रहित मनुष्य (इस गीता ग्रन्थ को) सुन भी लेगा, वह भी शरीर छूटने पर पुण्यकारियों के शुभ लोकों को प्राप्त हो जाएगा।।71।। हे पृथानन्दन! क्या तुमने एकाग्र चित्त से इसको सुना? और हे धनञ्जय! क्या तुम्हारा अज्ञान से उत्पन्न मोह नष्ट हुआ?।।72।।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ 73।।

अर्जुन बोले—हे अच्युत! आपकी कृपा से मरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। मैं सन्देह रहित होकर स्थित हूँ। अब मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।।73।।

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रोषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ 74।।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम्॥ 75।।
राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥ 76।।
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥ 77।।
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ 78।।

सञ्जय बोले—इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा पृथानन्दन अर्जुन का यह रोमाञ्चित करने वाला अद्भुत संवाद सुना।।74।। व्यासजी की कृपा से मैंने स्वयं इस परम गोपनीय योग (गीता ग्रन्थ) को कहते हुए साक्षात् योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से सुना है।।75।। हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस पवित्र और अद्भुत संवाद को याद करके होने वाले पुण्य से बार-बार हर्षित हो रहा हूँ।।76।। हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण के उस अत्यन्त अद्भुत स्वरूप को याद कर कर के मुझे बड़ा भारी विस्मय हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ।।77।। जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन हैं, वहाँ ही श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है।।78।।

इति श्रीमहाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतापर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्न्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥18॥ भीष्मपर्वणि तु द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ 42 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत भीष्मपर्व के श्रीमद्भगवद्गीतापर्व के अन्तर्गत ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्ररूप श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्, श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।18।। भीष्मपर्व में बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।42।।

भगवद्गीता सम्पूर्णा

विदुरगीता

प्रथमोऽध्याय:

राजा धृतराष्ट्र को समझाकर उनको शोक का त्याग करने के लिये कहना

वैशम्पायन उवाच

ततोऽमृतसमैर्वाक्यैर्ह्लादयन् पुरुषर्षमम्।
वैचित्रवीर्यं विदुरो यदुवाच निबोध तत्।।1।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर विदुरजीने पुरुषप्रवर धृतराष्ट्र को अपने अमृतसमान मधुर वचनों द्वारा आह्लाद प्रदान करते हुए वहाँ जो कुछ कहा, उसे सुनो।।1।।

विदुर उवाच

उत्तिष्ठ राजन् किं शेषे धारयात्मानमात्मना।
एषा वै सर्वसत्त्वानां लोकेश्वर परा गति:।।2।।
सर्वे क्षयान्ता निचया: पतनान्ता: समुच्छ्रया:।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्।।3।।
यदा शूंर च भीरुं च यम: कर्षति भारत।
तत् किं न योत्स्यन्ति हि ते क्षत्रिया: क्षत्रियर्षभ:।।4।।
अयुध्यमानो म्रियते युध्यमानश्च जीवति।
कालं प्राप्य महाराज न कश्चिदतिवर्तते।।5।।
अभावादीनि मृतानि भावमध्यानि भारत।
अभावनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।6।।
न शोचन् भृतमन्वेति न शोचन् म्रियते नर:।
एवं ससांसिद्धिके लोके किमर्थमनुशोचसि।।7।।
काल: कर्षति भूतानि सर्वाणि विविधान्युत।
न कालस्य प्रिय: कश्चिन्न द्वेष्य: कुरुसत्तम।।8।।
यथा वायुस्तृणाग्राणि संवर्तयति सर्वश:।
तथा कालवशं यान्ति भूतानि भरतर्षभ।।9।।
एकसार्थप्रयातानां सर्वेषां तत्र गामिनाम्।
यस्य काल: प्रयात्यग्रे तत्र का परिदेवना।।10।।

विदुरजी बोले—राजन्! आप धरती पर क्यों पड़े हैं। उठकर बैठ जाइये और बुद्धि के द्वारा अपने मन को स्थिर कीजिये। लोकेश्वर! समस्त प्राणियों की यही अन्तिम गति है।।2।। सारे संग्रहों का अन्त उनके क्षय में ही है। भौतिक उन्नतियों का अन्त पतन

में ही है। सारे संयोगों का अन्त वियोग में ही है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जीवन का अन्त मृत्यु में ही होने वाला है।।3।। भरतनन्दन! क्षत्रियाशिरोमणे! जब शूरवीर और डरपोक दोनों को ही यमराज खींच ले जाते हैं, तब वे क्षत्रिय-लोग युद्ध क्यों न करते!।।4।। महाराज! जो युद्ध नहीं करता, वह भी मर जाता है और जो संग्राम में जूझता है, वह भी जीवित बच जाता है। काल को पाकर कोई भी उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता।।5।। जितने प्राणी हैं, वे जन्म से पहले यहाँ व्यक्त नहीं थे। वे बीच में ही व्यक्त होकर दिखायी देते हैं और अन्त में पुन: उनका अभाव (अव्यक्तरूप से अवस्थान) हो जायगा। ऐसी अवस्था में उनके लिये रोने-धोने की क्या आवश्यकता है?।।6।। शोक करने वाला मनुष्य न तो मरने वाले के साथ जा सकता है और न मर ही सकता है। जब लोक की ऐसी ही स्वाभाविक स्थिति है, तब आप किस लिये शोक कर रहे हैं?।।7।। कुरुश्रेष्ठ! काल नाना प्रकार के समस्त प्राणियों को खींच लेता है। काल को न तो कोई प्रिय है और न उसके द्वेष का ही पात्र है।।8।। भरतश्रेष्ठ! जैसे हवा तिनकों को सब ओर उड़ाती और डालती रहती है, उसी प्रकार समस्त प्राणी काल के अधीन होकर आते-जाते हैं।।9।। जो एक साथ संसार की यात्रा में आये हैं, उन सबको एक दिन वहाँ (परलोक में) जाना है। उनमें से जिसका काल पहले उपस्थित हो गया, वह आगे चला जाता है। ऐसी दशा में किसी के लिये शोक क्यों करना है?।।10।।

न चाप्येतान् हतान् युद्धे राजञ्शोचितुमर्हसि।
प्रमाणं यदि शास्त्राणि गतास्ते परमां गतिम्।।11।।
सर्वे स्वाध्यायवन्तो हि सर्वे च चरितव्रता:।
सर्वे चाभिमुखा: क्षीणास्तत्र का परिदेवना।।12।।
अदर्शनादापतिता: पुनश्चादर्शनं गता:।
नैते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना।।13।।
हतोऽपि लभते स्वर्गं हत्वा च लभते यश:।
उभयं नो बहुगुणं नास्ति निष्फलता रणे।।14।।
तेषां कामदुधाल्ँलोकानिन्द्र: संकल्पयिष्यति।
इन्द्रस्यातिथयो ह्येते भवन्ति भरतर्षभ।।15।।
न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिर्न तपोभिर्न विद्यया।
स्वर्गं यान्ति तथा मर्त्या यथा शूरा रणे हता:।।16।।
शरीराग्निषु शूराणां जुहुबुस्ते शराहुती:।
हूयमानाञ्शरांश्चैव सेहुस्तेजस्विनो मिथ:।।17।।
एवं राजंस्तवाचक्षे स्वर्ग्यं पन्थानमुत्तमम्।
न युद्धादधिकं किञ्चित् क्षत्रियस्येह विद्यते।।18।।
क्षत्रियास्ते महात्मान: शूरा: समितिशोभना:।
आशिष: परमा: प्राप्ता न शोच्या: सर्व एव हि।।19।।
आत्मानमात्मनाऽऽश्वास्य माशुच: पुरुषर्षभ।
नाद्य शोकाभिभूतस्त्वं कायमुत्स्रष्टुमर्हसि।।20।।

राजन्! युद्ध में मारे गये इन वीरों के लिये तो आपको शोक करना ही नहीं चाहिये। यदि आप शास्त्रों का प्रमाण मानते हैं तो वे निश्चय ही परम गति को प्राप्त हुए हैं।।11।। वे सभी वीर वेदों का स्वाध्याय करने वाले थे। सबने ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया था तथा वे सभी युद्ध में शत्रुका सामना करते हुए वीर गतिको प्राप्त हुए हैं, अत: उनके लिये शोक करने की क्या बात है?।।12।। वे अदृश्य जगत् से आये थे और पुन: अदृश्य जगत् में ही चले गये हैं। ये न तो आपके थे और न आप ही इनके हैं। फिर यहाँ शोक करने का क्या कारण है?।।13।। युद्ध में जो मारा जाता है, वह स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता हैं और जो शत्रु को मारता है, उसे यश की प्राप्ति होती है। ये दोनों ही अवस्थाएँ हम लोगों के लिये बहुत लाभदायक हैं। युद्ध में निष्फलता तो है ही नहीं।।14।। भरतश्रेष्ठ! इन्द्र इन वीरों के लिये इच्छानुसार भोग प्रदान करने वाले लोगों की व्यवस्था करेंगे। वे सब-के-सब इन्द्र के अतिथि होंगे।।15।। युद्ध में मारे गये शूरवीर जितनी सुगमता से स्वर्ग लोक में जाते हैं, उतनी सुविधा से मनुष्य प्रचुर दक्षिणा वाले यज्ञ, तपस्या और विद्याद्वारा भी नहीं जा सकते।।16।। शूरवीरों के शरीर रूपी अग्नियों में उन्होंने बाणों की आहुतियाँ दी हैं और उन तेजस्वी वीरों ने एक दूसरे की शरीराग्नियों में होम किये जाने वाले बाणों को सहन किया है।।17।। राजन्! इसलिये मैं आपसे कहता हूँ कि क्षत्रिय के लिये इस जगत् में धर्मयुद्ध से बढ़कर दूसरा कोई स्वर्ग-प्राप्ति का उत्तम मार्ग नहीं है।।18।। वे महामनस्वी वीर क्षत्रिय युद्ध में शोभा पाने वाले थे, अत: उन्होंने अपनी कामनाओं के अनुरूप उत्तम लोक प्राप्त किये हैं। उन सबके लिये शोक करना तो किसी प्रकार उचित ही नहीं है।।19।। पुरुषप्रवर! आप स्वयं ही अपने मन को सान्त्वना देकर शोक का परित्याग कीजिये। आज शोक से व्याकुल होकर आपको अपने शरीर का त्याग नहीं करना चाहिये।।20।।

मातापितृसहस्त्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम्।।21।।
शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्।।22।।
न कालस्य प्रिय: कश्चिन्न द्वेष्य: कुरुसत्तम।
न मध्यस्थ: क्वचित्काल: सर्वं काल: प्रकर्षति।।23।।
काल: पचति भूतानि काल: संहरते प्रजा:।
काल: सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रम:।।24।।
अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचय:।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृद्ध्येदेषु न पण्डित:।।25।।
न जानपदिकं दु:खमेक: शोचितुमर्हसि।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते।।26।।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येत् पराक्रमम्।।
भैषज्यमेतद् दु:खस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत।।।27।।

चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते।
अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च।।28।।
मानुषा मानसैर्दु:खैर्दह्यन्ते चाल्पबुद्धय:।
नार्थो न धर्मो न सुखं यदेतदनुशोचसि।।29।।
न च नापैति कार्यार्थात्त्रिवर्गाच्चैव हीयते।
अन्यामन्यां धनावस्थां प्राप्य वैशेषिकीं नरा:।।30।।
असंतुष्टा: प्रमुह्यन्ति संतोषं यान्ति पण्डिता:।

हम लोगों ने बारम्बार संसार में जन्म लेकर सहस्रों माता-पिता तथा सैकड़ों स्त्री-पुत्रों के सुखका अनुभव किया है; परन्तु आज वे किसके हैं अथवा हम उनमें से किसके हैं?।।21।। शोक के हजारों स्थान हैं ओर भय के भी सैकड़ों स्थान हैं। वे प्रतिदिन मूढ़ मनुष्य पर ही अपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान् पुरुष पर नहीं।।22।। कुरुश्रेष्ठ! काल का न किसी से प्रेम है और न किसी से द्वेष, उसका कहीं उदासीन भाव भी नहीं है। काल सभी को अपने पास खींच लेता है।।23।। काल ही प्राणियों को पकाता है, काल ही प्रजाओं का संहार करता है और काल ही सबके सो जाने पर भी जागता रहता है। काल का उल्लङ्घन करना बहुत ही कठिन है।।24।। रूप, जवानी, जीवन, धनका संग्रह, आरोग्य तथा प्रिय जनों का एक साथ निवास-ये सभी अनित्य हैं, अत: विद्वान् पुरुष इनमें कभी आसक्त न हो।।25।। जो दु:ख सारे देश पर पडा है, उसके लिये अकेले आपको ही शोक करना उचित नहीं है। शोक करते-करते कोई मर जाय तो भी उसका वह शोक दूर नहीं होता है।।26।। यदि अपने में पराक्रम देखे तो शोक न करते हुए शोक के कारण का निवारण करने की चेष्टा करे। दु:ख को दूर करने के लिये सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका चिन्तन छोड़ दिया जाय, चिन्तन करने से दु:ख कम नहीं होता बल्कि और भी बढ़ जाता है।।27।। मन्दबुद्धि मनुष्य ही अप्रिय वस्तु का संयोग और प्रिय वस्तु का वियोग होने पर मानसिक दु:खों से दग्ध होने लगते हैं।।28।। जो आप यह शोक कर रहे हैं, यह न अर्थका साधक है, न धर्म का और न सुख का ही। इसके द्वारा मनुष्य अपने कर्त्तव्य पथ से तो भ्रष्ट होता ही है, धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्ग से भी वञ्चित हो जाता है।।29।। धनकी भिन्न-भिन्न अवस्था विशेष को पाकर असंतोषी मनुष्य तो मोहित हो जाते हैं; परन्तु विद्वान् पुरुष सदा संतुष्ट ही रहते हैं।।30।।

प्रज्ञया मानसं दु:खं हन्याच्छारीरमौषधै:।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालै: समतामियात्।।31।।
शयानं चानुशेते हि तिष्ठन्तं चानुतिष्ठति।
अनुधावति धावन्तं कर्म पूर्वकृतं नरम्।।32।।
यस्यां यस्यामवस्थायां यत् करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं समुपाश्नुते।।33।।
येन येन शरीरेण यद्यत् कर्म करोति य:।
तेन तेन शरीरेण तत्फलं समुपाश्नुते।।34।।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन:।
आत्मैव ह्यात्मन: साक्षी कृतस्यापकृतस्य च।।35।।
शुभेन कर्मणा सौख्यं दु:खं पापेन कर्मणा।
कृतं भवति सर्वत्र नाकृतं विद्यते क्वचित्।।36।।
न हि ज्ञानविरुद्धेषु बह्वपायेषु कर्मसु।
मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधा:।।37।।

मनुष्य को चाहिये कि वह मानसिक दु:ख को बुद्धि एवं विचार धारा और शारीरिक कष्ट को ओषधियों द्वारा दूर करे, यही विज्ञान की शक्ति है। उसे बालकों के समान अविवेकपूर्ण बर्ताव नहीं करना चाहिये।।31।। मनुष्य का पूर्वकृत कर्म उसके सोने पर साथ ही सोता है, उठने पर साथ ही उठता है और दौड़ने पर भी साथ-ही-साथ दौड़ता है।।32।। मनुष्य जिस-जिस अवस्था में जो-जो शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसी-उसी अवस्था में उसका फल भी पा लेता है।।33।। जो जिस-जिस शरीर से जो-जो कर्म करता है, दूसरे जन्म से वह उसी-उसी शरीर से उसका फल भोगता है।।34।। मनुष्य आप ही अपना बन्धु है, आप ही अपना शत्रु है और आप ही अपने शुभ या अशुभ कर्म का साक्षी है।।35।। शुभ कर्म से सुख मिलता है और पाप कर्म से दु:ख, सर्वत्र किये हुए कर्म का ही फल प्राप्त होता है, कहीं भी बिना किये का नहीं।।36।। आज जैसे बुद्धिमान् पुरुष अनेक विनाशकारी दोषों से युक्त तथा मूलभूत शरीर का भी नाश करने वाले बुद्धि विरुद्ध कर्मों में नहीं आसक्त होते हैं।।37।।

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि विदुरगीतायां धृतराष्ट्रविशोककरणे प्रथमोऽध्याय:।।1।।

।। इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्व के अन्तर्गत जलप्रदानिक पर्व में विदुरगीता में धृतराष्ट्र के शोक का निवारणविषयक प्रथम अध्याय पूरा हुआ।।1।।

द्वितीयोऽध्याय:

शरीर की अनित्यता बताते हुए धृतराष्ट्र को शोक त्यागने के लिये कहना

धृतराष्ट्र उवाच

सुभाषितैर्महाप्राज्ञ शोकोऽयं त्रिगतो मम।
भूय एवं तु वाक्यानि श्रोतुमिच्छामि तत्त्वत:।।1।।
अनिष्टानां च संसर्गादिष्टानां च विसर्जनात्।
कथं हि मानसैर्दु:खै: प्रमुच्यन्ते तु पण्डिता:।।2।।

धृतराष्ट्र बोले—परम बुद्धिमान् विदुर! तुम्हारा उत्तम भाषण सुनकर मेरा यह शोक दूर हो गया, तथापि तुम्हारे इन तात्त्विक वचनों को मैं अभी और सुनना चाहता हूँ।।1।। विद्वान् पुरुष अनिष्ट के संयोग और इष्ट के वियोग से होने वाले मानसिक दु:खों से किस प्रकार छुटकारा पाते हैं?।।2।।

विदुर उवाच

यतो यतो मनो दुःखात् सुखाद् वा विप्रमुच्यते।
ततस्ततो नियम्यैतच्छान्तिं विन्देत वै बुधः।।3।।
अशाश्वतमिदं सर्वं चिन्त्यमानं नरर्षभ।
कदलीसंनिभा लोकः सारो ह्यस्य न विद्यते।।4।।
यदा प्राज्ञाश्च मूढाश्च धनवन्तोऽथ निर्धनाः।
सर्वे पितृवनं प्राप्य स्वपन्ति विगतज्वराः।।5।।
निर्मांसैरस्थिभूयिष्ठैर्गात्रैः स्नायुनिबन्धनैः।
किं विशेषं प्रपश्यन्ति तत्र तेषां परे जनाः।।6।।
येन प्रत्यवगच्छेयुः कुलरूपविशेषणम्।
कस्मादन्योन्यमिच्छन्ति विप्रलब्धधियो नराः।।7।।
गृहाणीव हि मर्त्यानामाहुर्देहानि पण्डिताः।
कालेन विनियुज्यन्ते सत्त्वमेकं तु शाश्वतम्।।8।।
यथा जीर्णमजीर्णं वा वस्त्रं त्यक्त्वा तु पुरुषः।
अन्यद् रोचयते वस्त्रमेवं देहाः शरीरिणाम्।।9।।
वैचित्रवीर्य प्राप्यं हि दुःखं वा यदि वा सुखम्।
प्राप्नुवन्तीह भूतानि स्वकृतेनैव कर्मणा।।10।।

विदुरजी ने कहा—महाराज! विद्वान् पुरुष को चाहिये कि जिन-जिन साधनों में लगने से मन दुःख अथवा सुख से मुक्त होता हो, उन्हीं में इसे नियमपूर्वक लगाकर शान्ति प्राप्त करे।।3।। नरश्रेष्ठ! विचार करने पर यह सारा जगत् अनित्य ही जान पड़ता है। सम्पूर्ण विश्व केले के समान सारहीन है; इसमें सार कुछ भी नहीं है।।4।। जब विद्वान्-मूर्ख, धनवान और निर्धन सभी श्मशान भूमि में जाकर निश्चिन्त सो जाते हैं, उस समय उनके मांस रहित, नाड़ियों से बँधे हुए तथा अस्थि बहुल अङ्गों को देखकर क्या दूसरे लोग वहाँ उनमें कोई ऐसा अन्तर देख पाते हैं, जिससे वे उनके कुल और रूप की विशेषता को समझ सकें; फिर भी वे मनुष्य एक दूसरे को क्यों चाहते हैं? इसलिये कि उनकी बुद्धि ठगी गयी है।।5-7।। पण्डित लोग मरणधर्मा प्राणियों के शरीरों को घर के तुल्य बतलाते हैं; क्योंकि सारे शरीर समय पर नष्ट हो जाते हैं, किन्तु उसके भीतर जो एक मात्र सत्त्वस्वरूप आत्मा है, वह नित्य है।।8।। जैसे मनुष्य नये अथवा पुराने वस्त्र को उतारकर दूसरे नूतन वस्त्र को पहनने की रुचि रखता है, उसी प्रकार देहधारियों के शरीर उनके द्वारा समय-समय पर त्याग और ग्रहण किये जाते हैं।।9।। विचित्रवीर्यनन्दन! यदि दुःख या सुख प्राप्त होने वाला है तो प्राणी उसे अपने किये हुए कर्म के अनुसार ही पाते हैं।।10।।

कर्मणा प्राप्यते स्वर्गः सुखं दुःखं च भारत।
ततो वहति तं भारमवशः स्ववशोऽपि वा।।11।।
यथा च मृन्मये भाण्डं चक्रारुढं विपद्यते।
किञ्चित् प्रक्रियमाणं वा कृतमात्रमथापि वा।।12।।

छिन्नं वाप्यवरोप्यन्तमवतीर्णमथापि वा।।
आर्द्रं वाप्यथवा शुष्कं पच्यमानमथापि वा।।13।।
उत्तार्यमाणमापाकादुद्धृतं चापि भारत।
अथवा परिभुज्यन्तमेवं देहा: शरीरिणाम्।।14।।
गर्भस्थो वा प्रसूतो वाप्यथ वा दिवसान्तर:।
अर्धमासगतो वापि मासमात्रगतोऽपि वा।।15।।
संवत्सरगतो वापि द्विसंवत्सर एव वा।
यौवनस्थोऽथ मध्यस्थो वृद्धो वापि विपद्यते।।16।।
प्राक्कर्मभिस्तु भूतानि भवन्ति न भवन्ति च।
एवं सांसिद्धिके लोके किमर्थमनुतप्यसे।।17।।
यथा तु सलिलं राजन् क्रीडार्थमनुसंतरत्।
उन्मज्जेच्च निमज्जेच्च किञ्चित् सत्त्वं नराधिप।।18।।
एवं संसारगहने उन्मज्जननिमज्जने।
कर्मभोगेन बध्यन्ते क्लिश्यन्ते चाल्पबुद्धय:।।19।।
ये तु प्राज्ञा: स्थिता: सत्त्वे संसारेऽस्मिन् हितैषिण:।
समागमज्ञा भूतानां ते यान्ति परमां गतिम्।।20।।

भरतनन्दन! कर्म के अनुसार ही परलोक में स्वर्ग या नरक तथा इहलोक में सुख और दु:ख प्राप्त होते हैं; फिर मनुष्य सुख या दु:ख के उस भार को स्वाधीन या पराधीन होकर ढोता रहता है।।11।। जैसे मिट्टी का बर्तन बनाये जाने के समय कभी चाक पर चढ़ाते ही नष्ट जाता है, कभी कुछ-कुछ बनने पर, कभी पूरा बन जाने पर, कभी सूत से काट देने पर, कभी चाक से उतारते समय, कभी उतर जाने पर, कभी गीली या सूखी अवस्था में, कभी पकाये जाते समय, कभी आवाँ से उतारते समय, कभी पाकस्थान से उठकार ले जाते समय अथवा कभी उसे उपयोग में लाते समय फूट जाता है; ऐसी ही दशा देहधारियों के शरीरों की भी होती है।।12-14।। कोई गर्भ में रहते समय, कोई पैदा हो जाने पर, कोई कई दिनों का होने पर, कोई पन्द्रह दिन का, कोई एक मास का तथा कोई एक या दो साल का होने पर, कोई युवावस्था में, कोई मध्यावस्था में अथवा कोई वृद्धावस्था में पहुँचने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।।15-16।। प्राणी पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार ही इस जगत् में रहते और नहीं रहते हैं। जब लोक की ऐसी ही स्वाभाविक स्थिति है, तब आप किसलिये शोक कर रहे हैं?।।17।। राजन! नरेश्वर! जैसे क्रीडा के लिये पानी मैं तैरता हुआ कोई प्राणी कभी डूबता है और कभी ऊपर आ जाता है, इसी प्रकार इस अगाध संसार समुद्र में जीवों का डूबना और उतराना (मरना और जन्म लेना) लगा रहता है, मन्दबुद्धि मनुष्य ही यहाँ कर्मभोग से बँधते और कष्ट पाते हैं।।18-19।। जो बुद्धिमान् मानव इस संसार में सत्त्वगुण से युक्त, सबका हित चाहने वाले और प्राणियों के समागम को कर्मानुसार समझने वाले हैं, वे परम गति को प्राप्त होते हैं।।20।।

इति श्री महाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि विदुरगीतायां धृतराष्ट्रविशोककरणे द्वितीयोऽध्यायः।।2।।

।।इस प्रकार श्री महाभारत स्त्रीपर्व के अन्तर्गत जलप्रदानिक पर्व में विदुरगीता का धृतराष्ट्र के शोक का निवारणविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ।।2।।

तृतीयोऽध्यायः

दुःखमय संसार के गहन स्वरूप का वर्णन और उससे छूटने का उपाय

धृतराष्ट्र उवाच

कथं संसारगहनं विज्ञेयं वदतां वर।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वमाख्याहि पृच्छतः।।1।।

धृतराष्ट्र ने पूछा—वक्ताओं में श्रेष्ठ विदुर! इस गहन संसार के स्वरूप का ज्ञान कैसे हो? यह मैं सुनना चाहता हूँ। मेरे प्रश्न के अनुसार तुम इस विषय का यथार्थ रूप से वर्णन करो।।1।।

विदुर उवाच

जन्मप्रभृति भूतानां क्रिया सर्वोपलक्ष्यते।
पूर्वमेवेह कलिले वसते किञ्चिदन्तरम्।।2।।
ततः स पञ्चमेऽतीते मासे वासमकल्पयत्।
ततः सर्वाङ्गसम्पूर्णो गर्भो वै स तु जायते।।3।।
अमेध्यमध्ये वसति मांसशोणितलेपने।
ततस्तु वायुवेगेन ऊर्ध्वपादो ह्यधःशिराः।।4।।
योनिद्वारमुपागम्य बहून् क्लेशान् समृच्छति।
योनिसम्पीडनाच्चैव पूर्वकर्मभिरन्वितः।।5।।
तस्मान्मुक्तः स संसारादन्यान् पश्यत्युपद्रवान्।
ग्रहास्तमनुगच्छन्ति सारमेया इवामिषम्।।6।।
ततः प्राप्तोत्तरे काले व्याधयश्चापि तं तथा।
उपसर्पन्ति जीवन्तं बध्यमानं स्वकर्मभिः।।7।।
तं बद्धमिन्द्रियैः पाशैः संगस्वादुभिरावृतम्।
व्यसनान्यपि वर्तन्ते विविधानि नराधिप।।8।।
बध्यमानश्च तैर्भूयो नैव तृप्तिमुपैति सः।
तदा नावैति चैवायं प्रकुर्वन् साध्वसाधु वा।।9।।
तथैव परिरक्षन्ति ये ध्यानपरिनिष्ठिताः।
अयं न बुध्यते तावद् यमलोकमथागतम्।।10।।

विदुरजी ने कहा—महाराज! जब गर्भाशय में वीर्य और रजका संयोग होता है तभी से जीवों की गर्भवृद्धि रूप सारी क्रिया शास्त्र के अनुसार देखी जाती हैं।

('एकरात्रोषितं कलिलं भवति पञ्चरात्राद् बुद्बुद:' एक रात में रज और वीर्य मिलकर 'कलिल' रूप होते हैं और पाँच रात में 'बुद्बुद' के आकार में परिणत हो जाते है। इत्यादि शास्त्रवचनों के अनुसार गर्भ के बढ़ने आदि की सारी क्रिया ज्ञात होती है।) आरम्भ में जीव कलिल (वीर्य और रजके संयोग) के रूप में रहता है, फिर कुछ दिन बाद पाँचवाँ महीना बीतने पर वह चैतन्य रूप से प्रकट होकर पिण्ड में निवास करने लगता है। इसके बाद वह गर्भस्थ पिण्ड सर्वाङ्गपूर्ण हो जाता है।।2-3।। इस समय उसे मांस और रुधिर से लिये हुए अत्यन्त अपवित्र गर्भाशय में रहना पड़ता है। फिर वायु के वेग से उसके पैर ऊपर की ओर हो जाते हैं और सिर नीचे की ओर।।4।। इस स्थिति में योनिद्वार के समीप आ जाने से उसे बड़े दु:ख सहने पड़ते हैं। फिर पूर्व कर्मों से संयुक्त हुआ वह जीव योनि मार्ग से पीड़ित हो उससे छुटकारा पाकर बाहर आ जाता है और संसार में आकर अन्यान्य प्रकार के उपद्रवों का सामना करता है। जैसे कुत्ते मांस की ओर झपटते हैं, उसी प्रकार बालग्रह उस शिशु के पीछे लगे रहते हैं।।5-6।। तदनन्तर ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों-ही-त्यों अपने कर्मों से बँधे हुए उस जीव को जीवित अवस्था में नयी-नयी व्याधियाँ प्राप्त होने लगती हैं।।7।। नरेश्वर! फिर आसक्ति के कारण जिनमें रस की प्रतीति होती है, उन विषयों से घिरे और इन्द्रिय रूपी पाशों से बँधे हुए उस संसारी जीव को नाना प्रकार के सङ्कट घेर लेते हैं।।8।। उनसे बँध जाने पर पुन: इसे कभी तृप्ति ही नहीं होती है। उस अवस्था में वह भले-बुरे कर्म करता हुआ भी उनके विषय में कुछ समझ नहीं पाता।।9।। जो लोग भगवान् के ध्यान में लगे रहने वाले हैं, वे ही शास्त्र के अनुसार चलकर अपनी रक्षा कर पाते हैं। साधारण जीव तो अपने सामने आये हुए यमलोक को भी नहीं समझ पाता है।।10।।

यमदूतैर्विकृष्यंश्च मृत्यु कालेन गच्छति।
वाग्घीनस्य च यन्मात्रमिष्टानिष्टं कृतं मुखे।
भूय एवात्मनाऽऽत्मानं बध्यमानमुपेक्षते।।11।।
अहो विनिकृतो लोको लोभेन च वशीकृत:।
लोभक्रोधभयोन्मत्तो नात्मानमवबुध्यते।।12।1
कुलीनत्वे च रमते दुष्कुलीनान् विकुत्सयन्।
धनदर्पेण दृप्तश्च दरिद्रान् परिकुत्सयन्।।13।।
मूर्खानिति परानाह नात्मानं समवेक्षते।
दोषान् क्षिपति चान्येषां नात्मानं शास्तुमिच्छति।।14।।
यदा प्राज्ञाश्च मूर्खाश्च धनवन्तश्च निर्धना:।
कुलीनाश्चाकुलीनाश्च मानिनोऽथाप्यमानिन:।।15।।
सर्वे पितृवनं प्राप्ता: स्वपन्ति विगतत्वच:।
निर्मांसैरस्थिभूयिष्ठैर्गात्रै: स्नायुनिबन्धनै:।।16।।
विशेषं न प्रपश्यन्ति तत्र तेषां परे जना:।
येन प्रत्यवगच्छेयु: कुलरूपविशेषणम्।।17।।

यदा सर्वे समं न्यस्ताः स्वपन्ति धरणीतले।
कस्मादन्योन्यमिच्छन्ति प्रलब्धुमिह दुर्बुधाः।।18।।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च यो निशम्य श्रुतिं त्विमाम्।
अध्रुवे जीवलोकेऽस्मिन् यो धर्ममनुपालयन्।
जन्मप्रभृति वर्तेत प्राप्नुयात् परमां गतिम्।।19।।
एवं सर्वं विदित्वा वै यस्तत्त्वमनुवर्तते।
स प्रमोक्षाय लभते पन्थानं मनुजेश्वर।।20।।

तद्नन्तर काल से प्रेरित हो यमदूत उसे शरीर से बाहर खींच लेते हैं और वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। उस समय उसमें बोलने की भी शक्ति नहीं रहती। उसके जितने भी शुभ या अशुभ कर्म हैं वे सामने प्रकट होते हैं। उनके अनुसार पुनः अपने आपको देहबन्धन में बँधता हुआ देखकर भी वह उपेक्षा कर देता है–अपने उद्धार का प्रयत्न नहीं करता।।11।। अहो! लोभ के वशीभूत होकर यह सारा संसार ठगा जा रहा है। लोभ, क्रोध और भय से यह इतना पागल हो गया है कि अपने आपको भी नहीं जानता।।12।। जो लोग हीन कुल में उत्पन्न हुए हैं, उनकी निन्दा करता हुआ कुलीन मनुष्य अपनी कुलीनता में ही मस्त रहता है और धनी धन के घमण्ड से चूर होकर दरिद्रों के प्रति अपनी घृणा प्रकट करता है।।13।। वह दूसरों को तो मूर्ख बताता है, पर अपनी ओर कभी नहीं देखता। दूसरों के दोषों के लिये उन पर आक्षेप करता है, परन्तु उन्हीं दोषों से स्वयं को बचाने के लिये अपने मन को काबू में नहीं रखना चाहता।।14।। जब ज्ञानी और मूर्ख, धनवान् और निर्धन, कुलीन और अकुलीन तथा मानी और मानरहित सभी मरघट में जाकर सो जाते हैं, उनकी चमड़ी भी नष्ट हो जाती है और नाड़ियों से बँधे हुए मांस रहित हड्डियों के ढेर रूप उनके नग्न शरीर सामने आते हैं, तब वहाँ खड़े हुए दूसरे लोग उनमें कोई ऐसा अन्तर नहीं देख पाते हैं, जिससे एक की अपेक्षा दूसरे के कुल और रूप की विशेषता को जान सकें।।15-17।। जब मरने के बाद श्मशान में डाल दिये जाने पर सभी लोग समान रूप से पृथ्वी की गोद में सोते हैं, तब वे मूर्ख मानव इस संसार में क्यों एक दूसरे को ठगने की इच्छा करते हैं?।।18।। इस क्षणभङ्गुर जगत् में जो पुरुष इस वेदोक्त उपदेश को साक्षात् जानकर या किसी के द्वारा सुनकर जन्म से ही निरन्तर धर्म का पालन करता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।।19।। नरेश्वर! जो इस प्रकार सब कुछ जानकर तत्त्व का अनुसरण करता है, वह मोक्ष तब पहुँचने के लिये मार्ग प्राप्त कर लेता है।।20।।

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे विदुरगीतायां तृतीयोऽध्यायः।।3।।

।।इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्व के अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में विदुरगीता का धृतराष्ट्र के शोक का निवारणविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ।।3।।

चतुर्थोऽध्याय:

गहन वन के दृष्टान्त से संसार के भयंकर स्वरूप का वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

यदिदं धर्मगहनं बुद्ध्या समनुगम्यते।
तद्धि विस्तरत: सर्वं बुद्धिमार्गं प्रशंस मे।।1।।

धृतराष्ट्र ने कहा—विदुर! यह जो धर्म का गूढ़ स्वरूप है, वह बुद्धि से ही जाना जाता है; अत: तुम मुझसे सम्पूर्ण बुद्धि मार्ग का विस्तारपूर्वक वर्णन करो।।1।।

विदुर उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयंभुवे।
यथा संसारगहनं वदन्ति परमर्षय:।।2।।
कश्चिन्महति कान्तारे वर्तमानो द्विज: किल।
महद् दुर्गमनुप्राप्तो वनं क्रव्यादसंकुलम्।।3।।
सिंहव्याघ्रगजर्क्षौघैरतिघोरं महास्वनै:।
पिशितादैरतिभयैर्महोग्राकृतिभिस्तथा।।4।।
समन्तात् संपरिक्षिप्तं यत् स्म दृष्ट्वा त्रसेद् यम:।
तदस्य दृष्ट्वा हृदयमुद्वेगमगमत् परम्।।5।।
अभ्युच्छ्रयश्च रोम्णां वै बिक्रियाश्च परंतप।
स तद् वनं व्यनुसरन् सम्प्रधावन्नितस्तत:।।6।।
वीक्षमाणो दिश: सर्वा: शरणं क्व भवेदिति।
स तेषां छिद्रमन्विच्छन् प्रद्रुतो भयपीडित:।।7।।
न च निर्याति वै दूरं न वो तैर्विप्रमोच्यते।
अथापश्यद् वनं घोरं समन्ताद् वागुरावृतम्।।8।।
बाहुभ्यां सम्परिक्षिप्तं स्त्रिया परमघोरया।
पञ्चशीर्षधरैर्नागै: शैलैरिव समुन्नतै:।।9।।
नभ: स्पृशैर्महावृक्षै: परिक्षिप्तं महावनम्।
वनमध्ये च तत्राभूदुदपान: समावृत:।।10।।
वल्लीभिस्तृणछन्नाभिर्दृढाभिरभिसंवृत:।

विदुर जी ने कहा—राजन! मैं भगवान स्वयम्भू को नमस्कार करके संसार रूप गहन वन के उस स्वरूप का वर्णन करता हूँ, जिसका निरूपण बड़े-बड़े महर्षि करते हैं।।2।। कहते हैं कि किसी विशाल दुर्गम वन में कोई ब्राह्मण यात्रा कर रहा था। वह वन के अत्यन्त दुर्गम प्रदेश में जा पहुँचा, जो हिंसक जन्तुओं से भरा हुआ था।।3।। जोर-जोर से गर्जना करने वाले सिंह, व्याघ्र, हाथी और रीछों के समुदायों ने उस स्थान को अत्यन्त भयानक बना दिया था। भीषण आकार वाले अत्यन्त मांसभक्षी प्राणियों ने उस वन प्रान्त को चारों ओर से घेरकर ऐसा बना दिया था, जिसे देखकर यमराज भी भय से

थर्रा उठे।।4।। शत्रुदमन नरेश! वह स्थान देखकर ब्राह्मण का हृदय अत्यन्त उद्विग्न हो उठा। उसे रोमाञ्च हो आया और मन में अन्य प्रकार के भी विकार उत्पन्न होने लगे।।5।। वह उस वन का अनुसरण करता इधर-उधर दौड़ता तथा सम्पूर्ण दिशाओं में ढूँढ़ता फिरता था कि कहीं मुझे शरण मिले।।6।। वह उन हिंसक जन्तुओं का छिद्र देखता हुआ भय से पीड़ित हो भागने लगा; परन्तु न तो वहाँ से दूर निकल पाता था और न वे ही उसका पीछा छोड़ते थे।।7।। इतने ही में उसने देखा कि वह भयानक वन चारों ओर से जाल से घिरा हुआ है और एक बड़ी भयानक स्त्री ने अपनी दोनों भुजाओं से उसको आवेष्ठित कर रक्खा है।।8।। पर्वतों के समान ऊँचे और पाँच सिर वाले नागों तथा बड़े-बड़े गगनचुम्बी वृक्षों से वह विशाल वन व्याप्त हो रहा है।।9।। उस वन के भीतर एक कुआँ था, जो घासों से ढकी हुई सुदृढ़ लताओं के द्वारा सब ओर से आच्छादित हो गया था।।10।।

पपात स द्विजस्तत्र निगूढे सलिलाशये।।11।।
विलग्नश्चाभवत् तस्मिन् लतासंतानसंकुले।
पनसस्य यथा जातं वृन्तबद्धं महाफलम्।।12।।
स तथा लम्बते तत्र ह्यूर्ध्वपादो ह्यधःशिराः।
अथ तत्रापि चान्योऽस्य भूयो जात उपद्रवः।।13।।
कूपमध्ये महानागमपश्यत महाबलम्।
कूपवीनाहवेलायामपश्यत महागजम्।।14।।
षड्वक्त्रं कृष्णशुक्लं च द्विषट्कपदचारिणम्।
क्रमेण परिसर्पन्तं वल्लीवृक्षसमावृतम्।।15।।
तस्य चापि प्रशाखासु वृक्षशाखावलम्बिनः।
नानारूपा मधुकरा घोररूपा भयावहाः।।16।।
आसते मधु संवृत्य पूर्वमेव निकेतजाः।
भूयो भूयः समीहन्ते मधूनि भरतर्षभ।।17।।
स्वादनीयानि भूतानां यैर्बालो विप्रकृष्यते।
तेषां मधूनां बहुधा धारा प्रस्रवते तदा।।18।।
आलम्बमानः स पुमान् धारां पिबति सर्वदा।
न चास्य तृष्णा विरता पिबमानस्य संकटे।।19।।
अभीप्सति तदा नित्यमतृप्तः स पुनः पुनः।
न चास्य जीविते राजन् निर्वेदः समजायतः।।20।।
तत्रैव च मनुष्यस्य जीविताशा प्रतिष्ठिता।

वह ब्राह्मण उस छिपे हुए कुएँ में गिर पडा; परन्तु लतावेलों से व्याप्त होने के कारण वह उसमें फँसकर नीचे नहीं गिरा, ऊपर ही लटका रह गया।।11।। जैसे कटहलका विशाल फल वृन्त में बँधा हुआ लटकता रहता है, उसी प्रकार वह ब्राह्मण ऊपर को पैर और नीचे को सिर किये उसे कुएँ में लटक गया।।12।। वहाँ भी उसके

सामने पुन: दूसरा उपद्रव खड़ा हो गया। उसने कूपके भीतर एक महाबली महानाग बैठा हुआ देखा तथा कुएँ के ऊपरी तटपर उसके मुखबन्ध के पास एक विशाल हाथी को खड़ा देखा, जिनके छ: मुँह थे। वह सफेद और काले रंग का था तथा बारह पैरों से चला करता था।।13-14।। वह लताओं तथा वृक्षों से घिरे हुए उस कूप में क्रमश: बढ़ा आ रहा था। वह ब्राह्मण, जिस वृक्ष की शाखा पर लटका था, उसकी छोटी-छोटी टहनियों पर पहले से ही मधु के छत्तों से पैदा हुई अनेक रूप वाली, घोर एवं भयंकर मधुमक्खियाँ मधु को घेरकर बैठी हुई थीं।।15-16।। भरतश्रेष्ठ! समस्त प्राणियों को स्वादिष्ट प्रतीत होने वाले उस मधु को, जिस पर बालक आकृष्ट हो जाते हैं, वे मक्खियाँ बारम्बार पीना चाहती थीं।।17।। उस समय उस मधु की अनेक धाराएँ वहाँ झर रहीं थीं और वह लटका हुआ पुरुष निरन्तर उस मधु धारा को पी रहा था।।18।। यद्यपि वह संकट में था तो भी उस मधु को पीते-पीते उसकी तृष्णा शान्त नहीं होती थी। वह सदा अतृप्त रहकर ही बारम्बार उसे पीने की इच्छा रचाता था।।19।। राजन्! उसे अपने उस संकटपूर्ण जीवन से वैराग्य नहीं हुआ है। उस मनुष्य के मन में वहीं उसी दशा से जीवित रहकर मधु पीते रहने की आशा जड़ जमाये हुए है।।20।।

कृष्णा: श्वेताश्च तं वृक्षं कुट्टयन्ति च मूषिका:।।21।।
व्यालैश्च वनदुर्गान्ते स्त्रिया च परमोग्रया।
कूपाधस्ताच्च नागेन वीनाहे कुञ्जरेण च।।22।।
वृक्षप्रपाताच्च भयं मूषिकेभ्यश्च पञ्चमम्।
मधुलोभान्मधुकरै: षष्ठमाहुर्महद् भयम्।।23।।
एवं स वसते तत्र क्षिप्त: संसारसागरे।
न चैव जीविताशायां निर्वेदमुपगच्छति।।24।।

जिस वृक्ष के सहारे वह लटका हुआ है, उसे काले और सफेद चूहे निरन्तर काट रहे हैं। पहले तो उसे वनके दुर्गम प्रदेश के भीतर ही अनेक सर्पों से भय है, दूसरा भय सीमा पर खड़ी हुई उस भयंकर स्त्री से है, तीसरा कुँए के नीचे बैठे हुए नाग से है, चौथा कुँए के मुखबन्ध के पास खड़े हुए हाथी से है और पाँचवाँ भय चूहों के काट देने पर उस वृक्ष से गिर जाने का है। इनके सिवा, मधु के लोभ से मधुमक्खियों की ओर से जो उसको महान् भय प्राप्त होने वाला है, वह छठा भय बताया गया है।।21-23।। इस प्रकार संसार-सागर में गिरा हुआ वह मनुष्य इतने भयों से घिरकर वहाँ निवास करता है तो भी उसे जीवन की आशा बनी हुई है और उसके मन में वैराग्य नहीं उत्पन्न होता है।।24।।

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि विदुरगीतायां
धृतराष्ट्रविशोककरणे चतुर्थोऽध्याय:।।4।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्री पर्व के अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्व में विदुरगीता का धृतराष्ट्र के शोक का निवारणविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ।।4।।

पञ्चमोऽध्यायः

संसार रूपी वन के रूपक का स्पष्टीकरण

धृतराष्ट्र उवाच

अहो खलु महद् दुःखं कृच्छ्रवासश्च तस्य है।
कथं तस्य रतिस्तत्र तुष्टिर्वा वदतां वर।।1।।
स देशः क्व नु यत्रासौ वसते धर्मसंकटे।
कथं वा स विमुच्येत नरस्तस्मान्महाभयात्।।2।।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व साधु चेष्टामहे तदा।
कृपा से महती जाता तस्याभ्युद्धरणेन हि।।3।।

धृतराष्ट्र बोले—वक्ताओं में श्रेष्ठ विदुर! यह तो बड़े आश्चर्य की बात है! उस ब्राह्मण को तो महान् दुःख प्राप्त हुआ था। वह बड़े कष्ट से वहाँ रह रहा था तो भी वहाँ कैसे उसका मन लगता था और कैसे उसे संतोष होता था?।।1।। कहाँ है वह देश, जहाँ बेचारा ब्राह्मण ऐसे धर्मसङ्कट में रहता है? उस महान् भय से उसका छुटकारा किस प्रकार हो सकता है?।।2।। यह सब मुझे बताओ; फिर हम सब लोग उसे वहाँ से निकालने की पूरी चेष्टा करेंगे। उसके उद्धार के लिये मुझे बड़ी दया आ रही है।।3।।

विदुर उवाच

उपमानमिदं राजन् मोक्षविद्भिरुहाहृतम्।
सुकृतं विन्दते येन परलोकेषु मानवः।।4।।
उच्चते यत् तु कान्तारं महासंसार एव सः।
वनं दुर्ग हि यच्चैतत् संसारगहनं हि तत्।।5।।
ये च ते कथिता व्याला व्याधयस्ते प्रकीर्तिताः।
या सा नारी बृहत्काया अध्यतिष्ठत तत्र वै।।6।।
तामाहुस्तु जरां प्राज्ञा रूपवर्णविनाशिनीम्।
यस्तत्र कूपो नृपते स तु देहः शरीरिणाम्।।7।।
यस्तत्र वसतेऽधस्तान्महाहिः काल एव सः।
अन्तकः सर्वभूतानां देहिनां सर्वहार्यसौ।।8।।
कूपमध्ये च या जाता वल्ली यत्र स मानवः।
प्रताने लम्बते लग्नौ जीविताशा शरीरिणाम्।।9।।
स यस्तु कूपवीनाहे तं वृक्षं परिसर्पति।
षड्वक्त्रः कुञ्जरो राजन! स तु संवत्सरः स्मृतः।।10।।
मुखानि ऋतवो मासाः पादा द्वादश कीर्तिताः।
ये तु वृक्षं निकृन्तन्ति मूषिकाः सततोत्थिताः।।11।।
राज्यहानि तु तान्याहुर्भूतानां परिचिन्तकाः।
ये ते मधुकरास्तत्र कामास्ते परिकीर्तिताः।।12।।

यास्तु ता बहुशो धारा: स्रवन्ति मधुनिस्रवम्।
तांस्तु कामरसान् विद्याद् यत्र मज्जन्ति मानवा:।।13।।
एवं संसारचक्रस्य परिवृत्तिं विदुर्बुधा:।
येन संसारचक्रस्य पाशांश्छिन्दन्ति वै बुधा:।।14।।

विदुर जी ने कहा—राजन! मोक्षतत्त्व के विद्वानों द्वारा बताया गया यह एक दृष्टान्त है, जिसे समझकर वैराग्य धारण करने से मनुष्य पर लोक में पुण्य का फल पाता है।।4।। जिसे दुर्गम स्थान बताया गया है, वह महासंसार ही है और जो यह दुर्गम वन कहा गया है, यह संसार का ही गहन स्वरूप है।।5।। जो सर्प कहे गये हैं, वे नाना प्रकार के रोग हैं। उस वन की सीमा पर जो विशालकाय नारी खड़ी थी, उसे विद्वान् पुरुष रूप और कान्ति का विनाश करने वाली वृद्धावस्था बताते हैं।।6।। नरेश्वर! उस वन में जो कुआँ कहा गया है, वह देहधारियों का शरीर है। उसमें नीचे जो विशाल नाग रहता है, वह काल ही है। वही सम्पूर्ण प्राणियों का अन्त करने वाला और देहधारियों का सर्वस्व हर लेने वाला है।।7-8।। कुएँ के मध्यभाग में जो लता उत्पन्न हुई बतायी गयी है, जिसको पकड़कर वह मनुष्य लटक रहा है, वह देहधारियों के जीवन की आशा ही है।।9।। राजन्! जो कुएँ के मुखबन्ध के समीप छ: मुखों वाला हाथी उस वृक्ष की ओर बढ़ रहा है, उसे संवत्सर माना गया है।।10।। छ: ऋतुएँ ही उसके छ: मुख हैं और बारह महीने ही बारह पैर बताये गये हैं। जो चूहे सदा उद्यत रहकर उस वृक्ष को काटते हैं, उन चूहों को विचारशील विद्वान् प्राणियों के दिन और रात बताते हैं।।11।। और जो-जो वहाँ मधुमक्खियाँ कही गयी हैं, वे सब कामनाएँ हैं। जो बहुत-सी धाराएँ मधु के झरने झरती रहती हैं, उनहें कामरस जानना चाहिये, जहाँ सभी मानव डूब जाते हैं।।12-13।। विद्वान् पुरुष इस प्रकार संसार चक्र की गति को जानते हैं; इसीलिये वे वैराग्यरूपी शस्त्र से इसके सारे बन्धनों को काट देते हैं।।14।।

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि विदुरगीतायां
धृतराष्ट्रविशोककरणे पञ्चमोऽध्याय:।।5।।

।।इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्व के अन्तर्गत जलप्रदानिक पर्व में विदुरगीता का धृतराष्ट्र के शोक का निवारण विषयक पांचवाँ अध्याय पूरा हुआ।।5।।

षष्ठोऽध्याय:

संसारचक्र का वर्णन और रथ के रूपक से संयम और ज्ञान आदि को मुक्ति का उपाय रूप में वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

अहोऽभिहितमाख्यानं भवता तत्त्वदर्शिना।
भूय एव तु मे हर्ष: श्रुत्वा वागमृतं तव।।1।।

धृतराष्ट्र ने कहा—विदुर! तुमने अद्भुत आख्यान सुनाया। वास्तव में तुम तत्त्वदर्शी हो। पुनः तुम्हारी अमृतमयी वाणी सुनकर मुझे बड़ा हर्ष होगा।।1।।

विदुर उवाच

शृणु भूयः प्रवक्ष्यामि मार्गस्यैतस्य विस्तरम्।
यच्छ्रुत्वा विप्रमुच्यन्ते संसारेभ्यो विचक्षणाः।।2।।
यथा तु पुरुषो राजन् दीर्घमध्वानमाश्रितः।
क्वचित् क्वचिच्छ्रमाच्छ्रान्तः कुरुते वासमेव वा।।3।।
एवं संसारपर्याये गर्भवासेषु भारत।
कुर्वन्ति दुर्बुधा वासं मुच्यन्ते तत्र पण्डिताः।।4।।
तस्मादध्वानमेवैतमाहुः शास्त्राविदो जनाः।
यत्तु संसारगहनं वनमाहुर्मनीषिणः।।5।।
सोऽयं लोकसमावर्तो मर्त्यानां भरतर्षभ।
चराणां स्थावराणां च न गृध्येत् तत्र पण्डितः।।6।।
शारीरा मानसाश्चैव मर्त्यानां ये तु व्याधयः।
प्रत्यक्षाश्च परोक्षाश्च ते व्यालाः कथिता बुधैः।।7।।
क्लिश्यमानाश्च तैर्नित्यं वार्यमाणाश्च भारत।
स्वकर्मभिर्महाव्यालैर्नोद्विजन्त्यल्पबुद्धयः।।8।।
अथापि तैर्विमुच्येत व्याधिभिः पुरुषो नृप।
आवृणोत्येव तं पश्चाज्जरा रूपविनाशिनी।।9।।
शब्दरूपरसस्पर्शैर्गन्धैश्च विविधैरपि।
मज्जमांसमहापङ्के निरालम्बे समन्ततः।।10।।

विदुर जी ने कहा—राजन्! सुनिये। मैं पुनः विस्तारपूर्वक इस मार्ग का वर्णन करता हूँ, जिसे सुनकर बुद्धिमान् पुरुष संसार-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।।2।। नरेश्वर! जिस प्रकार किसी लम्बे रास्ते पर चलने वाला पुरुष परिश्रम से थककर बीच में कहीं-कहीं विश्राम लिये ठहर जाता है, उसी प्रकार इस संसार यात्रा में चलते हुए अज्ञानी पुरुष विश्राम के लिये गर्भवास किया करते हैं। भारत! किन्तु विद्वान् पुरुष इस संसार से मुक्त हो जाते हैं।।3-4।। इसीलिये शास्त्रज्ञ पुरुषों ने गर्भवास को मार्ग का ही रूपक दिया है और गहन संसार को मनीषी पुरुष वन कहा करते हैं।।5।। भरतश्रेष्ठ! यही मनुष्यों तथा स्थावर-जङ्गम प्राणियों का संसारचक्र है। विवेकी पुरुष को इसमें आसक्त नहीं होना चाहिये।।6।। मनुष्यों की जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ हैं, उन्होंने विद्वानों ने सर्प एवं हिंसक जीव बताया है।।7।। भरतनन्दन! अपने कर्मरूपी इन महान् हिंसक जन्तुओं से सदा सताये तथा रोके जाने पर भी मन्दबुद्धि मानव संसार से उद्विग्न या विरक्त नहीं होते हैं।।8।। नरेश्वर! यदि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और नाना प्रकार की गन्धों से युक्त, मज्जा और मांस रूपी बड़ी भारी कीचड़ से भरे हुए एवं सब ओर से अवलम्ब शून्य शरीर रूपी कूप में रहने वाला मनुष्य इन व्याधियों से किसी तरह

मुक्त हो जाय तो भी अन्त में रूप-सौन्दर्य का विनाश करने वाली वृद्धावस्था तो उसे घेर ही लेती है।।9-10।।

संवत्सराश्च मासाश्च पक्षाहोरात्रसंधय:।
क्रमेणास्योपयुञ्जन्ति रूपमायुस्तथैव च।।11।।
एते कालस्य निधयो नैताञ्जानन्ति दुर्बुधा:।
धात्राभिलिखितान्याहु: सर्वभूतानि कर्मणा।।12।।
रथ: शरीरं भूतानां सत्त्वमाहुस्तु सारथिम्।
इन्द्रियाणि हयानाहु: कर्मबुद्धिस्तु रश्मय:।।13।।
तेषां हयानां यो वेगं धावतामनुधावति।
स तु संसारचक्रेऽस्मिंश्चक्रवत् परिवर्तते।।14।।
यस्तान् संयमते बुद्ध्या संयतो न निवर्तते।
ये तु संसारचक्रेऽस्मिञ्चक्रवत् परिवर्तिते।।15।।
भ्रममाणा न मुह्यन्ति संसारे न भ्रमन्ति ते।
संसारे भ्रमतां राजन् दु:खमेतद्धि जायते।।16।।
तस्मादस्य निवृत्त्यर्थं यत्नमेवाचरेद् बुध:।
उपेक्षा नात्र कर्तव्या शतशाख: प्रवर्धते।।17।।
यतेन्द्रियो नरो राजन् क्रोधलोभनिराकृत:।
संतुष्ट: सत्यवादी य: स शान्तिमधिगच्छति।।18।।
याम्यमाहू रथं ह्येनं मुह्यन्ते येन दुर्बुधा:।
स चैतत् प्राप्नुयाद् राजन् यत् त्वं प्राप्तो नराधिप।।19।।
अनुतर्षुलमेवैतद् दु:खं भवति मारिष।
राज्यनाशं सुहृन्नाशं सुतनाशं च भारत।।20।।

वर्ष, मास, पक्ष, दिन-रात और संध्याएँ क्रमश: इसके रूप और आयु का शोषण करती ही रहती हैं। ये सब काल के प्रतिनिधि हैं। मूढ़ मनुष्य इन्हें इस रूप में नहीं जानते हैं। श्रेष्ठ पुरुषों का कथन है कि विधाता ने सम्पूर्ण भूतों के ललाट में कर्म के अनुसार रेखा खींच दी है (प्रारब्ध के अनुसार उनकी आयु और सुख-दु:ख के भोग नीयत कर दिये हैं)।।11-12।। विद्वान् पुरुष कहते हैं कि प्राणियों का शरीर रथ के समान है, सत्त्व (सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि) सारथि है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और मन लगाम है। जो पुरुष स्वेच्छापूर्वक दौड़ते हुए उन घोड़ों के वेग का अनुसरण करता है, वह तो इस संसार चक्र में पहिये के समान घूमता रहता है।।13-14।। किन्तु जो संयमशील होकर बुद्धि के द्वारा उन इन्द्रियरूपी अश्वों को काबू में रखते हैं, वे फिर इस संसार में नहीं लौटते। जो लोग चक्र की भाँति घूमने वाले इस संसार चक्र में घूमते हुए भी मोह के वशीभूत नहीं होते हैं, उन्हें फिर संसार में नहीं भटकना पड़ता।।15।। राजन्! संसार में भटकने वालों को यह दु:ख प्राप्त होता ही है; अत: विज्ञ पुरुष को इस संसार बन्धन की निवृत्ति के लिये अवश्य यत्न करना चाहिये। इस विषय में कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये; नहीं

तो यह संसार सैकड़ों शाखाओं में फैलकर बहुत बड़ा हो जाता है।।।16-17।। राजन्! जो मनुष्य जितेन्द्रिय, क्रोध और लोभ से शून्य, संतोषी तथा सत्यवादी होता है, उसे शान्ति प्राप्त होती है।।18।। नरेश्वर! इस संसार को याम्य (यमलोक की प्राप्ति कराने वाला) रथ कहते हैं, जिससे मूर्ख मनुष्य मोहित हो जाते हैं। राजन्! जो दुःख आपको प्राप्त हुआ है, वही प्रत्येक अज्ञानी पुरुष को उपलब्ध होता है।।19।। माननीय भारत! जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है, उसी को राज्य, सुदृद् और पुत्रों का नाशरूपी यह महान् दुःख प्राप्त होता है।।20।।

साधुः परमदुःखानां दुःखभैषज्यमाचरेत्।
ज्ञानौषधमवाप्येह दूरपारं महौषधम्।
छिन्द्याद् दुःखमहाव्याधिं नरः संयतमानसः।।21।।
न विक्रमो न चाप्यर्थो न मित्रं न सुहृज्जनः।
तथोन्मोचयते दुःखाद् यथाऽऽत्मा स्थिरसंयमः।।
तस्मान्मैत्रं समास्थाय शीलमापद्य भारत।
दमस्त्यागोऽप्रमादश्च ते त्रयो ब्रह्मणो हयाः।।23।।
शीलरश्मिसमायुक्तः स्थितो यो मानसे रथे।
त्यक्त्वा मृत्युभयं राजन् ब्रह्मलोकं स गच्छति।।24।।
अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति महीपते।
स गच्छति परं स्थानं विष्णोः पदमनामयम्।।25।।
न तत् क्रतुसहस्त्रेण नोपवासैश्च नित्यशः।
अभयस्य च दानेन यत् फलं प्राप्नुयान्नरः।।26।।
न ह्यात्मनः प्रियतरं किञ्चिद् भूतेषु निश्चितम्।
अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत।।27।।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दया कार्या विपश्चिता।
नानामोहसमायुक्ता बुद्धिजालेन संवृताः।।28।।
असूक्ष्मदृष्टयो मन्दा भ्राम्यन्ते तत्र तत्र है।
सुसूक्ष्मदृष्टयो राजन् व्रजन्ति ब्रह्म शाश्वतम्।।29।।
(एवं ज्ञात्वा महाप्राज्ञ स तेषामौर्ध्वदैहिकम्।
कर्तुमर्हति तेनैव फलं प्राप्स्यति वै भवान्।।)

साधु पुरुष को चाहिये कि वह अपने मन को वश में करके ज्ञानरूपी महान् ओषधि प्राप्त करे, जो परम दुर्लभ है। उससे अपने बड़े-से-बड़े दुःखों की चिकित्सा करे। उस ज्ञान रूपी ओषधि से दुःखरूपी महान् व्याधिका नाश कर डाले।।21।। पराक्रमः, धन, मित्र और सुहृद् भी उस तरह दुःख से छुटकारा नहीं दिला सकते, जैसा कि दृढ़तापूर्वक संयम में रहने वाला अपना मन दिला सकता है।।22।। भरतनन्दन! इसलिये सर्वत्र मैत्रीभाव रखते हुए शील प्राप्त करना चाहिये। दम, त्याग और अप्रमाद- ये तीन परमात्मा के धाम में ले जाने वाले घोड़े हैं। जो मनुष्य शील रूपी लगाम को

पकड़कर इन तीनों घोड़ों से जुते हुए मनरूपी रथ पर सवार होता है, वह मृत्यु का भय छोड़कर ब्रह्मलोक में चला जाता है।।23-24।। भूपाल! जो सम्पूर्ण प्राणियों को अभयदान देता है, वह भगवान् विष्णु के अविनाशी परमधाम में चला जाता है।।25।। अभयदान से मनुष्य जिस फल को पाता है, वह उसे सहस्रों यज्ञ और नित्यप्रति उपवास करने से भी नहीं मिल सकता है।।26।। भारत! यह बात निश्चित रूप से कहीं जा सकती है कि प्राणियों को अपने आत्मा से अधिक प्रिय कोई भी वस्तु नहीं है; इसीलिये मरना किसी भी प्राणी को अच्छा नहीं लगता; अत: विद्वान् पुरुष को सभी प्राणियों पर दया करनी चाहिये।।27।। जो मूढ़ नाना प्रकार के मोह में डूबे हुए हैं, जिन्हें बुद्धि के जालने बाँध रक्खा है और जिनकी दृष्टि स्थूल है, वे भिन्न-भिन्न योनियों में भटकते रहते हैं।।28।। राजन्! महाप्राज्ञ! सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी पुरुष सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, ऐसा जानकर आप अपने मरे हुए सगे सम्बन्धियों का और्ध्वदैहिक संस्कार कीजिये। इसी से आपको उत्तम फल की प्राप्ति होगी।।29।।

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि विदुरगीतायां धृतराष्ट्रविशोककरणे षष्ठोऽध्याय:।।6।।

।।इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्व के अन्तर्गत जलप्रदानिक पर्व में विदुर गीता का धृतराष्ट्र के शोक का निवारणविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ।।6।।

विदुरगीता सम्पूर्णा

जनकगीता

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिर द्वारा भीम की बात का विरोध करते हुए मुनि वृत्ति की और ज्ञानी महात्माओं की प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

असन्तोषः प्रमादश्च मदो रागोऽप्रशान्तता।
बलं मोहोऽभिमानश्चाप्युद्वेगश्चैव सर्वशः॥1॥
एभिः पाप्मभिराविष्टो राज्यं त्वमभिकाङ्क्षसे।
निरामिषो विनिर्मुक्तः प्रशान्तः सुसुखी भव॥2॥
य इमामखिलां भूमिं शिष्यादेको महीपतिः।
तस्याप्युदरमेकं वै किमिदं त्वं प्रशंससि॥3॥
नाह्ना पूरयितुं शक्यां न मासैर्भरतर्षभ।
अपूर्यां पूरयन्निच्छामायुषापि न शक्नुयात्॥4॥
यथेद्धः प्रज्वलत्यग्निरसमिद्धः प्रशाम्यति।
अल्पाहारतया त्वग्निं शमयौदर्यमुत्थितम्॥5॥
आत्मोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विघसं बहु।
जयोदरं पृथिव्या ते श्रेयो निर्जितया जितम्॥6॥
मानुषान् कामभोगांस्त्वमैश्वर्यं च प्रशंससि।
अभोगिनोऽबलाश्चैव यान्ति स्थानमनुत्तमम्॥7॥
योगः क्षेमश्च राष्ट्रस्य धर्माधर्मौ त्वयि स्थितौ।
मुच्यस्व महतो भारात् त्यागमेवाभिसंश्रय॥8॥
एकोदरकृते व्याघ्रः करोति विघसं बहु।
तमन्येऽप्युपजीवन्ति मन्दा लोभवशा मृगाः॥9॥
विषयान् प्रतिसङ्गृह्य सन्न्यासं कुरुते यतिः।
न च तुष्यन्ति राजानः पश्य बुद्ध्यन्तरं यथा॥10॥
पत्राहारैरश्मकुट्टैर्दन्तोलूखलिकैस्तथा।
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च तैरयं नरको जितः॥11॥
यस्त्विमां वसुधां कृत्स्नां प्रशासेदखिलां नृपः।
तुल्याश्मकाञ्चनो यश्च स कृतार्थो न पार्थिवः॥12॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन! असन्तोष, प्रमाद, मद, राग, अशान्ति, बल, मोह, अभिमान तथा उद्वेग—ये सभी पाप तुम्हारे भीतर घुस गये हैं, इसीलिए तुम्हें राज्य की

इच्छा होती है। भाई! सकाम कर्म और बन्धन से[1] रहित होकर सर्वथा मुक्त, शान्त एवं सुखी हो जाओ।।1-2।। जो सम्राट् इस सारी पृथ्वी का अकेला ही शासन करता है, उसके पास भी एक ही पेट होता है; अत: तुम किसलिए इस राज्य की प्रशंसा करते हो?।।3।। भरतश्रेष्ठ! इस इच्छा को एक दिन में या कई महीनों में भी पूर्ण नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, सारी आयु प्रयत्न करने पर भी इस अपूरणीय इच्छा की पूर्ति होनी असम्भव है।।4।। जैसे आग में जितना ही ईंधन डालो, वह प्रज्वलित होती जाएगी और ईंधन न डाला जाए तो वह अपने आप बुझ जाती है। इसी प्रकार तुम भी अपना आहार कम करके इस जगी हुई जठराग्नि को शान्त करो।।5।। अज्ञानी मनुष्य अपने पेट के लिए ही बहुत हिंसा करता है; अत: तुम पहले अपने पेट को ही जीतो। फिर ऐसा समझा जाएगा कि इस जीती हुई पृथ्वी के द्वारा तुमने कल्याण पर विजय प्राप्त कर ली है।।6।। भीमसेन! तुम मनुष्यों के कामभोग और ऐश्वर्य की बड़ी प्रशंसा करते हो; परन्तु जो भोगरहित हैं और तपस्या करते-करते निर्बल हो गये हैं, वे ऋषि-मुनि ही सर्वोत्तम पद को प्राप्त करते हैं।।7।। राष्ट्र के योग और क्षेम, धर्म तथा अधर्म सब तुममें ही स्थित हैं। तुम इस महान् भार से मुक्त हो जाओ और त्याग का ही आश्रय लो।।8।। बाघ एक ही पेट के लिए बहुत-से प्राणियों की हिंसा करता है, दूसरे लोभी और मूर्ख पशु भी उसी के सहारे जीवन निर्वाह करते हैं।।9।। यत्नशील साधक विषयों का परित्याग करके संन्यास ग्रहण कर लेता है, तो वह सन्तुष्ट हो जाता है; परन्तु विषयभागों से सम्पन्न समृद्धिशाली राजा कभी सन्तुष्ट नहीं होते। देखो, इन दोनों के विचारों में कितना अन्तर है?।।10।। जो लोग पत्ते खाकर रहते हैं, जो पत्थर पर पीस कर अथवा दाँतों से चबाकर भोजन करने वाले हैं (अर्थात् जो चक्की का पीसा और ओखली का कूटा नहीं खाते हैं) तथा जो पानी या हवा पीकर रह जाते हैं, उन तपस्वी पुरुषों ने ही नरक पर विजय पायी है।।11।। जो राजा इस सम्पूर्ण पृथ्वी का शासन करता है और जो सब कुछ छोड़कर पत्थर और सोने को समान समझने वाला है—इन दोनों में से वह त्यागी मुनि ही कृतार्थ होता है, राजा नहीं।।12।।

सङ्कल्पेषु निरारम्भो निराशो निर्ममो भव।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाव्ययम्॥13।।
निरामिषा न शोचन्ति शोचसि त्वं किमामिषम्।
परित्यज्यामिषं सर्वं मृषावादात् प्रमोक्ष्यसे॥14।।
पन्थानौ पितृयानश्च देवयानश्च विश्रुतौ।
ईजानाः पितृयानेन देवयानेन मोक्षिणः॥15।।
तपसा ब्रह्मचर्येण स्वाध्यायेन महर्षयः।
विमुच्य देहांस्ते यान्ति मृत्योरविषयं गताः॥16।।

---

1. आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथामिषम्।
ताभ्यां विमुक्त: पापाभ्यां पदमाप्नोति तत्परम्।। (17/17)

आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथामिषम्।
ताभ्यां विमुक्तः पापाभ्यां पदमाप्नोति तत्परम्॥17।।
अपि गाथां पुरा गीतां जनकेन वदन्त्युत।
निर्द्वन्द्वेन विमुक्तेन मोक्षं समनुपश्यता॥18।।
अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन॥19।।
प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोचञ्शोचतो जनान्।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थो मन्दबुद्धीनवेक्षते॥20।।
दृश्यं पश्यति यः पश्यन् स चक्षुष्मान् स बुद्धिमान्।
अज्ञातानां च विज्ञानात्सम्बोधाद् बुद्धिरुच्यते॥21।।
यस्तु वाचं विजानाति बहुमानमियात् स वै।
ब्रह्मभावप्रपन्नानां वैद्यानां भावितात्मनाम्॥22।।
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥23।।
ते जनास्तां गतिं यान्ति नाविद्वांसोऽल्पचेतसः।
नाबुद्धयो नातपसः सर्वं बुद्धौ प्रतिष्ठितम्॥24।।

अपने मनोरथों के पीछे बड़े-बड़े कार्यों का आरम्भ न करो, आशा तथा ममता न रखो और उस शोक रहित पद का आश्रय लो, जो इहलोक और परलोक में भी अविनाशी है।।13।। जिन्होंने भोगों का परित्याग कर दिया है, वे तो कभी शोक नहीं करते हैं; फिर तुम क्यों भोगों की चिन्ता करते हो? सारे भोगों का परित्याग कर देने पर तुम मिथ्यावाद से छूट जाओगे।।14।। देवयान और पितृयान—ये दो परलोक के प्रसिद्ध मार्ग हैं। जो सकाम यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले हैं, वे पितृयान से जाते हैं और मोक्ष के अधिकारी देवयान मार्ग से।।15।। महर्षिगण तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा स्वाध्याय के बल से देह त्याग के पश्चात् ऐसे लोक में पहुँच जाते हैं, जहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं है।।16।। इस जगत् में ममता और आसक्ति के बन्धन को आमिष कहा गया है। सकाम कर्म भी आमिष कहलाता है। इन दोनों आमिष स्वरूप पापों से जो मुक्त हो गया है, वही परम पद को प्राप्त होता है।।17।। इस विषय में पूर्वकाल में राजा जनक की कही हुई एक गाथा का लोग उल्लेख किया करते हैं। राजा जनक समस्त द्वन्द्वों से रहित और जीवन्मुक्त पुरुष थे। उन्होंने मोक्ष स्वरूप परमात्म तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया था।।18।। (उनकी वह गाथा इस प्रकार है—)दूसरों की दृष्टि में मेरे पास बहुत धन है; परन्तु उसमें से कुछ भी मेरा नहीं है। सारी मिथिला में आग लग जाए तो भी मेरा कुछ नहीं जलेगा।।19।। जैसे पर्वत की चोटी पर चढ़ा हुआ मनुष्य धरती पर खड़े हुए प्राणियों को केवल देखता है, उनकी परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार बुद्धि की अट्टालिका पर चढ़ा हुआ मनुष्य उन शोक करने वाले मन्दबुद्धि लोगों को देखता है, किन्तु स्वयं उनकी भाँति दुःखी नहीं होता।।20।। जो स्वयं द्रष्टा रूप से पृथक् रहकर इस दृश्य प्रपञ्च को देखता है, वही आँख वाला है और वही बुद्धिमान् है। अज्ञात तत्त्वों का

ज्ञान एवं सम्यग् बोध कराने के कारण अन्तःकरण की एक वृत्ति को बुद्धि कहते हैं।।21।। जो ब्रह्म भाव को प्राप्त हुए शुद्धात्मा विद्वानों का-सा बोलना जान लेता है, उसे अपने ज्ञान पर बड़ा अभिमान हो जाता है (जैसे कि तुम हो)।।22।। जब पुरुष प्राणियों की पृथक् पृथक् सत्ता को एकमात्र परमात्मा में ही स्थित देखता है और पर परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार हुआ मानता है, उस समय वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त होता है।।23।। बुद्धिमान् और तपस्वी ही उस गति को प्राप्त होते हैं। जो अज्ञानी, मन्दबुद्धि, शुद्धबुद्धि से रहित और तपस्या से शून्य हैं, वे नहीं; क्योंकि सब कुछ बुद्धि में ही प्रतिष्ठित है।।24।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये सप्तदशोऽध्यायः॥ 17 **॥**

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में युधिष्ठिर का वाक्य विषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ।।17।।

द्वितीयोऽध्यायः

अर्जुन का राजा जनक और उनकी रानी का दृष्टान्त देते हुए युधिष्ठिर को संन्यास ग्रहण करने से रोकना

वैशम्पायन उवाच

तूष्णीम्भूतं तु राजानं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत्।
सन्तप्तः शोकदुःखाभ्यां राजवाक्छल्यपीडितः॥1।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब राजा युधिष्ठिर ऐसा कहकर चुप हो गये, तब राजा के वाग्बाणों से पीड़ित हो शोक और दुःख से संतप्त हुए अर्जुन फिर उनसे बोले।।1।।

अर्जुन उवाच

कथयन्ति पुरावृत्तमितिहासमिमं जनाः।
विदेहराज्ञः संवादं भार्यया सह भारत॥2।।
उत्सृज्य राज्यं भिक्षार्थं कृतबुद्धिं नरेश्वरम्।
विदेहराजमहिषी दुःखिता यदभाषत॥3।।
धनान्यपत्यं दाराश्च रत्नानि विविधानि च।
पन्थानं पावकं हित्वा जनको मौढ्यमास्थितः॥4।।
तं ददर्श प्रिया भार्या भैक्ष्यवृत्तिमकिञ्चनम्।
धानामुष्टिमुपासीनं निरीहं गतमत्सरम्॥5।।
तमुवाच समागत्य भर्तारमकुतोभयम्।
क्रुद्धा मनस्विनी भार्या विविक्ते हेतुमद् वचः॥6।।

कथमुत्सृज्य राज्यं स्वं धनधान्यसमन्वितम्।
कापालीं वृत्तिमास्थाय धानामुष्टिर्न ते वरः॥7।।
प्रतिज्ञा तेऽन्यथा राजन् विचेष्टा चान्यथा तव।
यद् राज्यं महदुत्सृज्य स्वल्पे तुष्यसि पार्थिव॥8।।
नैते नातिथयो राजन् देवर्षिपितरस्तथा।
अद्य शक्यास्त्वया भर्तुं मोघस्तेऽयं परिश्रमः॥9।।
देवतातिथिभिश्चैव पितृभिश्चैव पार्थिव।
सर्वैरेतैः परित्यक्तः परिव्रजसि निष्क्रियः॥10।।

बर्हुन ने कहा—भारत! विज्ञ पुरुष विदेहराज जनक और उनकी रानी का संवादरूप यह प्राचीन इतिहास कहा करते हैं।।2।। एक समय राजा जनक ने भी राज्य छोड़कर भिक्षा से जीवन निर्वाह कर लेने का निश्चय कर लिया था। उस समय विदेहराज की महारानी ने दुःखी होकर जो कुछ कहा था, वही आपको सुना रहा हूँ।।3।। कहते हैं, एक दिन राजा जनक पर मूढ़ता छा गयी और वे धन, सन्तान, स्त्री, नाना प्रकार के रत्न, सनातन मार्ग और अग्निहोत्र का भी त्याग करके अकिञ्चन हो गये। उन्होंने भिक्षु वृत्ति अपना ली और वे मुट्ठी भर भुना जौ खाकर रहने लगे। उन्होंने सब प्रकार की चेष्टाएँ छोड़ दीं। उनके मन में किसी के प्रति ईर्ष्या का भाव नहीं रह गया था। इस प्रकार निर्भय स्थिति में पहुँचे हुए अपने स्वामी को उनकी भार्या ने देखा और उनके पास आकर कुपित हुई और उस मनस्विनी एवं प्रिय रानी ने एकान्त में यह युक्तियुक्त बात कही—।।4-6।। 'राजन्! आपने धन-धान्य से सम्पन्न अपना राज्य छोड़कर यह खपड़ा लेकर भीख माँगने का धन्धा कैसे अपना लिया? यह मुट्ठी भर जौ आपको शोभा नहीं दे रहा है।।7।। नरेश्वर! आपकी प्रतिज्ञा तो कुछ और थी और यह चेष्टा कुछ और ही दिखायी देती है। भूपाल! आपने विशाल राज्य छोड़कर थोड़ी-सी वस्तु में सन्तोष कर लिया।।8।। राजन्! इस मुट्ठी भर जौ से देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा अतिथियों का आप भरण-पोषण नहीं कर सकते, अतः आपका यह परिश्रम व्यर्थ है।।9।। पृथ्वीनाथ! आप सम्पूर्ण देवताओं, अतिथियों और पितरों से परित्यक्त होकर अकर्मण्य हो घर छोड़ रहे हैं।।10।।

यस्त्वं त्रैविद्यवृद्धानां ब्राह्मणानां सहस्रशः।
भर्ता भूत्वा च लोकस्य सोऽद्य तैर्भृतिमिच्छसि॥11।।
श्रियं हित्वा प्रदीप्तां त्वं श्ववत् सम्प्रति वीक्ष्यसे।
अपुत्रा जननी तेऽद्य कौसल्या चापतिस्त्वया॥12।।
अमी च धर्मकामास्त्वां क्षत्रियाः पर्युपासते।
त्वदाशामभिकाङ्क्षन्तः कृपणाः फलहेतुकाः॥13।।
तांश्च त्वं विफलान् कुर्वन् कं नु लोकं गमिष्यसि।
राजन् संशयिते मोक्षे परतन्त्रेषु देहिषु॥14।।
नैव तेऽस्ति परो लोको नापरः पापकर्मणः।

धर्म्यान् दारान् परित्यज्य यस्त्वमिच्छसि जीवितुम्॥15॥
स्रजो गन्धानलङ्कारान् वासांसि विविधानि च।
किमर्थमभिसन्त्यज्य परिव्रजसि निष्क्रियः॥16॥
निपानं सर्वभूतानां भूत्वा त्वं पावनं महत्।
आढ्यो वनस्पतिर्भूत्वा सोऽन्यांस्त्वं पर्युपाससे॥17॥
खादन्ति हस्तिनं न्यासैः क्रव्यादा बहवोऽप्युत।
बहवः कृमयश्चैव किं पुनस्त्वामनर्थकम्॥18॥
य इमां कुण्डिकां भिन्द्यात् त्रिविष्टब्धं च यो हरेत्।
वासश्चापि हरेत् तस्मिन् कथं ते मानसं भवेत्॥19॥
यस्त्वयं सर्वमुत्सृज्य धानामुष्टेरनुग्रहः।
यदानेन समं सर्वं किमिदं ह्यवसीयसे॥20॥

तीनों वेदों के ज्ञान में बढ़े चढ़े सहस्रों ब्राह्मणों तथा इस सम्पूर्ण जगत् का भरण-पोषण करने वाले होकर भी आज आप उन्हीं के द्वारा अपना भरण-पोषण चाहते हैं॥11॥ इस जगमगाती हुई राजलक्ष्मी को छोड़कर इस समय आप दर-दर भटकने वाले कुत्ते के समान दिखायी देते हैं। आज आपके जीते जी आपकी माता पुत्रहीन और यह अभागिनी कौशल्या पतिहीन हो गयी॥12॥ ये धर्म की इच्छा रखने वाले क्षत्रिय जो सदा आपकी सेवा में बैठे रहते हैं, आपसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखते हैं, इन बेचारों को सेवा का फल चाहिये॥13॥ राजन्! मोक्ष की प्राप्ति संशयास्पद है और प्राणी प्रारब्ध के अधीन है, ऐसी दशा में उन अर्थार्थी सेवकों को यदि आप विफल मनोरथ करते हैं तो पता नहीं, किस लोक में जाएँगे?॥14॥ आप अपनी धर्मपत्नी का परित्याग करके जो अकेला जीवन बिताना चाहते हैं, इससे आप पापकर्मा बन गये हैं; अत: आपके लिए न यह लोक सुखद होगा, न परलोक॥15॥ बताइये तो सही, इन सुन्दर सुन्दर मालाओं, सुगन्धित पदार्थों, आभूषणों और भाँति भाँति के वस्त्रों को छोड़कर किसलिए कर्महीन होकर घर का परित्याग कर रहे हैं॥16॥ आप सम्पूर्ण प्राणियों के लिए पवित्र एवं विशाल प्याऊ के समान थे—सभी आपके पास अपनी प्यास बुझाने आते थे। आप फलों से भरे हुए वृक्ष के समान थे—कितने ही प्राणियों की भूख मिटाते थे, परन्तु वे ही आप सब (भूख प्यास मिटाने के लिए) दूसरों का मुँह जोह रहे हैं॥17॥ यदि हाथी भी सारी चेष्टा छोड़कर एक जगह पड़ जाए तो मांसभक्षी जीव-जन्तु और कीड़े धीरे-धीरे उसे खा जाते हैं, फिर सब पुरुषार्थों से शून्य आप जैसे मनुष्यों की बात ही क्या है?॥18॥ यदि आपकी कोई यह कुण्डी फोड़ दे, त्रिदण्ड उठा ले जाए और ये वस्त्र भी चुरा ले जाए तो उस समय आपके मन की कैसी अवस्था होगी?॥19॥ यदि सब कुछ छोड़कर भी आप मुट्ठी भर जो के लिए दूसरों की कृपा चाहते हैं तो राज्य आदि अन्य सब वस्तुएँ भी तो इसी के समान हैं, फिर उस राज्य के त्याग की क्या विशेषता रही?॥20॥

धानामुष्टेरिहार्थश्चेत् प्रतिज्ञा ते विनश्यति।
का वाहं तव को मे त्वं कश्च ते मय्यनुग्रहः॥21॥

प्रशाधि पृथिवीं राजन् यदि तेऽनुग्रहो भवेत्।
प्रासादं शयनं यानं वासांस्याभरणानि च॥22।।
श्रिया विहीनैरधनैस्त्यक्तमित्रैरकिञ्चनैः।
सौखिकैः सम्भृतानर्थान् यः सन्त्यजति किं नु तत्॥23।।
योऽत्यन्तं प्रतिगृह्णीयाद् यश्च दद्यात् सदैव हि।
तयोस्त्वमन्तरं विद्धि श्रेयांस्ताभ्यां क उच्यते॥24।।
सदैव याचमानेषु तथा दम्भान्वितेषु च।
एतेषु दक्षिणा दत्ता दावाग्नाविव दुर्हुतम्॥25।।
जातवेदा यथा राजन्नादग्ध्वैवोपशाम्यति।
सदैव याचमानो हि तथा शाम्यति न द्विजः॥26।।
सतां वै ददतोऽन्नं च लोकेऽस्मिन् प्रकृतिर्ध्रुवा।
न चेद् राजा भवेद् दाता कुतः स्युर्मोक्षकाङ्क्षिणः॥27।।
अन्नाद् गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तत एव च।
अन्नात्प्राणः प्रभवति अन्नदः प्राणदो भवेत्॥28।।
गृहस्थेभ्योऽपि निर्मुक्ता गृहस्थानेव संश्रिताः।
प्रभवं च प्रतिष्ठां च दान्ता विन्दन्त आसते॥29।।
त्यागान्न भिक्षुकं विद्यान्न मौढ्यान्न च याचनात्।
ऋजुस्तु योऽर्थं त्यजति नसुखं विद्धि भिक्षुकम्॥30।।

यदि यहाँ मुट्ठी भर जौ की आवश्यकता बनी ही रह गयी तो सब कुछ त्याग देने की जो आपने प्रतिज्ञा की थी, वह नष्ट हो गयी। (सर्वत्यागी हो जाने पर) मैं आपकी कौन हूँ और आप मेरे कौन हैं तथा आपका मुझ पर अनुग्रह भी क्या है?।।21।। राजन्! यदि आपका मुझ पर अनुग्रह हो तो इस पृथ्वी का शासन कीजिये और राजमहल, शय्या, सवारी, वस्त्र तथा आभूषणों को भी उपयोग में लाइये।।22।। श्रीहीन, निर्धन, मित्रों द्वारा त्यागे हुए, अकिञ्चन एवं सुख की अभिलाषा रखने वाले लोगों की भाँति सब प्रकार से परिपूर्ण राजलक्ष्मी का जो परित्याग करता है उससे उसे क्या लाभ?।।23।। जो बराबर दूसरों से दान लेता (भिक्षा ग्रहण करता) तथ जो निरन्तर स्वयं ही दान करता रहता है, उन दोनों में क्या अन्तर है और उनमें से किसको श्रेष्ठ कहा जाता है? यह आप समझिये।।24।। सदा ही याचना करने वाले को और दम्भी को दी हुई दक्षिणा दावानल में दी गई आहुति के समान व्यर्थ है।।25।। राजन्! जैसे आग लकड़ी को जलाये बिना नहीं बुझती, उसी प्रकार सदा ही याचना करने वाला ब्राह्मण (याचना का अन्त किये बिना) कभी शान्त नहीं हो सकता।।26।। इस संसार में दाता का अन्न ही साधु पुरुषों की जीविका का निश्चित आधार है। यदि दान करने वाला राजा न हो तो मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले साधु संन्यासी कैसे जी सकते हैं?।।27।। इस जगत् में अन्न से गृहस्थ और गृहस्थों से भिक्षुओं का निर्वाह होता है। अन्न से प्राणशक्ति प्रकट होती है;

अत: अन्नदाता प्राणदाता होता है।।28।। जितेन्द्रिय संन्यासी गृहस्थ आश्रम से अलग होकर भी गृहस्थों के ही सहारे जीवन धारण करते हैं। वहीं से वह प्रकट होते हैं और वहीं उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।।29।। केवल त्याग से, मूढ़ता से और याचना करने से किसी को भिक्षु नहीं समझना चाहिये। जो सरल भाव से स्वार्थ का त्याग करता है और सुख में आसक्त नहीं होता, उसे ही भिक्षु समझिये।।30।।

असक्त: सक्तवद् गच्छन्नि:सङ्गो मुक्तबन्धन:।
सम: शत्रौ च मित्रे च स वै मुक्तो महीपते॥31।।
परिव्रजन्ति दानार्थं मुण्डा: काषायवाससः।
सिता बहुविधै: पाशै: सञ्चिन्वन्तो वृथामिषम्॥32।।
त्रयीं च नाम वार्तां च त्यक्त्वा पुत्रान् व्रजन्ति ये।
त्रिविष्टब्धं च वासश्च प्रतिगृह्णन्त्यबुद्धय:॥33।।
अनिष्कषाये काषायमीहार्थमिति विद्धि तम्।
धर्मध्वजानां मुण्डानां वृत्त्यर्थमिति मे मिति:॥34।।
काषायैरजिनैश्चीरैर्नग्नान् मुण्डान् जटाधरान्।
बिभ्रत् साधून् महाराज जय लोकान् जितेन्द्रिय:॥35।।
अग्न्याधेयानि गुर्वर्थं क्रतूनपि सुदक्षिणान्।
ददात्यहरह: पूर्वं को नु धर्मरतस्तत:॥36।।

पृथ्वीनाथ! जो आसक्ति रहित होकर आसक्त की भाँति विचरता है, जो सङ्ग रहित एवं सब प्रकार के बन्धनों को तोड़ चुका है तथा शत्रु और मित्र में जिसका समान भाव है, वह सदा मुक्त ही है।।31।। बहुत-से मनुष्य दान लेने (पेट पालने) के लिए मूंड़ मुंडाकर गेरुए वस्त्र पहन लेते हैं और घर से निकल जाते हैं। वे नाना प्रकार के बन्धनों में बँधे होने के कारण व्यर्थ भोगों की ही खोज करते रहते हैं[1]।।32।। बहुत-से मूर्ख मनुष्य तीनों वेदों के अध्ययन, इनमें बताये गये कर्म, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य तथा अपने पुत्रों का परित्याग करके चल देते हैं और त्रिदण्ड एवं भगवा वस्त्र धारण कर लेते हैं।।33।। यदि हृदय का कषाय (राग आदि दोष) दूर न हुआ तो काषाय (गेरुआ) वस्त्र धारण करना स्वार्थ साधन की चेष्टा के लिए ही समझना चाहिये। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि धर्म का ढोंग रखने वाले मथमुंडों के लिए यह जीविका चलाने का एक धन्धा मात्र है।।34।। महाराज! आप तो जितेन्द्रिय होकर नंगे रहने वाले, मूंड़ मुड़ाने और जटा रखाने वाले साधुओं का गेरुआ वस्त्र, मृगचर्म एवं वल्कल वस्त्रों के द्वारा भरण-पोषण करते हुए पुण्य लोकों पर विजय प्राप्त कीजिये।।35।। जो प्रतिदिन पहले गुरु के लिए अग्निहोत्रार्थ समिधा लाता है; फिर उत्तम दक्षिणाओं से युक्त यज्ञ एवं दान करता रहता है, उससे बढ़कर धर्मपरायण कौन होगा?'।।36।।

---

1. इसी पर्व में अध्याय 17 श्लोक 17 देखना चाहिये।

अर्जुन उवाच

तत्त्वज्ञो जनको राजा लोकेऽस्मिन्निति गीयते।
सोऽप्यासीन् मोहसम्पन्नो मा मोहवशमन्वगाः॥37॥
एवं धर्ममनुक्रान्ताः सदा दानतपः पराः।
आनृशंस्यगुणोपेताः कामक्रोधविवर्जिताः॥38॥
प्रजानां पालने युक्ता दानमुत्तममास्थिताः।
इष्टाँल्लोकानवाप्स्यामो गुरुवृद्धोपचायिनः॥39॥
देवतातिथिभूतानां निर्वपन्तो यथाविधि।
स्थानमिष्टमवाप्स्यामो ब्राह्मण्याः सत्यवादिनः॥40॥

अर्जुन कहते हैं—महाराज! राजा जनक को इस जगत् में 'तत्त्वज्ञ' कहा जाता है; किन्तु वे भी मोह में पड़ गये थे (रानी के इस तरह समझाने पर राजा ने संन्यास का विचार छोड़ दिया। अतः) आप भी मोह के वशीभूत न होइये॥37॥ यदि हम लोग सदा दान और तपस्या में तत्पर हो इसी प्रकार धर्म का अनुसरण करेंगे, दया आदि गुणों से सम्पन्न रहेंगे, काम-क्रोध आदि दोषों को त्याग देंगे, उत्तम दान धर्म का आश्रय ले प्रजापालन में लगे रहेंगे तथा गुरुजनों और वृद्ध पुरुषों की सेवा करते रहेंगे तो हम अपने अभीष्ट लोक प्राप्त कर लेंगे॥38-39॥ इसी प्रकार देवता, अतिथि और समस्त प्राणियों को विधिपूर्वक उनका भाग अर्पण करते हुए यदि हम ब्राह्मण भक्त और सत्यवादी बने रहेंगे तो हमें अभीष्ट स्थान की प्राप्ति अवश्य होगी॥40॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये
अष्टादशोऽध्यायः॥ 18 **॥**

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में अर्जुन का वाक्य विषयक अट्ठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥18॥

जनकगीता सम्पूर्णा

सेनजिद्गीता–I

प्रथमोऽध्यायः

सेनजित् के उपदेश युक्त उद्गारों का उल्लेख करके व्यासजी का युधिष्ठिर को समझाना

वैशम्पायन उवाच

द्वैपायनवचः श्रुत्वा कुपिते च धनञ्जये।
व्यासमामन्त्र्य कौन्तेयः प्रत्युवाच युधिष्ठिरः॥1॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! व्यासजी की बात सुनकर और अर्जुन के कुपित हो जाने पर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने व्यासजी को आमन्त्रित करके उत्तर देना आरम्भ किया॥1॥

युधिष्ठिर उवाच

न पार्थिवमिदं राज्यं न भोगाश्च पृथग्विधाः।
प्रीणयन्ति मनो मेऽद्य शोको मां रुन्धयत्ययम्॥2॥
श्रुत्वा वीरविहीनानामपुत्राणां च योषिताम्।
परिदेवयमानानां शान्तिं नोपलभे मुने॥3॥
इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं व्यासो योगविदां वरः।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञो धर्मज्ञो वेदपारगः॥4॥

युधिष्ठिर बोले—मुने! यह भूतल का राज्य और ये भिन्न-भिन्न प्रकार के भोग आज मेरे मन को प्रसन्न नहीं कर रहे हैं। यह शोक मुझे चारों ओर से घेरे हुए है॥2॥ महर्षे! पति और पुत्रों से हीन हुई युवतियों का करुण विलाप सुनकर मुझे शान्ति नहीं मिल रही है॥3॥ युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर योगवेत्ताओं में श्रेष्ठ और वेदों के पारङ्गत विद्वान् धर्मज्ञ महाज्ञानी व्यास ने उनसे फिर इस प्रकार कहा॥4॥

व्यास उवाच

न कर्मणा लभ्यते चिन्तया वा नाप्यस्ति दाता पुरुषस्य कश्चित्।
पर्याययोगाद् विहितं विधात्रा कालेन सर्वं लभते मनुष्यः॥5॥
न बुद्धिशास्त्राध्ययनेन शक्यं प्राप्तुं विशेषं मनुजैरकाले।
मूर्खोऽपि चाप्नोति कदाचिदर्थान् कालो हि कार्यं प्रति निर्विशेषः॥6॥
नाभूतिकालेषु फलं ददन्ति शिल्पानि मन्त्राश्च तथौषधानि।
तान्येव कालेन समाहितानि सिद्ध्यन्ति वर्धन्ति च भूतिकाले॥7॥
कालेन शीघ्राः प्रवहन्ति वाताः कालेन वृष्टिर्जलदानुपैति।

कालेन पद्मोत्पलवज्जलं च कालेन पुष्यन्ति वनेषु वृक्षाः॥8॥
कालेन कृष्णाश्च सिताश्च रात्र्यः कालेन चन्द्रः परिपूर्णबिम्बः।
नाकालतः पुष्पफलं द्रुमाणां नाकालवेगाः सरितो वहन्ति॥9॥
नाकालमत्ताः खगपन्नगाश्च मृगद्विपाः शैलमृगाश्च लोके।
नाकालतः स्त्रीषु भवन्ति गर्भा नायान्त्यकाले शिशिरोष्णवर्षाः॥10॥
नाकालतो म्रियते जायते वा नाकालतो व्याहरते च बालः।
नाकालतो यौवनमभ्युपैति नाकालतो रोहति बीजमुप्तम्॥11॥
नाकालतो भानुरुपैति योगं नाकालतोऽस्तङ्गिरिमभ्युपैति।
नाकालतो वर्धते हीयते च चन्द्रः समुद्रोऽपि महोर्मिमाली॥12॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं राज्ञा सेनजिता दुःखार्तेन युधिष्ठिर॥13॥
सर्वानेवैष पर्यायो मर्त्यान् स्पृशति दुःसहः।
कालेन परिपक्वा हि म्रियन्ते सर्वपार्थिवाः॥14॥
घ्नन्ति चान्यान्नरा राजंस्तानप्यन्ये तथा नराः।
सञ्ज्ञैषा लौकिकी राजन् न हिनस्ति न हन्यते॥15॥
हन्तीति मन्यते कश्चिन्न हन्तीत्यपि चापरः।
स्वभावतस्तु नियतौ भूतानां प्रभवाप्ययौ॥16॥

व्यासजी बोले—राजन्! न तो कोई कर्म करने से नष्ट हुई वस्तु मिल सकती है, न चिन्ता से ही। कोई ऐसा दाता भी नहीं है, जो मनुष्य को उसकी विनष्ट वस्तु दे दे। बारी-बारी से विधाता के विधानानुसार मनुष्य समय पर सब कुछ पा लेता है।।5।। बुद्धि अथवा शास्त्राध्ययन से भी मनुष्य असमय में किसी विशेष वस्तु को नहीं पा सकता और समय आने पर कभी-कभी मूर्ख भी अभीष्ट पदार्थों को प्राप्त कर लेता है; अतः काल ही कार्य की सिद्धि में सामान्य कारण है।।6।। अवनति के समय शिल्प कलाएँ, मन्त्र तथा औषध भी कोई फल नहीं देते हैं। वे ही जब उन्नति के समय उपयोग में लाये जाते हैं, तब काल की प्रेरणा से सफल होते और वृद्धि में सहायक बनते हैं।।7।। समय से ही तेज हवा चलती है, समय से ही मेघ जल बरसाते हैं, समय से ही पानी में कमल तथा उत्पल उत्पन्न हो जाते हैं और समय से ही वन में वृक्ष पुष्ट होते हैं।।8।। समय से ही अन्धेरी और उजेली रातें होती हैं, समय से ही चन्द्रमा का मण्डल परिपूर्ण होता है, असमय में वृक्षों में फल और फूल भी नहीं लगते हैं और न असमय में नदियाँ ही वेग से बहती हैं।।9।। लोक में पक्षी, सर्प, जङ्गली मृग, हाथी और पहाड़ी मृग भी समय आये बिना मतवाले नहीं होते हैं। असमय में स्त्रियों के गर्भ नहीं रहते और बिना समय के सर्दी, गर्मी तथा वर्षा भी नहीं होती है।।10।। बालक समय आये बिना न जन्म लेता है, न मरता है और न असमय में बोलता ही है। बिना समय के जवानी नहीं आती और बिना समय के बोया हुआ बीज भी नहीं उगता है।।11।। असमय में सूर्य उदयाचल से संयुक्त नहीं होते हैं, समय आये बिना वे अस्ताचल पर भी नहीं जाते हैं, असमय में न तो चन्द्रमा घटते बढ़ते हैं और न समुद्र में ही ऊँची ऊँची तरङ्गें उठती हैं।।12।। युधिष्ठिर!

इस विषय में लोग एक प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं। एक समय शोक से आतुर हुए राजा सेनजित् ने जो उद्गार प्रकट किया था, वही तुम्हें सुना रहा हूँ।।13।। (राजा सेनजित् ने मन–ही–मन कहा कि) 'यह दुःसह कालचक्र सभी मनुष्यों पर अपना प्रभाव डालता है। एक दिन सभी भूपाल काल से परिपक्व होकर मृत्यु के अधीन हो जाते हैं।।14।। राजन्! मनुष्य दूसरों को मारते हैं, फिर उन्हें भी दूसरे लोग मार देते हैं। नरेश्वर! यह मरना मारना लौकिक संज्ञा मात्र है। वास्तव में न कोई मारता है और न मारा ही जाता है।।15।। एक ही मानता है कि 'आत्मा मारता है' दूसरा ऐसा मानता है कि 'नहीं मारता है'। पाञ्चभौतिक शरीरों के जन्म और मरण स्वभावतः नियत हैं।।16।।

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
अहो दुःखमिति ध्यायन् दुःखस्यापचितिं चरेत्॥17।।
स किं शोचसि मूढः सन्शोच्यान् किमनुशोचसि।
पश्य दुःखेषु दुःखानि भयेषु च भयान्यपि॥18।।
आत्मापि चायं न मम सर्वापि पृथिवी मम।
यथा मम तथान्येषामिति पश्यन् न मुह्यति॥19।।
शोकस्थानसहस्राणि हर्षस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥20।।
एवमेतानि कालेन प्रियद्वेष्याणि भागशः।
जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च॥21।।
दुःखमेवास्ति न सुखं तस्मात्तदुपलभ्यते।
तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम्॥22।।
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम्॥23।।
सुखमेव हि दुःखान्तं कदाचिद्दुःखतः सुखम्।
तस्मादेतद् द्वयं जह्याद् य इच्छेच्छाश्वतं सुखम्॥24।।
सुखान्तप्रभवं दुःखं दुःखान्तप्रभवं सुखम्।
यन्निमित्तो भवेच्छोकस्तापो वा भृशदारुणः॥25।।
आयासो वापि यन्मूलस्तदेकाङ्गमपि त्यजेत्।
सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः॥26।।

धन के नष्ट होने पर अथवा स्त्री, पुत्र या पिता की मृत्यु होने पर मनुष्य 'हाय! मुझ पर बड़ा भारी दुःख आ पड़ा' इस प्रकार चिन्ता करते हुए उस दुःख की निवृत्ति की चेष्टा करता है।।17।। तुम मूढ़ बनकर शोक क्यों कर रहे हो? उन मरे हुए शोचनीय व्यक्तियों का बारम्बार स्मरण ही क्यों करते हो? देखो, शोक करने से दुःख में दुःख तथा भय में भय की वृद्धि होगी।।18।। यह शरीर भी अपना नहीं है और सारी पृथ्वी भी अपनी नहीं है। यह जिस तरह से मेरी है, उसी तरह दूसरों की भी है। ऐसी दृष्टि रखने वाला पुरुष

कभी मोह में नहीं फँसता है।।19।। शोक के सहस्रों स्थान हैं, हर्ष के भी सैकड़ों अवसर हैं। वे प्रतिदिन मूढ़ मनुष्य ही प्रभाव डालते हैं, विद्वान् पर नहीं।।20।। इस प्रकार ये प्रिय और अप्रिय भाव ही दुःख और सुख बनकर अलग-अलग सभी जीवों को प्राप्त होते रहते हैं।।21।। संसार में केवल दुःख ही है, सुख नहीं, अतः दुःख ही उपलब्ध होता है। तृष्णाजनित पीड़ा से दुःख और दुःख की पीड़ा से सुख होता है अर्थात् दुःख से आर्त्त हुए मनुष्य को ही उसके न रहने पर सुख की प्राप्ति होती है।।22।। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आता है। कोई भी न तो सदा दुःख पाता है और न निरन्तर सुख ही प्राप्त करता है।।23।। कभी दुःख के अन्त में सुख और कभी सुख के अन्त में दुःख भी आता है; अतः जो नित्य सुख की इच्छा रखता हो; वह इन दोनों का परित्याग कर दे; क्योंकि दुःख सुख के अन्त में अवश्यम्भावी है, वैसे ही सुख भी दुःख के अन्त में अवश्यम्भावी है। जिसके कारण शोक और बढ़ा हुआ ताप हो अथवा जो आयास का भी मूल कारण हो, वह अपने शरीर का एक अङ्ग भी हो तो भी उसको त्याग देना चाहिए। सुख हो या दुःख, प्रिय हो अथवा अप्रिय, जब जो कुछ प्राप्त हो, उस समय उसे सहर्ष अपनावे। अपने हृदय से उसके सामने पराजय न स्वीकार करे (हिम्मत न हारे)।।24-26।।

ईषदप्यङ्ग दाराणां पुत्राणां वा चराप्रियम्।
ततो ज्ञास्यसि कः कस्य केन वा कथमेव च॥27।।
ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः।
त एव सुखमेधन्ते मध्यमः क्लिश्यते जनः॥28।।
इत्यब्रवीन्महाप्राज्ञो युधिष्ठिर स सेनजित्।
परावरज्ञो लोकस्य धर्मवित् सुखदुःखवित्॥29।।
येन दुःखेन यो दुःखी न स जातु सुखी भवेत्।
दुःखानां हि क्षयो नास्ति जायते ह्यपरात्परम्॥30।।
सुखं च दुःखं च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति तस्माद्धीरो नैव हृष्येन्न शोचेत्॥31।।
दीक्षां राज्ञः संयुगे युद्धमाहुर्योगं राज्ये दण्डनीत्यां च सम्यक्।
वित्तत्यागो दक्षिणानां च यज्ञे सम्यग् दानं पावनानीति विद्यात्॥32।।
रक्षन् राज्यं बुद्धिपूर्वं नयेन सन्त्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा।
सर्वाल्लँोकान् धर्मदृष्ट्या चरंश्चाप्यूर्ध्वं देहान्मोदते देवलोके॥33।।
जित्वा सङ्ग्रामान् पालयित्वा च राष्ट्रं सोमं पीत्वा वर्धयित्वा प्रजाश्च।
युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां युद्धे क्षीणो मोदते देवलोके॥34।।
सम्यग्वेदान् प्राप्य शास्त्राण्यधीत्य सम्यग् राज्यं पालयित्वा च राजा।
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे पूतात्मा वै मोदते देवलोके॥35।।
यस्य वृत्तं नमस्यन्ति स्वर्गस्थस्यापि मानवाः।
पौरजानपदामात्याः स राजा राजसत्तमः॥36।।

प्रिय मित्र! स्त्री अथवा पुत्रों का थोड़ा-सा भी अप्रिय कर दो, फिर स्वयं समझ जाओगे कि कौन किस हेतु से किस तरह किसके साथ कितना सम्बन्ध रखता है?।।27।। संसार में जो अत्यन्त मूर्ख हैं, अथवा जो बुद्धि से परे पहुँच गये हैं, वे ही सुखी होते हैं; बीच वाले लोग कष्ट ही उठाते हैं।।28।। युधिष्ठिर! लोक के भूत और भविष्य तथा सुख एवं दुःख को जानने वाले धर्मवेत्ता महाज्ञानी सेनजित् ने ऐसा ही कहा है।।29।। जिस किसी भी दुःख से जो दुःखी है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता; क्योंकि दुःखों का अन्त नहीं है। एक दुःख से दूसरा दुःख होता ही रहता है।।30।। सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये समय-समय पर क्रम से सबको प्राप्त होते हैं; इसलिए धीर पुरुष इनके लिए हर्ष और शोक न करे।।31।। राजा के लिए संग्राम में जूझना ही यज्ञ की दीक्षा लेना बताया गया है। राज्य की रक्षा करते हुए दण्डनीति में भली भाँति प्रतिष्ठित होना ही उसके लिए योग साधन है तथा यज्ञ में दक्षिणा रूप से धन का त्याग एवं उत्तम रीति से दान ही राजा के लिए त्याग है। ये तीनों कर्म राजा को पवित्र करने वाले हैं, ऐसा समझे।।32।। जो राजा अहङ्कार छोड़कर बुद्धिमानी से नीति के अनुसार राज्य की रक्षा करता है, स्वभाव से ही यज्ञ के अनुष्ठान में लगा रहता है और धर्म की रक्षा को दृष्टि में रखकर सम्पूर्ण लोकों में विचरता है, वह महामनस्वी नरेश देह त्याग के पश्चात् देवलोक में आनन्द भोगता है।।33।। जो संग्राम में विजय, राष्ट्र का पालन, यज्ञ में सोमरस का पान, प्रजाओं की उन्नति तथा प्रजावर्ग के हित के लिए युक्तिपूर्वक दण्ड धारण करते हुए युद्ध में मृत्यु को प्राप्त होता है, वह देवलोक में आनन्द का भागी होता है।।34।। सम्यक् प्रकार से वेदों का ज्ञान, शास्त्रों का अध्ययन, राज्य का ठीक-ठीक पालन तथा चारों वर्णों का अपने-अपने धर्म में स्थापन करके जो अपने मन को पवित्र कर चुका है, वह राजा देवलोक में सुखी होता है।।35।। स्वर्गलोक में रहने पर भी जिसके चरित्र को नगर और जनपद के मनुष्य एवं मन्त्री मस्तक झुकाते हैं, वही राजा समस्त नरपतियों में सबसे श्रेष्ठ है।।36।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनजिदुपाख्याने पञ्चविंशोऽध्यायः॥ 25 **॥**

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में सेनजित् का उपाख्यान विषयक पच्चीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।25।।

सेनजिद्गीता-I सम्पूर्ण

अश्मगीता

प्रथमोऽध्यायः

अश्मा ऋषि और जनक के संवाद द्वारा प्रारब्ध की प्रबलता बतलाते हुए व्यासजी का युधिष्ठिर को समझाना

वैशम्पायन उवाच

ज्ञातिशोकाभितप्तस्य प्राणानभ्युत्सिसृक्षतः।
ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य व्यासः शोकमपानुदत्॥1॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भाई बन्धुओं के शोक से संतप्त हो अपने प्राणों को त्याग देने की इच्छा वाले ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर के शोक को महर्षि व्यास ने इस प्रकार दूर किया॥1॥

व्यास उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अश्मगीतं नरव्याघ्र तन्निबोध युधिष्ठिर॥2॥
अश्मानं ब्राह्मणं प्राज्ञं वैदेहो जनको नृपः।
संशयं परिपप्रच्छ दुःखशोकसमन्वितः॥3॥

व्यासजी बोले—पुरुषसिंह युधिष्ठिर! इस प्रसङ्ग में जानकार लोग अश्मा ब्राह्मण के गीत सम्बन्धी इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं, इसे सुनो॥2॥ एक समय की बात है, दुःख-शोक में डूबे हुए विदेहराज जनक ने ज्ञानी ब्राह्मण अश्मा से अपने मन का सन्देह इस प्रकार पूछा॥3॥

जनक उवाच

आगमे यदि वापाये ज्ञातीनां द्रविणस्य च।
नरेण प्रतिपत्तव्यं कल्याणं कथमिच्छता॥4॥

जनक बोले—ब्रह्मन्! कुटुम्बीजन और धन की उत्पत्ति या विनाश होने पर कल्याण चाहने वाले पुरुष को कैसा निश्चय करना चाहिए?॥4॥

अश्मोवाच

उत्पन्नमिममात्मानं नरस्यानन्तरं ततः।
तानि तान्यनुवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च॥5॥
तेषामन्यतरापत्तौ यद्यदेवोपपद्यते।
तदस्य चेतनामाशु हरत्यभ्रमिवानिलः॥6॥

अभिजातोऽस्मि सिद्धोऽस्मि नास्मि केवलमानुषः।
इत्येभिर्हेतुभिस्तस्य त्रिभिश्चित्तं प्रसिच्यते॥7।।
सम्प्रसक्तमना भोगान् विसृज्य पितृसञ्चितान्।
परिक्षीणः परस्वानामादानं साधु मन्यते॥8।।
तमतिक्रान्तमर्यादमाददानमसाम्प्रतम्।
प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः॥9।।
ये च विंशतिवर्षा वा त्रिंशद्वर्षाश्च मानवाः।
परेण ते वर्षशतान्न भविष्यन्ति पार्थिव॥10।।

अश्मा ने कहा—राजन्! मनुष्य का यह शरीर जब जन्म ग्रहण करता है, तब उसके साथ ही सुख और दुःख भी उसके पीछे लग जाते हैं।।5।। इन दोनों में से एक-न-एक की प्राप्ति तो होती ही है; अतः जो भी सुख या दुःख उपस्थित होता है, वही मनुष्य के ज्ञान को उसी प्रकार हर लेता है, जैसे हवा बादल को उड़ा ले जाती है।।6।। इसी से 'मैं कुलीन हूँ, सिद्ध हूँ और कोई साधारण मनुष्य नहीं हूँ' ये अहङ्कार की तीन धाराएँ मनुष्य के चित्त को सींचने लगती हैं।।7।। फिर वह मनुष्य भोगों में आसक्त चित्त होकर क्रमशः बाप-दादों की रखी हुई कमाई को उड़ाकर कङ्गाल हो जाता है और दूसरों के धन को हड़प लेना अच्छा मानने लगता है।।8।। जैसे व्याध अपने बाणों द्वारा मृगों को आगे बढ़ने से रोकते हैं, उसी प्रकार मर्यादा लाङ्घ कर अनुचित रूप से दूसरों के धन का अपहरण करने वाले उस मनुष्य को राजा लोग दण्ड द्वारा वैसे कुमार्ग पर चलने से रोकते हैं।।9।। राजन्! जो बीस या तीस वर्ष की उम्र वाले मनुष्य चोरी आदि कुकर्मों में लग जाते हैं, वे सौ वर्ष तक जीवित नहीं रह पाते।।10।।

तेषां परमदुःखानां बुद्ध्या भैषज्यमाचरेत्।
सर्वप्राणभृतां वृत्तं प्रेक्षमाणस्ततस्ततः॥11।।
मानसानां पुनर्योनिर्दुःखानां चित्तविभ्रमः।
अनिष्टोपनिपातो वा तृतीयं नोपपद्यते॥12।।
एवमेतानि दुःखानि तानि तानीह मानवम्।
विविधान्युपवर्तन्ते तथा संस्पर्शजान्यपि॥13।।
जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव।
बलिनां दुर्बलानां च ह्रस्वानां महतामपि॥14।।
न कश्चिज्जात्वतिक्रामेज्जरामृत्यू हि मानवः।
अपि सागरपर्यन्तां विजित्येमां वसुन्धराम्॥15।।
सुखं वा यदि वा दुःखं भूतानां पर्युपस्थितम्।
प्राप्तव्यमवशैः सर्वं परिहारो न विद्यते॥16।।
पूर्वे वयसि मध्ये वाप्युत्तरे वा नराधिप।
अवर्जनीयास्तेऽर्था वै काङ्क्षिता ये ततोऽन्यथा॥17।।

अप्रियैः सह संयोगो विप्रयोगश्च सुप्रियैः।
अर्थानर्थौ सुखं दुःखं विधानमनुवर्तते॥18।।
प्रादुर्भावश्च भूतानां देहत्यागस्तथैव च।
प्राप्तिर्व्यायामयोगश्च सर्वमेतत् ततिष्ठितम्॥19।।
गन्धवर्णरसस्पर्शा निवर्तन्ते स्वभावतः।
तथैव सुखदुःखानि विधानमनुवर्तते॥20।।

जहाँ तहाँ समस्त प्राणियों के दुःखद बर्ताव से उन पर जो कुछ बीतता है, उसे देखता हुआ मनुष्य दरिद्रता से प्राप्त होने वाले उन महान् दुःखों का निवारण करने के लिए बुद्धि के द्वारा औषध करे (अर्थात् विचार द्वारा अपने आपको कुमार्ग पर जाने से रोके)।।11।। मनुष्यों का बार-बार मानसिक दुःखों की प्राप्ति के कारण दो ही हैं—चित्त का भ्रम और अनिष्ट की प्राप्ति। तीसरा कोई कारण सम्भव नहीं है।।12।। इस प्रकार मनुष्य को इन्हीं दो कारणों से ये भिन्न-भिन्न प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं। विषयों की आसक्ति से भी ये दुःख प्राप्त होते हैं।।13।। बुढ़ापा और मृत्यु—ये दोनों दो भेड़ियों के समान हैं, जो बलवान्, दुर्बल, छोटे और बड़े सभी प्राणियों को खा जाते हैं।।14।। कोई भी मनुष्य कभी बुढ़ापे और मौत को लाङ्घ नहीं सकता। भले ही समुद्र पर्यन्त इस सारी पृथ्वी पर विजय पा चुका हो।।15।। प्राणियों के निकट जो सुख या दुःख उपस्थित होता है, वह सब उन्हें विवश होकर सहना ही पड़ता है, क्योंकि उसके टालने का कोई उपाय नहीं है।।16।। नरेश्वर! पूर्वावस्था, मध्यावस्था अथवा उत्तरावस्था में कभी-न-कभी वे क्लेश अनिवार्य रूप से प्राप्त होते ही हैं, जिन्हें मनुष्य उनके विपरीत रूप में चाहता है (अर्थात् सुख ही सुख की इच्छा करता है; परन्तु उसे कष्ट भी प्राप्त होते हैं)।।17।। प्रिय वस्तुओं के साथ संयोग, अत्यन्त प्रिय वस्तुओं का वियोग, अर्थ, अनर्थ, सुख और दुःख—इन सबकी प्राप्ति प्रारब्ध के विधान के अनुसार होती है।।18।। प्राणियों की उत्पत्ति, देहावसान, लाभ[1] और हानि—ये सब प्रारब्ध के ही आधार पर स्थित हैं।।19।। जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध स्वभावतः आते-जाते रहते हैं, उसी प्रकार मनुष्य सुख और दुःखों को प्रारब्धानुसार पाता रहता है।।20।।

आसनं शयनं यानमुत्थानं पानभोजनम्।
नियतं सर्वभूतानां कालेनैव भवत्युत॥21।।
वैद्याश्चाप्यातुराः सन्ति बलवन्तश्च दुर्बलाः।
श्रीमन्तश्चापरे षण्ढा विचित्रः कालपर्ययः॥22।।
कुले जन्म तथा वीर्यमारोग्यं रूपमेव च।
सौभाग्यमुपभोगश्च भवितव्येन लभ्यते॥23।।
सन्ति पुत्राः सुबहवो दरिद्राणामनिच्छताम्।
नास्ति पुत्रः समृद्धानां विचित्रं विधिचेष्टितम्॥24।।

---

1. नीलकण्ठ ने 'प्राप्ति' का अर्थ 'लाभ' और 'व्यायाम' का अर्थ उसके विपरीत 'अलाभ' किया है।

व्याधिरग्निर्जलं शस्त्रं बुभुक्षाश्चापदो विषम्।
ज्वरश्च मरणं जन्तोरुच्चाच्च पतनं तथा॥25।।
निर्माणे यस्य यद् दिष्टं ते न गच्छन्ति सेतुना।
दृश्यते नाप्यतिक्रामन्न निष्क्रान्तोऽथवा पुनः॥26।।
दृश्यते चाप्यतिक्रामन्ननिग्राह्योऽथवा पुनः।
दृश्यते हि युवैवेह विनश्यन् वसुमान् नरः।
दरिद्रश्च परिक्लिष्टः शतवर्षो जरान्वितः॥27।।
अकिञ्चनाश्च दृश्यन्ते पुरुषाश्चिरजीविनः।
समृद्धे च कुले जाता विनश्यन्ति पतङ्गवत्॥28।।
प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते।
काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः॥29।।
अहमेतत् करोमीति मन्यते कालेनोदितः।
यद् यदिष्टमसन्तोषाद् दुरात्मा पापमाचरेत्॥30।।

सभी प्राणियों के लिए बैठना, सोना, चलना-फिरना, उठना और खाना-पीना—ये सभी कार्य समय के अनुसार ही नियत रूप से होते रहते हैं।।।21।। कभी-कभी वैद्य भी रोगी, बलवान् भी दुर्बल और श्रीमान् भी असमर्थ हो जाते हैं, यह समय का उलटफेर बड़ा अद्भुत है।।22।। उत्तम कुल में जन्म, बल-पराक्रम, आरोग्य, रूप, सौभाग्य और उपभोग-सामग्री—ये सब होनहार के अनुसार ही प्राप्त होते हैं।।23।। जो दरिद्र हैं और संतान की इच्छा नहीं रखते हैं, उनके तो बहुत-से पुत्र हो जाते हैं और जो धनवान् हैं, उनमें से किसी-किसी को एक पुत्र भी नहीं प्राप्त होता। विधाता की चेष्टा बड़ी विचित्र है।।24।। रोग, अग्नि, जल, शस्त्र, भूख प्यास, विपत्ति, विष, ज्वर और ऊँचे स्थान से गिरना—ये सब जीव की मृत्यु के निमित्त हैं। जन्म के समय जिसके लिए प्रारब्धवश जो निमित्त नियत कर दिया गया है, वही उसका सेतु है, अतः उसी के द्वारा वह जाता है अर्थात् परलोक में गमन करता है। कोई इस सेतु का उल्लङ्घन करता दिखायी नहीं देता अथवा पहले भी किसी ने इसका उल्लङ्घन किया हो, ऐसा देखने में नहीं आया। कोई-न-कोई पुरुष जो (तपस्या आदि प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा) देव के नियन्त्रण में रहने योग्य नहीं है, वह पूर्वोक्त सेतु का उल्लङ्घन करता भी दिखायी देता है।।25-।।26।। इस जगत् में धनवान् मनुष्य भी जवानी में ही नष्ट होता दिखायी देता है और क्लेश में पड़ा हुआ दरिद्र भी सौ वर्षों तक जीवित रहकर अत्यन्त वृद्धावस्था में मरता देखा जाता है।।27।। जिनके पास कुछ नहीं है, ऐसे दरिद्र भी दीर्घजीवी देखे जाते हैं और धनवान् कुल में उत्पन्न हुए मनुष्य भी कीट-पतङ्गों के समान नष्ट होते रहते हैं।।28।। जगत् में प्रायः धनवानों को खाने और पचाने की शक्ति ही नहीं रहती है और दरिद्रों के पेट में काठ भी पच जाते हैं।।29।। दुरात्मा मनुष्य काल से प्रेरित होकर यह अभिमान करने लगता है कि मैं यह करूँगा। तत्पश्चात् असंतोषवश उसे जो-जो अभीष्ट होता है, उस पाप-पूर्ण कृत्य को भी वह करने लगता है।।30।।

मृगयाक्षाः श्रियाः पानं प्रसङ्गा निन्दिता बुधैः।
दृश्यन्ते पुरुषाश्चात्र सम्प्रयुक्ता बहुश्रुताः॥31॥
इति कालेन सर्वार्थानीप्सितानीप्सितानिह।
स्पृशन्ति सर्वभूतानि निमित्तं नोपलभ्यते॥32॥
वायुमाकाशमग्निं च चन्द्रादित्यावहः क्षपे।
ज्योतींषि सरितः शैलान् कः करोति बिभर्ति च॥33॥
शीतमुष्णं तथा वर्षं कालेन परिवर्तते।
एवमेव मनुष्याणां सुखदुःखे नरर्षभ॥34॥
नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः।
त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया चापि मानवम्॥35॥
यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः॥36॥
ये चैव पुरुषाः स्त्रीभिर्गीतवाद्यैरुपस्थिताः।
ये चानाथाः परान्नादाः कालस्तेषु समक्रियः॥37॥
मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम्॥38॥
नैवास्य कश्चिद्धविता नायं भवति कस्यचित्।
पथि सङ्गतमेवेदं दारबन्धुसुहृज्जनैः॥39॥
क्वासे क्व च गमिष्यामि कोन्वहं किमिहास्थितः।
कस्मात् किमनुशोचेयमित्येवं स्थापयेन्मनः॥40॥

विद्वान् पुरुष शिकार करने, जूआ खेलने, स्त्रियों के संसर्ग में रहने और मदिरा पीने के प्रसङ्गों की बड़ी निन्दा करते हैं, परन्तु इन पाप-कर्मों में अनेक शास्त्रों के श्रवण और अध्ययन से सम्पन्न पुरुष भी संलग्न देखे जाते हैं॥31॥ इस प्रकार काल के प्रभाव से समस्त प्राणी इष्ट और अनिष्ट पदार्थों को प्राप्त करते रहते हैं, इस इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति का अदृष्ट के सिवा दूसरा कोई कारण नहीं दिखायी देता॥32॥ वायु, आकाश, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, दिन, रात, नक्षत्र, नदी और पर्वतों को काल के सिवा कौन बनाता और धारण करता है?॥33॥ सर्दी, गर्मी और वर्षा के चक्र भी काल से ही चलता है। नरश्रेष्ठ! इसी प्रकार मनुष्यों के सुख-दुःख भी काल से ही प्राप्त होते हैं॥34॥ वृद्धावस्था और मृत्यु के वश में पड़े हुए मनुष्य को औषध, मन्त्र, होम और जप भी नहीं बचा पाते हैं॥35॥ जैसे महासागर में एक काठ एक ओर से और दूसरा दूसरी ओर से आकर दोनों थोड़ी देर के लिए मिल जाते हैं तथा मिलकर फिर बिछुड़ भी जाते हैं, इसी प्रकार यहाँ प्राणियों के संयोग-वियोग होते रहते हैं॥36॥ जगत् में जिन धनवान् पुरुषों की सेवा में बहुत-सी सुन्दरियाँ गीत और वाद्यों के साथ उपस्थित हुआ करती हैं और जो अनाथ मनुष्य दूसरों के अन्न पर जीवन-निर्वाह करते हैं, उन सबके प्रति काल की समान चेष्टा होती है॥37॥ हमने संसार में अनेक बार जन्म लेकर सहस्रों माता-पिता और सैकड़ों स्त्री-पुत्रों के सुख का अनुभव किया है; परन्तु अब वे किसके

हैं अथवा हम उनमें से किसके हैं?।।38।। इस जीव का न तो कोई सम्बन्धी होगा और न यह किसी का सम्बन्धी है। जैसे मार्ग में चलने वालों को दूसरे राहगीरों का साथ मिल जाता है, उसी प्रकार यहाँ भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र और सुहृदों का समागम होता है।।39।। अतः विवेकी पुरुष को अपने मन में यह विचार करना चाहिए कि 'मैं कहाँ हूँ, कहाँ जाऊँगा, कौन हूँ, यहाँ किसलिए आया हूँ और किस लिये किसका शोक करूँ?'।।40।।

अनित्ये प्रियसंवासे संसारे चक्रवद् गतौ।
पथि सङ्गतमेवैतद् भ्राता माता पिता सखा॥41।।
न दृष्टपूर्वं प्रत्यक्षं परलोकं विदुर्बुधाः।
आगमांस्त्वनतिक्रम्य श्रद्धातव्यं बुभूषता॥42।।
कुर्वीत पितृदैवत्यं धर्माणि च समाचरेत्।
यजेच्च विद्वान् विधिवत् त्रिवर्गं चाप्युपाश्चरेत्॥43।।
सन्निमज्जेज्जगदिदं गम्भीरे कालसागरे।
जरामृत्युमहाग्राहे न कश्चिदवबुध्यते॥44।।
आयुर्वेदमधीयानाः केवलं सपरिग्रहाः।
दृश्यन्ते बहवो वैद्या व्याधिभिः समभिप्लुताः॥45।।
ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च।
न मृत्युमतिवर्तन्ते वेलामिव महोदधिः॥46।।
रसायनविदश्चैव सुप्रयुक्तरसायनाः।
दृश्यन्ते जरया भग्ना नागा नागैरिवोत्तमैः॥47।।
तथैव तपसोपेताः स्वाध्यायाभ्यसने रताः।
दातारो यज्ञशीलाश्च न तरन्ति जरान्तकौ॥48।।
न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः समाः।
जातानां सर्वभूतानां न पक्षा न पुनः क्षपाः॥49।।
सोऽयं विपुलमध्वानं कालेन ध्रुवमध्रुवः।
नरोऽवशः समभ्येति सर्वभूतनिषेवितम्॥50।।

यह संसार चक्र के समान घूमता रहता है। इसमें प्रिय जनों का सहवास अनित्य है। यहाँ भ्राता, मित्र, पिता और माता आदि का साथ रास्ते में मिले हुए बटोहियों के समान ही है।।41।। यद्यपि विद्वान् पुरुष कहते हैं कि परलोक न तो आँखों के सामने है और न पहले का ही देखा हुआ है, तथापि अपने कल्याण की इच्छा रखने वाले पुरुष को शास्त्रों की आज्ञा का उल्लङ्घन न करके उसकी बातों पर विश्वास करना चाहिए।।42।। विज्ञ पुरुष पितरों का श्राद्ध और देवताओं का यजन करे। धर्मानुकूल कार्यों का अनुष्ठान और यज्ञ करें तथा विधिपूर्वक धर्म, अर्थ और काम का भी सेवन करे।।43।। जिसमें जरा और मृत्युरूप बड़े-बड़े ग्राह पड़े हुए हैं, उस गम्भीर कालसमुद्र में यह सारा संसार डूब रहा है, किन्तु कोई इस बात को समझ नहीं पाता है।।44।। केवल आयुर्वेद का

अध्ययन करने वाले बहुत-से वैद्य भी परिवारसहित रोगों के शिकार हुए देखे जाते हैं।।45।। वे कड़वे-कड़वे काढ़े और नाना प्रकार के घृत पीते रहते हैं तो भी जैसे महासागर अपनी तट-भूमि से आगे नहीं बढ़ता, उसी प्रकार वे मौत को लाँघ नहीं पाते हैं।।46।। रसायन जानने वाले वैद्य अपने लिए रसायनों का अच्छी तरह प्रयोग करके भी वृद्धावस्था में वैसे ही जर्जर हुए दिखायी देते हैं, जैसे श्रेष्ठ हाथियों के आघात से टूटे हुए वृक्ष दृष्टिगोचर होते हैं।।47।। इसी प्रकार शास्त्रों के स्वाध्याय और अभ्यास में लगे हुए विद्वान्, तपस्वी, दानी और यज्ञशील पुरुष भी जरा और मृत्यु को पार नहीं कर पाते हैं।।48।। संसार में जन्म लेने वाले सभी प्राणियों के दिन-रात, वर्ष, मास और पक्ष एक बार बीतकर फिर वापस नहीं लोटते हैं।।।49।। मृत्यु के इस विशाल मार्ग का सेवन सभी प्राणियों को करना पड़ता है। इस अनित्य मानव को भी काल से विवश होकर कभी न टलने वाले मृत्यु के मार्ग पर आना ही पड़ता है।।50।।

देहो वा जीवतोऽभ्येति जीवो वाभ्येति देहतः।
पथि सङ्गममभ्येति दारैरन्यैश्च बन्धुभिः॥51।।
नायमत्यन्तसंवासो लभ्यते जातु केनचित्।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित्॥52।।
क्व नु तेऽद्य पिता राजन् क्व नु तेऽद्य पितामहाः।
न त्वं पश्यसि तानद्य न त्वां पश्यन्ति तेऽनघ॥53।।
न चैव पुरुषो द्रष्टा स्वर्गस्य नरकस्य च।
आगमस्तु सतां चक्षुर्नृपते तमिहाचर॥54।।
चरितब्रह्मचर्यो हि प्रजायेत यजेत च।
पितृदेवमनुष्याणामानृण्यादनसूयकः॥55।।
स यज्ञशीलः प्रजने निविष्टः प्राग्ब्रह्मचारी प्रविविक्तचक्षुः।
आराधयेत् स्वर्गमिमं च लोकं परं च मुक्त्वा हृदयव्यलीकम्॥56।।
समं हि धर्मं चरतो नृपस्य द्रव्याणि चाभ्याहरतो यथावत्।
प्रवृत्तधर्मस्य यशोऽभिवर्धते सर्वेषु लोकेषु चराचरेषु॥57।।
इत्येवमाज्ञाय विदेहराजो वाक्यं समग्रं परिपूर्णहेतुः।
अश्मानमामन्त्र्य विशुद्धबुद्धिर्ययौ गृहं स्वं प्रति शान्तशोकः॥58।।
तथा त्वमप्यच्युत मुञ्च शोकमुत्तिष्ठ शक्रोपम हर्षमेहि।
क्षात्रेण धर्मेण मही जिता ते तां भुङ्क्ष्व कुन्तीसुत मावमंस्थाः॥59।।

(आस्तिक मत के अनुसार) जीव (चेतन) से शरीर की उत्पत्ति हो या (नास्तिकों की मान्यता के अनुसार) शरीर से जीव की। सर्वथा स्त्री पुत्र आदि या अन्य बन्धुओं के साथ जो समागम होता है, वह रास्ते में मिलने वाले राहगीतों के समान ही है।।।51।। किसी भी पुरुष को कभी किसी के साथ भी सदा एक स्थान में रहने का सुयोग नहीं मिलता। जब अपने शरीर के साथ भी बहुत दिनों तक सम्बन्ध नहीं रहता, तब दूसरे किसी के साथ कैसे रह सकता है?।।52।। राजन्! आज तुम्हारे पिता कहाँ हैं? आज

तुम्हारे पितामह कहाँ गये? निष्पाप नरेश! आज न तो तुम उन्हें देख रहे हो और न वे तुम्हें देखते हैं।।53।। कोई भी मनुष्य यहीं से इन स्थूल नेत्रों द्वारा स्वर्ग और नरक को नहीं देख सकता। उन्हें देखने के लिए सत्पुरुषों के पास शास्त्र ही एकमात्र नेत्र हैं, अतः नरेश्वर! तुम यहाँ उस शास्त्र के अनुसार ही आचरण करो।।54।। मनुष्य पहले ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन करके गृहस्थ आश्रम स्वीकार करे और पितरों, देवताओं तथा मनुष्यों (अतिथियों) के ऋण से मुक्त होने के लिए सन्तानोत्पादन तथा यज्ञ करे, किसी के प्रति दोष दृष्टि न रखे।।55।। मनुष्य पहले ब्रह्मचर्य का पालन करके सन्तानोत्पादन के लिए विवाह करे, नेत्र आदि इन्द्रियों को पवित्र रखे और स्वर्गलोक तथा इहलोक के सुख की आशा छोड़कर हृदय के शोक-संताप को दूर करके यज्ञ परायण हो परमात्मा की आराधना करता रहे।।56।। राजा यदि नियमपूर्वक प्रजा के निकट से कर के रूप में द्रव्य ग्रहण करे और राग-द्वेष से रहित हो राजधर्म का पालन करता रहे तो उस धर्मपरायण नरेश का सुयश सम्पूर्ण चराचर लोकों में फैल जाता है।।57।। निर्मल बुद्धि वाले विदेहराज जनक अश्मा का यह युक्तिपूर्ण सम्पूर्ण उपदेश सुनकर शोक रहित हो गये और उनकी आज्ञा ले अपने घर को लौट गये।।58।। अपने धर्म से कभी च्युत न होने वाले इन्द्रतुल्य पराक्रमी कुन्तीकुमार युधिष्ठिर! तुम भी शोक छोड़कर उठो और हृदय में हर्ष धारण करो। तुमने क्षत्रिय धर्म के अनुसार इस पृथ्वी पर विजय पायी है; अतः इसे भोगो। इसकी अवहेलना न करो।।59।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
व्यासवाक्येऽष्टाविंशोऽध्यायः॥28 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में व्यास वाक्य विषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।28।।

अश्मगीता सम्पूर्णा

स्वायंभुवमनुगीता

प्रथमोऽध्यायः

स्वायम्भुव मनु के कथनानुसार धर्म का स्वरूप, पाप से शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त, अभक्ष्य वस्तुओं का वर्णन तथा दान के अधिकारी एवं अनधिकारी का विवेचन

युधिष्ठिर उवाच

किं भक्ष्यं चाप्यभक्ष्यं च किं च देयं प्रशस्यते।
किं च पात्रमपात्रं वा तन्मे ब्रूहि पितामह॥1।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! क्या भक्ष्य है और क्या अभक्ष्य? किस वस्तु का दान उत्तम माना जाता है? कौन दान का पात्र है अथवा कौन अपात्र? यह सब मुझे बताइये॥1॥

व्यास उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
सिद्धानां चैव संवादं मनोश्चैव प्रजापतेः॥2।।
ऋषयस्तु व्रतपराः समागम्य पुरा विभुम्।
धर्मं पप्रच्छुरासीनमादिकाले प्रजापतिम्॥3।।
कथमन्नं कथं पात्रं दानमध्ययनं तपः।
कार्याकार्यं च यत् सर्वं शंस वै त्वं प्रजापते॥4।।
तैरेवमुक्तो भगवान् मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।
शुश्रूषध्वं यथावृत्तं धर्मं व्याससमासतः॥5।।
अनादेशे जपो होम उपवासस्तथैव च।
आत्मज्ञानं पुण्यनद्यो यत्र प्रायश्च तत्पराः॥6।।
अनादिष्टं तथैतानि पुण्यानि धरणीभृतः।
सुवर्णप्राशनमपि रत्नादिस्नानमेव च॥7।।
देवस्थानाभिगमनमाज्यप्राशनमेव च।
एतानि मेध्यं पुरुषं कुर्वन्त्याशु न संशयः॥8।।
न गर्वेण भवेत् प्राज्ञः कदाचिदपि मानवः।
दीर्घमायुरथेच्छन्हि त्रिरात्रं चोष्णपो भवेत्॥9।।
अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः।
अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम्॥10।।

व्यासजी बोले—राजन्! इस विषय में लोग प्रजापति मनु और सिद्ध पुरुषों के संवाद रूप इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं।।2।। पहले की बात है एक समय बहुत-से व्रतपरायण तपस्वी ऋषि एकत्र हो प्रजापति राजा मनु के पास गये और उन बैठे हुए नरेश से धर्म की बात पूछते हुए बोले—।।3।। प्रजापते! अन्न क्या है? पात्र कैसा होना चाहिये? दान, अध्ययन और तप का क्या स्वरूप है? क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य? यह सब हमें बताइये।।4।। उनके इस प्रकार पूछने पर भगवान् स्वायम्भुव मनु ने कहा—'महर्षियो! मैं सङ्क्षेप और विस्तार के साथ धर्म का यथार्थ स्वरूप बताता हूँ, आप लोग सुने।।5।। जिनके दोषों का विशेष रूप से उल्लेख नहीं हुआ है, ऐसे कर्म बन जाने पर उनके दोष के निवारण के लिए जप, होम, उपवास, आत्मज्ञान, पवित्र नदियों में स्नान तथा जहाँ जप होम आदि में तत्पर रहने वाले बहुत-से पुण्यात्मा पुरुष रहते हों, उस स्थान का सेवन—ये सामान्य प्रायश्चित्त हैं। ये सारे कर्म पुण्यदायक हैं। पर्वत, सुवर्णप्राशन (सोने से स्पर्श कराये हुए जल का पान), रत्न आदि से मिश्रित जल में स्नान, देवस्थानों की यात्रा और घृतपान—ये सब मनुष्य को शीघ्र ही पवित्र कर देते हैं, इसमें संशय नहीं है।।6-8।। विद्वान् पुरुष कभी गर्व न करे और यदि दीर्घायु की इच्छा हो तो तीन रात तप्तकृच्छ्र व्रत की विधि से गरम गरम दूध, घृत और जल पीये।।9।। बिना दी हुई वस्तु को न लेना, दान, अध्ययन और तप में तत्पर रहना, किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रोध त्याग देना और यज्ञ करना—ये सब धर्म के लक्षण हैं।।10।।

स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः।
आदानमनृतं हिंसा धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः॥11।।
द्विविधौ चाप्युभावेतौ धर्माधर्मौ विजानताम्।
अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिश्च द्वैविध्यं लोकवेदयोः॥12।।
अप्रवृत्तेरमर्त्यत्वं मर्त्यत्वं कर्मणः फलम्।
अशुभस्याशुभं विद्याच्छुभस्य शुभमेव च।
एतयोश्चोभयोः स्यातां शुभाशुभतया तथा॥13।।
दैवं च दैवसंयुक्तं प्राणश्च प्राणदश्च ह।
अपेक्षापूर्वकरणादशुभानां शुभं फलम्॥14।।
ऊर्ध्वं भवति सन्देहादिह दृष्टार्थमेव च।
अपेक्षापूर्वकरणात्प्रायश्चित्तं विधीयते॥15।।
क्रोधमोहकृते चैव दृष्टान्तागमहेतुभिः।
शरीराणामुपक्लेशो मनसश्च प्रियाप्रिये।
तदौषधैश्च मन्त्रैश्च प्रायश्चित्तैश्च शाम्यति॥16।।
उपवासमेकरात्रं दण्डोत्सर्गे नराधिपः।
विशुद्ध्येदात्मशुद्ध्यर्थं त्रिरात्रं तु पुरोहितः॥17।।

क्षयं शोकं प्रकुर्वाणो न म्रियेत यदा नरः।
शस्त्रादिभिरुपाविष्टस्त्रिरात्रं तत्र निर्दिशेत्॥18॥
जातिश्रेण्यधिवासानां कुलधर्मांश्च सर्वतः।
वर्जयन्ति च ये धर्मं तेषां धर्मो न विद्यते॥19॥
दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः।
यद् ब्रूयुः कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्मसंशये॥20॥

एक ही क्रिया देश और काल भेद से धर्म या अधर्म हो जाती है! चोरी करना, झूठ बोलना एवं हिंसा करना आदि अधर्म भी अवस्था विशेष में धर्म माने गये हैं॥11॥ इस प्रकार विज्ञ पुरुषों की दृष्टि में धर्म और अधर्म दोनों ही देश काल के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। धर्माधर्म में जो अप्रवृत्ति और प्रवृत्ति होती हैं, ये भी लोक और वेद के भेद से दो प्रकार की हैं (अर्थात् लौकिकी अप्रवृत्ति और लौकिकी प्रवृत्ति, वैदिकी अप्रवृत्ति और वैदिकी प्रवृत्ति)॥12॥ वैदिकी अप्रवृत्ति (निवृत्ति धर्म) का फल है अमृतत्व (मोक्ष) और वैदिकी प्रवृत्ति अर्थात् सकाम कर्म का फल है जन्म-मरण रूप संसार। लौकिकी अप्रवृत्ति और प्रवृत्ति—ये दोनों यदि अशुभ हों तो उनका फल भी अशुभ समझे तथा शुभ हों तो उनका फल भी शुभ जानना चाहिये; क्योंकि ये दोनों ही शुभ और अशुभ रूप होती हैं॥13॥ देवताओं के निमित्त, दैवयुक्त (शास्त्रीय कर्म), प्राण और प्राणदाता—इन चारों की अपेक्षापूर्वक जो कुछ किया जाता है, उससे अशुभ का भी शुभ ही फल होता है॥14॥ प्राणों पर संशय न होने की स्थिति में अथवा किसी प्रत्यक्ष लाभ के लिए यहाँ जो अशुभ कर्म बन जाता है, उसे इच्छापूर्वक करने के कारण उसके दोष की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त का विधान है॥15॥ यदि क्रोध और मोह के वशीभूत होकर मन को प्रिय या अप्रिय लगने वाले अशुभ कार्य हो जाते हैं तो उनके निवारण के लिए दृष्टान्त प्रतिपादक शास्त्र की दृष्टियों से उपवास आदि के द्वारा शरीर को सुखाना ही करने योग्य प्रायश्चित्त माना गया है। इसके सिवा, हविष्यान्न भोजन, मन्त्रों के जप तथा अन्यान्य प्रायश्चित्तों से भी क्रोध आदि के कारण किए गए पाप की शान्ति होती है॥16॥ यदि राजा दण्डनीय पुरुष को दण्ड न दे तो उसे अपनी शुद्धि के लिए एक दिन-रात का उपवास करना चाहिये। यदि पुरोहित राजा को ऐसे अवसर पर कर्त्तव्य का उपदेश न दे तो उसे तीन रात उपवास करना चाहिये॥17॥ यदि पुत्र आदि की मृत्यु के कारण शोक करने वाला पुरुष आमरण उपवास करने के लिए बैठ जाए अथवा शस्त्र आदि से आत्मघात की चेष्टा करे; परन्तु उसकी मृत्यु न हो, उस दशा में भी उस निन्द्य कर्म के लिए जो चेष्टा की गई थी, उसके दोष की निवृत्ति के लिए उसे तीन रात का उपवास बताना चाहिये॥18॥ परन्तु जो पुरुष अपनी जाति, आश्रम तथा कुल के धर्मों का सर्वथा परित्याग कर देते हैं और जो लोग धर्म मात्र को छोड़ बैठते हैं, उनके लिए कोई धर्म (प्रायश्चित्त) नहीं है अर्थात् किसी भी प्रायश्चित्त से उनकी शुद्धि नहीं हो सकती है॥19॥ यदि प्रायश्चित्त की आवश्यकता पड़ जाए और धर्म के निर्णय में सन्देह उपस्थित हो जाए तो वेद और धर्मशास्त्र को जानने वाले दस अथवा निरन्तर धर्म

का विचार करने वाले तीन ब्राह्मण उस प्रश्न पर विचार करके जो कुछ कहें, उसे ही धर्म मानना चाहिये।।20।।

अनड्वान् मृत्तिका चैव तथा क्षुद्रपिपीलिकाः।
श्लेष्मातकस्तथा विप्रैरभक्ष्यं विषमेव च॥21।।
अभक्ष्या ब्राह्मणैर्मत्स्याः शल्कैर्ये वै विवर्जिताः।
चतुष्पात्कच्छपादन्यो मण्डूका जलजाश्च ये॥22।।
भासा हंसाः सुपर्णाश्च चक्रवाकाः प्लवा बकाः।
काको मद्गुश्च गृध्रश्च श्येनोलूकस्तथैव च॥23।।
क्रव्यादा दंष्ट्रिणः सर्वे चतुष्पात् पक्षिणश्च ये।
येषां चोभयतो दन्ताश्चतुर्दंष्ट्राश्च सर्वशः॥24।।
एडकाश्वखरोष्ट्रीणां सूतिकानां गवामपि।
मानुषीणां मृगीणां च न पिबेद् ब्राह्मणः पयः॥25।।
प्रेतान्नं सूतिकान्नं च यच्च किञ्चिदनिर्दशम्।
अभोज्यं चाप्यपेयं च धेनोर्दुग्धमनिर्दशम्॥26।।
राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम्।
आयुः सुवर्णकारान्नमवीरायाश्च योषितः॥27।।
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं गणिकान्नमथेन्द्रियम्।
मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितान्नं च सर्वशः॥28।।

बैल, मिट्टी, छोटी-छोटी चींटियाँ, श्लेष्मातक[1] (लसोड़ा) और विष—ये सब ब्राह्मणों के लिए अभक्ष्य हैं।।21।। काँटों से रहित जो मत्स्य हैं, वे भी ब्राह्मणों के लिए अभक्ष्य हैं। कच्छप और उसके सिवा अन्य चार पैर वाले सभी जीव अभक्ष्य हैं। मेढ़क और जल में उत्पन्न होने वाले अन्य जीव भी भक्ष्य ही हैं।।22।। भास, हंस, गरुड़, चक्रवाक, बतख, बगुले, कौए, मद्गु,[2] गीध, बाज, उल्लू, कच्चे मांस खाने वाले दाढ़ों से युक्त सभी हिंसक पशु, चार पैर वाले जीव और पक्षी तथा दोनों ओर दाँत और चार दाढ़ों वाले सभी जीव अभक्ष्य हैं।।23-24।। भेड़, घोड़ी, गदही, ऊँटनी, दस दिन के भीतर की ब्यायी हुई गाय, मानवी स्त्री और हिरनियों का दूध ब्राह्मण न पीये।।25।। यदि किसी के यहाँ मरणाशौच या जननाशौच हो गया हो तो उसके यहाँ दस दिनों तक कोई अन्न नहीं ग्रहण करना चाहिये, इसी प्रकार ब्याही हुई गाय का दूध भी यदि दस दिन के भीतर का हो तो उसे नहीं पीना चाहिये।।26।। राजा का अन्न तेज हर लेता है, शूद्र का अन्न ब्रह्मतेज को नष्ट कर देता है, सुनार का तथा पति और पुत्र से हीन युवती का अन्न आयु का नाश करता है।।27।। ब्याजखोर का अन्न विष्ठा के समान है और वेश्या का अन्न वीर्य के समान।

---

1. श्लेष्मातक के वैद्यक में अनेक नाम आये हैं, उनमें से एक नाम 'द्विजकुत्सित' भी है। इससे सिद्ध होता है कि वह द्विजाति मात्र के लिए अभक्ष्य है
2. मद्गु एक प्रकार के जलचर पक्षी का नाम है।

जो अपनी स्त्री के पास किसी उपपति का आना सह लेते हैं, उन कायरों का तथा सदा स्त्री के वशीभूत रहने वाले पुरुषों का अन्न भी वीर्य के ही तुल्य है।।28।।

दीक्षितस्य कदर्यस्य क्रतुविक्रयिकस्य च।
तक्षणश्चर्मावकर्तुश्च पुंश्चल्या रजकस्य च॥29।।
चिकित्सकस्य यच्चान्नमभोज्यं रक्षिणस्तथा।
गणग्रामाभिशस्तानां रङ्गस्त्रीजीविनां तथा॥30।।
परिवित्तीनां पुंसां च बन्दिद्यूतविदां तथा।
वामहस्ताहृतं चान्नं भक्तं पर्युषितं च यत्॥31।।
सुरानुगतमुच्छिष्टमभोज्यं शेषितं च यत्।
पिष्टस्य चेक्षुशाकानां विकाराः पयसस्तथा॥32।।
सक्तधानाकरम्भाणां नोपभोग्याश्चिरस्थिताः।
पायसं कृसरं मांसमपूपाश्च वृथाकृताः॥33।।
अपेयाश्चाप्यभक्ष्याश्च ब्राह्मणैर्गृहमेधिभिः।
देवानृषीन् मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्च देवताः॥34।।
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थो भोक्तुमर्हति।
यथा प्रव्रजितो भिक्षुस्तथैव स्वे गृहे वसेत्॥35।।
एवं वृत्तः प्रियैर्दारैः संवसन् धर्ममाप्नुयात्।
न दद्याद् यशसे दानं न भयान्नोपकारिणे॥36।।
न नृत्यगीतशीलेषु हासकेषु च धार्मिकः।
न मत्ते चैव नोन्मत्ते न स्तेने न च कुत्सके॥37।।
न वाग्घीने विवर्णे वा नाङ्गहीने न वामने।
न दुर्जने दौष्कुले वा व्रतैर्यो वा न संस्कृतः।
न श्रोत्रियमृते दानं ब्राह्मणे ब्रह्मवर्जिते॥38।।

जिसने यज्ञ की दीक्षा ली हो; उसका अन्न अग्निषोमीय होम विशेष के पहले अग्राह्य है। कञ्जूस, यज्ञ बेचने वाले, बढ़ई, चमार या मोची, व्यभिचारिणी स्त्री, धोबी, वैद्य तथा चौकीदार का अन्न भी खाने योग्य नहीं है। जिन्हें किसी समाज या गाँव ने दोषी ठहराया हो, जो नर्तकी के द्वारा अपनी जीविका चलाते हों, छोटे भाई का ब्याह हो जाने पर भी कुँवारे रह गये हों, बन्दी (चारण या भाट) का काम करते हों या जुआरी हों, ऐसे लोगों का अन्न भी ग्रहण करने योग्य नहीं है। बाएँ हाथ से लाया अथवा परोसा गया अन्न, बासी भात, शराब मिला हुआ, जूठा और घरवालों को न देकर अपने लिए बचाया हुआ अन्न भी अखाद्य ही है। इसी प्रकार जो पदार्थ आटे, ईख के रस, साग या दूध को बिगाड़कर या सड़ाकर बनाये गये हों, सत्तू भूने हुए जौ और दही मिश्रित सत्तू इन्हें विकृत करके बनाये हुए पदार्थ यदि बहुत देर के बने हों तो उन्हें नहीं खाना चाहिये। खीर, खिचड़ी, फल का गूदा और पूए आदि देवताओं के उद्देश्य से न बनाये गये हों तो गृहस्थ ब्राह्मणों के लिए खाने-पीने योग्य नहीं हैं। गृहस्थ को चाहिए कि वह पहले

देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों (अतिथियों), पितरों और घर के देवताओं का पूजन करके पीछे अपने भोजन करे। जैसे गृह त्यागी संन्यासी घर के प्रति अनासक्त होता है, उसी प्रकार गृहस्थ को भी ममता और आसक्ति छोड़कर ही घर में रहना चाहिये। जो इस प्रकार सदाचार का पालन करते हुए अपनी प्रिय पत्नी के साथ घर में निवास करता है, वह धर्म का पूरा-पूरा फल प्राप्त कर लेता है। धर्मात्मा पुरुष को चाहिये कि वह यश के लोभ से, भय के कारण अथवा अपना उपकार करने वाले को दान दे अर्थात् उसे जो दिया जाए वह दान नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। जो नाचने-गाने वाले, हँसी-मजाक करने वाले (भाण्ड आदि), मदमत्त, उन्मत्त, चोर, निन्दक, गूँगे, कान्तिहीन, अङ्गहीन, बौने, दुष्ट, दूषित कुल में उत्पन्न तथा व्रत एवं संस्कार से शून्य हो, उन्हें भी दान न दे। श्रोत्रिय के सिवा वेदज्ञान शून्य ब्राह्मण को दान नहीं देना चाहिए।।29-38।।

असम्यक् चैव यद् दत्तमसम्यक् च प्रतिग्रहः।
उभयं स्यादनर्थाय दातुरादातुरेव च॥39।।
यथा खदिरमालम्ब्य शिलां वाप्यर्णवं तरन्।
मज्जेत मज्जतस्तद्वद् दाता यश्च प्रतिग्रही॥40।।
काष्ठैरार्द्रैर्यथा वह्निरुपस्तीर्णो न दीप्यते।
तपःस्वाध्यायचारित्रैरेवं हीनः प्रतिग्रही॥41।।
कपाले यद्वदापः स्युः श्वदृतौ च यथा पयः।
आश्रयस्थानदोषेण वृत्तहीने तथा श्रुतम्॥42।।
निर्मन्त्रो निर्वृतो यः स्यादशास्त्रज्ञोऽनसूयकः।
अनुक्रोशात् प्रदातव्यं हीनेष्वव्रतिकेषु च॥43।।
न वै देयमनुक्रोशाद् दीनायाप्यपकारिणे।
आप्तचरित इत्येव धर्म इत्येव वा पुनः॥44।।
निष्कारणं स्मृतं दत्तं ब्राह्मणे ब्रह्मवर्जिते।
भवेदपात्रदोषेण न चात्रास्ति विचारणा॥45।।
यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥46।।
यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
शकुनिर्वाप्यपक्षः स्यान्निर्मन्त्रो ब्राह्मणस्तथा॥47।।
ग्रामो धान्यैर्यथा शून्यो यथा कूपश्च निर्जलः।
यथा हुतमनग्नौ च तथैव स्यान्निराकृतौ॥48।।
देवतानां पितृणां च हव्यकव्यविनाशकः।
शत्रुरर्थहरो मूर्खो न लोकान्प्राप्नुमर्हति॥49।।
एतत् ते कथितं सर्वं यथावृत्तं युधिष्ठिर।
समासेन महद् ध्येतच्छ्रोतव्यं भरतर्षभ॥50।।

जो उत्तम विधि से दिया न गया हो तथा जिसे उत्तम विधि के साथ ग्रहण न किया गया हो, वे देना और लेना दोनों ही देने और लेने वाले के लिए अनर्थकारी होते हैं।।39।। जैसे खैर की लकड़ी या पत्थर की शिला का सहारा लेकर समुद्र पा करने वाला मनुष्य बीच में ही डूब जाता है, उसी प्रकार अविधिपूर्वक दान देने और लेने वाले यजमान और पुरोहित दोनों डूब जाते हैं।।40।। जैसे गीली लकड़ी से ढकी हुई आग प्रज्वलित नहीं होती, उसी प्रकार तपस्या, स्वाध्यास तथा सदाचार से हीन ब्राह्मण यदि दान ग्रहण कर ले तो वह उसे पचा नहीं सकता।।41।। जैसे मनुष्य की खोपड़ी में भरा हुआ जल और कुत्ते की खाल में रखा हुआ दूध आश्रय दोष से अपवित्र होता है, उसी प्रकार सदाचार हीन ब्राह्मण का शास्त्रज्ञान भी आश्रय स्थान के दोष से दूषित हो जाता है।।42।। जो ब्राह्मण वेदज्ञान से शून्य और शास्त्रज्ञान से रहित होता हुआ भी दूसरों में दोष नहीं देखता तथा सन्तुष्ट रहता है, उसे तथा व्रतशून्य दीन-हीन को भी दया करके दान देना चाहिये।।43।। पर जो दूसरों का बुरा करने वाला हो वह यदि दीन हो तो भी उसे दया करके नहीं देना चाहिये। यह शिष्टों का आचार है और यही धर्म है।।44।। वेदविहीन ब्राह्मण को दिया हुआ दान अपात्र दोष से निरर्थक हो जाता है, इसमें कोई विचार करने की बात नहीं है।।45।। जैसे लकड़ी का हाथी और चाम का बना हुआ मृग हो, उसी प्रकार वेद शास्त्रों के अध्ययन से शून्य ब्राह्मण है। ये तीनों नाममात्र धारण करते हैं (परन्तु नाम के अनुसार काम नहीं देते)।।46।। जैसे नपुंसक मनुष्य स्त्रियों के पास जाकर निष्फल होता है, गाय गाय से ही संयुक्त होने पर कोई फल नहीं दे सकती और जैसे बिना पङ्ख का पक्षी उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार वेद मन्त्रों के ज्ञान से शून्य ब्राह्मण भी व्यर्थ ही होता है।।47।। जिस प्रकार अन्नहीन ग्राम, जल रहित कुआँ और राख में की हुई आहुति व्यर्थ होती है, उसी प्रकार मूर्ख ब्राह्मण को दिया हुआ दान भी व्यर्थ ही है।।48।। मूर्ख ब्राह्मण देवताओं के यज्ञ और पितरों के श्राद्ध का नाश करने वाला होता है। वह धन का अपहरण करने वाला शत्रु है। वह दान देने वालों को उत्तम लोक में नहीं पहुँचा सकता।।49।। भरतभूषण युधिष्ठिर! यह सब वृत्तान्त तुम्हें यथावत् रूप में थोड़े में बताया गया। यह महत्त्वपूर्ण प्रसङ्ग सबको सुनना चाहिये।।50।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये षट्त्रिंशोऽध्यायः॥36॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में व्यास वाक्य विषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।36।।

स्वायंभुव मनुगीता

भीष्मस्तवराजगीता

प्रथमोऽध्यायः

भीष्मद्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति — भीष्मस्तवराज

जनमेजय उवाच

शरतल्पे शयानस्तु भरतानां पितामहः।
कथमुत्सृष्टवान् देहं कं च योगमधारयत्।।1।।

जनमेजय ने पूछा—बाण शय्या पर सोये हुए भरतवंशियों के पितामह भीष्म जी ने किस प्रकार अपने शरीर का त्याग किया और उस समय उन्होंने किस योग की धारणा की?।।1।।

वैशम्पायन उवाच

शृणुष्वावाहितो राजञ्शुचिर्भूत्वा समाहितः।
भीष्मस्य कुरुशार्दूल देहोत्सर्गं महात्मनः।।2।।
(शुक्लपक्षस्य चाष्टम्यां माघमासस्य पार्थिव।
प्राजापत्ये च नक्षत्रे मध्यं प्राप्ते दिवाकरे।।)
निवृत्तमात्रे त्वयन उत्तरे वै दिवाकरे।
समावेशयदात्मानमात्मन्येव समाहितः।।3।।
विकीर्णांशुरिवादित्यो भीष्मः शरशतैश्चितः।
शुशुभे परया लक्ष्म्या वृतो ब्राह्मणसत्तमैः।।4।।
व्यासेन वेदविदुषा नारदेन सुरर्षिणा।
देवस्थानेन वात्स्येन तथाश्मकसुमन्तुना।।5।।
तथा जैमिनिना चैव पैलेन च महात्मना।
शाण्डिल्यदेवलाभ्यां च मैत्रेयेण च धीमता।।6।।
असितेन वसिष्ठेन कौशिकेन महात्मना।
हारीतलोमशाभ्यां च तथाऽऽत्रेयेण धीमता।।7।।
बृहस्पतिश्च शुक्रश्च च्यवनश्च महामुनिः।
सनत्कुमारः कपिलो वाल्मीकिस्तुम्बुरुः कुरुः।।8।।
मौद्गल्यो भार्गवो रामस्तृणबिन्दुर्महामुनिः।
पिप्पलादोऽथ वायुश्च संवर्तः पुलहः कचः।।9।।
काश्यपश्च पुलस्त्यश्च क्रतुर्दक्षः पराशरः।

मरीचिरङ्गिराः काश्यो गौतमो गालवो मुनिः।।10 ।।
धौम्यो विभाण्डो माण्डव्यो धौम्रः कृष्णानुभौतिकः।
उलूकः परमो विप्रो मार्कण्डेयो महामुनिः।।11।।
भास्करिः पूरणः कृष्णः सूतः परमधार्मिकः।
एतैश्चान्यैर्मुनिगणैर्महाभागैर्महात्मभिः।।12।।
श्रद्धादमशमोपेतैर्वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः।
भीष्मस्तु पुरुषव्याघ्रः कर्मणा मनसा गिरा।।13।।
शरतल्पगतः कृष्णं प्रदध्यौ प्राञ्जलिः शुचिः।
स्वरेण हृष्टपुष्टेन तुष्टाव मधुसूदनम्।।14।।
योगेश्वरं पद्मनाभं विष्णुं जिष्णुं जगत्पतिम्।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वाग्विदां प्रवरः प्रभुः।।15।।
भीष्मः परमधर्मात्मा वासुदेवमथास्तुवत्।।

वैशाम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कुरुश्रेष्ठ! तुम सावधान, पवित्र और एकाग्रचित्त होकर महात्मा भीष्म के देहत्याग का वृत्तान्त सुनो।।2।। राजन्! जब दक्षिणायन समाप्त हुआ और सूर्य उत्तरायण में आ गये, तब माघमास के शुक्लपक्ष की अष्टमी तिथि को रोहिणी नक्षत्र में मध्याह्न के समय भीष्मजी ने ध्यानमग्न होकर अपने मन को परमात्मा में लगा दिया।।3।। चारों ओर अपनी किरणों बिखेरने वाले सूर्य के समान सैकड़ों बाणों से छिदे हुए भीष्म उत्तम शोभा से सुशोभित होने लगे, अनेकानेक श्रेष्ठ ब्राह्मण उन्हें घेरकर बैठे थे।।4।। वेदों के ज्ञाता व्यास, देवर्षि नारद, देवस्थान, वात्स्य, अश्मक, सुमन्तु, जैमिनि, महात्मा पैल, शाण्डिल्य, देवल, बुद्धिमान् मैत्रेय, असित, वसिष्ठ, महात्मा कौशिक (विश्वामित्र), हारीत, लोमश, बुद्धिमान् दत्तात्रेय, बृहस्पति, शुक्र, महामुनि च्यवन, सनत्कुमार, कपिल, वाल्मीकि, तुम्बुरु, कुरु, मौद्गल्य, भृगुवंशी परमशुराम, महामुनि तृणविन्दु, पिप्पलाद, वायु, संवर्त, पुलह, कच, कश्यप, पुलस्त्य, क्रतु, दक्ष, पराशर, मरीचि, अङ्गिरा, काश्य, गौतम, गालव मुनि, धौम्य, विभाण्ड, माण्डव्य, धौम्र, कृष्णानुभौतिक, श्रेष्ठ ब्राह्मण उलूक, महामुनि मार्कण्डेय, भास्करि, पूरण, कृष्ण और परमधार्मिक सूत—ये तथा और भी बहुत-से सौभाग्यशाली महात्मा मुनि, जो श्रद्धा, शम, दम आदि गुणों से सम्पन्न थे, भीष्मजी को घेरे हुए थे। इन ऋषियों के बीच में भीष्म जी ग्रहों से घिरे हुए चन्द्रमा के समान शोभा पा रहे थे। पुरुषसिंह भीष्म शरशय्या पर ही पड़े-पड़े हाथ जोड़ पवित्र भाव से मन, वाणी और क्रिया द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान करने लगे। ध्यान करते-करते वे हृष्ट-पुष्ट स्वर से भगवान् मधुसूदन की स्तुति करने लगे। वाग्वेत्ताओं में श्रेष्ठ, शक्तिशाली, परम धर्मात्मा भीष्म ने हाथ जोड़कर योगेश्वर, पद्मनाभ, सर्वव्यापी, विजयशील जगदीश्वर वासुदेव की इस प्रकार स्तुति आरम्भ की।।2-15½।।

भीष्म उवाच

आरिराधयिषुः कृष्णं वाचं जिगदिषामि याम्।।16।।
तया व्याससमासिन्या प्रीयतां पुरुषोत्तमः।
शुचिं शुचिपदं हंसं तत्पदं परमेष्ठिनम्।।17।।
युक्त्वा सर्वात्मनाऽऽत्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम्।
अनाद्यन्तं परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः।।18।।
एको यं वेद भगवान् धाता नारायणो हरिः।
नारायणादृषिगणास्तथा सिद्धमहोरगाः।।19।।
देवा देवर्षयश्चैव यं विदुः परमव्ययम्।
देवदानवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः।।20।।
यं न जानन्ति को ह्येष कुतो वा भगवानिति।
यस्मिन् विश्वानि भूतानि तिष्ठन्ति च विशन्ति च।।21।।
गुणभूतानि भूतेशे सूत्रे मणिगणा इव।
यस्मिन् नित्ये तते तन्तौ दृढे स्रगिव तिष्ठति।।22।।
सदसद्ग्रथितं विश्वं विश्वाङ्गे विश्वकर्मणि।
हरिं सहस्रशिरसं सहस्रचरणेक्षणम्।।23।।
सहस्रबाहुमुकुटं सहस्रवदनोज्ज्वलम्।
प्राहुर्नारायणं देवं यं विश्वस्य परायणम्।।24।।
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम्।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि।।25।।
यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च।
गृणन्ति सत्यकर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु।।26।।
चतुर्भिश्चतुरात्मानं सत्त्वस्थं सात्वतां पतिम्।
यं दिव्यैर्देवमर्चन्ति गुह्यैः परमनामभिः।।27।।
यस्मिन् नित्यं तपस्तप्तं यदङ्गेष्वनुतिष्ठति।
सर्वात्मा सर्ववित् सर्वः सर्वज्ञः सर्वभावनः।।28।।
यं देवं देवकी देवी वसुदेवादजीजनत्।
भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै दीप्तमग्निमिवारणिः।।29।।

भीष्म जी बोले—मैं श्रीकृष्ण के आराधन की इच्छा मन में लेकर जिस वाणी का प्रयोग करना चाहता हूँ, वह विस्तृत हो या संक्षिप्त, उसके द्वारा वे पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण मुझ पर प्रसन्न हों। जो स्वयं शुद्ध हैं, जिनकी प्राप्ति का मार्ग भी शुद्ध है, जो हंसस्वरूप, तत् पद के लक्ष्यार्थ परमात्मा और प्रजापालक परमेष्ठी हैं, मैं सब ओर से सम्बन्ध तोड़ केवल उन्हीं से नाता जोड़कर सब प्रकार से उन्हीं सर्वात्मा श्रीकृष्ण की शरण लेता हूँ। उनका न आदि है न अन्त। वे ही परब्रह्म परमात्मा है। उनको न देवता

जानते हैं न ऋषि। एकमात्र सबका धारण-पोषण करने वाले ये भगवान् श्रीनारायण हरि ही उन्हें जानते हैं। नारायण से ही ऋषिगण, सिद्ध, बड़े-बड़े नाग, देवता तथा देवर्षि भी उन्हें अविनाशी परमात्मा के रूप में जानने लगे हैं। देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग भी जिनके विषय में यह नहीं जाते हैं कि 'ये भगवान् कौन हैं? तथा कहाँ से आये हैं?' उन्हीं में सम्पूर्ण प्राणी स्थित हैं और उन्हीं मैं उनका लय होता है। जैसे डोरे में मनके पिराये होते हैं, उसी प्रकार उन भूतेश्वर परमात्मा में समस्त त्रिगुणात्मक भूत पिरोये हुए हैं।। भगवान् सदा नित्य विद्यमान (कभी नष्ट न होने वाले) और तने हुए एक सुदृढ़ सूत के समान हैं। उनमें यह कार्य-कारण रूप जगत् उसी प्रकार गुँथा हुआ है, जैसे सूत में फूल की माला। यह सम्पूर्ण विश्व उनके ही श्रीअङ्ग में स्थित है; उन्होंने ही इस विश्व की सृष्टि की है। उन श्रीहरि के सहस्रों सिर, सहस्रों चरण और सहस्रों नेत्र हैं, वे सहस्रों भुजाओं, सहस्रों मुकुटों तथा सहस्रों मुखों से देदीप्यमान रहते हैं। वे ही इस विश्व के परम आधार हैं। इन्हीं को नारायणदेव कहते हैं। वे सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल हैं। वे भारी से भारी और उत्तम से भी उत्तम हैं।।15½-25।। वाको ओर अनुवाकों में निषदों और उपनिषदों में तथा सच्ची बात बताने वाले साममन्त्रों में उन्हीं को सत्य और सत्यकर्मा कहते हैं।।26।। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार दिव्य गोपनीय और उत्तम नामों द्वारा ब्रह्म, जीव, मन और अहङ्कार—इन चार स्वरूपों में प्रकट हुए उन्हीं भक्तप्रतिपालक भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा की जाती है, जो सबके अन्तःकरण में विद्यमान हैं।।27।। भगवान् वासुदेव की प्रसन्नता के लिए ही नित्य तप का अनुष्ठान किया जाता है; क्योंकि वे सबके हृदयों में विराजमान हैं। वे सबके आत्मा, सबको जानने वाले, सर्वस्वरूप, सर्वज्ञ और सबको उत्पन्न करने वाले हैं।।28।। जैसे अरणि प्रज्वलित अग्नि को प्रकट करती है, उसी प्रकार देवकीदेवी ने इस भूतल पर रहने वाले ब्राह्मणों, वेदों और यज्ञों की रक्षा के लिए उन भगवान् को वसुदेव जी के तेज से प्रकट किया था।।29।।

यमनन्यो व्यपेताशीरात्मानं वीतकल्मषम्।
दृष्ट्यानन्त्याय गोविन्दं पश्यत्यात्मानमात्मनि।।30।।
अतिवाय्विन्द्रकर्माणमतिसूर्यातितेजसम्।
अतिबुद्धीन्द्रियात्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम्।।31।।
पुराणे पुरुषं प्रोक्तं ब्रह्म प्रोक्तं युगादिषु।
क्षये सङ्कर्षणं प्रोक्तं तमुपास्यमुपास्महे।।32।।
यमेकं बहुधाऽऽत्मानं प्रादूर्भूतमधोक्षजम्।
नान्यभक्ताः क्रियावन्तो यजन्ते सर्वकामदम्।।33।।
यमाहुर्जगतः कोशं यस्मिन् सन्निहिताः प्रजाः।
यस्मिँल्लोकाः स्फुरन्तीमे जले शकुनयो यथा।।34।।
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म यत् तत् सदसतोः परम्।

अनादिमध्यपर्यन्तं न देवा नर्षयो विदुः।।35।।
यं सुरासुरगन्धर्वाः सिद्धा ऋषिमहोरगाः।
प्रयता नित्यमर्चन्ति परमं दुःखभेषजम्।।36।।
अनादिनिधनं देवमात्मयोनिं सनातनम्।
अप्रेक्ष्यमनभिज्ञेयं हरिं नारायणं प्रभुम्।।37।।
यं वै विश्वस्य कर्तारं जगतस्तस्थुषां पतिम्।
वदन्ति जगतोऽध्यक्षमक्षरं परमं पदम्।।38।।
हिरण्यवर्णं यं गर्भमदितेर्दैत्यनाशनम्।
एकं द्वादशधा जज्ञे तस्मै सूर्यात्मने नमः।।39।।
शुक्ले देवान् पितॄन् कृष्णे तर्पयत्यमृतेन यः।
यश्च राजा द्विजातीनां तस्मै सोमात्मने नमः।।40।।

सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करके अनन्य भाव से स्थित रहने वाला साधक मोक्ष के उद्देश्य से अपने विशुद्ध अन्तःकरण में जिन पापरहित शुद्ध बुद्ध परमात्मा गोविन्द का ज्ञान दृष्टि से साक्षात्कार करता है, जिनका पराक्रम वायु और इन्द्र से बहुत बढ़कर है, जो अपने तेज से सूर्य को भी तिरस्कृत कर देते हैं तथा जिनके स्वरूप तक इन्द्रिय, मन और बुद्धि की भी पहुँच नहीं हो पाती, उन प्रजापालक परमेश्वर की मैं शरण लेता हूँ।।30-31।। पुराणों में जिनका 'पुरुष' नाम से वर्णन किया गया है, जो युगों के आरम्भ में 'ब्रह्म' और युगान्त में 'सङ्कर्षण' कहे गये हैं, उन उपास्य परमेश्वर की हम उपासना करते हैं।।32।। जो एक होकर भी अनेक रूपों में प्रकट हुए हैं, जो इन्द्रियों और उनके विषयों से ऊपर उठे होने के कारण 'अधोक्षज' कहलाते हैं, उपासकों के समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले हैं, यज्ञादि कर्म और पूजन में लगे हुए अनन्य भक्त जिनका यजन करते हैं, जिन्हें जगत् का कोषागार कहा जाता है, जिनमें सम्पूर्ण प्रजाएँ स्थित हैं, पानी के ऊपर तैरने वाले जलपक्षियों की तरह जिनके ही ऊपर इस सम्पूर्ण जगत् की चेष्टाएँ हो रही हैं, जो परमार्थ सत्यस्वरूप और एकाक्षर ब्रह्म (प्रणव) हैं, सत् और असत् से विलक्षण हैं, जिनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, जिन्हें न देवता ठीक-ठीक जानते हैं और न ऋषि, अपने मन और इन्द्रियों को संयम में रखते हुए सम्पूर्ण देवता, असुर, गन्धर्व, सिद्ध, ऋषि, बड़े-बड़े नागगण जिनकी सदा पूजा किया करते हैं, जो दुःख-रूपी रोग की सबसे बड़ी ओषधि हैं, जन्म-मरण से रहित, स्वयम्भू एवं सनातन देवता हैं, जिन्हें हम चर्म-चक्षुओं से देखना और बुद्धि के द्वारा सम्पूर्ण रूप से जानना असम्भव है, उन भगवान् श्रीहरि नारायण देव की मैं शरण लेता हूँ।।30-37।। जो इस विश्व के विधाता और चराचर जगत् के स्वामी हैं, जिन्हें संसार का साक्षी और अविनाशी परमपद कहते हैं, उन परमात्मा की मैं शरण ग्रहण करता हूँ।।38।। जो सुवर्ण के समान कान्तिमान्, अदिति के गर्भ से उत्पन्न, दैत्यों के नाशक तथा एक होकर भी बारह रूपों में प्रकट हुए हैं, उन सूर्यस्वरूप परमेश्वर को नमस्कार है।।39।। जो

अपनी अमृतमयी कलाओं से शुक्लपक्ष में देवताओं को और कृष्णपक्ष में पितरों को तृप्त करते हैं तथा जो सम्पूर्ण द्विजों के राजा हैं, उन सोमस्वरूप परमात्मा को नमस्कार है।।40।।

(हुताशनमुखैर्देवैर्धार्यते सकलं जगत्।
हविः प्रथमभोक्ता यस्तस्मै होत्रात्मने नमः।।)
महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम्।
यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः।।41।।
यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे।
यं विप्रसङ्घा गायन्ति तस्मै वेदात्मने नमः।।42।।
ऋग्यजुःसामधामानं दशार्धहविरात्मकम्।
यं सप्ततन्तुं तन्वन्ति तस्मै यज्ञात्मने नमः।।43।।
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै होमात्मने नमः।।44।।
यः सुपर्णा यजुर्नाम च्छन्दोगात्रस्त्रिवृच्छिराः।
रथन्तरं बृहत् साम तस्मै स्तोत्रात्मने नमः।।45।।
यः सहस्रसमे सत्रे जज्ञे विश्वसृजामृषिः।
हिरण्यपक्षः शकुनिस्तस्मै हंसात्मने नमः।।46।।
पादाङ्गं सन्धिपर्वाणं स्वरव्यञ्जनभूषणम्।
यमाहुरक्षरं दिव्यं तस्मै वागात्मने नमः।।47।।
यज्ञाङ्गो यो वराहो वै भूत्वा गामुज्जहार ह।
लोकत्रयहितार्थाय तस्मै वीर्यात्मने नमः।।48।।
यः शेते योगमास्थाय पर्यङ्के नागभूषिते।
फणासहस्रचिते तस्मै निद्रात्मने नमः।।।।49।।

(अग्नि जिनके मुख हैं, वे देवता सम्पूर्ण जगत् को धारण करते हैं, जो हविष्य के सबसे पहले भोक्ता हैं, उन अग्निहोत्रस्वरूप परमेश्वर को नमस्कार है।।) जो अज्ञानमय महान् अन्धकार से परे और ज्ञानलोक से अत्यन्त प्रकाशित होने वाले आत्मा हैं, जिन्हें जान लेने पर मनुष्य मृत्यु से सदा के लिए छूट जाता है, उन ज्ञेय रूप परमेश्वर को नमस्कार है।।41।। उक्थनामक बृहत् यज्ञ के समय, अग्न्याधान काल में तथा महायाग में ब्राह्मणवृन्द जिनका ब्रह्म के रूप में स्तवन करते हैं, उन वेदस्वरूप भगवान् को नमस्कार।।42।। ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद जिसके आश्रय हैं, पाँच प्रकार का हविष्य जिसका स्वरूप है, गायत्री आदि सात छन्द ही जिसके सात तन्तु हैं, उस यज्ञ के रूप में प्रकट हुए परमात्मा को प्रमाण है।।43।। चार (आश्रावय), चार (अस्तु श्रौषट्), दो (यज), पाँच (ये यजामहे) और दो (वषट्)—इन सत्रह अक्षरों वाले मन्त्रों से जिन्हें हविष्य अर्पण किया जाता है, उन होमस्वरूप परमेश्वर को नमस्कार है।।44।। जो

'यजु:' नाम धारण करने वाले वेदरूपी पुरुष हैं, गायत्री आदि छन्द जिनके हाथ-पैर आदि अवयव हैं, यज्ञ ही जिनका मस्तक है तथा 'रथन्तर' और 'वृहत्' नामक साम ही जिनकी सान्त्वनाभरी वाणी है, उन स्तोत्ररूपी भगवान् को प्रणाम है।।45।। जो ऋषि हजार वर्षों में पूर्ण होने वाले प्रजापतियों के यज्ञ में सोने की पांख वाले पक्षी के रूप में प्रकट हुए थे, उन हंसरूप धारी परमेश्वर को प्रणाम है।।46।। पदों के समूह जिनके अङ्ग हैं, सन्धि जिनके शरीर की जोड़ है, स्वर और व्यञ्जन जिनके लिए आभूषण का काम देते हैं तथा जिन्हें दिव्य अक्षर कहते हैं, उन परमेश्वर को वाणी के रूप में नमस्कार है।।47।। जिन्होंने तीनों लोकों का हित करने के लिए यज्ञमय वराह का स्वरूप धारण करके इस पृथ्वी को रसातल से ऊपर उठाया था, उन वीर्यस्वरूप भगवान् को प्रणाम है।।48।। जो अपनी योगमाया का आश्रय लेकर शेषनाग के हजार फनों से बने हुए पलंग पर शयन करते हैं, उन निद्रास्वरूप परमात्मा को नमस्कार है।।49।।

(विश्वे च मरुतश्चैव रुद्रादित्याश्विनावपि।
वसवः सिद्धसाध्याश्च तस्मै देवात्मने नमः।।
अव्यक्तबुद्ध्यहङ्कारमनोबुद्धीन्द्रियाणि च।
तन्मात्राणि विशेषाश्च तस्मै तत्त्वात्मने नमः।।
भूतं भव्यं भविष्यच्च भूतादिप्रभवाप्ययः।
योऽग्रजः सर्वभूतानां तस्मै भूतात्मने नमः।।
यं हि सूक्ष्मं विचिन्वन्ति परं सूक्ष्मविदो जनाः।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मं च यद् ब्रह्म तस्मै सूक्ष्मात्मने नमः।।
मत्स्यो भूत्वा विरिञ्चाय येन वेदाः समाहृताः।
रसातलगतः शीघ्रं तस्मै मत्स्यात्मने नमः।।
मन्दराद्रिर्धृतो येन प्राप्ते ह्यमृतमन्थने।
अतिकर्कशदेहाय तस्मै कूर्मात्मने नमः।।
वाराहं रूपमास्थाय महीं सवनपर्वताम्।
उद्धरत्येकदंष्ट्रेण तस्मै क्रोडात्मने नमः।।
नारसिंहवपुः कृत्वा सर्वलोकभयङ्करम्।
हिरण्यकशिपुं जघ्ने तस्मै सिंहात्मने नमः।।
वामनं रूपमास्थाय बलिं संयम्य मायया।
त्रैलोक्यं क्रान्तवान् यस्तु तस्मै क्रान्तात्मने नमः।।
जमदग्निसुतो भूत्वा रामः शस्त्रभृतां वरः।
महीं निःक्षत्रियां चक्रे तस्मै रामात्मने नमः।।
त्रिःसप्तकृत्वो यश्चैको धर्मे व्युत्क्रान्तगौरवान्।
जघान क्षत्रियान् सङ्ख्ये तस्मै क्रोधात्मने नमः।।
रामो दाशरथिर्भूत्वा पुलस्त्यकुलनन्दनम्।

जघान रावणं सङ्ख्ये तस्मै क्षत्रात्मने नमः।।
यो हली मुसली श्रीमान् नीलाम्बरधरः स्थितः।
रामाय रौहिणेयाय तस्मै भोगात्मने नमः।।
शङ्खिने चक्रिणे नित्यं शार्ङ्गिणे पीतवाससे।
वनमालाधरायैव तस्मै कृष्णात्मने नमः।।
वसुदेवसुतः श्रीमान् क्रीडितो नन्दगोकुले।
कंसस्य निधनार्थाय तस्मै क्रीडात्मने नमः।।
वासुदेवत्वमागम्य यदोर्वंशसमुद्भवः।
भूभारहरणं चक्रे तस्मै कृष्णात्मने नमः।।
सारथ्यमर्जुनस्याजौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ।
लोकत्रयोपकाराय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः।।
दानवांस्तु वशे कृत्वा पुनर्बुद्धत्वमागतः।
सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै बुद्धात्मने नमः।।
हनिष्यति कलौ प्राप्ते म्लेच्छांस्तुरगवाहनः।
धर्मसंस्थापको यस्तु तस्मै कल्क्यात्मने नमः।।
तारामये कालनेमिं हत्वा दानवपुङ्गवम्।
ददौ राज्यं महेन्द्राय तस्मै मुख्यात्मने नमः।।
यः सर्वप्राणिनां देहे साक्षिभूतो ह्यवस्थितः।
अक्षरः क्षरमाणानां तस्मै साक्ष्यात्मने नमः।।
नमोऽस्तु ते महादेव नमस्ते भक्तवत्सल।
सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु प्रसीद परमेश्वर।।
अव्यक्तव्यक्तरूपेण व्याप्तं सर्वं त्वया विभो।
नारायणं सहस्राक्षं सर्वलोकमहेश्वरम्।।
हिरण्यनाभं यज्ञाङ्गममृतं विश्वतोमुखम्।
प्रपद्ये पुण्डरीकाक्षं प्रपद्ये पुरुषोत्तमम्।।
सर्वदा सर्वकार्येषु नास्ति तेषाममङ्गलम्।
येषां हृदिस्थो देवेशो मङ्गलायतनं हरिः।।
मङ्गलं भगवान् विष्णुर्मङ्गलं मधुसूदनः।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलं गरुडध्वजः।।)

विश्वेदेव, मरुद्गण, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार, वसु, सिद्ध और साध्य—ये सब जिनकी विभूतियाँ हैं, उन देवस्वरूप परमात्मा को नमस्कार है।। अव्यक्त प्रकृति, बुद्धि (महत्तत्व), अहंकार, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, तन्मात्राएँ और उनका कार्य—वे सब जिनके ही स्वरूप हैं, उन तत्त्वमय परमात्मा को नमस्कार है।। जो भूत, वर्तमान और भविष्य-कालरूप हैं, जो भूत आदि की उत्पत्ति और प्रलय के कारण हैं, जिन्हें सम्पूर्ण

प्राणियों का अग्रज बताया गया है, उन भूतात्मा परमेश्वर को नमस्कार है।। सूक्ष्म तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी पुरुष जिस परम सूक्ष्म तत्त्व का अनुसंधान करते रहते हैं, जो सूक्ष्म से सूक्ष्म है, वह ब्रह्म जिनका स्वरूप है, उन सूक्ष्मात्मा को नमस्कार है।। जिन्होंने मत्स्य शरीर धारण करके रसातल में जाकर नष्ट हुए सम्पूर्ण वेदों को ब्रह्माजी के लिए शीघ्र ला दिया था, उन मत्स्यरूपधारी भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है।। जिन्होंने अमृत के लिए समुद्रमन्थन के समय अपनी पीठ पर मन्दराचल पर्वत को धारण किया था, उन अत्यन्त कठोर देहधारी कच्छपरूप भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है।। जिन्होंने वराह रूप धारण करके अपने एक दाँत से वन और पर्वतों सहित समूची पृथ्वी का उद्धार किया था, उन वाराहरूपधारी भगवान् को नमस्कार है।। जिन्होंने नृसिंह रूप धारण करके सम्पूर्ण जगत् के लिए भयंकर हिरण्यकशिपु नामक राक्षस का वध किया था, उन नृसिंहस्वरूप श्रीहरि को नमस्कार है।। जिन्होंने वामनरूप धारण करके माया द्वारा बलि को बाँध कर सारी त्रिलोकी को अपने पैरों से नाप लिया था, उन क्रान्तिकारी वामनरूपधारी भगवान् श्रीकृष्ण को प्रणाम है।। जिन्होंने शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ जमदग्निकुमार परशुराम का रूप धारण करके इस पृथ्वी को क्षत्रियों से हीन कर दिया, उन परशुराम-स्वरूप श्रीहरि को नमस्कार है।। जो सदा हल, मूसल धारण किये अद्‌भुत शोभा से सम्पन्न हो रहे हैं, जिनके श्रीअङ्गों पर नील वस्त्र शोभा पाता है, उन शेषावतार रोहिणीनन्दन राम को नमस्कार है।। जो शङ्ख, चक्र, शार्ङ्ग धनुष, पीताम्बर और वनमाला धारण करते हैं, उन श्रीकृष्णस्वरूप श्रीहरि को नमस्कार है।। जो कंसवध के लिए वसुदेव के शोभाशाली पुत्र के रूप में प्रकट हुए और नन्द के गोकुल में भाँति-भाति की लीलाएँ करते रहे, उन लीलामय श्रीकृष्ण को नमस्कार है।। जिन्होंने यदुवंश में प्रकट हो वासुदेव के रूप में आकर पृथ्वी का भार उतारा है, उन श्रीकृष्णात्मा श्रीहरि को नमस्कार है।। जिन्होंने अर्जुन का सारथित्व करते समय तीनों लोकों के उपकार के लिए गीता-ज्ञानमय अमृत प्रदान किया था, उन ब्रह्मात्मा श्रीकृष्ण को नमस्कार है।। जो सृष्टि की रक्षा के लिए दानवों को अपने अधीन करके पुन: बुद्धभाव को प्राप्त हो गये, उन बुद्धस्वरूप श्रीहरि को नमस्कार है।। जो कलियुग आने पर घोड़े पर सवार हो धर्म की स्थापना के लिए म्लेच्छों का वध करेंगे, उन कल्किरूप श्रीहरि को नमस्कार है।। जिन्होंने तारामय संग्राम में दानवराज कालनेमि का वध करके देवराज इन्द्र को सारा राज्य दे दिया था, उन मुख्यात्मा श्रीहरि को नमस्कार है।। जो समस्त प्राणियों के शरीर में साक्षीरूप से स्थित हैं तथा सम्पूर्ण क्षर (नाशवान्) भूतों में अक्षर (अविनाशी) स्वरूप से विराजमान हैं, उन साक्षी परमात्मा को नमस्कार है।। महादेव! आपको नमस्कार है। भक्तवत्सल! आपको नमस्कार है। सुब्रह्मण्य (विष्णु)! आपको नमस्कार है। परमेश्वर! आप मुझपर प्रसन्न हों। प्रभो! आपने अव्यक्त और व्यक्त रूप से सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर रखा है।। मैं सहस्रों नेत्र धारण करने वाले, सर्वलोकमहेश्वर, हिरण्यनाभ, यज्ञाङ्गस्वरूप, अमृतमय, सब ओर मुखवाले और कमलनयन पुरुषोत्तम श्रीनारायणदेव की शरण लेता हूँ। जिनके

हृदय में मङ्गलभवन देवेश्वर श्रीहरि विराजमान हैं, उनका सभी कार्यों में सदा मङ्गल ही होता है—कभी किसी भी कार्य में अमङ्गल नहीं होता।। भगवान् विष्णु मङ्गलमय हैं, मधुसूदन मङ्गलमय हैं, कमलनयन मङ्गलमय हैं और गरुडध्वज मङ्गलमय हैं।।

यस्तनोति सतां सेतुमृतेनामृतयोनिना।
धर्मार्थव्यवहाराङ्गैस्तस्मै सत्यात्मने नमः।।50।।
यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः।।51।।
यतः सर्वे प्रसूयन्ते ह्यनङ्गात्माङ्गदेहिनः।
उन्मादः सर्वभूतानां तस्मै कामात्मने नमः।।52।।
यं च व्यक्तस्थमव्यक्तं विचिन्वन्ति महर्षयः।
क्षेत्रे क्षेत्रज्ञमासीनं तस्मै क्षेत्रात्मने नमः।।53।।
यं त्रिधाऽऽत्मानमात्मस्थं वृतं षोडशभिर्गुणैः।
प्राहुः सप्तदशं सांख्यास्तस्मै साङ्ख्यात्मने नमः।।54।।
यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः।।55।।
अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भवनिर्भयाः।
शान्ताः सन्न्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः।।56।।
योऽसौ युगसहस्रान्ते प्रदीप्तार्चिर्विभावसुः।
सम्भक्षयति भूतानि तस्मै घोरात्मने नमः।।57।।
सम्भक्ष्य सर्वभूतानि कृत्वा चैकार्णवं जगत्।
बालः स्वपिति यश्चैकस्तस्मै मायात्मने नमः।।58।।
तद् यस्य नाभ्यां सम्भूतं यस्मिन् विश्वं प्रतिष्ठितम्।
पुष्करे पुष्कराक्षस्य तस्मै पद्मात्मने नमः।।59।।
सहस्रशिरसे चैव पुरुषायामितात्मने।
चतुःसमुद्रपर्याययोगनिद्रात्मने नमः।।60।।

जिनका सारा व्यवहार केवल धर्म के ही लिये है, उन वश में की हुई इन्द्रियों के द्वारा जो मोक्ष के साधनभूत वैदिक उपायों से काम लेकर संतों की धर्म-मर्यादा का प्रसार करते हैं, उन सत्यस्वरूप परमात्मा को नमस्कार है।।50।। जो भिन्न-भिन्न धर्मों का आचरण करके अलग-अलग उनके फलों की इच्छा रखते हैं, ऐसे पुरुष पृथक् धर्मों के द्वारा जिनकी पूजा करते हैं, उन धर्मस्वरूप भगवान् को प्रणाम है।।51।। जिन अनङ्ग की प्रेरणा से सम्पूर्ण अङ्गधारी प्राणियों का जन्म होता है, जिससे समस्त जीव उन्मत्त हो उठते हैं, उस काम के रूप में प्रकट हुए परमेश्वर को नमस्कार है।।52।। जो स्थूल जगत् में अव्यक्त रूप से विराजमान है, बड़े-बड़े महर्षि जिसके तत्त्व का अनुसंधान करते रहते हैं, जो सम्पूर्ण क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ के रूप में बैठा हुआ है, उस क्षेत्र रूपी परमात्मा

को प्रणाम है।।53।। जो सत्, रज और तम—इन तीन गुणों के भेद से त्रिविध प्रतीत होते हैं, गुणों के कार्यभूत सोलह विकारों से आवृत्त होने पर भी अपने स्वरूप में ही स्थित हैं, सांख्यमत के अनुयायी जिन्हें सत्रहवां तत्त्व (पुरुष) मानते हैं, उन सांख्यरूप परमात्मा को नमस्कार है।।54।। जो नींद को जीतकर प्राणों पर विजय पा चुके हैं और इन्द्रियों को अपने वश में करके शुद्ध सत्त्व में स्थित हो गये हैं, वे निरन्तर योगाभ्यास में लगे हुए योगिजन जिनके ज्योतिर्मय स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं, उन योगरूप परमात्मा को प्रणाम है।।55।। पाप और पुण्य का क्षय हो जाने पर पुनर्जन्म के भय से मुक्त हुए शान्तचित्त संन्यासी जिन्हें प्राप्त करते हैं, उन मोक्षरूप परमेश्वर को नमस्कार है।।56।। सृष्टि के एक हजार युग बीतने पर प्रचण्ड ज्वालाओं से युक्त प्रलयकालीन अग्नि का रूप धारण कर जो सम्पूर्ण प्राणियों का संहार करते हैं, उन घोररूपधारी परमात्मा को प्रणाम है।।57।। इस प्रकार सम्पूर्ण भूतों का भक्षण करके जो इस जगत् को जलमय कर देते हैं और स्वयं बालक का रूप धारण कर अक्षयवट के पत्ते पर शयन करते हैं, उन मायामय बालमुकुन्द को नमस्कार है।।58।। जिस पर यह विश्व टिका हुआ है, वह ब्रह्माण्ड-कमल जिन पुण्डरीकाक्ष भगवान् की नाभि से प्रकट हुआ है, उन कमलरूपधारी परमेश्वर को प्रणाम है।।59।। जिनके हजारों मस्तक हैं, जो अन्तर्यामी रूप से सबके भीतर विराजमान हैं, जिनका स्वरूप किसी सीमा में आबद्ध नहीं है, जो चारों समुद्रों के मिलन से एकार्णव हो जाने पर योगनिद्रा का आश्रय लेकर शयन करते हैं, उन योगनिद्रारूप भगवान् को नमस्कार है।।60।।

यस्य केशेषु जीमूता नद्याः सर्वाङ्गसन्धिषु।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः।।61।।
यस्मात् सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः।
यस्मिंश्चैव प्रलीयन्ते तस्मैः हेत्वात्मने नमः।।62।।
यो निषण्णो भवेद् रात्रौ दिवा भवति विष्ठितः।
इष्टानिष्टस्य च द्रष्टा तस्मै द्रष्ट्रात्मने नमः।।63।।
अकुण्ठं सर्वकार्येषु धर्मकार्यार्थमुद्यतम्।
वैकुण्ठस्य च तद्रूपं तस्मै कार्यात्मने नमः।।64।।
त्रिःसप्तकृत्वो यः क्षत्रं धर्मव्युत्क्रान्तगौरवम्।
क्रुद्धो निजघ्ने समरे तस्मै क्रौर्यात्मने नमः।।65।।
विभज्य पञ्चधाऽऽत्मानं वायुर्भूत्वा शरीरगः।
यश्चेष्टयति भूतानि तस्मै वाय्वात्मने नमः।।66।।
युगेष्वावर्तते योगैर्मासत्वर्वयनहायनैः।
सर्गप्रलययोः कर्ता तस्मै कालात्मने नमः।।67।।
ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः।।68।।

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः।।69।।
परः कालात् परो यज्ञात् परात् परतरश्च यः।
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः।।70।।

जिनके मस्तक के बालों की जगह मेघ हैं, शरीर की सन्धियों में नदियाँ हैं और उदर में चारों समुद्र हैं, उन जलरूपी परमात्मा को प्रणाम है।।61।। सृष्टि और प्रलयरूप समस्त विकार जिनसे उत्पन्न होते हैं और जिनमें ही सबका लय होता है, उन कारणरूप परमेश्वर को नमस्कार है।।62।। जो रात में भी जागते रहते हैं और दिन के समय साक्षी रूप में स्थित रहते हैं तथा जो सदा ही सबके भले-बुरे को देखते रहते हैं, उन द्रष्टारूपी परमात्मा को प्रणाम है।।63।। जिन्हें कोई भी काम करने में रुकावट नहीं होती, जो धर्म का काम करने को सर्वदा उद्यत रहते हैं तथा जो वैकुण्ठधाम के स्वरूप हैं, उन कार्यरूप भगवान् को नमस्कार है।।64।। जिन्होंने धर्मात्मा होकर भी क्रोध में भरकर धर्म के गौरव का उल्लङ्घन करने वाले क्षत्रिय समाज का युद्ध में इक्कीस बार संहार किया, कठोरता का अभिनय करने वाले उन भगवान् परशुराम को प्रणाम है।।65।। जो प्रत्येक शरीर के भीतर वायुरूप में स्थित हो अपने को प्राण-अपान आदि पाँच स्वरूपों में विभक्त करके सम्पूर्ण प्राणियों को क्रियाशील बनाते हैं, उन वायुरूप परमेश्वर को नमस्कार है।।66।। जो प्रत्येक युग में योगमाया के बल से अवतार धारण करते हैं और मास,ऋतु, अयन तथा वर्षों के द्वारा सृष्टि और प्रलय करते रहते हैं, उन काल रूप परमात्मा को प्रणाम है।।67।। ब्राह्मण जिनके मुख हैं, सम्पूर्ण क्षत्रिय-जाति भुजा है, वैश्य जङ्घा एवं उदर हैं और शूद्र जिनके चरणों के आश्रित हैं, उन चातुर्वर्ण्यरूप परमेश्वर को नमस्कार है।।68।। अग्नि जिनका मुख है, स्वर्ग मस्तक है, आकाश नाभि है, पृथ्वी पैर है, सूर्य नेत्र हैं और दिशाएँ कान हैं, उन लोकरूप परमात्मा को प्रणाम है।।69।। जो काल से परे हैं, यज्ञ से भी परे हैं और परे से भी अत्यन्त परे हैं, जो सम्पूर्ण विश्व के आदि हैं; किन्तु जिनका आदि कोई भी नहीं है, उन विश्वात्मा परमेश्वर को नमस्कार है।।70।।

(वैद्युतो जाठरश्चैव पावकः शुचिरेव च।
दहनः सर्वभक्षाणां तस्मै वह्न्यात्मने नमः।।)
विषये वर्तमानानां यं ते वैशेषिकैर्गुणैः।
प्राहुर्विषयगोप्तारं तस्मै गोप्त्रात्मने नमः।।71।।
अन्नपानेन्धनमयो रसप्राणविवर्धनः।
यो धारयति भूतानि तस्मै प्राणात्मने नमः।।72।।
प्राणानां धारणार्थाय योऽन्नं भुङ्क्ते चतुर्विधम्।
अन्तर्भूतः पचत्यग्निस्तस्मै पाकात्मने नमः।।73।।
पिङ्गेक्षणसटं यस्य रूपं दंष्ट्रानखायुधम्।
दानवेन्द्रान्तकरणं तस्मै दृप्तात्मने नमः।।74।।

यं न देवा न गन्धर्वा न दैत्या न च दानवाः।
तत्त्वतो हि विजानन्ति तस्मै सूक्ष्मात्मने नमः।।75।।
रसातलगतः श्रीमाननन्तो भगवान् विभुः।
जगद्धारयते कृत्स्नं तस्मै वीर्यात्मने नमः।।76।।
यो मोहयति भूतानि स्नेहपाशानुबन्धनैः।
सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै मोहात्मने नमः।।77।।
आत्मज्ञानमिदं ज्ञानं ज्ञात्वा पञ्चस्ववस्थितम्।
यं ज्ञानेनाभिगच्छन्ति तस्मै ज्ञानात्मने नमः।।78।।
अप्रमेयशरीराय सर्वतोबुद्धिचक्षुषे।
अनन्तपरिमेयाय तस्मै दिव्यात्मने नमः।।79।।
जटिने दण्डिने नित्यं लम्बोदरशरीरिणे।
कमण्डलुनिषङ्गाय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः।।80।।

(जो मेघ में विद्युत ओर उदर में जठरानल के रूप में स्थित हैं, जो सबको पवित्र करने के कारण पावक तथा स्वरूपतः शुद्ध होने से 'शुचि' कहलाते हैं, समस्त भक्ष्य पदार्थों को दग्ध करने वाले वे अग्निदेव जिनके ही स्वरूप हैं, उन अग्निमय परमात्मा को नमस्कार है।।) वैशेषिक दर्शन में बताये हुए रूप, रस आदि गुणों के द्वारा आकृष्ट हो जो लोग विषयों के सेवन में प्रवृत्त हो रहे हैं, उनकी उन विषयों की आसक्ति से जो रक्षा करने वाले हैं, उन रक्षक रूप परमात्मा को प्रणाम है।।71।। जो अन्न-जलरूपी ईंधन को पाकर शरीर के भीतर रस और प्राणशक्ति को बढ़ाते तथा सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करते हैं, उन प्राणात्मा परमेश्वर को नमस्कार है।।72।। प्राणों की रक्षा के लिए जो भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य—चार प्रकार के अन्नों का भोग लगाते हैं और स्वयं ही पेट के भीतर अग्निरूप में स्थित भोजन को पचाते हैं, उन पाकरूप परमेश्वर को प्रणाम है।।73।। जिनका नरसिंहरूप दानवराज हिरण्यकशिपु का अन्त करने वाला था, उस समय जिनके नेत्र और कंधे के बाल पीले दिखायी पड़ते थे, बड़ी-बड़ी दाढ़ें और नख ही जिनके आयुध थे, उन दर्परूपधारी भगवान् नरसिंह को प्रणाम है।।74।। जिन्हें न देवता, न गन्धर्व, न दैत्य और न दानव ही ठीक-ठीक जान पाते हैं, उन सूक्ष्मस्वरूप परमात्मा को नमस्कार है।।75।। जो सर्वव्यापक भगवान् श्रीमान् अनन्त नामक शेषनाग के रूप में रसातल में रहकर सम्पूर्ण जगत् को अपने मस्तक पर धारण करते हैं, उन वीर्यरूप परमश्ेवर को प्रणाम है।।76।। जो इस सृष्टि-परम्परा की रक्षा के लिए सम्पूर्ण प्राणियों को स्नेहपाश में बाँधकर मोह में डाले रखते हैं, उन मोहरूप भगवान् को नमस्कार है।।77।। अन्नमयादि पाँच कोषों में स्थित आन्तरतम आत्मा का ज्ञान होने के पश्चात् विशुद्ध बोध के द्वारा विद्वान् पुरुष जिन्हें प्राप्त करते हैं, उन ज्ञानस्वरूप परब्रह्म को प्रणाम है।।78।। जिनका स्वरूप किसी प्रमाण का विषय नहीं है, जिनके बुद्धिरूपी नेत्र सब ओर व्याप्त हो रहे हैं तथा जिनके भीतर अनन्त विषयों का समावेश है, उन

दिव्यात्मा परमेश्वर को नमस्कार है।।79।। जो जटा और दण्ड धारण करते हैं, लम्बोदर शरीर वाले हैं तथा जिनका कमण्डलु ही तूणीर का काम देता है, उन ब्रह्माजी के रूप में भगवान् को प्रणाम है।।80।।

शूलिने त्रिदशेशाय त्र्यम्बकाय महात्मने।
भस्मदिग्धाङ्गलिङ्गाय तस्मै रुद्रात्मने नमः।।81।।
चन्द्रार्धकृतशीर्षाय व्यालयज्ञोपवीतिने।
पिनाकशूलहस्ताय तस्मा उग्रात्मने नमः।।82।।
सर्वभूतात्मभूताय भूतादिनिधनाय च।
अक्रोधद्रोहमोहाय तस्मै शान्तात्मने नमः।।83।।
यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वे सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः।।84।।
विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव।
अपवर्गोऽसि भूतानां पञ्चानां परतः स्थितः।।85।।
नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु।
नमस्ते दिक्षु सर्वासु त्वं हि सर्वमयो निधिः।।86।।
नमस्ते भगवन् विष्णो लोकानां प्रभवाप्यय।
त्वं हि कर्ता हृषीकेश संहर्ता चापराजितः।।87।।
न हि पश्यामि ते भावं दिव्यं हि त्रिषु वर्त्मसु।
त्वां तु पश्यामि तत्त्वेन यत् ते रूपं सनातनम्।।88।।
दिवं ते शिरसा व्याप्तं पद्भ्यां देवी वसुन्धरा।
विक्रमेण त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः।।89।।
दिशो भुजा रविश्चक्षुर्वीर्यें शुक्रः प्रतिष्ठितः।
सप्त मार्गा निरुद्धास्ते वायोरमिततेजसः।।90।।

जो त्रिशूल धारण करने वाले और देवताओं के स्वामी हैं, जिनके तीन नेत्र हैं, जो महात्मा हैं तथा जिन्होंने अपने शरीर पर विभूति रमा रखी है, उन रुद्ररूप परमश्ेवर को नमस्कार है।।81।। जिनके मस्तक पर अर्धचन्द्र का मुकुट और शरीर पर सर्प का यज्ञोपवीत शोभा दे रहा है, जो अपने हाथ में पिनाक और त्रिशूल धारण करते हैं, उन उग्ररूपधारी भगवान् शङ्कर को प्रणाम है।।82।। जो सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मा और उनकी जन्म-मृत्यु के कारण हैं, जिनमें क्रोध, द्रोह और मोह का सर्वथा अभाव है, उन शान्तात्मा परमेश्वर को नमस्कार है।।83।। जिनके भीतर सब कुछ रहता है, जिनसे सब उत्पन्न होता है, जो स्वयं ही सर्वस्वरूप हैं, सदा ही सब ओर व्यापक हो रहे हैं और सर्वमय हैं, उन सर्वात्मा को प्रणाम है।।84।। इस विश्व की रचना करने वाले परमेश्वर! आपको प्रणाम है। विश्व के आत्मा और विश्व की उत्पत्ति के स्थानभूत जगदीश्वर! आपको नमस्कार है। आप पाँचों भूतों से परे हैं और सम्पूर्ण प्राणियों के मोक्षस्वरूप ब्रह्म

हैं।।85।। तीनों लोकों में व्याप्त हुए आपको नमस्कार है, त्रिभुवन से परे रहने वाले आपको प्रणाम है, सम्पूर्ण दिशाओं में व्यापक आप प्रभु को नमस्कार है; क्योंकि आप सब पदार्थों से पूर्ण भण्डार हैं।।86।। संसार की उत्पत्ति करने वाले अविनाशी भगवान् विष्णु आपको नमस्कार है। हृषीकेश! आप सबके जन्मदाता और संहारकर्ता हैं। आप किसी से पराजित नहीं होते।।87।। मैं तीनों लोकों में आपके दिव्य जन्म-कर्म का रहस्य नहीं जान पाता; मैं तो तत्त्वदृष्टि से आपका जो सनातन रूप है, उसीकी ओर लक्ष्य रखता हूँ।।88।। स्वर्गलोक आपके मस्तक से, पृथ्वीदेवी आपके पैरों से और तीनों लोक आपके तीन पगों में व्याप्त हैं, आप सनातन पुरुष हैं।।89।। दिशाएँ आपकी भुजाएँ, सूर्य आपके नेत्र और प्रजापति शुक्राचार्य आपके वीर्य हैं। आपने ही अत्यन्त तेजस्वी वायु के रूप में ऊपर के सातों मार्गों को रोक रखा है।।90।।

अतसीपुष्पसङ्काशं पीतवाससमच्युतम्।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम्।।91।।
एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय।।92।।
कृष्णव्रताः कृष्णमनुस्मरन्तो रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।
ते कृष्णदेहाः प्रविशन्ति कृष्णमाज्यं यथा मन्त्रहुतं हुताशे।।93।।
नमो नरकसन्त्रासरक्षामण्डलकारिणे।
संसारनिम्नगावर्ततरिकाष्ठाय विष्णवे।।94।।
नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः।।95।।
प्राणकान्तारपाथेयं संसारोच्छेदभेषजम्।
दुःखशोकपरित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम्।।96।।
यथा विष्णुमयं सत्यं यथा विष्णुमयं जगत्।
यथा विष्णुमयं सर्वं पाप्मा मे नश्यतां तथा।।97।।
त्वां प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद् ध्यायस्व सुरोत्तम।।98।।
इति विद्यातपोयोनिरयोनिर्विष्णुरीडितः।
वाग्यज्ञेनार्चितो देवः प्रीयतां मे जनार्दनः।।99।।
नारायणं परं ब्रह्म नारायणपरं तपः।
नारायणः परो देवः सर्वं नारायणः सदा।।100।।

जिनकी कान्ति अलसी के फूल की तरह साँवली है, शरीर पर पीताम्बर शोभा देता है, जो अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होते, उन भगवान् गोविन्द को जो लोग नमस्कार करते हैं, उन्हें कभी भय नहीं होता।।91।। भगवान् श्रीकृष्ण को एक बार भी प्रणाम किया जाय तो वह दस अश्वमेध यज्ञों के अन्त में किये गये स्नान के समान फल

देने वाला होता है। इसके सिवा प्रणाम में एक विशेषता है—दस अश्वमेध करने वाले का तो पुनः इस संसार में जन्म होता है, किन्तु श्रीकृष्ण को प्रणाम करने वाला मनुष्य फिर भवबन्धन में नहीं पड़ता है।।92।। जिन्होंने श्रीकृष्ण भजन का ही व्रत ले रखा है, जो श्रीकृष्ण का निरन्तर स्मरण करते हुए ही रात को सोते हैं और उन्हीं का स्मरण करते हुए सबेरे उठते हैं, वे श्रीकृष्णस्वरूप होकर उनमें इस तरह मिल जाते हैं, जैसे मन्त्र पढ़कर हवन किया हुआ घी अग्नि में मिल जाता है।।93।। जो नरक के भय से बचाने के लिए रक्षामण्डल का निर्माण करने वाले और संसाररूपी सरिता की भँवर से पार उतारने के लिए काठ की नाव के समान हैं, उन भगवान् विष्णु को नमस्कार है।।94।। जो ब्राह्मणों के प्रेमी तथा गौ और ब्राह्मणों के हितकारी हैं, जिनसे समस्त विश्व का कल्याण होता है, उन सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् गोविन्द को प्रणाम है।।95।। 'हरि' ये दो अक्षर दुर्गम पथ में संकट के समय प्राणों के लिए राह-खर्च के समान हैं, संसाररूपी रोग से छुटकारा दिलाने के लिए औषध के तुल्य हैं तथा सब प्रकार के दुःख-शोक से उद्धार करने वाले हैं।।96।। जैसे सत्य विष्णुमय है, जैसे सारा संसार विष्णुमय है, जिस प्रकार सब कुछ विष्णुमय है, उस प्रकार इस सत्य के प्रभाव से मेरे सारे पाप नष्ट हो जाएँ।।97।। देवताओं में श्रेष्ठ कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण! मैं आपका शरणागत भक्त हूँ और अभीष्ट गति को प्राप्त करना चाहता हूँ; जिसमें मेरा कल्याण हो, वह आप ही सोचिये।।98।। जो विद्या और तप के जन्मस्थान हैं, जिनको दूसरा कोई जन्म देने वाला नहीं है, उन भगवान् विष्णु का मैंने इस प्रकार वाणीरूप यज्ञ से पूजन किया है। इससे वे भगवान् जनार्दन मुझ पर प्रसन्न हों।।99।। नारायण ही परब्रह्म हैं, नारायण ही परम तप हैं। नारायण ही सबसे बड़े देवता हैं और भगवान् नारायण ही सदा सब कुछ हैं।।100।।

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनं भीष्मस्तद्गतमानसः।
नम इत्येव कृष्णाय प्रणाममकरोत्तदा।।101।।
अभिगम्य तु योगेन भक्तिं भीष्मस्य माधवः।
त्रैलोक्यदर्शनं ज्ञानं दिव्यं दत्त्वा ययौ हरिः।।102।।
(यं योगिनः प्राप्तवियोगकाले यत्नेन चित्ते विनिवेशयन्ति।
स तं पुरस्ताद्धरिमीक्षमाणः प्राणाञ्जहौ प्राप्तफलो हि भीष्मः।।)
तस्मिन्नुपरते शब्दे ततस्ते ब्रह्मवादिनः।
भीष्मं वाग्भिर्बाष्पकण्ठास्तमानर्चुर्महामतिम्।।103।।
ते स्तुवन्तश्च विप्राग्र्याः केशवं पुरुषोत्तमम्।
भीष्मं च शनकैः सर्वे प्रशशंसुः पुनः पुनः।।104।।
विदित्वा भक्तियोगं तु भीष्मस्य पुरुषोत्तमः।
सहसोत्थाय संहृष्टो यानमेवान्वपद्यत।।105।।
केशवः सात्यकिश्चापि रथेनैकेन जग्मतुः।

अपरेण महात्मानौ युधिष्ठिरधनञ्जयौ।।106।।
भीमसेनो यमौ चोभौ रथमेकं समाश्रिताः।
कृपो युयुत्सुः सूतश्च सञ्जयश्च परन्तपः।।107।।
ते रथैर्नगराकारैः प्रयाताः पुरुषर्षभाः।
नेमिघोषेण महता कम्पयन्तो वसुन्धराम्।।108।।
ततो गिरः पुरुषवरस्तवान्विता द्विजेरिताः पथि सुमनाः स शुश्रुवे।
कृताञ्जलिं प्रणतमथापरं जनं स केशिहा मुदितमनाभ्यनन्दत।।109।।
(इति स्मरन्पठति च शार्ङ्गधन्वनः शृणोति वा यदुकुलनन्दनस्तवम्।
स चक्रभृत्प्रतिहतसर्वकिल्बिषो जनार्दनं प्रविशति देहसङ्क्षये।।
स्तवराजः समाप्तोऽयं विष्णोरद्भुतकर्मणः।
गाङ्गेयेन पुरा गीतो महापातकनाशनः।।
इमं नरः स्तवराजं मुमुक्षुः पठञ्शुचिः कलुषितकल्मषापहम्।
अतीत्य लोकानमलान् सनातनान् पदं स गच्छत्यमृतं महात्मनः।।)

वैशाम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय भीष्मजी का मन भगवान् श्रीकृष्ण में लगा हुआ था, उन्होंने ऊपर बतायी हुई स्तुति करने के पश्चात् 'नमः श्रीकृष्णाय' कहकर उन्हें प्रणाम किया।।101।। भगवान् भी अपने योग बल से भीष्मजी की भक्ति को जानकर उनके निकट गये और उन्हें तीनों लोकों की बातों का बोध कराने वाला दिव्य ज्ञान देकर लौट आये।।102।। (योगी पुरुष प्राणत्याग के समय जिन्हें बड़े यत्न से अपने हृदय में स्थापित करते हैं, उन्हीं श्रीहरि को अपने सामने देखते हुए भीष्म जी ने जीवन का फल प्राप्त करके अपने प्राणों का परित्याग किया था।।) जब भीष्मजी का बोलना बंद हो गया, तब वहाँ बैठे हुए ब्रह्मवादी महर्षियों ने आँखों में आँसू भरकर गद्गद कण्ठ से परम बुद्धिमान् भीष्म जी की भूरि-भूरि प्रशंसा की।।103।। वे ब्राह्मणशिरोमणि सभी महर्षि पुरुषोत्तम भगवान् केशव की स्तुति करते हुए धीरे-धीरे भीष्म जी की बारम्बार सराहना करने लगे।।104।। इधर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भीष्म जी के भक्तियोग को जानकर सहसा उठे और बड़े हर्ष के साथ रथपर जा बैठे।।105।। एक रथ से सात्यकि और श्रीकृष्ण चले तथा दूसरे रथ से महामना युधिष्ठिर और अर्जुन।।106।। भीमसेन और नकुल-सहदेव तीसरे रथ पर सवार हुए। चौथे रथ से कृपाचार्य, युयुत्सु और शत्रुओं को तपाने वाला तथा सारथि संजय—ये तीनों चल दिये।।107।। ये पुरुषप्रवर पाण्डव और श्रीकृष्ण नगराकार रथों द्वारा उनके पहियों के गम्भीर घोष से पृथ्वी को कँपाते हुए बड़े वेग से गये।।108।। उस समय बहुत-से ब्राह्मण मार्ग में पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की स्तुति करते और भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्नमन से उसे सुनते थे। दूसरे बहुत-से लोग हाथ जोड़कर उनके चरणों में प्रणाम करते और केशिहन्ता केशव मन-ही-मन आनन्दित हो उन लोगों का अभिनन्दन करते थे।।109।। (जो मनुष्य शार्ङ्ग धनुष धारण करने वाले यदुकुलनन्दन श्रीकृष्ण की इस स्तुति को याद करते, पढ़ते

अथवा सुनते हैं, वे इस शरीर का अन्त होने पर भगवान् श्रीकृष्ण में प्रवेश कर जाते हैं। चक्रधारी श्रीहरि उनके सारे पापों का नाश कर डालते हैं। गङ्गानन्दन भीष्म ने पूर्वकाल में जिसका गान किया था, अद्‌भुतकर्मा विष्णु का वही यह स्तवराज पूरा हुआ है, यह बड़े-बड़े पातकों का नाश करने वाला है। यह स्तोत्रराज पापियों के समस्त पापों का नाश करने वाला है, संसार-बन्धन से छूटने की इच्छा वाला जो मनुष्य इसका पवित्र भाव से पाठ करता है, वह निर्मल सनातन लोकों को भी लाँघकर परमात्मा श्रीकृष्ण के अमृतमय धाम को चला जाता है।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीष्मस्तवराजे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः।। 47 ।।

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्व में भीष्मस्तवराजविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।47।।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठ के 33 श्लोक मिलाकर कुल 142 श्लोक हैं)

भीष्मस्तवराजगीता सम्पूर्णा

मनुगीता–I एवं उशनोगीता

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म के द्वारा राजधर्म का वर्णन, राजा के लिए पुरुषार्थ और सत्य की आवश्यकता, ब्राह्मणों की अदण्डनीयता तथा राजा की परिहासशीलता और मृदुता से प्रकट होने वाले दोष

वैशम्पायन उवाच

प्रणिपत्य हृषीकेशमभिवाद्य पितामहम्।
अनुमान्य गुरून् सर्वान् पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः॥1।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण और भीष्म को प्रणाम करके युधिष्ठिर ने समस्त गुरुजनों की अनुमति ले इस प्रकार प्रश्न किया।।1।।

युधिष्ठिर उवाच

राज्ञां वै परमो धर्म इति धर्मविदो विदुः।
महान्तमेतं भारं च मन्ये तद् ब्रूहि पार्थिव॥2।।
राजधर्मान् विशेषेण कथयस्व पितामह।
सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम्॥3।।
त्रिवर्गो हि समासक्तो राजधर्मेषु कौरव।
मोक्षधर्मश्च विस्पष्टः सकलोऽत्र समाहितः॥4।।
यथा हि रश्मयोऽश्वस्य द्विरदस्याङ्कुशो यथा।
नरेन्द्रधर्मो लोकस्य तथा प्रग्रहणं स्मृतम्॥5।।
तत्र चेत् सम्प्रमुह्येत धर्मे राजर्षिसेविते।
लोकस्य संस्था न भवेत् सर्वं च व्याकुलीभवेत्॥6।।
उदयन् हि यथा सूर्यो नाशयत्यशुभं तमः।
राजधर्मास्तथालोक्यां निक्षिपन्त्यशुभां गतिम्॥7।।
तदग्रे राजधर्मान्हि मदर्थे त्वं पितामह।
प्रब्रूहि भरतश्रेष्ठ त्वं हि धर्मभृतां वरः॥8।।
आगमश्च परस्त्वत्तः सर्वेषां नः परन्तप।
भवन्तं हि परं बुद्धौ वासुदेवोऽभिमन्यते॥9।।

युधिष्ठिर बोले—पितामह! धर्मज्ञ विद्वानों की यह मान्यता है कि राजाओं का धर्म श्रेष्ठ है। मैं इसे बहुत बड़ा भार मानता हूँ, अतः भूपाल! आप मुझे राजधर्म का उपदेश कीजिये।।2।। पितामह! राजधर्म सम्पूर्ण जीवन जगत् का परम आश्रय है; अतः आप राजधर्मों का ही विशेष रूप से वर्णन कीजिये।।3।। कुरुनन्दन! राजा के धर्मों में धर्म, अर्थ

और काम तीनों का समावेश है और यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण मोक्षधर्म भी राजधर्म में निहित है।।4।। जैसे घोड़ों को काबू में रखने के लिए लगाम और हाथी को वश में करने के लिए अङ्कुश है, उसी प्रकार समस्त संसार को मर्यादा के भीतर रखने के लिए राजधर्म आवश्यक है; वह उसके लिए प्रग्रह अर्थात् उसको नियन्त्रित करने में समर्थ माना गया है।।5।। प्राचीन राजर्षियों द्वारा सेवित उस राजधर्म में यदि राजा मोहवश प्रमाद कर बैठे तो संसार की व्यवस्था ही बिगड़ जाए और सब लोग दुःखी हो जाएँ।।6।। जैसे सूर्यदेव उदय होते ही घोर अन्धकार का नाश कर देते हैं, उसी प्रकार राजधर्म मनुष्यों के अशुभ आचरणों का, जो उन्हें पुण्य लोकों से वञ्चित कर देते हैं, निवारण करता है।।7।। अतः भरतश्रेष्ठ पितामह! आप सबसे पहले मेरे लिए राजधर्मों का ही वर्णन कीजिये; क्योंकि आप धर्मात्माओं में श्रेष्ठ हैं।।8।। परन्तप! पितामह! हम सब लोगों को आप से ही शास्त्रों के उत्तम सिद्धान्त का ज्ञान हो सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण भी आपको ही बुद्धि में श्रेष्ठ मानते हैं।।9।।

भीष्म उवाच

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्॥10।।
शृणु कात्स्न्र्येन मत्तस्त्वं राजधर्मान्युधिष्ठिर।
निरुच्यमानान् नियतो यच्चान्यदपि वाञ्छसि॥11।।
आदावेव कुरुश्रेष्ठ राज्ञा रञ्जनकाम्यया।
देवतानां द्विजानां च वर्तितव्यं यथाविधि॥12।।
दैवतान्यर्चयित्वा हि ब्राह्मणांश्च कुरूद्वह।
आनृण्यं याति धर्मस्य लोकेन च समर्च्यते॥13।।
उत्थानेन सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर।
न ह्युत्थानमृते दैवं राज्ञामर्थं प्रसादयेत्॥14।।
साधारणं द्वयं ह्येतद्दैवमुत्थानमेव च।
पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चितमुच्यते॥15।।
विपन्ने च समारम्भे सन्तापं मा स्म वै कृथाः।
घटस्वैव सदाऽऽत्मानं राज्ञामेष परो नयः॥16।।
न हि सत्यादृते किञ्चिद्राज्ञां वै सिद्धिकारकम्।
सत्ये हि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति॥17।।
ऋषिणामपि राजेन्द्र सत्यमेव परं धनम्।
तथा राज्ञां परं सत्यान्नान्यद् विश्वासकारणम्॥18।।
गुणवाञ्शीलवान्दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः।
सुदर्शः स्थूललक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रियः॥19।।
आर्जवं सर्वकार्येषु श्रयेथाः कुरुनन्दन।
पुनर्नयविचारेण त्रयीसंवरणेन च॥20।।

भीष्मजी ने कहा—महान् धर्म को नमस्कार है। विश्वविधाता भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है। अब मैं ब्राह्मणों को नमस्कार करके सनातन धर्मों का वर्णन आरम्भ करूँगा।।10।। युधिष्ठिर! अब तुम नियमपूर्वक एकाग्र हो मुझसे सम्पूर्ण रूप से राजधर्मों का वर्णन सुनो तथा और भी जो कुछ सुनना चाहते हो, उसका श्रवण करो।।11।। कुरुश्रेष्ठ! राजाओं को सबसे पहले प्रजा का रञ्जन अर्थात् उसे प्रसन्न रखने की इच्छा से देवताओं और ब्राह्मणों के प्रति शास्त्रोक्त विधि के अनुसार बर्ताव करना चाहिए (अर्थात् वह देवताओं का विधिपूर्वक पूजन तथा ब्राह्मणों का आदर सत्कार करे)।।12।। कुरुकुलभूषण! देवताओं और ब्राह्मणों का पूजन करके राज धर्म के ऋण से मुक्त होता है और सारा जगत् उसका सम्मान करता है।।13।। बेटा युधिष्ठिर! तुम सदा पुरुषार्थ के लिए प्रयत्नशील रहना। पुरुषार्थ के बिना केवल प्रारब्ध राजाओं का प्रयोजन नहीं सिद्ध कर सकता।।14।। यद्यपि कार्य की सिद्धि में प्रारब्ध और पुरुषार्थ—ये दोनों साधारण कारण माने गये हैं, तथापि मैं पुरुषार्थ को ही प्रधान मानता हूँ। प्रारब्ध तो पहले से ही निश्चित बताया गया है।।15।। अतः यदि आरम्भ किया हुआ कार्य पूरा न हो सके अथवा उसमें बाधा पड़ जाए तो इसके लिए तुम्हें अपने मन में दुःख नहीं मानना चाहिये। तुम सदा अपने आपको पुरुषार्थ में ही लगाये रखो। यही राजाओं की सर्वोत्तम नीति है।।16।। सत्य के सिवा दूसरी कोई वस्तु राजाओं के लिए सिद्धिकारक नहीं है। सत्य परायण राजा इहलोक और परलोक में भी सुख पाता है।।17।। राजेन्द्र! ऋषियों के लिए भी सत्य ही परम धन है। इसी प्रकार राजाओं के लिए सत्य से बढ़कर दूसरा कोई ऐसा साधन नहीं है, जो प्रजावर्ग में उसके प्रति विश्वास उत्पन्न करा सके।।18।। जो राजा गुणवान्, शीलवान्, मन और इन्द्रियों को संयम में रखने वाला, कोमल स्वभाव, धर्मपरायण, जितेन्द्रिय, देखने में प्रसन्न मुख और बहुत देने वाला उदारचित्त है, वह कभी राजलक्ष्मी से भ्रष्ट नहीं होता।।19।। कुरुनन्दन! तुम सभी कार्यों में सरलता एवं कोमलता का अवलम्बन करना, परन्तु नीतिशास्त्र की आलोचना से यह ज्ञात होता है कि अपने छिद्र, अपनी मन्त्रणा तथा अपने कार्य कौशल—इन तीनों बातों को गुप्त रखने में सरलता का अवलम्बन करना उचित नहीं है।।20।।

मृदुर्हि राजा सततं लङ्घ्यो भवति सर्वशः।
तीक्ष्णाच्चोद्विजते लोकस्तस्मादुभयमाचर[श्रय]॥21।।
अदण्ड्याश्चैव ते पुत्र विप्राश्च ददतां वर।
भूतमेतत्परं लोके ब्राह्मणो नाम पाण्डव॥22।।
मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना।
धर्मेषु स्वेषु कौरव्य हृदि तौ कर्तुमर्हसि॥23।।
अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति॥24।।
अयो हन्ति यदाश्मानमग्निना वारि हन्यते।
ब्रह्म च क्षत्रियो द्वेष्टि तदा सीदन्ति ते त्रयः॥25।।

एवं कृत्वा महाराज नमस्या एव ते द्विजाः।
भौमं ब्रह्म द्विजश्रेष्ठा धारयन्ति समर्चिताः॥26॥
एवं चैव नरव्याघ्र लोकत्रयविघातकाः।
निग्राह्या एव सततं बाहुभ्यां ये स्युरीदृशाः॥27॥

जो राजा सदा सब प्रकार से कोमलतापूर्ण बर्ताव करने वाला ही होता है, उसकी आज्ञा का लोग उल्लङ्घन कर जाते हैं और केवल कठोर बर्ताव करने से भी सब लोग उद्विग्न हो उठते हैं; अतः तुम आवश्यकतानुसार कठोरता और कोमलता दोनों का अवलम्बन करो॥21॥ दाताओं में श्रेष्ठ बेटा पाण्डुकुमार युधिष्ठिर! तुम्हें ब्राह्मणों को कभी दण्ड नहीं देना चाहिये; क्योंकि संसार में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ प्राणी है॥22॥ राजेन्द्र! कुरुनन्दन! महात्मा मनु ने अपने धर्मशास्त्रों में दो श्लोकों का गान किया है, तुम उन दोनों को अपने हृदय में धारण करो॥23॥ अग्नि जल से, क्षत्रिय ब्राह्मण से और लोहा पत्थर से प्रकट हुआ है। इनका तेज अन्य सब स्थानों पर तो अपना प्रभाव दिखाता है, परन्तु अपने को उत्पन्न करने वाले कारण से टक्कर लेने पर स्वयं ही शान्त हो जाता है॥24॥ जब लोहा पत्थर पर चोट करता है, आग जल को नष्ट करने लगती है और क्षत्रिय ब्राह्मण से द्वेष करने लगता है, तब ये तीनों ही दुःख उठाते हैं अर्थात् दुर्बल हो जाते हैं॥25॥ महाराज! ऐसा सोचकर तुम्हें ब्राह्मणों को सदा नमस्कार ही करना चाहये; क्योंकि वे श्रेष्ठ ब्राह्मण पूजित होने पर भूतल के ब्रह्म को अर्थात् वेद को धारण करते हैं॥26॥ पुरुषसिंह! यद्यपि ऐसी बात है, तथापि यदि ब्राह्मण भी तीनों लोकों का विनाश करने के लिए उद्यत हो जाएँ तो ऐसे लोगों को अपने बाहुबल से परास्त करके सदा नियन्त्रण में ही रखना चाहिए॥27॥

मनुगीता सम्पूर्णा

उशनोगीता

श्लोकौ चोशनसा गीतौ पुरा तात महर्षिणा।
तौ निबोध महाराज त्वमेकाग्रमना नृप॥28॥
उद्यम्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे।
निगृह्णीयात् स्वधर्मेण धर्मापेक्षी नराधिपः॥29॥
विनश्यमानं धर्मं हि योऽभिरक्षेत् स धर्मवित्।
न तेन धर्महा स स्यान् मन्युस्तन्मन्युमृच्छति॥30॥
एवं चैव नरश्रेष्ठ रक्ष्या एव द्विजातयः।
सापराधानपि हि तान् विषयान्ते समुत्सृजेत्॥31॥
अभिशस्तमपि ह्येषां कृपायीत विशाम्पते।
ब्रह्मघ्ने गुरुतल्पे च भ्रूणहत्ये तथैव च॥32॥

राजद्विष्टे च विप्रस्य विषयान्ते विसर्जनम्।
विधीयते न शारीरं दण्डमेषां कदाचन॥33।।
दयिताश्च नरास्ते स्युर्भक्तिमन्तो द्विजेषु ये।
न कोशः परमोऽन्योऽस्ति राज्ञां पुरुषसञ्चयात्॥34।।
दुर्गेषु च महाराज षट्सु ये शास्त्रनिश्चिताः।
सर्वदुर्गेषु मन्यन्ते नरदुर्गं सुदुस्तरम्॥35।।
तस्मान्नित्यं दया कार्या चातुर्वर्ण्ये विपश्चिता।
धर्मात्मा सत्यवाक् चैव राजा रञ्जयति प्रजाः॥36।।
न च क्षान्तेन ते नित्यं भाव्यं पुत्र समन्ततः।
अधर्मो हि मृदू राजा क्षमावानिव कुञ्जरः॥37।।
बार्हस्पत्ये च शास्त्रे च श्लोको निगदितः पुरा।
अस्मिन्नर्थे महाराज तन्मे निगदतः शृणु॥38।।
क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः।
हस्तियन्ता गजस्यैव शिर एवारुरुक्षति॥39।।
तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः।
वासन्तार्क इव श्रीमान्न शीतो न च घर्मदः॥40।।

तात! नरेश्वर! इस विषय में दो श्लोक प्रसिद्ध हैं, जिन्हें पूर्वकाल में महर्षि शुक्राचार्य ने गाया था। महाराज! तुम एकाग्रचित्त होकर उन दोनों श्लोकों को सुनो।।28।। वेदान्त का पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण ही क्यों न हो? यदि वह शस्त्र उठाकर युद्ध में सामना करने के लिए आ रहा हो तो धर्मपालन की इच्छा रखने वाले राजा को अपने धर्म के अनुसार ही युद्ध करके उसे कैद कर लेना चाहिए।।29।। जो राजा उसके द्वारा नष्ट होते हुए धर्म की रक्षा करता है, वह धर्मज्ञ है। अतः उसे मारने से वह धर्म का नाशक नहीं माना जाता। वास्तव में क्रोध ही उनके क्रोध से टक्कर लेता है।।30।। नरश्रेष्ठ! यह सब होने पर भी ब्राह्मणों की तो सदा रक्षा ही करनी चाहिए; यदि उनके द्वारा अपराध बन गये हों तो उन्हें प्राणदण्ड न देकर अपने राज्य की सीमा से बाहर करके छोड़ देना चाहिए।।31।। प्रजानाथ! इनमें कोई कलङ्कित हो तो उस पर भी कृपा ही करनी चाहिए। ब्रह्म हत्या, गुरुपत्नीगमन, भ्रूण हत्या तथा राजद्रोह का अपराध होने पर भी ब्राह्मण को देश से निकाल देने का ही विधान है—उसे शारीरिक दण्ड कभी नहीं देना चाहिए।।32-33।। जो मनुष्य ब्राह्मणों के प्रति भक्ति रखते हैं, वे सबके प्रिय होते हैं। राजाओं के लिए ब्राह्मण के भक्तों का संग्रह करने से बढ़कर दूसरा कोई कोश नहीं है।।34।। महाराज! मरु (जलरहित भूमि), जल, पृथ्वी, वन, पर्वत और मनुष्य—इन छः प्रकार के दुर्गों में मानव दुर्ग ही प्रधान है। शास्त्रों के सिद्धान्त को जानने वाले विद्वान् उन सभी दुर्गों में मानव दुर्ग को ही अत्यन्त दुर्लङ्घ्य मानते हैं।।35।। अतः विद्वान् राजा को चारों वर्णों पर सदा दया करनी चाहिये, धर्मात्मा और सत्यवादी नरेश ही प्रजा को प्रसन्न रख पाता है।।36।। बेटा! तुम्हें सदा और सब ओर क्षमाशील ही नहीं बने रहना चाहिये; क्योंकि क्षमाशील हाथी के समान कोमल स्वभाव वाला राजा दूसरों को

भयभीत न कर सकने के कारण अधर्म के प्रसार में ही सहायक होता है।।37।। महाराज! इसी बात के समर्थन में बार्हस्पत्य शास्त्र का एक प्राचीन श्लोक पढ़ा जाता है। मैं उसे बता रहा हूँ, सुनो।।38।। नीच मनुष्य क्षमाशील राजा का सदा उसी प्रकार तिरस्कार करते रहते हैं, जैसे हाथी का महावत उसके सिर पर ही चढ़े रहना चाहता है।।39।। जैसे वसन्त ऋतु का तेजस्वी सूर्य न तो अधिक ठण्डक पहुँचाता है और न कड़ी धूप ही करता है, उसी प्रकार राजा को भी न तो बहुत कोमल होना चाहिये और न अधिक कठोर ही।।40।।

प्रत्यक्षेणानुमानेन तथौपम्यागमैरपि।
परीक्ष्यास्ते महाराज स्वे परे चैव नित्यशः॥41।।
व्यसनानि च सर्वाणि त्यजेथा भूरिदक्षिण।
न चैव न प्रयुञ्जीत सङ्गं तु परिवर्जयेत्॥42।।
लोकस्य व्यसनी नित्यं परिभूतो भवत्युत।
उद्वेजयति लोकं च योऽतिद्वेषी महीपतिः॥43।।
भवितव्यं सदा राज्ञा गर्भिणीसहधर्मिणा।
कारणं च महाराज शृणु येनेदमिष्यते॥44।।
यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम्॥45।।
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद् यल्लोकहितं भवेत्॥46।।
न सन्त्याज्यं च ते धैर्यं कदाचिदपि पाण्डव।
धीरस्य स्पष्टदण्डस्य न भयं विद्यते क्वचित्॥47।।
परिहासश्च भृत्यैस्ते नात्यर्थं वदतां वर।
कर्तव्यो राजशार्दूल दोषमत्र हि मे शृणु॥48।।
अवमन्यन्ति भर्तारं सङ्घर्षादुपजीविनः।
स्वे स्थाने न च तिष्ठन्ति लङ्घयन्ति च तद्वचः॥49।।
प्रेष्यमाणा विकल्पन्ते गुह्यं चाप्यनुयुञ्जते।
अयाच्यं चैव याचन्ते भोज्यान्याहारयन्ति च॥50।।

महाराज! प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम—इन चारों प्रमाणों के द्वारा सदा अपने पराये की पहचान करते रहना चाहिये।।41।। प्रचुर दक्षिणा देने वाले नरेश्वर! तुम्हें सभी प्रकार के व्यसनों[1] को त्याग देना चाहिए; परन्तु साहस आदि का भी सर्वथा प्रयोग न किया जाए, ऐसी बात नहीं है (क्योंकि शत्रु विजय आदि के लिए उसकी आवश्यकता

1. व्यसन अट्ठारह प्रकार के बताये गये हैं। इनमें दस तो कामज हैं और आठ क्रोधज। शिकार, जूआ, दिन में सोना, परनिन्दा, स्त्रीसेवन, मद, वाद्य, गीत, नृत्य और मदिरापान—ये दस कामज व्यसन बताये गये हैं, चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, अर्थदूषण, वाणी की कठोरता और दण्ड की कठोरता—ये आठ क्रोधज व्यसन कहे गये हैं।

है); अत: सभी प्रकार के व्यसनों की आसक्ति का परित्याग करना चाहिये।।42।। व्यसनों में आसक्त हुआ राजा सदा सब लोगों के अनादर का पात्र होता है और जो भूपाल सबके प्रति अत्यन्त द्वेष रखता है, वह सब लोगों को उद्वेगयुक्त कर देता है।।43।। महाराज! राजा का प्रजा के साथ गर्भिणी स्त्री का-सा बर्ताव होना चाहिये। किस कारण से ऐसा होना उचित है, यह बताता हूँ, सुनो।।44।। जैसे गर्भवती स्त्री अपने मन को अच्छे लगने वाले प्रिय भोजन आदि का भी परित्याग करके केवल गर्भस्थ बाल के हित का ध्यान रखती है, उसी प्रकार धर्मात्मा राजा को भी चाहिये कि नि:सन्देह वैसा ही बर्ताव करे। कुरुश्रेष्ठ! राजा अपने को प्रिय लगने वाले विषय का परित्याग करके जिसमें सब लोगों का हित हो वही कार्य करे।।45-46।। पाण्डुनन्दन! तुम्हें कभी भी धैर्य का त्याग नहीं करना चाहिये। जो अपराधियों को दण्ड देने में सङ्कोच नहीं करता और सदा धैर्य रखता है, उस राजा को कभी भय नहीं होता।।47।। वक्ताओं में श्रेष्ठ राजसिंह! तुम्हें सेवकों के साथ अधिक हँसी-मजाक नहीं करना चाहिये; इसमें जो दोष है, वह मुझसे सुनो।।48।। राजा से जीविका चलाने वाले सेवक अधिक मुँहलगे हो जाने पर मालिक का अपमान कर बैठते हैं। वे अपनी मर्यादा में स्थिर नहीं रहते और स्वामी की आज्ञा का उल्लङ्घन करने लगते हैं।।49।। वे जब किसी कार्य के लिए भेजे जाते हैं तो उसकी सिद्धि में सन्देह उत्पन्न कर देते हैं। राजा की गोपनीय त्रुटियों को भी सबके सामने ला देते हैं। जो वस्तु नहीं माँगनी चाहिये उसे भी माँग बैठते हैं तथा राजा के लिए रखे हुए भोज्य पदार्थों को स्वयं खा लेते हैं।।50।।

क्रुश्यन्ति परिदीप्यन्ति भूमिपायाधितिष्ठते।
उत्कोचैर्वञ्चनाभिश्च कार्याण्यनुविहन्ति च॥51।।
जर्जरं चास्य विषयं कुर्वन्ति प्रतिरूपकै:।
स्त्रीरक्षिभिश्च सज्जन्ते तुल्यवेषा भवन्ति च॥52।।
वान्तं निष्ठीवनं चैव कुर्वते चास्य सन्निधौ।
निर्लज्जा राजशार्दूल व्याहरन्ति च तद्वच:॥53।।
हयं वा दन्तिनं वापि रथं वा नृपसत्तम।
अभिरोहन्त्यनादृत्य हर्षुले पार्थिवे मृदौ॥54।।
इदं ते दुष्करं राजन्निदं ते दुष्टचेष्टितम्।
इत्येवं सुहृदो वाचं वदन्ते परिषद्गता:॥55।।
क्रुद्धे चास्मिन् हसन्त्येव न च हृष्यन्ति पूजिता:।
सङ्घर्षशीलाश्च तदा भवन्त्यन्योन्यकारणात्॥56।।
विस्रंसयन्ति मन्त्रं च विवृण्वन्ति च दुष्कृतम्।
लीलया चैव कुर्वन्ति सावज्ञास्तस्य शासनम्॥57।।
अलङ्कारे च भोज्ये च तथा स्नानानुलेपने।
हेलनानि नरव्याघ्र स्वस्थास्तस्योपशृण्वत:॥58।।
निन्दन्ते स्वानधीकारान् सन्त्यजन्ते च भारत।

न वृत्त्या परितुष्यन्ति राजदेयं हरन्ति च॥59।।
क्रीडितुं तेन चेच्छन्ति ससूत्रेणेव पक्षिणा।
अस्मत्प्रणेयो राजेति लोकांश्चैव वदन्त्युत॥60।।
एते चैवापरे चैव दोषाः प्रादुर्भवन्त्युत।
नृपतौ मार्दवोपेते हर्षुले च युधिष्ठिर॥61।।

राज्य के अधिपति भूपाल को कोसते हैं, उनके प्रति क्रोध से तमतमा उठते हैं; घूस लेकर और धोखा देकर राजा के कार्यों में विघ्न डालते हैं।।51।। वे जाली आज्ञापत्र जारी करके राजा के राज्य को जर्जर कर देते हैं। रनवास के रक्षकों से मिल जाते हैं अथवा उनके समान ही वेशभूषा धारण करके वहाँ घूमते फिरते हैं।।52।। राजा के पास ही मुँह बाकर जँभाई लेते और थूकते हैं, नृपश्रेष्ठ! वे मुँहलगे नौकर लाज छोड़कर मनमानी बातें बोलते हैं।।53।। नृपशिरोमणे! परिहासशील कोमल स्वभाव वाले राजा को पाकर सेवकगण उसकी अवहेलना करते हुए उसके घोड़े, हाथी अथवा रथ को अपनी सवारी के काम में लाते हैं।।54।। आम दरबार में बैठकर दोस्तों की तरह बराबरी का बर्ताव करते हुए कहते हैं 'राजन्! आपसे इस काम का होना कठिन है, आपका यह बर्ताव बहुत बुरा है'।।55।। इस बात से यदि राजा कुपित हुए तो वे उन्हें देखकर हँस देते हैं और उनके द्वारा सम्मानित होने पर भी वे धृष्ट सेवक प्रसन्न नहीं होते। इतना ही नहीं, वे सेवक परस्पर स्वार्थ साधन के निमित्त राजसभा में ही राजा के साथ विवाद करने लगते हैं।।56।। राजकीय गुप्त बातों तथा राजा के दोषों को भी दूसरों पर प्रकट कर देते हैं। राजा के आदेश की अवहेलना करके खिलवाड़ करते हुए उसका पालन करते हैं।।57।। पुरुषसिंह! राजा पास ही खड़ा-खड़ा सुनता रहता है निर्भय होकर उसके आभूषण पहनने, खाने, नहाने और चन्दन लगाने आदि का मजाक उड़ाया करते हैं।।58।। भारत! उनके अधिकार में जो काम सौंपा जाता है, उसको वे बुरा बताते और छोड़ देते हैं। उन्हें जो वेतन दिया जाता है, उससे वे सन्तुष्ट नहीं होते हैं और राजकीय धन को हड़पते रहते हैं।।59।। जैसे लोग डोरे में बँधी हुई चिड़िया के साथ खेलते हैं, उसी प्रकार वे भी राजा के साथ खेलना चाहते हैं और साधारण लोगों से कहा करते हैं 'राजा तो हमारा गुलाम है'।।60।। युधिष्ठिर! राजा जब परिहासशील और कोमल स्वभाव का हो जाता है, तब ये ऊपर बताये हुए तथा दूसरे दोष भी प्रकट होते हैं।।61।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ 56 **॥**

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ।।56।।

मनुगीता एवं उशनोगीता सम्पूर्णा

भार्गवगीता

प्रथमोऽध्यायः

राजा के धर्मानुकूल नीतिपूर्ण बर्ताव का वर्णन

भीष्म उवाच

नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठिर।
प्रशस्यते न राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः॥1॥
भगवानुशना चाह श्लोकमत्र विशाम्पते।
तदिहैकमना राजन् गदतस्तं निबोध मे॥2॥
द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥3॥
तदेतन्नरशार्दूल हृदि त्वं कर्तुमर्हसि।
सन्धेयानभिसन्धत्स्व विरोध्यांश्च विरोधय॥4॥
सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य विपरीतं य आचरेत्।
गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रतिहन्तव्य एव सः॥5॥
मरुत्तेन हि राज्ञा वै गीतः श्लोकः पुरातनः।
राजाधिकारे राजेन्द्र बृहस्पतिमते पुरा॥6॥
गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शाश्वतः॥7॥
बाहोः पुत्रेण राज्ञा च सगरेण च धीमता।
असमञ्जाः सुतो ज्येष्ठस्त्यक्तः पौरहितैषिणा॥8॥
असमञ्जाः सरय्वां स पौराणां बालकान् नृप।
न्यमज्जयदतः पित्रा निर्भर्त्स्य स विवासितः॥9॥
ऋषिणोद्दालकेनापि श्वेतकेतुर्महातपाः।
मिथ्या विप्रानुपचरन् सन्त्यक्तो दयितः सुतः॥10॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! राजा को सदा ही उद्योगशील होना चाहिये। जो उद्योग छोड़कर स्त्री की भाँति बेकार बैठा रहता है, उस राजा की प्रशंसा नहीं होती है॥1॥ प्रजानाथ! इस विषय में भगवान् शुक्राचार्य ने एक श्लोक कहा है, उसे मैं बता रहा हूँ। तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर मुझसे उस श्लोक को सुनो॥2॥ जैसे साँप बिल में रहने वाले चूहों को निगल जाता है, उसी प्रकार दूसरों से लड़ाई न करने वाले राजा तथा विद्याध्ययन आदि के लिए घर छोड़कर अन्यत्र न जाने वाले ब्राह्मण को पृथ्वी निगल जाती है (अर्थात् वे पुरुषार्थ साधन किये बिना ही मर जाते हैं)॥3॥ अतः नरश्रेष्ठ! तुम

इस बात को अपने हृदय में धारण कर लो, जो सन्धि करने योग्य हों, उनसे सन्धि करो और जो विरोध के पात्र हों, उनका डटकर विरोध करो।।4।। राज्य के सात अङ्ग हैं— राजा, मन्त्री, मित्र, खजाना, देश, दुर्ग और सेना। जो इन सात अङ्गों से युक्त राज्य के विपरीत आचरण करे, वह गुरु हो या मित्र, मार डालने के ही योग्य है।।5।। राजेन्द्र! पूर्वकाल में राजा मरुत्त ने एक प्राचीन श्लोक का गान किया था, जो बृहस्पति के मतानुसार राजा के अधिकार के विषय में प्रकाश डालता है।।6।। घमण्ड में भरकर कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान न रखने वाला तथा कुमार्ग पर चलने वाला मनुष्य यदि अपना गुरु तो उसे भी दण्ड देने का सनातन विधान है।।7।। बाहु के पुत्र बुद्धिमान् राजा सगर ने तो पुरवासियों के हित की इच्छा से अपने ज्येष्ठ पुत्र असमञ्जा का भी त्याग कर दिया था।।8।। नरेश्वर! असमञ्जा पुरवासियों के बालकों को पकड़ कर सरयू नदी में डुबा दिया करता था; अतः उसके पिता ने उसे दुत्कार कर घर से बाहर निकाल दिया।।9।। उद्दालक ऋषि ने अपने प्रिय पुत्र महातपस्वी श्वेतकेतु को केवल इस अपराध से त्याग दिया कि वह ब्राह्मणों के साथ मिथ्या एवं कपटपूर्ण व्यवहार करता था।।10।।

लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः।
सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चार्जवम्॥11।।
न हिंस्यात् परवित्तानि देयं काले च दापयेत्।
विक्रान्तः सत्यवाक् क्षान्तो नृपो न चलते पथः॥12।।
आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः॥13।।
त्रय्यां संवृतमन्त्रश्च राजा भवितुमर्हति।
वृजिनं च नरेन्द्राणां नान्यच्चारक्षणात्परम्॥14।।
चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता।
धर्मसङ्कररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः॥15।।
न विश्वसेच्च नृपतिर्न चात्यर्थं च विश्वसेत्।
षाड्गुण्यगुणदोषांश्च नित्यं बुद्ध्यावलोकयेत्॥16।।
द्विट् छिद्रदर्शी नृपतिर्नित्यमेव प्रशस्यते।
त्रिवर्गे विदितार्थश्च युक्तचारोपधिश्च यः॥17।।
कोशस्योपार्जनरतिर्यमवैश्रवणोपमः।
वेत्ता च दशवर्गस्य स्थानवृद्धिक्षयात्मनः॥18।।
अभृतानां भवेद्धर्ता भृतानामन्ववेक्षकः।
नृपतिः सुमुखश्च स्यात् स्मितपूर्वाभिभाषिता॥19।।
उपासिता च वृद्धानां जिततन्द्रिरलोलुपः।
सतां वृत्ते स्थितमतिः सन्तोष्यश्चारुदर्शनः॥20।।

अतः इस लोक में प्रजावर्ग को प्रसन्न रखना ही राजाओं का सनातन धर्म है, सत्य की रक्षा और व्यवहार की सरलता ही राजोचित कर्त्तव्य हैं।।11।। दूसरों के धन का

नाश न करे। जिसको जो कुछ देना हो, उसे वह समय पर दिलाने की व्यवस्था करे। पराक्रमी, सत्यवादी और क्षमाशील बना रहे—ऐसा करने वाला राजा कभी पथभ्रष्ट नहीं होता।।12।। जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, क्रोध को जीत लिया है तथा शास्त्रों के सिद्धान्त का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रयत्न में निरन्तर लगा रहता है, जिसे तीनों वेदों का ज्ञान है तथा जो अपने गुप्त विचारों को दूसरों पर प्रकट नहीं होने देता है, वही राजा होने योग्य है, प्रजा की रक्षा न करने से बढ़कर राजाओं के लिए दूसरा कोई पाप नहीं है।।13-14।। राजा को चारों वर्णों के धर्मों की रक्षा करनी चाहिये, प्रजा को धर्मसङ्करता से बचाना राजाओं का सनातन धर्म है।।15।। राजा किसी पर भी विश्वास न करे। विश्वसनीय व्यक्ति का भी अत्यन्त विश्वास न करे। राजनीति के छ: गुण होते हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय।[1] इन सबके गुण दोषों का अपनी बुद्धि द्वारा सदा निरीक्षण करे।।16।। शत्रुओं के छिद्र देखने वाले राजा की सदा ही प्रशंसा की जाती है। जिसे धर्म, अर्थ और काम के तत्त्व का ज्ञान है तथा जिसने शत्रुओं की गुप्त बातों को जानने और उनके मन्त्री आदि को फोड़ने के लिए गुप्तचर लगा रखा है, वह भी प्रशंसा के ही योग्य है।।17।। राजा को उचित है कि वह सदा अपने कोषागार को भरा-पूरा रखने का प्रयत्न करता रहे, उसे न्याय करने में यमराज और धन संग्रह करने में कुबेर के समान होना चाहिये। वह स्थान, वृद्धि तथा क्षय के हेतुभूत दस[2] वर्गों का सदा ज्ञान रखे।।18।। जिनके भरण-पोषण का प्रबन्ध न हो, उनका पोषण राजा स्वयं करे और उसके द्वारा जिनका भरण-पोषण चल रहा हो, उन सबकी देखभाल रखे। राजा को सदा प्रसन्नमुख रहना और मुसकराते हुए वार्तालाप करना चाहिये।।19।। राजा को वृद्ध पुरुषों की उपासना (सेवा या सङ्ग) करनी चाहिये, वह आलस्य को जीते और लोलुपता का परित्याग करे। सत्पुरुषों के व्यवहार में मन लगावे। सन्तुष्ट होने योग्य स्वभाव बनाये रखे। वेशभूषा ऐसी रखे, जिससे वह देखने में अत्यन्त मनोहर जान पड़े।।20।।

---

1. यदि शत्रु पर चढ़ाई की जाए और वह अपने से बलवान् सिद्ध हो तो उससे मेल कर लेना 'सन्धि' नामक गुण है। यदि दोनों में समान बल हो तो लड़ाई जारी रखना 'विग्रह' है। यदि शत्रु दुर्बल हो तो उस अवस्था में उसके दुर्ग आदि पर जो आक्रमण किया जाता है, उसे 'यान' कहते हैं। यदि अपने ऊपर शत्रु की ओर से आक्रमण हो और शत्रु का पक्ष प्रबल जान पड़े तो उस समय अपने को दुर्ग आदि में छिपाये रखकर जो आत्म रक्षाकी जाती है, वह 'आसन' कहालाता है। यदि चढ़ाई करने वाला शत्रु मध्यम श्रेणी का हो तो 'द्वैधीभाव' का सहारा लिया जाता है। उसमें ऊपर से दूसरा भाव दिखाया जाता है और भीतर दूसरा ही भाव रखा जाता है। जैसे आधी सेना दुर्ग में रखकर आत्मरक्षा करना और आधी को भेजकर शत्रुओं के अन्न आदि सामग्री पर कब्जा करना आदि कार्य 'द्वैधीभाव' नीति के अन्तर्गत हैं। आक्रमणकारी से पीड़ित होने पर किसी मित्र राजा का सहारा लेकर उसके साथ लड़ाई छेड़ना 'समाश्रय' कहलाता है।
2. मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग (किला), खजाना और दण्ड—ये पाँच 'प्रकृति' कहे गये हैं। ये ही अपने और शत्रु पक्ष के मिलाकर 'दशवर्ग' कहलाते हैं, यदि दोनों के मन्त्री आदि समान हों तो ये स्थान के हेतु होते हैं अर्थात् दोनों पक्ष की स्थिति कायम रहती है, अगर अपने पक्ष में इनकी अधिकता हो तो ये वृद्धि के साधक होते हैं और कमी हो तो क्षय के कारण बनते हैं

न चाददीत वित्तानि सतां हस्तात् कदाचन।
असद्भ्यश्च समादद्यात् सद्भ्यस्तु प्रतिपादयेत्॥21।।
स्वयं प्रहर्ता दाता च वश्यात्मा रम्यसाधनः।
काले दाता च भोक्ता च शुद्धाचारस्तथैव च॥22।।
शूरान् भक्तानसंहार्यान् कुले जातानरोगिणः।
शिष्टाञ्शिष्टाभिसम्बन्धान्मानिनोऽनवमानिनः॥23।।
विद्याविदो लोकविदः परलोकान्ववेक्षकान्।
धर्मे च निरतान् साधूनचलानचलानिव॥24।।
सहायान् सततं कुर्याद् राजा भूतिपुरष्कृतः।
तैश्च तुल्यो भवेद् भोगैश्छत्रमात्राज्ञयाधिकः॥25।।
प्रत्यक्षा च परोक्षा च वृत्तिश्चास्य भवेत् समा।
एवं कुर्वन् नरेन्द्रोऽपि न खेदमिह विन्दति॥26।।
सर्वाभिशङ्की नृपतिर्यश्च सर्वहरो भवेत्।
स क्षिप्रमनृजुर्लुब्धः स्वजनेनैव बध्यते॥27।।
शुचिस्तु पृथिवीपालो लोकचित्तग्रहे रतः।
न पतत्यरिभिर्ग्रस्तः पतितश्चावतिष्ठते॥28।।
अक्रोधनो ह्यव्यसनी मृदुदण्डो जितेन्द्रियः।
राजा भवति भूतानां विश्वास्यो हिमवानिव॥29।।
प्राज्ञस्त्यागगुणोपेतः पररन्ध्रेषु तत्परः।
सुदर्शः सर्ववर्णानां नयापनयवित् तथा॥30।।
क्षिप्रकारी जितक्रोधः सुप्रसादो महामनाः।
अरोषप्रकृतिर्युक्तः क्रियावानविकत्थनः॥31।।
आरब्धान्येव कार्याणि सुपर्यवसितानि च।
यस्य राज्ञः प्रदृश्यन्ति स राजा राजसत्तमः॥32।।

साधु पुरुषों के हाथ से कभी धन न छीने। असाधु पुरुषों से दण्ड के रूप में धन लेना चाहिए; साधु पुरुषों को तो धन देना चाहिए।।21।। स्वयं दुष्टों पर प्रहार करे, दानशील बने, मन को वश में रखे, सुरम्य साधन से युक्त रहे, समय-समय पर धन का दान और उपभोग भी करे तथा निरन्तर शुद्ध एवं सदाचारी बना रहे।।22।। जो शूरवीर एवं भक्त हों, जिन्हें विपक्षी फोड़ न सकें, जो कुलीन, नीरोग एवं शिष्ट हों तथा शिष्ट पुरुषों से सम्बन्ध रखते हों, जो आत्म सम्मान की रक्षा करते हुए दूसरों का कभी अपमान न करते हों, धर्मपरायण, विद्वान्, लोक व्यवहार के ज्ञाता और शत्रुओं की गतिविधि पर दृष्टि रखने वाले हों, जिनमें साधुता भरी हो तथा जो पर्वतों के समान अटल रहने वाले हों, ऐसे लोगों को ही राजा सदा अपना सहायक बनावे और उन्हें ऐश्वर्य का पुरस्कार दे। उन्हें अपने समान ही सुखभोग की सुविधा प्रदान करे, केवल राजोचित छत्र धारण करना और सबको आज्ञा प्रदान करना—इन दो बातों में ही वह उन सहायकों की अपेक्षा अधिक रहे।।23-25।। प्रत्यक्ष और परोक्ष में भी उनके साथ राजा का एक सा

ही बर्ताव होना चाहिये। ऐसा करने वाला नरेश इस जगत् में कभी कष्ट नहीं उठाता।।26।। जो राजा सब पर सन्देह करता और सबका सर्वस्व हर लेता है, वह लोभी और कुटिल राजा एक दिन अपने ही लोगों के हाथ से शीघ्र मारा जाता है।।27।। जो भूपाल बाहर भीतर से शुद्ध रहकर प्रजा के हृदय को अपनाने का प्रयत्न करता है, वह शत्रुओं का आक्रमण होने पर भी उनके वश में नहीं पड़ता, यदि उसका पतन हुआ भी तो वह सहायकों को पाकर शीघ्र ही उठ खड़ा होता है।।28।। जिसमें क्रोध का अभाव होता है, जो दुर्व्यसनों से दूर रहता है, जिसका दण्ड भी कठोर नहीं होता तथा जो अपनी इन्द्रियों पर विजय पा लेता है, वह राजा हिमालय के समान सम्पूर्ण प्राणियों का विश्वासपात्र बन जाता है।।29।। जो बुद्धिमान्, त्यागी, शत्रुओं की दुर्बलता जानने के प्रयत्न में तत्पर, देखने में सुन्दर, सभी वर्णों के न्याय और अन्याय को समझने वाला, शीघ्र कार्य करने में समर्थ, क्रोध पर विजय पाने वाला, आश्रितों पर कृपा करने वाला, महामनस्वी, कोमल स्वभाव से युक्त, उद्योगी, कर्मठ तथा आत्मप्रशंसा से दूर रहने वाला है, जिस राजा के आरम्भ किये हुए सभी कार्य सुन्दर रूप से समाप्त होते दिखायी देते हैं, वह समस्त राजाओं में श्रेष्ठ है।।30-32।।

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः॥33।।
अगूढविभवा यस्य पौरा राष्ट्रनिवासिनः।
नयापनयवेत्तारः स राजा राजसत्तमः॥34।।
स्वकर्मनिरता यस्य जना विषयवासिनः।
असङ्घातरता दान्ताः पाल्यमाना यथाविधि॥35।।
वश्या नेया विधेयाश्च न च सङ्घर्षशीलिनः।
विषये दानरुचयो नरा यस्य स पार्थिवः॥36।।
न यस्य कूटं कपटं न माया न च मत्सरः।
विषये भूमिपालस्य तस्य धर्मः सनातनः॥37।।
यः सत्करोति ज्ञानानि ज्ञेये परहिते रतः।
सतां वर्त्मानुगस्त्यागी स राजा राज्यमर्हति॥38।।
यस्य चाराश्च मन्त्राश्च नित्यं चैव कृताकृताः।
न ज्ञायन्ते हि रिपुभिः स राजा राज्यमर्हति॥39।।
श्लोकश्चायं पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना।
आख्याते राजचरिते नृपतिं प्रति भारत॥40।।
राजानं प्रथमं विन्देत्ततो भार्यां ततो धनम्।
राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम्॥41।।
तद्राज्ये राज्यकामानां नान्यो धर्मः सनातनः।
ऋते रक्षां तु विस्पष्टां रक्षा लोकस्य धारिणी॥42।।
प्राचेतसेन मनुना श्लोकौ चेमावुदाहृतौ।

राजधर्मेषु राजेन्द्र ताविहैकमनाः शृणु॥43॥
षडेतान्पुरुषो जह्याद्विन्नां नावमिवार्णवे।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम्॥44॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम्।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम्॥45॥

जैसे पुत्र अपने पिता के घर में निर्भीक होकर रहते हैं, उसी प्रकार जिस राजा के राज्य में मनुष्य निर्भय होकर विचरते हैं, वह सब राजाओं में श्रेष्ठ है॥33॥ जिसके राज्य अथवा नगर में निवास करने वाले लोग (चोरों से भय न होने के कारण) अपने धन को छिपाकर न रखते हों तथा न्याय और अन्याय को समझते हों, वह राजा समस्त राजाओं में श्रेष्ठ है॥34॥ जिसके राज्य में निवास करने वाले लोग विधिपूर्वक सुरक्षित एवं पालित होकर अपने-अपने कर्म में संलग्न, शरीर में आसक्ति न रखने वाले और जितेन्द्रिय हों, अपने वश में रहते हों, शिक्षा देने और ग्रहण करने योग्य हों, आज्ञा पालन करते हों, कलह और विवाद से दूर रहते हों और दान देने की रुचि रखते हों, वह राजा श्रेष्ठ है॥35-36॥ जिस भूपाल के राज्य में कूटनीति, कपट, माया तथा ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो उसी के द्वारा सनातन धर्म का पालन होता है॥37॥ जो ज्ञान एवं ज्ञानियों का सत्कार करता है, शास्त्र के ज्ञातव्य विषयकों को समझने तथा परहित साधन करने में संलग्न रहता है, सत्पुरुषों के मार्ग पर चलने वाला और स्वार्थत्यागी है, वही राजा राज्य चलाने के योग्य समझा जाता है॥38॥ जिसके गुप्तचर, गुप्त विचार, निश्चय किए हुए करने योग्य कर्म और किए हुए कर्म शत्रुओं द्वारा कभी जाने न जा सकें, वही राजा राज्य पाने का अधिकारी है॥39॥ भारत! महात्मा भार्गव ने पूर्वकाल में किसी राजा के प्रति राजोचित कर्त्तव्य का वर्णन करते समय इस श्लोक का गान किया था॥40॥ 'मनुष्य पहले राजा को प्राप्त करे। उसके बाद पत्नी का परिग्रह और धन का संग्रह करे। लोकरक्षक राजा के न होने पर कैसे भार्या सुरक्षित रहेगी और किस तरह धन की रक्षा हो सकेगी?'॥41॥ राज्य चाहने वाले राजाओं के लिए राज्य में प्रजाओं की भलीभाँति रक्षा को छोड़कर और कोई सनातन धर्म नहीं है, रक्षा ही जगत् को धारण करने वाली है॥42॥ राजेन्द्र! प्राचेतस मनु ने राजधर्म के विषय में ये दो श्लोक कहे हैं। तुम एकचित्त होकर उन दोनों श्लोकों को सुनो॥43॥ 'जैसे समुद्र की यात्रा में टूटी हुई नौका का त्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह उपदेश न देने वाले आचार्य, वेद मन्त्रों का उच्चारण न करने वाले ऋत्विज, रक्षा न कर सकने वाले राजा, कटु वचन बोलने वाली स्त्री, गाँव में रहने की इच्छा रखने वाले ग्वाले और जङ्गल में रहने की कामना करने वाले नाई—इन छः व्यक्तियों का त्याग कर दे'॥44-45॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥57॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥57॥

भार्गवगीता सम्पूर्णा

यज्ञगीता

प्रथमोऽध्यायः

वर्णधर्म का वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः पुनः स गाङ्गेयमभिवाद्य पितामहम्।
प्राञ्जलिर्नियतो भूत्वा पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः॥1।।
के धर्माः सर्ववर्णानां चातुर्वर्ण्यस्य के पृथक्।
चातुर्वर्ण्याश्रमाणां च राजधर्माश्च के मताः॥2।।
केन वै वर्धते राष्ट्रं राजा केन विवर्धते।
केन पौराश्च भृत्याश्च वर्धन्ते भरतर्षभ॥3।।
कोशं दण्डं च दुर्गं च सहायान् मन्त्रिणस्तथा।
ऋत्विक् पुरोहिताचार्यान् कीदृशान् वर्जयेन् नृपः॥4।।
केषु विश्वसितव्यं स्याद् राज्ञा कस्याञ्चिदापदि।
कुतो वाऽऽत्मा दृढं रक्ष्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह॥5।।

वैश्याम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब राजा युधिष्ठिर ने मन को वश में करके गङ्गानन्दन पितामह भीष्म को प्रणाम किया और हाथ जोड़कर पूछा—।।1।। 'पितामह! कौन-से ऐसे धर्म हैं, जो सभी वर्णों के लिए उपयोगी हो सकते हैं। चारों वर्णों के पृथक् पृथक् धर्म कौन-से हैं? चारों वर्णों के साथ ही चारों आश्रमों के भी धर्म कौन है तथा राजा के द्वारा पालन करने योग्य कौन-कौन-से धर्म माने गये हैं?।।2।। राष्ट्र की वृद्धि कैसे होती है, राजा का अभ्युदय किस उपाय से होता है? भरतश्रेष्ठ! पुरवासियों और भरण-पोषण करने योग्य सेवकों की उन्नति भी किस उपाय से होती है?।।3।। राजा को किस प्रकार के कोश, दण्ड, दुर्ग, सहायक, मन्त्री, ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्यों का त्याग कर देना चाहिए?।।4।। पितामह! किसी आपत्ति के आने पर राजा को किन लोगों पर विश्वास करना चाहिये और किन लोगों से अपने शरीर की दृढ़तापूर्वक रक्षा करनी चाहिए? मुझे यह बताइये'।।5।।

भीष्म उवाच

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्॥6।।
अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च॥7।।

आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः।
ब्राह्मणस्य तु यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि केवलम्॥8।।
दममेव महाराज धर्ममाहुः पुरातनम्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव तत्र कर्म समाप्यते॥9।।
तं चेद् द्विजमुपागच्छेद् वर्तमानं स्वकर्मणि।
अकुर्वाणं विकर्माणि शान्तं प्रज्ञानतर्पितम्॥10।।
कुर्वीतापत्यसन्तानमथो दद्याद् यजेत च।
संविभज्य च भोक्तव्यं धनं सद्भिरितीर्यते॥11।।
परिनिष्ठितकार्यस्तु स्वाध्यायेनैव ब्राह्मणः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥12।।
क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत।
दद्याद् राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत्॥13।।
नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत्।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात् पराक्रमम्॥14।।
ये तु क्रतुभिरीजानाः श्रुतवन्तश्च भूमिपाः।
य एवाहवजेतारस्त एषां लोकजित्तमाः॥15।।

भीष्मजी ने कहा—महान् धर्म को नमस्कार है, विश्वविधाता श्रीकृष्ण को नमस्कार है। अब मैं उपस्थित ब्राह्मणों को नमस्कार करके सनातन धर्म का वर्णन आरम्भ करता हूँ।।6।। किसी पर क्रोध न करना, सत्य बोलना, धन को बाँट कर भोगना, क्षमा भाव रखना, अपनी ही पत्नी के गर्भ से सन्तान पैदा करना, बाहर भीतर से पवित्र रहना, किसी से द्रोह न करना, सरल भाव रखना और भरण-पोषण के योग्य व्यक्तियों का पालन करना—ये नौ सभी वर्णों के लिए उपयोगी धर्म हैं। अब मैं केवल ब्राह्मण का जो धर्म है, उसे बता रहा हूँ।।7-8।। महाराज! इन्द्रिय संयम को ब्राह्मणों का प्राचीन धर्म बताया गया है। इसके सिवा उन्हें सदा वेद शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिये; क्योंकि इसी से उनके सब कर्मों की पूर्ति हो जाती है।।9।। यदि अपने वर्णोचित कर्म में स्थित, शान्त और ज्ञान-विज्ञान से तृप्त ब्राह्मण को किसी प्रकार के असत् कर्म का आश्रय लिये बिना ही धन प्राप्त हो जाए तो वह उस धन से विवाह करके सन्तान की उत्पत्ति करे अथवा उस धन को दान और यज्ञ में लगा दे। धन को बाँट कर ही भोगना चाहिये, ऐसा सत्पुरुषों का कथन है।।10-11।। ब्राह्मण केवल वेदों के स्वाध्याय से ही कृतकृत्य हो जाता है। वह दूसरा कर्म करे या न करे। सब जीवों के प्रति मैत्री भाव रखने के कारण वह मैत्र कहलाता है।।12।। भरतनन्दन! क्षत्रिय का भी जो धर्म है, वह तुम्हें बता रहा हूँ। राजन्! क्षत्रिय दान तो करे, किन्तु किसी से याचना न करे; स्वयं यज्ञ करे, किन्तु पुरोहित बनकर दूसरों का यज्ञ न करावे।।13।। वह अध्ययन करे, किन्तु अध्यापक न बने, प्रजाजनों का सब प्रकार से पालन करता रहे। लुटेरों और डाकुओं का वध करने के लिए सदा तैयार रहे। रणभूमि में पराक्रम प्रकट करे।।14।। इन राजाओं में जो भूपाल बड़े-बड़े यज्ञ करने वाले तथा वेदशास्त्रों के ज्ञान से सम्पन्न हैं

और जो युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले हैं, वे ही पुण्य लोकों पर विजय प्राप्त करने वालों में उत्तम हैं।।15।।

अविक्षतेन देहेन समराद् यो निवर्तते।
क्षत्रियो नास्य तत् कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः॥16।।
एवं हि क्षत्रबन्धूनां मार्गमाहुः प्रधानतः।
नास्य कृत्यतमं किञ्चिदन्यद् दस्युनिबर्हणात्॥17।।
दानमध्ययनं यज्ञो राज्ञां क्षेमो विधीयते।
तस्माद् राज्ञा विशेषेण योद्धव्यं धर्ममीप्सता॥18।।
स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः।
धर्मेण सर्वकृत्यानि शमनिष्ठानि कारयेत्॥19।।
परिनिष्ठितकार्यस्तु नृपतिः परिपालनात्।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यादैन्द्रो राजन्य उच्यते॥20।।
वैश्यस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम्।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसञ्चयः॥21।।
पितृवत् पालयेद् वैश्यो युक्तः सर्वान् पशूनिह।
विकर्म तद् भवेदन्यत् कर्म यत्स समाचरेत्॥22।।
रक्षया स हि तेषां वै महत्सुखमवाप्नुयात्।
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून्॥23।।
ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम्॥24।।
षण्णामेकां पिबेद् धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत्।
लब्धाच्च सप्तमं भागं तथा शृङ्गे कलां खुरे॥25।।

जो क्षत्रिय शरीर पर घाव हुए बिना ही समरभूमि से लौट आता है, उसके इस कर्म की पुरातन धर्म को जानने वाले विद्वान् प्रशंसा नहीं करते हैं।।16।। इस प्रकार युद्ध को ही क्षत्रियों के लिए प्रधान मार्ग बताया गया है, उसके लिए लुटेरों के संहार से बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठतम कर्म नहीं है। यद्यपि दान, अध्ययन और यज्ञ—इनके अनुष्ठान से भी राजाओं का कल्याण होता है, तथापि युद्ध उनके लिए सबसे बढ़ कर है, अतः विशेष रूप से धर्म की इच्छा रखने वाले राजा को सदा ही युद्ध के लिए उद्यत रहना चाहिये।।17-18।। राजा समस्त प्रजाओं को अपने अपने धर्मों में स्थापित करके उनके द्वारा शान्तिपूर्ण समस्त कर्मों का धर्म के अनुसार अनुष्ठान करावे।।19।। राजा दूसरा कर्म करे या न करे, प्रजा की रक्षा करने मात्र से वह कृतकृत्य हो जाता है। उसमें इन्द्र देवता सम्बन्धी बल की प्रधानता होने से 'ऐन्द्र' कहलाता है।।20।। अब वैश्य का जो सनातन धर्म है, वह तुम्हें बता रहा हूँ! दान, अध्ययन, यज्ञ और पवित्रतापूर्वक धन का संग्रह—ये वैश्य के कर्म हैं।।21।। वैश्य सदा उद्योगशील रहकर पुत्रों की रक्षा करने वाले पिता के समान सब प्रकार के पशुओं का पालन करे। इन कर्मों के सिवा वह और

जो कुछ भी करेगा, वह उसके लिए विपरीत कर्म होगा।।22।। पशुओं के पालन से वैश्य को महान् सुख की प्राप्ति हो सकती है। प्रजापति ने पशुओं की सृष्टि करके उनके पालन का भार वैश्य को सौंप दिया था।।23।। ब्राह्मण और राजा को उन्होंने सारी प्रजा के पोषण का भार सौंपा था। अब मैं वैश्य की उस वृत्ति का वर्णन करूँगा, जिससे उसका जीवन निर्वाह हो।।24।। वैश्य यदि राजा या किसी दूसरे की छः दुधारू गौओं का एक वर्ष तक पालन करे तो उनमें से एक गौ का दूध वह स्वयं पीये (यही उसके लिए वेतन है)। यदि दूसरे की एक सौ गौओं का पालन करे तो साल भर में एक गाय और एक बैल मालिक से वेतन के रूप में ले ले। यदि उन पशुओं के दूध आदि बेचने से धन प्राप्त हो तो उसमें सातवाँ भाग वह अपने वेतन के रूप में ग्रहण करे। सींग बेचने से जो धन मिले, उसमें से भी वह सातवाँ भाग ही ले, परन्तु पशु विशेष का बहुमूल्य खुर बेचने से जो धन प्राप्त हो, उसका सोलहवाँ भाग ही उसे ग्रहण करना चाहिए।।25।।

सस्यानां सर्वबीजानामेषा सांवत्सरी भृतिः।
न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति॥26।।
वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथञ्चन।
शूद्रस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत॥27।।
प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत्।
तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते॥28।।
तेषां शुश्रूषणाच्चैव महत् सुखमवाप्नुयात्।
शूद्र एतान् परिचरेत् त्रीन् वर्णाननुपूर्वशः॥29।।
सञ्चयांश्च न कुर्वीत जातु शूद्रः कथञ्चन।
पापीयान् हि धनं लब्ध्वा वशे कुर्याद् गरीयसः॥30।।
राज्ञा वा समनुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकः।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम्॥31।।
अवश्यं भरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते।
छत्रं वेष्टनमौशीरमुपानद् व्यजनानि च॥32।।
यातयामानि देयानि शूद्राय परिचारिणे।
अधार्याणि विशीर्णानि वसनानि द्विजातिभिः॥33।।
शूद्रायैव प्रदेयानि तस्य धर्मधनं हि तत्।
यं च कश्चिद् द्विजातीनां शूद्रः शुश्रूषुराव्रजेत्॥34।।
कल्प्यां तेन तु ते प्राहुर्वृत्तिं धर्मविदो जनाः।
देयः पिण्डोऽनपत्याय भर्तव्यौ वृद्धदुर्बलौ॥35।।
शूद्रेण तु न हातव्यो भर्ता कस्याञ्चिदापदि।
अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्यपरिक्षये॥36।।

दूसरे के अनाज की फसलों तथा सब प्रकार के बीजों की रक्षा करने पर वैश्य को उपज का सातवाँ भाग वेतन के रूप में ग्रहण करना चाहिए। यह उसके लिए वार्षिक

वेतन है। वैश्य के मन में कभी यह सङ्कल्प नहीं उठना चाहिये कि 'मैं पशुओं का पालन नहीं करूँगा'।।26।। जब तक वैश्य पशु-पालन का कार्य करना चाहे, तब तक मालिक को दूसरे किसी के द्वारा किसी तरह भी वह कार्य नहीं करना चाहिये, भारत! अब मैं शूद्र का भी धर्म तुम्हें बता रहा हूँ।।27।। प्रजापति ने अन्य तीनों वर्णों के सेवक के रूप में शूद्र की सृष्टि की है; अत: शूद्रों के लिए तीनों वर्णों की सेवा ही शास्त्र विहित कर्म है।।28।। वह उन तीनों वर्णों की सेवा से ही महान् सुख का भागी हो सकता है। अत: शूद्र इन तीनों वर्णों की क्रमश: सेवा करे।।29।। शूद्र को कभी किसी प्रकार भी धन का संग्रह नहीं करना चाहिए; क्योंकि धन पाकर वह महान् पाप में प्रवृत्त हो जाता है और अपने से श्रेष्ठतम पुरुषों को भी अपने अधीन रखने लगता है।।30।। धर्मात्मा शूद्र राजा की आज्ञा लेकर अपनी इच्छा के अनुसार कोई धार्मिक कृत्य कर सकता है। अब मैं उसकी वृत्ति का वर्णन करूँगा, जिससे उसकी आजीविका चल सकती है।।31।। तीनों वर्णों को शूद्र का भरण-पोषण अवश्य करना चाहिए; क्योंकि वह भरण-पोषण करने योग्य कहा गया है। अपनी सेवा में रहने वाले शूद्र को उपभोग में लाये हुए छाते, पगड़ी, अनुलेपन, जूते और पङ्खे देने चाहिये।।32।। फटे पुराने कपड़े, जो अपने धारण करने योग्य न रहें, वे द्विजातियों द्वारा शूद्र को ही देने योग्य हैं; क्योंकि धर्मत: वे सब वस्तुएँ शूद्र की ही सम्पत्ति हैं। द्विजातियों में से जिस किसी की सेवा करने के लिए कोई शूद्र आवे, उसी को उसकी जीविका की व्यवस्था करनी चाहिए; ऐसा धर्मज्ञ पुरुषों का कथन है। यदि स्वामी सन्तानहीन हो तो सेवा करने वाले शूद्र को ही उसके लिए पिण्डदान करना चाहिये। यदि स्वामी बूढ़ा या दुर्बल हो तो उसका सब प्रकार से भरण-पोषण करना चाहिये। किसी आपत्ति में भी शूद्र को अपने स्वामी का परित्याग नहीं करना चाहिये। यदि स्वामी के धन का नाश हो जाए तो शूद्र को अपने कुटुम्ब के पालन से बचे हुए धन के द्वारा उसका भरण-पोषण करना चाहिए।।33-36।।

न हि स्वमस्ति शूद्रस्य भर्तृहार्यधनो हि सः।
उक्तस्त्रयाणां वर्णानां यज्ञस्तस्य च भारत।
स्वाहाकारवषट्कारौ मन्त्रः शूद्रे न विद्यते॥37।।
तस्माच्छूद्रः पाकयज्ञैर्यजेताव्रतवान् स्वयम्।
पूर्णपात्रमयीमाहुः पाकयज्ञस्य दक्षिणाम्॥38।।
शूद्रः पैजवनो नाम सहस्राणां शतं ददौ।
ऐन्द्राग्नेन विधानेन दक्षिणामिति नः श्रुतम्॥39।।
यतो हि सर्ववर्णानां यज्ञस्तस्यैव भारत।
अग्रे सर्वेषु यज्ञेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते॥40।।
दैवतं हि महच्छ्रद्धा पवित्रं यजतां च यत्।
दैवतं हि परं विप्राः स्वेन स्वेन परस्परम्॥41।।
अयजन्निह सत्रैस्ते तैस्तैः कामैः समाहिताः।
संसृष्टा ब्राह्मणैरेव त्रिषु वर्णेषु सृष्टयः॥42।।

देवानामपि ये देवा यद् ब्रूयुस्ते परं हितम्।
तस्माद् वर्णैः सर्वयज्ञाः संसृज्यन्ते न काम्यया॥43॥
ऋग्यजुःसामवित् पूज्यो नित्यं स्याद् देववद् द्विजः।
अनृग्यजुरसामा च प्राजापत्य उपद्रवः।
यज्ञो मनीषया तात सर्ववर्णेषु भारत॥44॥
नास्य यज्ञकृतो देवा ईहन्ते नेतरे जनाः।
ततः सर्वेषु वर्णेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते॥45॥

शूद्र का अपना कोई धन नहीं होता। उसके सारे धन पर उसके स्वामी का ही अधिकार होता है। भरतनन्दन! यज्ञ का अनुष्ठान तीनों वर्णों तथा शूद्र के लिए भी आवश्यक बताया गया है। शूद्र के यज्ञ में स्वाहाकार, वषट्कार तथा वैदिक मन्त्रों का प्रयोग नहीं होता है॥37॥ अतः शूद्र स्वयं वैदिक व्रतों की दीक्षा न लेकर पाकयज्ञों (बलिवैश्व देव आदि) द्वारा यजन करे। पाकयज्ञ की दक्षिणा पूर्णपात्रमयी[1] बतायी गयी है॥38॥ हमने सुना है कि पैजवन नामक शूद्र ने ऐन्द्राग्न यज्ञ की विधि से मन्त्रहीन यज्ञ का अनुष्ठान करके उसी दक्षिणा के लिए रूप में एक लाख पूर्णपात्र दान किये थे॥39॥ भरतनन्दन! ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों का जो यज्ञ है वह सब सेवा कार्य करने के कारण शूद्र का भी है ही (उसे भी उसका फल मिलता ही है; अतः उसे पृथक् यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं है)। सम्पूर्ण यज्ञों में पहले श्रद्धा रूप यज्ञ का ही विधान है॥40॥ क्योंकि श्रद्धा सबसे बड़ा देवता है। वही यज्ञ करने वालों को पवित्र करती है। ब्राह्मण साक्षात् यज्ञ कराने के कारण परम देवता माने गये हैं। सभी वर्णों के लोग अपने-अपने कर्म द्वारा एक-दूसरे के यज्ञों में सहायक होते हैं॥41॥ सभी वर्ण के लोगों ने यहाँ यज्ञों का अनुष्ठान किया है और उनके द्वारा वे मनोवाञ्छित फलों से सम्पन्न हुए हैं। ब्राह्मणों ने ही तीनों वर्णों की सन्तानों की सृष्टि की है॥42॥ जो देवताओं के भी देवता हैं, वे ब्राह्मण जो कुछ कहें, वही सबके लिए परम हितकारक है, अतः अन्य वर्णों के लोग ब्राह्मणों के बताये अनुसार ही सब यज्ञों का अनुष्ठान करें, अपनी इच्छा से न करें॥43॥ ऋक्, साम और यजुर्वेद का ज्ञाता ब्राह्मण सदा देवता के समान पूजनीय है। दास या शूद्र ऋक्, यजु और साम के ज्ञान से शून्य होता है; तो भी वह 'प्राजापत्य' (प्रजापति का भक्त) कहा गया है। तात! भरतनन्दन! मानसिक सङ्कल्प द्वारा जो भावनात्मक यज्ञ होता है, उसमें सभी वर्णों का अधिकार है॥44॥ इस मानसिक यज्ञ करने वाले यजमान के यज्ञ में देवता और मनुष्य सभी भाग ग्रहण करने की अभिलाषा रखते हैं; क्योंकि उसका यज्ञ श्रद्धा के कारण परम पवित्र होता है; अतः श्रद्धा प्रधान यज्ञ करने का अधिकार सभी वर्णों को प्राप्त है॥45॥

---

1. पूर्णपात्र का परिमाण इस प्रकार है—आठ मुट्ठी अन्न को 'किञ्चित्' कहते हैं, आठ किञ्चित् एक 'पुष्कर' होता है और चार पुष्कल का एक 'पूर्णपात्र' होता है। इस प्रकार दो सौ छप्पन मुट्ठी का एक पूर्णपात्र होता है।

स्व दैवतं ब्राह्मणः स्वेन नित्यं परान् वर्णानयजन्नैवमासीत्।
अधरो वितानः संसृष्टो वैश्यो ब्राह्मणस्त्रिषु वर्णेषु यज्ञसृष्टः॥46।।
तस्माद् वर्णा ऋजवो ज्ञातिवर्णाः संसृज्यन्ते तस्य विकार एव।
एकं साम यजुरेकमृगेका विप्रश्चैको निश्चये तेषु सृष्टः॥47।।
अत्र गाथा यज्ञगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
वैखानसानां राजेन्द्र मुनीनां यष्टुमिच्छताम्॥48।।
उदितेऽनुदिते वापि श्रद्दधानो जितेन्द्रियः।
वह्निं जुहोति धर्मेण श्रद्धा वै कारणं महत्॥49।।
यत् स्कन्नमस्य तत् पूर्वं यदस्कन्नं तदुत्तरम्।
बहूनि यज्ञरूपाणि नानाकर्मफलानि च॥50।।
तानि यः सम्प्रजानाति ज्ञाननिश्चयनिश्चितः।
द्विजातिः श्रद्धयोपेतः स यष्टुं पुरुषोऽर्हति॥51।।
स्तेनो वा यदि वा पापो यदि वा पापकृत्तमः।
यष्टुमिच्छति यज्ञं यः साधुमेव वदन्ति तम्॥52।।
ऋषयस्तं प्रशंसन्ति साधु चैतदसंशयम्।
सर्वथा सर्वदा वर्णैर्यष्टव्यमिति निर्णयः॥53।।
न हि यज्ञसमं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।
तस्माद् यष्टव्यमित्याहुः पुरुषेणानसूयता।
श्रद्धापवित्रमाश्रित्य यथाशक्ति यथेच्छया॥54।।

ब्राह्मण अपने कर्मों द्वारा ही सदा दूसरे वर्णों के लिए अपने-अपने देवता के समान है; अतः वह दूसरे वर्णों का यज्ञ न करता हो, ऐसी बात नहीं है। जिस यज्ञ में वैश्य आचार्य आदि के रूप में कार्य कर रहा हो, वह निकृष्ट माना गया है। विधाता ने केवल ब्राह्मण को ही तीनों वर्णों का यज्ञ कराने के लिए उत्पन्न किया है।।46।। विधाता एकमात्र ब्राह्मण से ही अन्य तीन वर्णों की सृष्टि करते हैं, अतः शेष तीन वर्ण भी ब्राह्मण के समान ही सरल तथा उनके जाति भाई या कुटुम्बी हैं। क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण ब्राह्मण की सन्तान ही हैं। जैसे ऋक्, यजुः और साम एकमात्र आकार से ही प्रकट होने के कारण परस्पर अभिन्न हैं, उसी प्रकार उन सभी वर्णों में तत्त्व का निश्चय किया जाए तो एकमात्र ब्राह्मण ही उन सबके रूप में प्रकट हुआ है, अतः ब्राह्मण के साथ सबकी अभिन्नता है।।47।। राजेन्द्र! प्राचीन बातों को जानने वाले विद्वान् इस विषय में यज्ञ की अभिलाषा रखने वाले वैखानस मुनियों की कही हुई एक गाथा का उल्लेख किया करते हैं, जो यज्ञ के सम्बन्ध में गायी गयी है।।48।। सूर्य के उदय होने पर अथवा सूर्योदय से पहले ही श्रद्धालु एवं जितेन्द्रिय मनुष्य जो धर्म के अनुसार अग्नि में आहुति देता है, उसमें श्रद्धा ही प्रधान हेतु है।।49।। (बह्वृच ब्राह्मण में सोलह प्रकार के अग्निहोत्र बताये गये हैं) होता का किया हुआ जो हवन वायु देवता के उद्देश्य से होता है, वह स्कन्नसंज्ञक होम प्रथम है और उससे भिन्न जो स्कन्नसंज्ञक होम है, वह अन्तिम या सबसे उत्कृष्ट है। इसी प्रकार रौद्र आदि बहुत-से यज्ञ हैं, जो नाना प्रकार के कर्म फल देने वाले हैं।।50।। उन षोडश

प्रकार के अग्निहोत्रों को जानता है, वही यज्ञ सम्बन्धी निश्चयात्मक ज्ञान से सम्पन्न है। ऐसा ज्ञानी एवं श्रद्धालु द्विज ही यज्ञ करने का अधिकारी है।।51।। यदि कोई चोर हो, पापी हो अथवा पापाचारियों में भी सबसे महान् हो तो भी जो यज्ञ करना चाहता है, उसे सभी लोग 'साधु' ही कहते हैं।।52।। ऋषि भी उसकी प्रशंसा करते हैं। यह यज्ञकर्म श्रेष्ठ है, इसमें कोई सन्देह नहीं है; अत: सभी वर्ण के लोगों को सदा सब प्रकार से यज्ञ करना चाहिए, यही शास्त्रों का निर्णय है।।53।। तीनों लोकों में यज्ञ के समान कुछ भी नहीं है; इसलिए मनुष्य को दोष दृष्टि का परित्याग करके शास्त्रीय विधि का आश्रय ले अपनी शक्ति और इच्छा के अनुसार उत्तम श्रद्धापूर्वक यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये, ऐसा मनीषी पुरुषों का कथन है।।54।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने षष्टितमोऽध्यायः॥ 60 **॥**

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में वर्णाश्रम धर्म का वर्णन विषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ।।60।।

यज्ञगीता सम्पूर्णा

नारायणगीता

प्रथमोऽध्यायः

आश्रमधर्म का वर्णन

भीष्म उवाच

आश्रमाणां महाबाहो शृणु सत्यपराक्रम।
चतुर्णामपि नामानि कर्माणि च युधिष्ठिर॥1॥
वानप्रस्थं भैक्ष्यचर्यं गार्हस्थ्यं च महाश्रमम्।
ब्रह्मचर्याश्रमं प्राहुश्चतुर्थं ब्राह्मणैर्वृतम्॥2॥
जटाधारणसंस्कारं द्विजातित्वमवाप्य च।
आधानादीनि कर्माणि प्राप्य वेदमधीत्य च॥3॥
सदारो वाप्यदारो वा आत्मवान् संयतेन्द्रियः।
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् कृतकृत्यो गृहाश्रमात्॥4॥
तत्रारण्यकशास्त्राणि समधीत्य स धर्मवित्।
ऊर्ध्वरेताः प्रव्रजित्वा गच्छत्यक्षरसात्मताम्॥5॥
एतान्येव निमित्तानि मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्।
कर्तव्यानीह विप्रेण राजन्नादौ विपश्चिता॥6॥
चरितब्रह्मचर्यस्य ब्राह्मणस्य विशाम्पते।
भैक्षचर्यास्वधीकारः प्रशस्त इह मोक्षिणः॥7॥
यत्रास्तमितशायी स्यान्निराशीरनिकेतनः।
यथोपलब्धजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः॥8॥
निराशीः स्यात् सर्वसमो निर्भोगो निर्विकारवान्।
विप्रः क्षेमाश्रमं प्राप्तो गच्छत्यक्षरसात्मताम्॥9॥
अधीत्य वेदान् कृतसर्वकृत्यः सन्तानमुत्पाद्य सुखानि भुक्त्वा।
समाहितः प्रचरेद् दुश्चरं यो गार्हस्थ्यधर्मं मुनिधर्मजुष्टम्॥10॥

भीष्मजी कहते हैं—सत्यपराक्रमी महाबाहु युधिष्ठिर! अब तुम चारों आश्रमों के नाम और कर्म सुनो॥1॥ ब्रह्मचर्य, महान् आश्रम गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और भैक्ष्यचर्य (संन्यास)—ये चार आश्रम हैं। चौथे आश्रम संन्यास का अवलम्बन केवल ब्राह्मणों ने किया है॥2॥ (ब्रह्मचर्य आश्रम में) चूड़ाकरण संस्कार और उपनयन के अनन्तर द्विजत्व को प्राप्त हो वेदाध्ययन पूर्ण करके (समावर्तन के पश्चात् विवाह करे, फिर) गार्हस्थ्य आश्रम में अग्निहोत्र आदि कर्म सम्पन्न करके इन्द्रियों को संयम में रखते हुए

मनस्वी पुरुष स्त्री को साथ लेकर अथवा बिना स्त्री के ही गृहस्थाश्रम से कृतकृत्य हो वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करे।।3-4।। वहाँ धर्मज्ञ पुरुष आरण्यक शास्त्रों का अध्ययन करके वानप्रस्थ धर्म का पालन करे। तत्पश्चात् ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक उस आश्रम से निकल जाए और विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण कर ले। इस प्रकार संन्यास लेने वाला पुरुष अविनाशी ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।।5।। राजन्! विद्वान् ब्राह्मण को ऊर्ध्वरेता मुनियों द्वारा आचरण में लाये हुए इन्हीं साधनों का सर्वप्रथम आश्रय लेना चाहिए।।6।। प्रजानाथ! जिसने ब्रह्मचर्य का पालन किया है, उस ब्रह्मचारी ब्राह्मण के मन में यदि मोक्ष की अभिलाषा जाग उठे तो उसे ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यास ग्रहण करने का उत्तम अधिकार प्राप्त हो जाता है।।7।। संन्यासी को चाहिए कि वह मन और इन्द्रियों को संयम में रखते हुए मुनिवृत्ति से रहे। किसी वस्तु की कामना न करे। अपने लिए मठ या कुटी न बनबावे। निरन्तर घूमता रहे और जहाँ सूर्यास्त हो वहीं ठहर जाए। प्रारब्धवश जो कुछ मिल जाए, उसी से जीवन निर्वाह करे।।8।। आशा तृष्णा का सर्वथा त्याग करके सबके प्रति समान भाव रखे। भोगों से दूर रहे और हृदय में किसी प्रकार का विकार न आने दे। इन्हीं सब धर्मों के कारण इस आश्रम को 'श्रेयाश्रम' (कल्याण प्राप्ति का स्थान) कहते हैं। इस आश्रम में आया हुआ ब्राह्मण अविनाशी ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त कर लेता है।।9।। अब गृहस्थाश्रम के धर्म सुनो—जो वेदों का अध्ययन पूर्ण करके समस्त वेदोक्त शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने के पश्चात् अपनी विवाहिता पत्नी के गर्भ से सन्तान उत्पन्न कर उस आश्रम के न्यायोचित भोगों को भोगता और एकाग्रचित्त हो मुनिजनोचित धर्म से युक्त दुष्कर गार्हस्थ्य धर्म का पालन करता है, वह उत्तम है।।10।।

स्वदारतुष्टस्त्वृतुकालगामी नियोगसेवी न शठो न जिह्मः।
मिताशनो देवरतः कृतज्ञः सत्यो मृदुश्चानृशंसः क्षमावान्॥11।।
दान्तो विधेयो हव्यकव्येऽप्रमत्तो ह्यन्नस्य दाता सततं द्विजेभ्यः।
अमत्सरी सर्वलिङ्गप्रदाता वैताननित्यश्च गृहाश्रमी स्यात्॥12।।
अथात्र नारायणगीतमाहुर्महर्षयस्तात महानुभावाः।
महार्थमत्यन्ततपः प्रयुक्तं तदुच्यमानं हि मया निबोध॥13।।
सत्यार्जवं चातिथिपूजनं च धर्मस्तथार्थश्च रतिः स्वदारैः।
निषेवितव्यानि सुखानि लोके ह्यस्मिन् परे चैव मतं ममैतत्॥14।।
भरणं पुत्रदाराणां वेदानां धारणं तथा।
वसतामाश्रमं श्रेष्ठं वदन्ति परमर्षयः॥15।।
एवं हि यो ब्राह्मणो यज्ञशीलो गार्हस्थ्यमध्यावसते यथावत्।
गृहस्थवृत्तिं प्रविशोध्य सम्यक् स्वर्गे विशुद्धं फलमाप्नुते सः॥16।।
तस्य देहपरित्यागादिष्टाः कामाक्षया मताः।
आनन्त्यायोपतिष्ठन्ति सर्वतोऽक्षिशिरोमुखाः॥17।।
स्मरन्नेको जपन्नेकः सर्वानेको युधिष्ठिर।

एकस्मिन्नेव चाचार्ये शुश्रूषुर्मलपङ्कवान्॥18।।
ब्रह्मचारी व्रती नित्यं नित्यं दीक्षापरो वशी।
परिचार्य तथा वेदं कृत्यं कुर्वन् वसेत्सदा॥19।।
शुश्रूषां सततं कुर्वन् गुरोः सम्प्रणमेत च।
षट्कर्मसु निवृत्तश्च न प्रवृत्तश्च सर्वशः॥20।।
न चरत्यधिकारेण सेवेत द्विषतो न च।
एषोऽऽश्रमपदस्तात ब्रह्मचारिण इष्यते॥21।।

गृहस्थ को चाहिए कि वह अपनी ही स्त्री में अनुराग रखते हुए सन्तुष्ट रहे। ऋतुकाल में ही पत्नी के साथ समागम करे। शास्त्रों की आज्ञा का पालन करता रहे। शठता और कुटिलता से दूर रहे। परिमित आहार ग्रहण करे। देवताओं की आराधना में तत्पर रहे। उपकार करने वालों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करे। सत्य बोले। सबके प्रति मृदुभाव रखे। किसी के प्रति क्रूर न बने और सदा क्षमा भाव रखे।।11।। गृहस्थाश्रमी पुरुष इन्द्रियों का संयम करे, गुरुजनों एवं शास्त्रों की आज्ञा माने, देवताओं और पितरों की तृप्ति के लिए हव्य और कव्य समर्पित करने में कभी भूल न होने दे, ब्राह्मणों को निरन्तर अन्नदान करे, ईर्ष्या-द्वेष से दूर रहे, अन्य सब आश्रमों को भोजन देकर उनका पालन-पोषण करता रहे और सदा यज्ञ-यागादि में लगा रहे।।12।। तात! इस विषय में महानुभाव महर्षिगण नारायण गीत का उल्लेख किया करते हैं जो महान् अर्थ से युक्त और अत्यन्त तपस्या द्वारा प्रेरित होकर कहा गया है। मैं उसका वर्णन करता हूँ, तुम सुनो।।13।। गृहस्थ पुरुष इस लोक में सत्य, सरलता, अतिथि सत्कार, धर्म, अर्थ, अपनी पत्नी के प्रति अनुराग तथा सुख का सेवन करे। ऐसा होने पर ही उसे परलोक में भी सुख प्राप्त होते हैं, यह मेरा मत है।।14।। श्रेष्ठ आश्रम गार्हस्थ्य में निवास करने वाले द्विजों के लिए महर्षिगण यह कर्त्तव्य बताते हैं कि वह स्त्री और पुत्रों का भरण-पोषण तथा वेदशास्त्रों का स्वाध्याय करे।।15।। जो ब्राह्मण इस प्रकार स्वभावतः यज्ञ परायण हो, गृहस्थ धर्म का यथावत् रूप से पालन करता है, वह गृहस्थ वृत्ति का अच्छी तरह शोधन करके स्वर्गलोक में विशुद्ध फल का भागी होता है।।16।। उस गृहस्थ को देह त्याग के पश्चात् उसके अभीष्ट मनोरथ अक्षय रूप से प्राप्त होते हैं। वे उस पुरुष का सङ्कल्प जानकर इस प्रकार अनन्त काल तक के लिए उसकी सेवा में उपस्थित हो जाते हैं, मानो उनके नेत्र, मस्तक और मुख सभी दिशाओं की ओर हों।।17।। युधिष्ठिर! ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह अकेला ही वेद मन्त्रों का चिन्तन और अभीष्ट मन्त्रों का जप करते हुए सारे कार्य सम्पन्न करे, अपने शरीर में मैल और कीचड़ लगी हो तो भी वह सेवा के लिए उद्यत हो एकमात्र आचार्य की ही परिचर्या में संलग्न रहे।।18।। ब्रह्मचारी नित्य निरन्तर मन और इन्द्रियों को वश में रखते हुए व्रत एवं दीक्षा के पालन में तत्पर रहे। वेदों का स्वाध्याय करते हुए सदा कर्त्तव्य कर्मों के पालनपूर्वक गुरु गृह में निवास करे।।19।। निरन्तर गुरु की सेवा में संलग्न रह कर उन्हें प्रणाम करे। जीवन

निर्वाह के उद्देश्य से किए जाने वाले यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन तथा दान और प्रतिग्रह—इन छ: कर्मों से अलग रहे और किसी भी असत् कर्म में वह कभी प्रवृत्त न हो।।20।। अपने अधिकार का प्रदर्शन करते हुए व्यवहार न करे; द्वेष रखने वालों का सङ्ग न करे। वत्स युधिष्ठिर! ब्रह्मचारी के लिए यही आश्रम धर्म अभीष्ट है।।21।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चतुराश्रमधर्मकथने एकषष्टितमोऽध्यायः॥ 61 **॥**

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में चारों आश्रमों के धर्मों का वर्णन विषयक एकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ।।61।।

नारायणगीता सम्पूर्णा

आङ्गिरस–(बृहस्पति) गीता

प्रथमोऽध्यायः

वसुमना और बृहस्पति के संवाद में राजा के न होने से प्रजा की हानि और होने से लाभ का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किमाहुर्दैवतं विप्रा राजानं भरतर्षभ।
मनुष्याणामधिपतिं तन्मे ब्रूहि पितामह॥1॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतश्रेष्ठ पितामह! जो मनुष्यों का अधिपति है, उस राजा को ब्राह्मण लोग देवस्वरूप क्यों बताते हैं? यह मुझे बताने की कृपा करें॥1॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
बृहस्पतिं वसुमना यथा पप्रच्छ भारत॥2॥
राजा वसुमना नाम कौसल्यो धीमतां वरः।
महर्षिं किल पप्रच्छ कृतप्रज्ञं बृहस्पतिम्॥3॥
सर्वं वैनयिकं कृत्वा विनयज्ञो बृहस्पतिम्।
दक्षिणानन्तरो भूत्वा प्रणम्य विधिपूर्वकम्॥4॥
विधिं पप्रच्छ राज्यस्य सर्वलोकहिते रतः।
प्रजानां सुखमन्विच्छन्धर्मशीलं बृहस्पतिम्॥5॥

भीष्मजी ने कहा—भारत! इस विषय में जानकार लोग उस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं, जिसके अनुसार राजा वसुमना ने बृहस्पतिजी से यही बात पूछी थी॥2॥ कहते हैं, प्राचीनकाल में बुद्धिमानों में श्रेष्ठ कोसल नरेश राजा वसुमना ने शुद्ध बुद्धिवाले महर्षि बृहस्पति से कुछ प्रश्न किया॥3॥ राजा वसुमना सम्पूर्ण लोकों के हित में तत्पर रहने वाले थे। वे विनय प्रकट करने की कला को जानते थे। बृहस्पतिजी के आने पर उन्होंने उठकर उनका अभिवादन किया और चरण प्रक्षालन आदि सारा विनय सम्बन्धी बर्ताव पूर्ण करके महर्षि की परिक्रमा करने के अनन्तर उन्होंने विधिपूर्वक उनके चरणों में मस्तक झुकाया। फिर प्रजा के सुख की इच्छा रखते हुए राजा ने धर्मशील बृहस्पति से राज्य सञ्चालन की विधि के विषय में इस प्रकार प्रश्न उपस्थित किया॥4–5॥

वसुमना उवाच

केन भूतानि वर्धन्ते क्षयं गच्छन्ति केन वा।
कमर्चन्तो महाप्राज्ञ सुखमव्ययमाप्नुयुः॥6॥

एवं पृष्टो महाप्राज्ञः कौसल्येनामितौजसा।
राजसत्कारमव्यग्रं शशंसास्मै बृहस्पतिः॥7।।

वसुमना बोले—महामते! राज्य में रहने वाले प्राणियों की वृद्धि कैसे होती है? उनका ह्रास कैसे हो सकता है? किस देवता की पूजा करने वाले लोगों को अक्षय सुख की प्राप्ति हो सकती है?।।6।। अमित तेजस्वी कोसल नरेश के इस प्रकार प्रश्न करने पर महाज्ञानी बृहस्पतिजी ने शान्त भाव से राजा के सत्कार की आवश्यकता बताते हुए इस प्रकार उत्तर देना आरम्भ किया।।7।।

बृहस्पतिरुवाच

राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम्॥8।।
राजा ह्येवाखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम्।
प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते॥9।।
यथा ह्यनुदये राजन् भूतानि शशिसूर्ययोः।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम्॥10।।
यथा ह्यनुदके मत्स्या निराक्रन्दे विहङ्गमाः।
विहरेयुर्यथाकामं विहिंसन्तः पुनः पुनः॥11।।
विमथ्यातिक्रमेरंश्च विषह्यापि परस्परम्।
अभावमचिरेणैव गच्छेयुर्नात्र संशयः॥12।।
एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः।
अन्धे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा॥13।।
हरेयुर्बलवन्तोऽपि दुर्बलानां परिग्रहान्।
हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत्॥14।।
ममेदमिति लोकेऽस्मिन्न भवेत् सम्परिग्रहः।
न दारा न च पुत्रः स्यान्न धनं न परिग्रहः।
विष्वग्लोपः प्रवर्तेत यदि राजा न पालयेत्॥15।।
यानं वस्त्रमलङ्कारान् रत्नानि विविधानि च।
हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत्॥16।।
पतेद्बहुविधं शस्त्रं बहुधा धर्मचारिषु।
अधर्मः प्रगृहीतः स्याद् यदि राजा न पालयेत्॥17।।
मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम्।
क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत्॥18।।
वधबन्धपरिक्लेशो नित्यमर्थवतां भवेत्।
ममत्वं च न विन्देयुर्यदि राजा न पालयेत्॥19।।
अन्ताश्चाकाल एव स्युर्लोकोऽयं दस्युसाद्भवेत्।
पतेयुर्नरकं घोरं यदि राजा न पालयेत्॥20।।

बृहस्पतिजी ने कहा—महाप्राज्ञ! लोक में जो धर्म देखा जाता है, उसका मूल कारण राजा ही है। राजा के भय से ही प्रजा एक-दूसरे को हड़प नहीं लेती है।।8।। राजा ही मर्यादा का उल्लङ्घन करने वाले तथा अनुचित भोगों में आसक्त हो कर उनकी प्राप्ति के लिए उत्कण्ठित रहने वाले सारे जगत् के लोगों को धर्मानुकूल शासन द्वारा प्रसन्न रखता है और स्वयं भी प्रसन्नतापूर्वक रहकर अपने तेज से प्रकाशित होता है।।9।। राजन्! जैसे सूर्य और चन्द्रमा का उदय न होने पर समस्त प्राणी घोर अन्धकार में डूब जाते हैं और एक-दूसरे को देख नहीं पाते हैं, जैसे थोड़े जल वाले तालाब में मत्स्यगण तथा रक्षक रहित उपवन में पक्षियों के झुण्ड परस्पर एक-दूसरे पर बारम्बार चोट करते हुए इच्छानुसार विचरण करते हैं, वे कभी तो अपने प्रहार से दूसरों को कुचलते हुए और मथते हुए आगे बढ़ जाते हैं और कभी स्वयं दूसरे की चोट खाकर व्याकुल हो उठते हैं। इस प्रकार आपस में लड़ते हुए वे थोड़े ही दिनों में नष्टप्राय हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। इसी तरह राजा के बिना वे सारी प्रजाएँ आपस में लड़ झगड़ कर बात की बात में नष्ट हो जाएँगी और बिना चरवाहे के पशुओं की भाँति दुःख के घोर अन्धकार में डूब जाएँगी।।10-13।। यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे तो बलवान् मनुष्य दुर्बलों की बहू बेटियों को हर ले जाएँ और अपने घर-बार की रक्षा के लिए प्रयत्न करने वालों को मार डालें।।14।। यदि राजा रक्षा न करे तो इस जगत् में स्त्री, पुत्र, धन अथवा घरबार कोई भी ऐसा संग्रह सम्भव नहीं हो सकता, जिसके लिए कोई कह सके कि यह मेरा है, सब ओर सबकी सारी सम्पत्ति का लोप हो जाए।।15।। यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो पापाचारी लुटेरे सहसा आक्रमण करके वाहन, वस्त्र, आभूषण और नाना प्रकार के रत्न लूट ले जाएँ।।16।। यदि राजा रक्षा न करे तो धर्मात्मा पुरुषों पर बारम्बार नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्रों की मार पड़े और विवश होकर लोगों को अधर्म का मार्ग ग्रहण करना पड़े।।17।। यदि राजा पालन न करे तो दुराचारी मनुष्य माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरु को क्लेश पहुँचावें अथवा मार डालें।।18।। यदि राजा रक्षा न करे तो धनवानों को प्रतिदिन वध या बन्धन का क्लेश उठाना पड़े और किसी भी वस्तु को अपनी न कह सकें।।19।। यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो अकाल में ही लोगों की मृत्यु होने लगे, यह समस्त जगत् डाकुओं के अधीन हो जाए और (पाप के कारण) घोर नरक में गिर जाए।।20।।

न योनिदोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक्पथः।
मज्जेद् धर्मस्त्रयी न स्याद् यदि राजा न पालयेत्॥21।।
न यज्ञाः सम्प्रवर्तेयुर्विधिवत् स्वाप्तदक्षिणाः।
न विवाहाः समाजो वा यदि राजा न पालयेत्॥22।।
न वृषाः सम्प्रवर्तेरन् न मथ्येरंश्च गर्गराः।
घोषाः प्रणाशं गच्छेयुर्यदि राजा न पालयेत्॥23।।
त्रस्तमुद्विग्नहृदयं हाहाभूतमचेतनम्।
क्षणेन विनशेत् सर्वं यदि राजा न पालयेत्॥24।।

न संवत्सरसत्राणि तिष्ठेयुरकुतोभयाः।
विधिवद् दक्षिणावन्ति यदि राजा न पालयेत्॥25॥
ब्राह्मणाश्चतुरो वेदान् नाधीयीरंस्तपस्विनः।
विद्यास्नाता व्रतस्नाता यदि राजा न पालयेत्॥26॥
न लभेद् धर्मसंश्लेषं हतविप्रहतो जनः।
हर्ता स्वस्थेन्द्रियो गच्छेद् यदि राजा न पालयेत्॥27॥
हस्ताद्धस्तं परिमुषेद्विद्येरन् सर्वसेतवः।
भयार्तं विद्रवेत् सर्वं यदि राजा न पालयेत्॥28॥
अनयाः सम्प्रवर्तेरन् भवेद्वै वर्णसंकरः।
दुर्भिक्षमाविशेद् राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत्॥29॥
विवृत्य हि यथाकामं गृहद्वाराणि शेरते।
मनुष्या रक्षिता राज्ञा समन्तादकुतोभयाः॥30॥

यदि राजा पालन न करे तो व्यभिचार से किसी को घृणा न हो, खेती नष्ट हो जाए, व्यापार चौपट हो जाए, धर्म डूब जाए और तीनों वेदों का कहीं पता न चले॥21॥ यदि राजा जगत् की रक्षा न करे तो विधिवत् पर्याप्त दक्षिणाओं से युक्त यज्ञों का अनुष्ठान बन्द हो जाए, विवाह न हो और सामाजिक कार्य रुक जाएँ॥22॥ यदि राजा पशुओं का पालन न करे तो साँड गायों में गर्भाधान न करें, दूध-दही से भरे हुए घड़े या मटके कभी मथे न जाएँ और गोशाले नष्ट हो जाएँ॥23॥ यदि राजा रक्षा न करे तो सारा जगत् भयभीत, उद्विग्न चित्त, हाहाकार परायण तथा अचेत हो क्षण भर में नष्ट हो जाए॥24॥ यदि राजा पालन न करते तो उनमें विधिपूर्वक दक्षिणाओं से युक्त वार्षिक यज्ञ बेखटके न चल सकें॥25॥ यदि राजा पालन न करते तो विद्या पढ़कर स्नातक हुए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले और तपस्वी तथा ब्राह्मण लोग चारों वेदों का अध्ययन छोड़ दें॥26॥ यदि राजा पालन न करे तो मनुष्य हताहत होकर धर्म का सम्पर्क छोड़ दें और चोर घर का मालमत्ता लेकर अपने शरीर और इन्द्रियों पर आँच आये बिना ही सकुशल लौट जाएँ॥27॥ यदि राजा पालन न करे तो चोर और लुटेरे हाथ में रखी हुई वस्तु को भी हाथ से छीन ले जाएँ, सारी मर्यादाएँ टूट जाएँ और सब लोग भय से पीड़ित हो चारों ओर भागते फिरें॥28॥ यदि राजा पालन न करे तो सब ओर अन्याय एवं अत्याचार फैल जाए, वर्णसङ्कर सन्तानें पैदा होने लगें और समूचे देश में अकाल पड़ जाए॥29॥ राजा से रक्षित हुए मनुष्य सब ओर से निर्भय हो जाते हैं और अपनी इच्छा के अनुसार घर के दरवाजे खोलकर सोते हैं॥30॥

नाकृष्टं सहते कश्चित् कुतो वा हस्तलाघवम्।
यदि राजा न सम्यग् गां रक्षयत्यपि धार्मिकः॥31॥
स्त्रियश्चापुरुषा मार्गं सर्वालङ्कारभूषिताः।
निर्भयाः प्रतिपद्यन्ते यदि रक्षति भूमिपः॥32॥
धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंसन्ति परस्परम्।

अनुगृह्णन्ति चान्योन्यं यदा रक्षति भूमिपः॥33॥
यजन्ते च महायज्ञैस्त्रयो वर्णाः पृथग्विधैः।
युक्ताश्चाधीयते विद्यां यदा रक्षति भूमिपः॥34॥
वार्तामूलो ह्ययं लोकस्त्रय्या वै धार्यते सदा।
तत् सर्वं वर्तते सम्यग् यदा रक्षति भूमिपः॥35॥
यदा राजा धुरं श्रेष्ठामादाय वहति प्रजाः।
महता बलयोगेन तदा लोकः प्रसीदति॥36॥
यस्याभावेन भूतानामभावः स्यात् समन्ततः।
भावे च भावो नित्यं स्यात् कस्तं न प्रतिपूजयेत्॥37॥
तस्य यो वहते भारं सर्वलोकभयावहम्।
तिष्ठन् प्रियहिते राज्ञ उभौ लोकाविमौ जयेत्॥38॥
यस्तस्य पुरुषः पापं मनसाप्यनुचिन्तयेत्।
असंशयमिह क्लिष्टः प्रेत्यापि नरकं व्रजेत्॥39॥
न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥40॥

यदि धर्मात्मा राजा भलीभाँति पृथ्वी की रक्षा न करे तो कोई भी मनुष्य गाली-गलौज अथवा हाथ पीटे जाने का अपमान कैसे सहन करे।।31।। यदि पृथ्वी का पालन करने वाला राजा अपने राज्य की रक्षा करता है तो समस्त आभूषणों से विभूषित हुई सुन्दरी स्त्रियाँ किसी पुरुष को साथ लिए बिना भी निर्भय होकर मार्ग से आती-जाती हैं।।32।। जब राजा रक्षा करता है, तब सब लोग धर्म का ही पालन करते हैं, कोई किसी की हिंसा नहीं करते और सभी एक-दूसरे पर अनुग्रह रखते हैं।।33।। जब राजा रक्षा करता है, तब तीनों वर्णों के लोग नाना प्रकार के बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं और मनोयोगपूर्वक विद्याध्ययन में लगे रहते हैं।।34।। खेती आदि समुचित जीविका की व्यवस्था ही इस जगत् के जीवन का मूल है तथा वृष्टि आदि की हेतुभूत त्रयी विद्या से ही सदा जगत् का धारण पोषण होता है। जब राजा प्रजा की रक्षा करता है, तभी वह सब कुछ ठीक ढंग से चलता रहता है।।35।। जब राजा विशाल सैनिक शक्ति के सहयोग से भारी भार उठाकर प्रजा की रक्षा का भार वहन करता है, तब यह सम्पूर्ण जगत् प्रसन्न होता है।।36।। जिसके न रहने पर सब ओर से समस्त प्राणियों का अभाव होने लगता है और जिसके रहने पर सदा सबका अस्तित्व बना रहता है, उस राजा का पूजन (आदर-सत्कार) कौन नहीं करेगा?।।37।। जो उस राजा के प्रिय एवं हित साधन में संलग्न रहकर उसके सर्वलोक भयङ्कर शासन भार को वहन करता है, वह इस लोक और परलोक दोनों पर विजय पाता है।।38।। जो पुरुष मन से भी राजा के अनिष्ट का चिन्तन करता है, वह निश्चय ही इहलोक में कष्ट भोगता है और मरने के बाद भी नरक में जाता है।।39।। 'यह भी एक मनुष्य है' ऐसा समझकर कभी भी पृथ्वी पालक नरेश की अवहेलना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि राजा मनुष्य रूप में एक महान् देवता है।।40।।

कुरुते पञ्चरूपाणि कालयुक्तानि यः सदा।
भवत्यग्निस्तथाऽऽदित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः॥41।।
यदा ह्यासीदतः पापान् दहत्युग्रेण तेजसा।
मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावकः॥42।।
यदा पश्यति चारेण सर्वभूतानि भूमिपः।
क्षेमं च कृत्वा व्रजति तदा भवति भास्करः॥43।।
अशुचींश्च यदा क्रुद्धः क्षिणोति शतशो नरान्।
सपुत्रपौत्रान् सामात्यांस्तदा भवति सोऽन्तकः॥44।।
यदा त्वधार्मिकान् सर्वांस्तीक्ष्णैर्दण्डैर्नियच्छति।
धार्मिकांश्चानुगृह्णाति भवत्यथ यमस्तदा॥45।।
यदा तु धनधाराभिस्तर्पयत्युपकारिणः।
आच्छिनत्ति च रत्नानि विविधान्यपकारिणाम्॥46।।
श्रियं ददाति कस्मैचित् कस्माच्चिदपकर्षति।
तदा वैश्रवणो राजा लोके भवति भूमिपः॥47।।
नास्यापावादे स्थातव्यं दक्षेणाक्लिष्टकर्मणा।
धर्म्यमाकाङ्क्षता लोकमीश्वरस्यानसूयता॥48।।
न हि राज्ञः प्रतीपानि कुर्वन् सुखमवाप्नुयात्।
पुत्रो भ्राता वयस्यो वा यद्यप्यात्मसमो भवेत्॥49।।
कुर्यात् कृष्णागतिः शेषं ज्वलितोऽनिलसारथिः।
न तु राजाभिपन्नस्य शेषं क्वचन विद्यते॥50।।

राजा ही सदा समयानुसार पाँच रूप धारण करता है। वह कभी अग्नि, कभी सूर्य, कभी मृत्यु, कभी कुबेर और कभी यमराज बन जाता है।।41।। जब पापात्मा मनुष्य राजा के साथ मिथ्या बर्ताव करके उसे ठगते हैं, तब वह अग्नि स्वरूप हो जाता है और अपने उग्र तेज से समीप आये हुए उन पापियों को जलाकर भस्म कर देता है।।42।। जब राजा गुप्तचरों द्वारा समस्त प्रजाओं की देखभाल करता है और उन सबकी रक्षा करता हुआ चलता है, तब वह सूर्य रूप होता है।।43।। जब राजा कुपित होकर अशुद्धाचारी सैकड़ों मनुष्यों का उनके पुत्र, पौत्र और मन्त्रियों सहित संहार कर डालता है, तब वह मृत्युरूप होता है।।44।। जब वह कठोर दण्ड के द्वारा समस्त अधार्मिक पुरुषों को काबू में करके सन्मार्ग पर लाता है और धर्मात्माओं पर अनुग्रह करता है, उस समय वह यमराज माना जाता है।।45।। जब राजा उपकारी पुरुषों को धनरूपी जल की धाराओं से तृप्त करता है और अपकार करने वाले दुष्टों के नाना प्रकार के रत्नों को छीन लेता है, किसी राज्य हितैषी को धन देता है तो किसी (राज्य विद्रोही) के धन का अपहरण कर लेता है, उस समय वह पृथिवीपालक नरेश इस संसार में कुबेर समझा जाता है।।46-47।। जो समस्त कार्यों में निपुण, अनायास ही कार्य साधन करने में समर्थ, धर्ममय लोकों में जाने की इच्छा रखने वाला तथा दोष दृष्टि से रहित हो, उस पुरुष को अपने देश के शासक नरेश की निन्दा के काम में नहीं पड़ना चाहिए।।48।।

राजा के विपरीत आचरण करने वाला मनुष्य उसका पुत्र, भाई, मित्र अथवा आत्मा के तुल्य ही क्यों न हो, कभी सुख नहीं पा सकता।।49।। वायु की सहायता से प्रज्वलित हुई आग जब किसी गाँव या जङ्गल को जलाने लगे तो सम्भव है कि वहाँ का कुछ भाग जलाये बिना शेष छोड़ दे; परन्तु राजा जिस पर आक्रमण करता है, उसकी कहीं कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती।।50।।

तस्य सर्वाणि रक्ष्याणि दूरतः परिवर्जयेत्।
मृत्योरिव जुगुप्सेत राजस्वहरणान्नरः॥51।।
नश्येदभिमृशन् सद्यो मृगः कूटमिव स्पृशन्।
आत्मस्वमिव रक्षेत राजस्वमिह बुद्धिमान्॥52।।
महान्तं नरकं घोरमप्रतिष्ठमचेतनम्।
पतन्ति चिररात्राय राजवित्तापहारिणः॥53।।
राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति॥54।।
तस्माद् बुभूषुर्नियतो जितात्मा नियतेन्द्रियः।
मेधावी स्मृतिमान् दक्षः संश्रयेत महीपतिम्॥55।।
कृतज्ञं प्राज्ञमक्षुद्रं दृढभक्तिं जितेन्द्रियम्।
धर्मनित्यं स्थितं नीत्यं मन्त्रिणं पूजयेन्नृपः॥56।।
दृढभक्तिं कृतप्रज्ञं धर्मज्ञं संयतेन्द्रियम्।
शूरमक्षुद्रकर्माणं निषिद्धजनमाश्रयेत्॥57।।
राजा प्रगल्भं कुरुते मनुष्यं राजा कृशं वै कुरुते मनुष्यम्।
राजाभिपन्नस्य कुतः सुखानि राजाभ्युपेतं सुखिनं करोति॥58।।
(राजा प्रजानां प्रथमं शरीरं प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम्।
राजा विहीना न भवन्ति देशा देशैर्विहीना न नृपा भवन्ति॥)
राजा प्रजानां हृदयं गरीयो गतिः प्रतिष्ठा सुखमुत्तमं च।
समाश्रिता लोकमिमं परं च जयन्ति सम्यक् पुरुषा नरेन्द्र॥59।।
नराधिपश्चाप्यनुशिष्य मेदिनीं दमेन सत्येन च सौहृदेन।
महद्भिरिष्ट्वा क्रतुभिर्महायशास्त्रिविष्टपे स्थानमुपैति शाश्वतम्॥60।।
स एवमुक्तोऽङ्गिरसा कौसल्यो राजसत्तमः।
प्रयत्नात् कृतवान् वीरः प्रजानां परिपालनम्॥61।।

मनुष्य को चाहिये कि राजा की सारी रक्षणीय वस्तुओं को दूर से ही त्याग और और मृत्यु की ही भाँति राजधन के अपहरण से घृणा करके उनसे अपने को बचाने का प्रयत्न करे।।51।। जैसे मृग मारण मन्त्र का स्पर्श करते ही अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है, उसी प्रकार राजा के धन पर हाथ लगाने वाला मनुष्य तत्काल मारा जाता है; अतः बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह अपने ही धन के समान इस जगत् में राजा के धन की भी रक्षा करे।।52।। राजा के धन का अपहरण करने वाले मनुष्य दीर्घकाल के लिए

विशाल, भयङ्कर, अस्थिर और चेतना शक्ति को लुप्त कर देने वाले नरक में गिरते हैं।।53।। भोज, विराट, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति और नृप—इन शब्दों द्वारा जिस राजा की स्तुति की जाती है, उस प्रजापालक नरेश की पूजा कौन नहीं करेगा?।।54।। इसलिए अपनी उन्नति की इच्छा रखने वाला, मेधावी, स्मरण शक्ति से सम्पन्न एवं कार्यदक्ष मनुष्य नियमपूर्वक रहकर मन और इन्द्रियों को संयम में रखते हुए राजा का आश्रय ग्रहण करे।।55।। राजा को उचित है कि वह कृतज्ञ, विद्वान्, महामना, राजा के प्रति दृढ़ भक्ति रखने वाले, जितेन्द्रिय, नित्य धर्म परायण और नीतिज्ञ मन्त्री का आदर करे।।56।। इसी प्रकार राजा अपने प्रति दृढ़ भक्ति से सम्पन्न, युद्ध की शिक्षा पाये हुए, बुद्धिमान्, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय, शूरवीर और श्रेष्ठ कर्म करने वाले ऐसे वीर पुरुष को सेनापति बनावे, जो अपनी सहायता के लिए दूसरों का आश्रय लेने वाला न हो।।57।। राजा मनुष्य को धृष्ट एवं सबल बनाता है और राजा ही उसे दुर्बल कर देता है। राजा के रोष का शिकार बने हुए मनुष्य को कैसे सुख मिल सकता है? राजा अपने शरणागत को सुखी बना देता है।।58।। राजा प्रजाओं का प्रथम अथवा प्रधान शरीर है। प्रजा भी राजा का अनुपम शरीर है। राजा के बिना देश और वहाँ के निवासी नहीं रह सकते और देशों तथा देशवासियों के बिना राजा भी नहीं रह सकते हैं। राजा प्रजा का गुरुतर हृदय, गति, प्रतिष्ठा और उत्तम सुख है। नरेन्द्र! राजा का आश्रय लेने वाले मनुष्य इस लोक और परलोक पर भी पूर्णतः विजय पा लेते हैं।।59।। राजा भी इन्द्रिय संयम, सत्य और सौहार्द्र के साथ इस पृथ्वी का भलीभाँति शासन करके बड़े-बड़े यज्ञों के अनुष्ठान द्वारा महान् यश का भागी हो स्वर्गलोक में सनातन स्थान प्राप्त कर लेता है।।60।। राजन्! बृहस्पतिजी के ऐसा कहने पर राजाओं में श्रेष्ठ कोसल नरेश वीर वसुमना अपनी प्रजाओं का प्रयत्नपूर्वक पालन करने लगे।।61।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि
आङ्गिरसवाक्येऽष्टषष्टितमोऽध्यायः॥ 68 **॥**

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में बृहस्पतिजी का उपदेश विषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ।।68।।

आङ्गिरस (बृहस्पति) गीता सम्पूर्णा

कैकेयगीता

प्रथमोऽध्यायः

केकय राजा तथा राक्षस का उपाख्यान और केकय राज्य की श्रेष्ठता का विस्तृत वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

केषां प्रभवते राजा वित्तस्य भरतर्षभ।
कया च वृत्त्या वर्तेत तन्मे ब्रूहि पितामह॥1॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतकुलभूषण पितामह! किन-किन मनुष्यों के धन पर राजा का अधिकार होता है? तथा राजा को कैसा बर्ताव करना चाहिए? यह मुझे बताइये॥1॥

भीष्म उवाच

अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम्।
ब्राह्मणानां च ये केचिद् विकर्मस्था भवन्त्युत॥2॥
विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथञ्चन।
इति राज्ञां पुरावृत्तमभिजल्पन्ति साधवः॥3॥
यस्य स्म विषये राज्ञः स्तेनो भवति वै द्विजः।
राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते किल्बिषं नृप॥4॥
अभिशस्तमिवात्मानं मन्यन्ते येन कर्मणा।
तस्माद् राजर्षयः सर्वे ब्राह्मणानन्वपालयन्॥5॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं कैकेयराजेन ह्रियमाणेन रक्षसा॥6॥
केकयानामधिपतिं रक्षो जग्राह दारुणम्।
स्वाध्यायेनान्वितं राजन्नरण्ये संशितव्रतम्॥7॥

भीष्मजी ने कहा—राजन्! ब्राह्मण के सिवा अन्य सभी वर्णों के धन का स्वामी राजा होता है, यह वैदिक मत है। ब्राह्मणों में भी जो कोई अपने वर्ण के विपरीत कर्म करते हों, उनके धन पर भी राजा का ही अधिकार है॥2॥ अपने वर्ण के विपरीत कर्मों में लगे हुए ब्राह्मणों की राजा को किसी प्रकार उपेक्षा नहीं करनी चाहिए (क्योंकि उन्हें दण्ड देकर भी राह पर लाना राजा का कर्त्तव्य है)। साधु पुरुष इसी को राजाओं का प्राचीनकाल से चला आता हुआ बर्ताव या धर्म कहते हैं॥3॥ नरेश्वर! जिस राजा के राज्य में कोई ब्राह्मण चोरी करने लग जाता है, वह राजा अपराधी माना जाता है। विचारवान् पुरुष इसे राजा का ही अपराध और पाप समझते हैं॥4॥ ब्राह्मण में उक्त दोष

आ जाए तो उससे राजा अपने आपको कलङ्कित मानते हैं; इसीलिए सभी राजर्षियों ने ब्राह्मणों की सदा ही रक्षा की है।।5।। इस विषय में जानकार लोग एक प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं। जिसमें राक्षस के द्वारा अपहृत होते समय केकयराज के प्रकट किए हुए उद्‌गार का वर्णन है।।6।। राजन्! एक समय की बात है, केकयराज वन में रहकर कठोर व्रत का पालन (तप) और स्वाध्याय किया करते थे। एक दिन उन्हें एक भयङ्कर राक्षस ने पकड़ लिया।।7।।

राजोवाच

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नायज्वा मामकान्तरमाविशः॥8।।
न च मे ब्राह्मणोऽविद्वान्नाव्रती नाप्यसोमपः।
नानाहिताग्तिर्नायज्वा मामकान्तरमाविशः॥9।।
नानाप्रदक्षिणैर्यज्ञैर्यजन्ते विषये मम।
नाधीते नाव्रती कश्चिन्मामकान्तरमाविशः॥10।।
अधीयतेऽध्यापयन्ति यजन्ते याजयन्ति च।
ददति प्रतिगृह्णन्ति षट्सु कर्मस्ववस्थिताः॥11।।
पूजिताः संविभक्ताश्च मृदवः सत्यवादिनः।
ब्राह्मणा मे स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः॥12।।
न याचन्ते प्रयच्छन्ति सत्यधर्मविशारदाः।
नाध्यापयन्त्यधीयन्ते यजन्ते याजयन्ति न॥13।।
ब्राह्मणान् परिरक्षन्ति सङ्ग्रामेष्वपलायिनः।
क्षत्रिया मे स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः॥14।।
कृषिगोरक्षवाणिज्यमुपजीवन्त्यमायया।
अप्रमत्ताः क्रियावन्तः सुव्रताः सत्यवादिनः॥15।।
संविभागं दमं शौचं सौहृदं च व्यपाश्रिताः।
मम वैश्याः स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः॥16।।
त्रीन् वर्णानुपजीवन्ति यथावदनसूयकाः।
मम शूद्राः स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः॥17।।
कृपणानाथवृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम्।
संविभक्तास्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः॥18।।

यह देख राजा ने उस राक्षस से कहा—मेरे राज्य में एक भी चोर, कञ्जूस, शराबी अथवा अग्निहोत्र और यज्ञ का त्याग करने वाला नहीं है तो भी तुम्हारा मेरे शरीर में प्रवेश कैसे हो गया?।।8।। मेरे राज्य में एक भी ब्राह्मण ऐसा नहीं है जो विद्वान्, उत्तम व्रत का पालन करने वाला, यज्ञ में सोमरस पीने वाला, अग्निहोत्री और यज्ञकर्त्ता न हो तो भी तुमने मेरे भीतर कैसे प्रवेश किया?।।9।। मेरे राज्य में समस्त द्विज नाना प्रकार की उत्तम दक्षिणाओं से युक्त यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं। कोई भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन

किए बिना वेदों का अध्ययन नहीं करता। फिर भी मेरे शरीर के भीतर तुम्हारा प्रवेश कैसे हुआ?।।10।। मेरे राज्य के ब्राह्मण पढ़ते-पढ़ाते, यज्ञ करते कराते, दान देते और लेते हैं। इस प्रकार वे ब्राह्मणोचित छः कर्मों में ही संलग्न रहते हैं।।11।। मेरे राज्य के सभी ब्राह्मण अपने-अपने कर्म में तत्पर रहने वाले हैं। कोमल स्वभाव वाले तथा सत्यवादी हैं। उन सबको मेरे राज्य से वृत्ति मिलती है तथा वे मेरे द्वारा पूजित होते रहते हैं तो भी तुम्हारा मेरे शरीर के भीतर प्रवेश कैसे सम्भव हुआ?।।12।। मेरे राज्य में जो क्षत्रिय हैं, वे अपने वर्णोचित कर्मों में लगे रहते हैं, वे वेदों का अध्ययन तो करते हैं, परन्तु अध्यापन नहीं करते; यज्ञ करते हैं, परन्तु कराते नहीं है तथा दान देते हैं, किन्तु स्वयं नहीं लेते हैं। मेरे राज्य के क्षत्रिय याचना नहीं करते; स्वयं ही याचकों को मुँहमाँगी वस्तुएँ देते हैं। सत्यभाषी तथा धर्म सम्पादन में कुशल हैं। वे ब्राह्मणों की रक्षा करते हैं और युद्ध में कभी पीठ नहीं दिखाते हैं तो भी तुम मेरे शरीर के भीतर कैसे प्रविष्ट हो गये?।।13-14।। मेरे राज्य के वैश्य भी अपने कर्मों में ही लगे रहते हैं। वे छल-कपट छोड़कर खेती, गोरक्षा और व्यापार से जीविका चलाते हैं। प्रमाद में न पड़कर सदा सत्कर्मों में संलग्न रहते हैं। उत्तम व्रतों का पालन करने वाले और सत्यवादी हैं। अतिथियों को देकर खाते हैं, इन्द्रियों को संयम में रखते हैं, शौचाचार का पालन करते और सबके प्रति सौहार्द्र बनाये रखते हैं तो भी मेरे भीतर तुम कैसे घुस आये?।।15-16।। मेरे यहाँ के शूद्र भी तीनों वर्णों की यथावत् सेवा से जीवन निर्वाह करते हैं तथा परदोष दर्शन से दूर ही रहते हैं। इस प्रकार वे भी अपने कर्मों में ही स्थित हैं, तथापि तुम मेरे भीतर कैसे घुस आये।।17।। दीन, अनाथ, वृद्ध, दुर्बल, रोगी तथा स्त्री—इन सबको मैं अन्न वस्त्र तथा औषध आदि आवश्यक वस्तुएँ देता रहता हूँ, तथापि तुम मेरे शरीर में कैसे प्रविष्ट हो गये?।।18।।

कुलदेशादिधर्माणां प्रथितानां यथाविधि।
अव्युच्छेत्तास्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः॥19।।
तपस्विनो मे विषये पूजिताः परिपालिताः।
संविभक्ताश्च सत्कृत्य मामकान्तरमाविशः॥20।।
नासंविभज्य भोक्तास्मि नाविशामि परस्त्रियम्।
स्वतन्त्रो जातु न क्रीडे मामकान्तरमाविशः॥21।।
नाब्रह्मचारी भिक्षावान् भिक्षुर्वाऽब्रह्मचर्यवान्।
अनृत्विजा हुतं नास्ति मामकान्तरमाविशः॥22।।
(कृतं राज्यं मया सर्वं राज्यस्थेनापि कार्यवत्।
नाहं व्युत्क्रामितः सत्यान्मामकान्तरमाविशः॥)
नावजानाम्यहं वैद्यान्न वृद्धान्न तपस्विनः।
राष्ट्रे स्वपति जागर्मि मामकान्तरमाविशः॥23।।
(शुक्लकर्मास्मि सर्वत्र न दुर्गतिभयं मम।
धर्मचारी गृहस्थश्च मामकान्तरमाविशः॥)

आत्मविज्ञानसम्पन्नस्तपस्वी सर्वधर्मवित्।
स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः॥24॥
दानेन विद्यामभिवाञ्छयामि सत्येनार्थं ब्राह्मणानां च गुप्त्या।
शुश्रूषया चापि गुरूनुपैमि न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः॥25॥
न मे राष्ट्रे विधवा ब्रह्मबन्धुर्न ब्राह्मणः कितवो नोत चोरः।
अयाज्ययाजी न च पापकर्मा न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः॥26॥
न मे शस्त्रैरनिर्भिन्नं गात्रे द्व्यङ्गुलमन्तरम्।
धर्मार्थं युध्यमानस्य मामकान्तरमाविशः॥27॥
गोब्राह्मणेभ्यो यज्ञेभ्यो नित्यं स्वस्त्ययनं मम।
आशासते जना राष्ट्रे मामकान्तरमाविशः॥28॥

मैं अपने सुविख्यात कुल धर्म, देश धर्म तथा जाति धर्म की परम्परा का विधिपूर्वक पालन करता हुआ इन सब धर्मों में से किसी का भी लोप नहीं होने देता, तो भी तुम मेरे भीतर कैसे घुस आये?॥19॥ अपने राज्य के तपस्वी मुनियों की मैंने सदा ही पूजा और रक्षा की है तथा उन्हें सत्कारपूर्वक आवश्यक वस्तुएँ दी हैं। इतने पर भी मेरे शरीर के भीतर तुम्हारा प्रवेश कैसे समभव हुआ है?॥20॥ मैं देवता, पितर तथा अतिथि आदि को उनका भाग अर्पण किए बिना कभी भोजन नहीं करता। परायी स्त्री से कभी सम्पर्क नहीं रखता तथा कभी स्वच्छन्द होकर क्रीड़ा नहीं करता तो भी तुमने मेरे शरीर में कैसे प्रवेश किया!॥21॥ मेरे राज्य में कोई भी ब्रह्मचर्य का पालन न करने वाला भिक्षा नहीं माँगता अथवा भिक्षु या संन्यासी ब्रह्मचर्य का पालन किए बिना नहीं रहता। बिना ऋत्विज के मेरे यहाँ होम नहीं होता; फिर तुम कैसे मेरे भीतर घुस आये?॥22॥ राज्य सिंहासन पर स्थित होकर भी मैंने सारा राज्य कार्य कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से किया है और कभी सत्य से मैं विचलित नहीं हुआ हूँ तो भी मेरे शरीर के भीतर तुम्हारा प्रवेश कैसे हुआ है?। मैं विद्वानों, वृद्धों तथा तपस्वी जनों का कभी तिरस्कार नहीं करता हूँ। जब सारा राष्ट्र सोता है, उस समय भी मैं उसकी रक्षा के लिए जागता रहता हूँ, तथापि तुम मेरे शरीर के भीतर कैसे चले आये?॥23॥ मैं सब जगह निर्दोष एवं विशुद्ध कर्म करने वाला हूँ, मुझे कहीं भी दुर्गति का भय नहीं है। मैं धर्म का आचरण करने वाला गृहस्थ हूँ। तुम मेरे शरीर के भीतर कैसे आ गये? मेरे बुद्धिमान् पुरोहित आत्मज्ञानी, तपस्वी तथा सब धर्मों के ज्ञाता हैं। वे सम्पूर्ण राष्ट्र के स्वामी हैं॥24॥ मैं धन देकर विद्या पाने की इच्छा रखता हूँ। सत्य के पालन तथा ब्राह्मणों के संरक्षण द्वारा अभीष्ट अर्थ (पुण्य लोकों पर अधिकार) पाना चाहता हूँ तथा सेवा-शुश्रूषा द्वारा गुरुजनों को सन्तुष्ट करने के लिए उनके पास जाता हूँ; अतः मुझे राक्षसों से कभी भय नहीं है॥25॥ मेरे राज्य में कोई स्त्री विधवा नहीं है तथा कोई भी ब्राह्मण अधम, धूर्त, चोर, अनधिकारियों का यज्ञ कराने वाला और पापाचारी नहीं है; इसलिए मुझे राक्षसों से तनिक भी भय नहीं है॥26॥ मेरे शरीर में दो अङ्गुल भी ऐसा स्थान नहीं है, जो धर्म के लिए युद्ध करते समय अस्त्र शस्त्रों से घायल न हुआ हो, तथापि तुम मेरे भीतर कैसे घुस आये?॥27॥ मेरे राज्य में रहने वाले लोग गौओं, ब्राह्मणों तथा यज्ञों

के लिए सदा मङ्गल कामना करते रहते हैं तो भी तुम मेरे शरीर के भीतर कैसे घुस आये?।।28।।

राक्षस उवाच

(नारीणां व्यभिचाराच्च अन्यायाच्च महीक्षिताम्।
विप्राणां कर्मदोषाच्च प्रजानां जायते भयम्॥
अवृष्टिर्मारको रोगः सततं क्षुद्भयानि च।
विग्रहश्च सदा तस्मिन् देशे भवति दारुणः॥
यक्षरक्षःपिशाचेभ्यो नासुरेभ्यः कथञ्चन।
भयमुत्पद्यते तत्र यत्र विप्राः सुसंयताः॥)
यस्मात् सर्वास्ववस्थासु धर्ममेवान्ववेक्षसे।
तस्मात् प्राप्नुहि कैकेय गृहं स्वस्ति व्रजाम्यहम्॥29।।
येषां गोब्राह्मणं रक्ष्यं प्रजा रक्ष्याश्च केकय।
न रक्षोभ्यो भयं तेषां कुत एव तु पावकात्॥30।।
येषां पुरोगमा विप्रा येषां ब्रह्म परं बलम्।
अतिथिप्रियास्तथा पौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपाः॥31।।

राक्षस ने कहा—स्त्रियों के व्यभिचार से, राजाओं के अन्याय से तथा ब्राह्मणों के कर्मदोष से प्रजा को भय प्राप्त होता है। जिस देश में उक्त दोष होते हैं, वहाँ वर्षा नहीं होती, महामारी फैल जाती है, सदा भूख का भय बना रहता है और बड़ा भयानक संग्राम छिड़ जाता है। जहाँ ब्राह्मण संयम पूर्ण जीवन बिता रहे हों, वहाँ यक्ष, राक्षस, पिशाच तथा असुरों से किसी प्रकार भय नहीं प्राप्त होता। केकयनरेश! तुम सभी अवस्थाओं में धर्म पर ही दृष्टि रखते हो, इसलिए कुशलपूर्वक घर को जाओ। तुम्हारा कल्याण हो। मैं अब जाता हूँ।।29।। केकयराज! जो राजा गौओं तथा ब्राह्मणों की रक्षा करते हैं और प्रजा का पालन करना अपना धर्म समझते हैं, उन्हें राक्षसों से भय नहीं है; फिर अग्नि से तो हो ही कैसे सकता है?।।30।। जिनके आगे-आगे ब्राह्मण चलते हैं, जिनका सबसे बड़ा बल ब्राह्मण ही हैं तथा जिनके राज्य के नागरिक अतिथि सत्कार के प्रेमी हैं, वे नरेश निश्चय ही स्वर्गलोक पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं।।31।।

भीष्म उवाच

तस्माद् द्विजातीन् रक्षेत ते हि रक्षन्ति रक्षिताः।
आशीरेषां भवेद् राजन् राज्ञां सम्यक् प्रवर्तताम्॥32।।
तस्माद् राज्ञा विशेषेण विकर्मस्था द्विजातयः।
नियम्याः संविभज्याश्च तदनुग्रहकारणात्॥33।।
एवं यो वर्तते राजा पौरजानपदेष्विह।
अनुभूयेह भद्राणि प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम्॥34।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इसलिए ब्राह्मणों की सदा रक्षा करनी चाहिये। सुरक्षित रहने पर वे राजाओं की रक्षा करते हैं। ठीक-ठीक बर्ताव करने वाले राजाओं

को ब्राह्मणों का आशीर्वाद प्राप्त होता है।।32।। अतः राजाओं को चाहिये कि वे विपरीत कर्म करने वाले ब्राह्मणों को उन पर अनुग्रह करने के लिए ही नियन्त्रण में रखें और उनकी आवश्यकता की वस्तुएँ उन्हें देते रहें।।33।। जो राजा अपने नगर और राष्ट्र की प्रजा के साथ ऐसा धर्मपूर्ण बर्ताव करता है, वह इस लोक में सुख भोगकर अन्त में इन्द्रलोक को प्राप्त कर लेता है।।34।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कैकेयोपाख्याने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः॥ 77 **॥**

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में केकयराज का उपाख्यान विषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ।।77।।

कैकेयगीता सम्पूर्णा

उतथ्यगीता

प्रथमोऽध्यायः

मान्धाता को उपदेश — राजा के लिए धर्म पालन की आवश्यकता

भीष्म उवाच

यानङ्गिराः क्षत्रधर्मानुतथ्यो ब्रह्मवित्तमः।
मान्धात्रे यौवनाश्वाय प्रीतिमानभ्यभाषत॥1।।
स यथानुशशासैनमुतथ्यो ब्रह्मवित्तमः।
तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि निखिलेन युधिष्ठिर॥2।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ अङ्गिरा पुत्र उतथ्य ने युवनाश्व के पुत्र मान्धाता से प्रसन्नतापूर्वक जिन क्षत्रिय धर्मों का वर्णन किया था, उन्हें सुनो।।1।। युधिष्ठिर! ब्रह्मज्ञानियों में शिरोमणि उतथ्य ने जिस प्रकार उन्हें उपदेश दिया था, वह सब प्रसङ्ग पूरा-पूरा तुम्हें बता रहा हूँ, श्रवण करो।।2।।

उतथ्य उवाच

धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु।
मान्धातरिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता॥3।।
राजा चरति चेद् धर्मं देवत्वायैव कल्पते।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति॥4।।
धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति।
तं राजा साधु यः शास्ति स राजा पृथिवीपतिः॥5।।
राजा परमधर्मात्मा लक्ष्मीवान् धर्म उच्यते।
देवाश्च गर्हां गच्छन्ति धर्मो नास्तीति चोच्यते॥6।।
स्वधर्मे वर्तमानानामर्थसिद्धिः प्रदृश्यते।
तदेव मङ्गलं लोकः सर्वः समनुवर्तते॥7।।
उच्छिद्यते धर्मवृत्तमधर्मो वर्तते महान्।
भयमाहुर्दिवारात्रं यदा पापो न वार्यते॥8।।
ममेदमिति नैवैत् साधूनां तात धर्मतः।
न वै व्यवस्था भवति यदा पापो न वार्यते॥9।।
नैव भार्या न पशवो न क्षेत्रं न निवेशनम्।
सन्दृश्येत मनुष्याणां यदा पापबलं भवेत्॥10।।

उतथ्य बोले—मान्धाता! राजा धर्म का पालन और प्रचार करने के लिए ही होता है, विषय सुखों का उपभोग करने के लिए नहीं। तुम्हें यह जानना चाहिए कि राजा सम्पूर्ण जगत् का रक्षक है।।3।। यदि राजा धर्माचरण करता है तो देवता बन जाता है, और यदि वह अधर्माचरण करता है तो नरक में ही गिरता है।।4।। सम्पूर्ण प्राणी धर्म के ही आधार पर स्थित हैं और धर्म राजा के ऊपर प्रतिष्ठित है। जो राजा अच्छी तरह धर्म का पालन और उसके अनुकूल शासन करता है, वही दीर्घकाल तक इस पृथ्वी का स्वामी बना रहता है।।5।। परम धर्मात्मा और श्रीसम्पन्न राजा धर्म का साक्षात् स्वरूप कहलाता है। यदि वह धर्म का पालन नहीं करता तो लोग देवताओं की भी निन्दा करते हैं और वह धर्मात्मा नहीं, पापात्मा कहलाता है।।6।। जो अपने धर्म के पालन में तत्पर रहते हैं, उन्हीं से अभीष्ट मनोरथ की सिद्धि होती देखी जाती है। सारा संसार उसी मङ्गलमय धर्म का अनुसरण करता है।।7।। जब पाप को रोका नहीं जाता है, तब जगत् में धार्मिक बर्ताव का उच्छेद हो जाता है और सब ओर महान् अधर्म फैल जाता है, जिससे प्रजा को दिन-रात भय बना रहता है।।8।। तात! यदि पाप की प्रवृत्ति का निवारण न किया जाए तो यह मेरी वस्तु है, ऐसा कहना श्रेष्ठ पुरुषों के लिए असम्भव हो जाता है और उस समय कोई भी धार्मिक व्यवस्था टिकने नहीं पाती है।।9।। जब जगत् में पाप का बल बढ़ जाता है, तब मनुष्यों के लिए अपनी स्त्री, अपने पशु और अपने खेत या घर का भी कुछ ठिकाना दिखायी नहीं देता।।10।।

देवाः पूजां न जानन्ति न स्वधां पितरस्तदा।
न पूज्यन्ते ह्यतिथयो यदा पापो न वार्यते॥11।।
न वेदानधिगच्छन्ति व्रतवन्तो द्विजातयः।
न यज्ञांस्तन्वते विप्रा यदा पापो न वार्यते॥12।।
वृद्धानामिव सत्त्वानां मनो भवति विह्वलम्।
मनुष्याणां महाराज यदा पापो न वार्यते॥13।।
उभौ लोकावभिप्रेक्ष्य राजानमृषयः स्वयम्।
असृजन् सुमहद्भूतमयं धर्मो भविष्यति॥14।।
यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते।
यस्मिन् विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः॥15।।
वृषो हि भगवान्धर्मो यस्तस्य कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद् धर्मं विवर्धयेत्॥16।।
धर्मे वर्धति वर्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा।
तस्मिन् ह्रसति ह्रीयन्ते तस्माद् धर्मं न लोपयेत्॥17।।
धनात्स्रवति धर्मो हि धारणाद्धेति निश्चयः।
अकार्याणां मनुष्येन्द्र स सीमान्तकरः स्मृतः॥18।।
प्रभवार्थं हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयम्भुवा।
तस्मात् प्रवर्तयेद् धर्मं प्रजानुग्रहकारणात्॥19।।

तस्माद्धि राजशार्दूल धर्मः श्रेष्ठतरः स्मृतः।
स राजा यः प्रजाः शास्ति साधुकृत् पुरुषर्षभ॥20॥

जब पाप को रोका नहीं जाता है, तब देवता पूजा को नहीं जानते हैं, पितरों को स्वधा (श्राद्ध) का अनुभव नहीं होता है तथा अतिथियों की कहीं पूजा नहीं होती है॥11॥ जब पाप का निवारण नहीं किया जाता है, तब ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले द्विज वेदों का अध्ययन छोड़ देते हैं और ब्राह्मण यज्ञों का अनुष्ठान नहीं कर पाते हैं॥12॥ महाराज! जब पाप का निवारण नहीं किया जाता है, तब बूढ़े जन्तुओं की भाँति मनुष्यों का मन घबराहट में पड़ा रहता है॥13॥ लोक और परलोक दोनों को दृष्टि में रखकर महर्षियों ने स्वयं ही राजा नामक महान् शक्तिशाली मनुष्य की सृष्टि की। उन्होंने सोचा था कि 'यह साक्षात् धर्म स्वरूप होगा'॥14॥ अतः जिसमें धर्म विराज रहा हो, उसी को राजा कहते हैं और जिसमें धर्म (वृष) का लय हो गया हो, उसे देवता लोग 'वृषल' मानते हैं॥15॥ वृष नाम है भगवान् धर्म का। जो धर्म के विषय में 'अलम्' (बस) कह देता है, उसे देवता 'वृषल' समझते हैं; अतः धर्म की सदा ही वृद्धि करनी चाहिए॥16॥ धर्म की वृद्धि होने पर सदा समस्त प्राणियों का अभ्युदय होता है और उसका ह्रास होने पर सबका ह्रास हो जाता है; अतः धर्म का कभी लोप नहीं होने देना चाहिये॥17॥ नरेन्द्र! धन से धर्म की उत्पत्ति होती है, सबको धारण करने के कारण वह निश्चित रूप से धर्म कहा गया है। वह धर्म अकर्त्तव्य (पाप) की सीमा का अन्त करने वाला माना गया है॥18॥ ब्रह्माजी ने प्राणियों के कल्याणार्थ ही धर्म की सृष्टि की है, इसलिए राजा को चाहिए कि अपने देश में प्रजाजनों पर अनुग्रह करने के लिए धर्म का प्रचार करे॥19॥ राजसिंह! इसी कारण से धर्म को सबसे श्रेष्ठ माना गया है। पुरुषप्रवर! जो सद्धर्म के पालनपूर्वक प्रजा का शासन करता है, वही राजा है॥20॥

कामक्रोधावनादृत्य धर्ममेवानुपालय।
धर्मः श्रेयस्करतमो राज्ञां भरतसत्तम॥21॥
धर्मस्य ब्राह्मणो योनिस्तस्मात् तान् पूजयेत्सदा।
ब्राह्मणानां च मान्धातः कुर्यात् कामानमत्सरी॥22॥
तेषां ह्यकामकरणाद् राज्ञः सञ्जायते भयम्।
मित्राणि न च वर्धन्ते तथामित्रीभवन्त्यपि॥23॥
ब्राह्मणानां सदासूयाद् बाल्याद् वैरोचनो बलिः।
अथास्माच्छ्रीरपाक्रामद् यस्मिन्नासीत् प्रतापिनी॥24॥
ततस्तस्मादपाक्रम्य सागच्छत् पाकशासनम्।
अथ सोऽन्वतपत् पश्चाच्छ्रियं दृष्ट्वा पुरन्दरे॥25॥
एतत् फलमसूयाया अभिमानस्य वा विभो।
तस्माद् बुध्यस्व मान्धातर्मा त्वां जह्यात् प्रतापिनी॥26॥
दर्पो नाम श्रियः पुत्रो जज्ञेऽधर्मादिति श्रुतिः।

तेन देवासुरा राजन् नीताः सुबहवो व्ययम्॥27॥
राजर्षयश्च बहवस्तथा बुध्यस्व पार्थिव।
राजा भवति तं जित्वा दासस्तेन पराजितः॥28॥
स यथा दर्पसहितमधर्मं नानुसेवते।
तथा वर्तस्व मान्धातश्चिरं चेत् स्थातुमिच्छसि॥29॥
मत्तात् प्रमत्तात् पौगण्डादुन्मत्ताच्च विशेषतः।
तदभ्यासादुपावर्त संहितानां च सेवनात्॥30॥

भरतभूषण! तुम भी काम और क्रोध की अवहेलना करके निरन्तर धर्म का ही पालन करो। धर्म ही राजाओं के लिए सबसे बढ़कर कल्याण करने वाला है॥21॥ मान्धाता! धर्म का मूल है ब्राह्मण; इसलिए ब्राह्मणों का सदा सम्मान करना चाहिए, ब्राह्मणों की प्रत्येक कामना को ईर्ष्या रहित होकर पूर्ण करना उचित है॥22॥ उनकी इच्छा पूर्ण न करने से राजाओं के ऊपर भय आता है। राजा के मित्रों की वृद्धि नहीं होती, उलटे शत्रु बनते जाते हैं॥23॥ विरोचनकुमार बलि बाल्यकाल से ही सदा ब्राह्मणों पर दोषारोपण करते थे; इसलिए उनकी राजलक्ष्मी, जो शत्रुओं को संताप देने वाली थी, उनके पास से हट गयी॥24॥ बलि से हटकर वह राजलक्ष्मी देवराज इन्द्र के पास चली गयी। फिर इन्द्र के पास उस लक्ष्मी को देखकर राजा बलि को बड़ा पश्चात्ताप होने लगा॥25॥ प्रभो! यह अभिमान और असूया का फल है, अतः मान्धाता! तुम सचेत हो जाओ, कहीं तुम्हारी शत्रुतापिनी लक्ष्मी तुमको छोड़ न दे॥26॥ राजन्! सम्पत्ति का पुत्र है दर्प, जो अधर्म के अंश से उत्पन्न हुआ है, यह श्रुति का कथन है। उस दर्प ने बहुत-से देवताओं, असुरों और राजर्षियों का विनाश कर डाला है। अतः भूपाल! अब भी चेतो। जो दर्प को जीत लेता है, वह राजा होता है और जो उससे पराजित हो जाता है, वह दास बन जाता है॥27-28॥ मान्धाता! यदि तुम चिरकाल तक राजसिंहासन पर विराजमान रहना चाहते हो तो ऐसा बर्ताव करो, जिससे तुम्हारे द्वारा दर्प और अधर्म का सेवन न हो॥29॥ मतवाले, प्रमादी, बालक तथा विशेषतः पागलों से बचो। उनके निकट सम्पर्क से भी दूर रहो और यदि वे एक साथ रहकर सेवा करना चाहें तो उनकी उस सेवा से भी सर्वथा बचे रहो॥30॥

निगृहीतादमात्याच्च स्त्रीभ्यश्चैव विशेषतः।
पर्वताद् विषमाद् दुर्गाद्धस्तिनोऽश्वात् सरीसृपात्॥31॥
एतेभ्यो नित्ययत्तः स्यान्नक्तञ्चर्यां च वर्जयेत्।
अत्यागं चाभिमानं च दम्भं क्रोधं च वर्जयेत्॥32॥
अविज्ञातासु च स्त्रीषु क्लीबासु स्वैरिणीषु च।
परभार्यासु कन्यासु नाचरेन्मैथुनं नृपः॥33॥
कुलेषु पापरक्षांसि जायन्ते वर्णसङ्करात्।
अपुमांसोऽङ्गहीनाश्च स्थूलजिह्वा विचेतसः॥34॥

एते चान्ये च जायन्ते यदा राजा प्रमाद्यति।
तस्माद् राज्ञा विशेषेण वर्तितव्यं प्रजाहिते॥35॥
क्षत्रियस्य प्रमत्तस्य दोषः सञ्जायते महान्।
अधर्माः सम्प्रवर्धन्ते प्रजासङ्करकारकाः॥36॥
अशीते विद्यते शीतं शीते शीतं न विद्यते।
अवृष्टिरतिवृष्टिश्च व्याधिश्चाप्याविशेत् प्रजाः॥37॥
नक्षत्राण्युपतिष्ठन्ति ग्रहा घोरास्तथागते।
उत्पाताश्चात्र दृश्यन्ते बहवो राजनाशनाः॥38॥
अरक्षितात्मा यो राजा प्रजाश्चापि न रक्षति।
प्रजाश्च तस्य क्षीयन्ते ततः सोऽनुविनश्यति॥39॥
द्वावाददाते ह्येकस्य द्वयोः सुबहवोऽपरे।
कुमार्यः सम्प्रलुप्यन्ते तदाहुर्नृपदूषणम्॥40॥
ममेदमिति नैकस्य मनुष्येष्ववतिष्ठति।
त्यक्त्वा धर्मं यदा राजा प्रमादमनुतिष्ठति॥41॥

इसी तरह जिसको एक बार कैद किया हो उस मन्त्री से, विशेषत: परायी स्त्रियों से, ऊँचे नीचे और दुर्गम पर्वत से तथा हाथी, घोड़े और सर्पों से राजा को बचकर रहना चाहिये। इनकी ओर से सदा सावधान रहे और रात में घूमना फिरना छोड़ दे। कृपणता, अभिमान, दम्भ और क्रोध का भी सर्वदा परित्याग कर दे॥31-32॥ अपरिचित स्त्रियों, बांझ स्त्रियों, वेश्याओं, परायी स्त्रियों तथा कुमारी कन्याओं के साथ राजा मैथुन न करे॥33॥ जब राजा धर्म की ओर से प्रमाद करता है, तब वर्ण सङ्करता के कारण उत्तम कुलों में पापी और राक्षस जन्म लेते हैं। नपुंसक, काने, लंगड़े, लूले, गूँगे तथा बुद्धिहीन बालकों की उत्पत्ति होती है। ये तथा और भी बहुत-सी कुत्सित सन्तानें जन्म लेती हैं। इसलिए राजा को विशेष रूप से धर्म परायण एवं सावधान होकर प्रजा के हित साधन में तत्पर रहना चाहिये॥34-35॥ क्षत्रिय के प्रमाद से बड़े-बड़े दोष प्रकट होते हैं। वर्ण सङ्करों को जन्म देने वाले पाप कर्मों की वृद्धि होती है॥36॥ गर्मी के मौसम में सर्दी और सर्दी के मौसम में गर्मी पड़ने लगती है। कभी सूखा पड़ जाता है, कभी अधिक वर्षा होती है तथा प्रजा में नाना प्रकार के रोग फैल जाते हैं॥37॥ आकाश में भयानक ग्रह और धूमकेतु आदि तारे उगते हैं तथा राष्ट्र के विनाश की सूचना देने वाले बहुत-से उत्पात दिखायी देने लगते हैं॥38॥ जो राजा अपनी रक्षा नहीं करता, वह प्रजा की भी रक्षा नहीं कर सकता। पहले उसकी प्रजाएँ क्षीण होती हैं; फिर वह स्वयं भी नष्ट हो जाता है॥39॥ जब दो मनुष्य मिलकर एक की वस्तु छीन लेते हैं, बहुत-से मिलकर दो को लूटते हैं तथा कुमारी कन्याओं पर बलात्कार होने लगता है, उस समय इन सारे अपराधों का कारण राजा को ही बताया जाता है॥40॥ जब राजा धर्म छोड़कर प्रमाद में

पड़ जाता है, तब मनुष्यों में एक भी अपने धन को 'यह मेरा है' ऐसा समझकर स्थिर नहीं रह सकता।।41।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि उतथ्यगीतासु नवतितमोऽध्यायः॥ 90 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में उतथ्यगीता विषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ।।90।।

द्वितीयोऽध्यायः

धर्माचरण का महत्त्व और राजा के धर्म का वर्णन

उतथ्य उवाच

कालवर्षी च पर्जन्यो धर्मचारी च पार्थिवः।
सम्पद् यदेषा भवति सा बिभर्ति सुखं प्रजाः॥1।।
यो न जानाति हर्तुं वा वस्त्राणां रजको मलम्।
रक्तानां वा शोधयितुं यथा नास्ति तथैव सः॥2।।
एवमेतद् द्विजेन्द्राणां क्षत्रियाणां विशां तथा।
शूद्रश्चतुर्थो वर्णानां नानाकर्मस्ववस्थितः॥3।।
कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये दण्डनीतिश्च राजनि।
ब्रह्मचर्यं तपो मन्त्राः सत्यं चापि द्विजातिषु॥4।।
तेषां यः क्षत्रियो वेद वस्त्राणामिव शोधनम्।
शीलदोषान् विनिर्हर्तुं स पिता स प्रजापतिः॥5।।
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्च भरतर्षभ।
राजवृत्तानि सर्वाणि राजैव युगमुच्यते॥6।।
चातुर्वर्ण्यं तथा वेदाश्चातुराश्रम्यमेव च।
सर्वं प्रमुह्यते ह्येतद् यदा राजा प्रमाद्यति॥7।।
अग्नित्रेता त्रयी विद्या यज्ञाश्च सहदक्षिणाः।
सर्व एव प्रमाद्यन्ति यदा राजा प्रमाद्यति॥8।।
राजैव कर्ता भूतानां राजैव च विनाशकः।
धर्मात्मा यः स कर्ता स्यादधर्मात्मा विनाशकः॥9।।
राज्ञो भार्याश्च पुत्राश्च बान्धवाः सुहृदस्तथा।
समेत्य सर्वे शोचन्ति यदा राजा प्रमाद्यति॥10।।

उतथ्य कहते हैं—राजन्! राजा धर्म का आचरण करे और मेघ समय पर वर्षा करता रहे। इस प्रकार जो सम्पत्ति बढ़ती है, वह प्रजावर्ग का सुखपूर्वक भरण-पोषण करती है।।1।। यदि धोबी कपड़ों की मैल उतारना नहीं जानता अथवा रङ्गे हुए वस्त्रों को धोकर शुद्ध एवं उज्ज्वल बनाने की कला उसे नहीं ज्ञात है तो उसका होना न होना

बराबर है।।2।। इसी प्रकार श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा चौथे शूद्र वर्ण के मनुष्य यदि अपने-अपने पृथक् पृथक् कर्मों को जानकर उनमें संलग्न नहीं रहते हैं तो उनका होना न होना एक सा ही है।।3।। शूद्र में द्विजों की सेवा, वैश्य में कृषि, राजा या क्षत्रिय में दण्डनीति तथा ब्राह्मणों में ब्रह्मचर्य, तपस्या, वेदमन्त्र और सत्य की प्रधानता है।।4।। इनमें जो क्षत्रिय वस्त्रों की मैल दूर करने वाले धोबी के समान चरित्र दोष को दूर करना जानता है, वही प्रजावर्ग का पिता और वही प्रजा का अधिपति है।।5।। भरतश्रेष्ठ! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये सबके सब राजा के आचरणों में स्थित हैं। राजा ही युगों का प्रवर्तक होने के कारण युग कहलाता है।।6।। जब राजा प्रमाद करता है, तब चारों वर्ण, चारों वेद और चारों आश्रम सभी मोह में पड़ जाते हैं।।7।। जब राजा प्रमादी हो जाता है, तब गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि—ये तीन अग्नि; ऋक्, साम और यजु—ये तीन वेद एवं दक्षिणाओं के साथ सम्पूर्ण यज्ञ भी विकृत हो जाते हैं।।8।। राजा ही प्राणियों का कर्त्ता (जीवनदाता) और राजा ही उनका विनाश करने वाला है। जो धर्मात्मा है, वह प्रजा का जीवनदाता है और पापात्मा है, वह उसका विनाश करने वाला है।।9।। जब राजा प्रमाद करने लगता है, तब उसकी स्त्री, पुत्र, बान्धव तथा सुहृद् सब मिलकर शोक करते हैं।।10।।

हस्तिनोऽश्वाश्च गावश्चाप्युष्ट्राश्वतरगर्दभाः।
अधर्मभूते नृपतौ सर्वे सीदन्ति जन्तवः॥11।।
दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्रा मान्धातरुच्यते।
अबलं तु महद् भूतं यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्॥12।।
यच्च भूतं सम्भजते ये च भूतास्तदन्वयाः।
अधर्मस्थे हि नृपतौ सर्वे शोचन्ति पार्थिव॥13।।
दुर्बलस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च।
अविषह्यतमं मन्ये मा स्म दुर्बलमासदः॥14।।
दुर्बलांस्तात बुध्येथा नित्यमेवाविमानितान्।
मा त्वां दुर्बलचक्षूंषि प्रदहेयुः सबान्धवम्॥15।।
न हि दुर्बलदग्धस्य कुले किञ्चित् प्ररोहति।
आमूलं निर्दहन्त्येव मा स्म दुर्बलमासदः॥16।।
अबलं वै बलाच्छ्रेयो यच्चातिबलवद्बलम्।
बलस्याबलदग्धस्य न किञ्चिदवशिष्यते॥17।।
विमानितो हतः क्रुष्टस्त्रातारं चेन्न विन्दति।
अमानुषकृतस्तत्र दण्डो हन्ति नराधिपम्॥18।।
मा स्म तात रणे स्थित्वा भुञ्जीथा दुर्बलं जनम्।
मा त्वां दुर्बलचक्षूंषि दहन्त्वग्निरिवाश्रयम्॥19।।
यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि रोदताम्।
तानि पुत्रान् पशून् घ्नान्ति तेषां मिथ्याभिशंसनात्॥20।।

राजा के पाप परायण हो जाने पर उसके हाथी, घोड़े, गौ, ऊँट, खच्चर और गदहे आदि सभी पशु दुःख पाते हैं।।11।। मान्धाता! कहते हैं कि विधाता ने दुर्बल प्राणियों की रक्षा के लिए ही बल सम्पन्न राजा की सृष्टि की है। निर्बल प्राणियों का महान् समुदाय राजा के बल पर टिका हुआ है।।12।। भूपाल! राजा जिन प्राणियों को अन्न आदि देकर उनकी सेवा करता है और जो प्राणी राजा से सम्बन्ध रखते हैं, वे सबके सब उस राजा के अधर्म परायण होने पर शोक प्रकट करने लगते हैं।।13।। दुर्बल मनुष्य, मुनि और विषधर सर्प—इस सबकी दृष्टि को मैं अत्यन्त दुःसह मानता हूँ; इसलिए तुम किसी दुर्बल प्राणी को न सताना।।14।। तात! तुम दुर्बल प्राणियों को सदा ही अपमान का पात्र न समझना, दुर्बलों की आँखें तुम्हें बन्धु बान्धवों सहित जला कर भस्म न कर डालें, इसके लिए सदा सावधान रहना।।15।। दुर्बल मनुष्य जिसको अपनी क्रोधाग्नि से जला डालते हैं, उसके कुल में फिर कोई अङ्कुर नहीं जमता। वे जड़ मूल सहित दग्ध कर देते हैं; अतः तुम दुर्बलों को कभी न सताना।।16।। निर्बल प्राणी बलवान् से श्रेष्ठ है, क्योंकि जो अत्यन्त बलवान् है, उसके बल से भी निर्बल का बल अधिक है। निर्बल के द्वारा दग्ध किए गए बलवान् का कुछ भी शेष नहीं रह जाता।।17।। यदि अपमानित, हताहत तथा गाली-गलौज से तिरस्कृत होने वाला दुर्बल मनुष्य राजा को अपने रक्षक के रूप में नहीं उपलब्ध कर पाता तो वहाँ दैव का दिया हुआ दण्ड राजा को मार डालता है।।18।। तात! तुम युद्ध में संलग्न होकर दुर्बल मनुष्य को कर लेने के द्वारा अपने उपभोग का विषय न बनाना। जैसे आग अपने आश्रयभूत काष्ठ को जला देती है, उसी प्रकार दुर्बलों की दृष्टि तुम्हें दग्ध न कर डाले।।19।। झूठे अपराध लगाये जाने पर रोते हुए दीन दुर्बल मनुष्यों के नेत्रों से जो आँसू गिरते हैं, वे मिथ्या कलङ्क लगाने के कारण उन अपराधियों के पुत्रों और पशुओं का नाश कर डालते हैं।।20।।

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पौत्रेषु नप्तृषु।
न हि पापं कृतं कर्म सद्यः फलति गौरिव॥21।।
यत्राबलो वध्यमानस्त्रातारं नाधिगच्छति।
महान् दैवकृतस्तत्र दण्डः पतति दारुणः॥22।।
युक्ता यदा जानपदा भिक्षन्ते ब्राह्मणा इव।
अभीक्ष्णं भिक्षुरूपेण राजानं घ्नन्ति तादृशाः॥23।।
राज्ञो यदा जनपदे बहवो राजपूरुषाः।
अनयेनोपवर्तन्ते तद् राज्ञः किल्बिषं महत्॥24।।
यदा युक्त्या नयेदर्थान् कामादर्थवशेन वा।
कृपणं याचमानानां तद् राज्ञो वैशसं महत्॥25।।
महान् वृक्षो जायते वर्धते च तं चैव भूतानि समाश्रयन्ति।
यदा वृक्षश्छिद्यते दह्यते च तदाश्रया अनिकेता भवन्ति॥26।।
यदा राष्ट्रे धर्ममग्र्यं चरन्ति संस्कारं वा राजगुणं ब्रुवाणाः।
तैरेवाधर्मश्चरितो धर्ममोहात् तूर्णं जह्यात् सुकृतं दुष्कृतं च॥27।।

यत्र पापा ज्ञायमानाश्चरन्ति सतां कलिर्विन्दते तत्र राज्ञः।
यदा राजा शास्ति नरानशिष्टांस्तदा राज्यं वर्धते भूमिपस्य॥28॥
यश्चामात्यान् मानयित्वा यथार्थं मन्त्रे च युद्धे च नृपो नियुञ्ज्यात्।
विवर्धते तस्य राष्ट्रं नृपस्य भुङ्क्ते महीं चाप्यखिलां चिराय॥29॥
यच्चापि सुकृतं कर्म वाचं चैव सुभाषिताम्।
समीक्ष्य पूजयन् राजा धर्मं प्राप्नोत्यनुत्तमम्॥30॥

यदि पाप का फल अपने को नहीं मिला तो वह पुत्रों तथा नाती पोतों को अवश्य मिलता है। जैसे पृथ्वी में बोया हुआ बीज तुरन्त फल नहीं देता, उसी प्रकार किया हुआ पाप भी तत्काल फल नहीं देता (समय आने पर ही उसका फल मिलता है)॥21॥ सताया जाने वाला दुर्बल मनुष्य जहाँ अपने लिए कोई रक्षक नहीं पाता है, वहाँ सताने वाले पापी को दैव की ओर से भयङ्कर दण्ड प्राप्त होता है॥22॥ जब बाहर गाँवों के लोग एक समूह बनाकर भिक्षुक रूप से ब्राह्मणों के समान भिक्षा माँगने लगते हैं, तब वैसे लोग एक दिन राजा का विनाश कर डालते हैं॥23॥ जब राजा के बहुत-से कर्मचारी देश में अन्याय पूर्ण बर्ताव करने लगते हैं, तब वह महान् पाप राजा को ही लगता है॥24॥ यदि कोई राजा या राजकीय कर्मचारी दीनतापूर्ण याचना करती हुई प्रजाओं की उस प्रार्थना को ठुकराकर स्वेच्छा से अथवा धन के लोभवश कोई-न-कोई युक्ति करके उनके धन का अपहरण कर ले तो वह राजा के महान् विनाश का सूचक है॥25॥ जब कोई महान् वृक्ष पैदा होता और क्रमशः बढ़ता है, तब बहुत-से प्राणी (पक्षी) आकर उस पर बसेरे लेते हैं और जब उस वृक्ष को काटा या जला दिया जाता है, तब उस पर रहने वाले सभी जीव निराश्रय हो जाते हैं॥26॥ जब राज्य में रहने वाले लोग राजा के गुणों का बखान करते हुए वैदिक संस्कारों के साथ उत्तम धर्म का आचरण करते हैं, उस समय राजा पापमुक्त हो जाता है तथा जब वे ही लोग धर्म के विषय में मोहित हो जाने के कारण अधर्माचरण करने लगते हैं, उस समय राजा शीघ्र ही पुण्य से हीन हो जाता है॥27॥ जहाँ पापी मनुष्य प्रकट रूप से निर्भय विचरते हैं, वहाँ सत्पुरुषों की दृष्टि में समझा जाता है कि राजा को कलियुग ने घेर लिया है; किन्तु जब राजा दुष्ट मनुष्यों को दण्ड देता है, तब उसका राज्य सब ओर से उन्नत होने लगता है॥28॥ जो राजा अपने मन्त्रियों का यथार्थ रूप से सम्मान करके उन्हें मन्त्रणा अथवा युद्ध के काम में नियुक्त करता है, उसका राजय दिनोंदिन बढ़ता है, और वह चिरकाल तक समूची पृथ्वी का सुख भोगता है॥29॥ जो राजा अपने कर्मचारी अथवा प्रजा का पुण्यकर्म देखकर तथा उनकी सुन्दर वाणी सुनकर उन सबका यथायोग्य सम्मान करता है, वह परम उत्तम धर्म को प्राप्त कर लेता है॥30॥

संविभज्य यदा भुङ्क्ते नामात्यानवमन्यते।
निहन्ति बलिनं दृप्तं स राज्ञो धर्म उच्यते॥31॥
त्रायते हि यदा सर्वं वाचा कायेन कर्मणा।
पुत्रस्यापि न मृष्येच्च स राज्ञो धर्म उच्यते॥32॥

संविभज्य यदा भुङ्क्ते नृपतिर्दुर्बलान् नरान्।
तदा भवन्ति बलिनः स राज्ञो धर्म उच्यते॥33।।
यदा रक्षति राष्ट्राणि यदा दस्यूनपोहति।
यदा जयति सङ्ग्रामे स राज्ञो धर्म उच्यते॥34।।
पापमाचरतो यत्र कर्मणा व्याहृतेन वा।
प्रियस्यापि न मृष्येत स राज्ञो धर्म उच्यते॥35।।
यदा शारणिकान् राजा पुत्रवत् परिरक्षति।
भिनत्ति च न मर्यादां स राज्ञो धर्म उच्यते॥36।।
यदाऽऽप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्यजते श्रद्धयान्वितः।
कामद्वेषावनादृत्य स राज्ञो धर्म उच्यते॥37।।
कृपणानाथवृद्धानां यदाश्रु परिमार्जति।
हर्षं सञ्जनयन् नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते॥38।।
विवर्धयति मित्राणि तथारींश्चपि कर्षति।
सम्पूजयति साधूंश्च स राज्ञो धर्म उच्यते॥39।।
सत्यं पालयति प्रीत्या नित्यं भूमिं प्रयच्छति।
पूजयेदतिथीन् भृत्यान् स राज्ञो धर्म उच्यते॥40।।

राजा जब सबको यथायोग्य विभाग देकर स्वयं उपभोग करता है, मन्त्रियों का अनादर नहीं करता है और बल के घमण्ड में चूर रहने वाले दुष्ट पुरुष या शत्रु को मार डालता है, तब उसका यह सब कार्य राजधर्म कहलाता है।।31।। जब वह मन, वाणी और शरीर के द्वारा सबकी रक्षा करता है और पुत्र के भी अपराध को क्षमा नहीं करता, तब उसका वह बर्ताव भी 'राजा का धर्म' कहा जाता है।।32।। जब राजा दुर्बल मनुष्यों को यथावश्यक वस्तुएँ देकर पीछे स्वयं भोजन करता है, तब वे दुर्बल मनुष्य बलवान् हो जाते हैं। वह त्याग राजा का धर्म कहा गया है।।33।। जब राजा समूचे राष्ट्र की रक्षा करता है, डाकू और लुटेरों को मार भगाता है तथा संग्राम में विजयी होता है, तब वह सब राजा का धर्म कहा जाता है।।34।। प्रिय से प्रिय व्यक्ति भी यदि क्रिया अथवा वाणी द्वारा पाप करे तो राजा को चाहिये कि उसे भी क्षमा न करे अर्थात् उसे भी यथायोग्य दण्ड दे। जो ऐसा बर्ताव है, वह राजा का धर्म कहलाता है।।35।। जब राजा व्यापारियों की पुत्र के समान रक्षा करता है और धर्म की मर्यादा को भङ्ग नहीं करता, तब वह भी राजा का धर्म कहलाता है।।36।। जब वह राग और द्वेष का अनादर करके पर्याप्त दक्षिणा वाले यज्ञों द्वारा श्रद्धापूर्वक यजन करता है, तब वह राजा का धर्म कहा जाता है।।37।। जब वह दीन, अनाथ और वृद्धों के आँसू पोंछता है और इस बर्ताव द्वारा सब लोगों के हृदय में हर्ष उत्पन्न करता है, तब उसका वह सद्भाव राजा का धर्म कहलाता है।।38।। वह जो मित्रों की वृद्धि, शत्रुओं का नाश और साधु पुरुषों का समादर करता है, उसे राजा का धर्म कहते हैं।।39।। राजा जो प्रेमपूर्वक सत्य का पालन करता है, प्रतिदिन भूदान देता है और अतिथियों तथा भरण-पोषण के योग्य व्यक्तियों का सत्कार करता है, वह राजा का धर्म कहलाता है।।40।।

निग्रहानुग्रहौ चोभौ यत्र स्यातां प्रतिष्ठितौ।
अस्मिन् लोके परे चैव राजा स प्राप्नुते फलम्॥41।।
यमो राजा धार्मिकाणां मान्धातः परमेश्वरः।
संयच्छन् भवति प्राणानसंयच्छंस्तु पातुकः॥42।।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान् सत्कृत्यानवमन्य च।
यदा सम्यक् प्रगृह्णाति स राज्ञो धर्म उच्यते॥43।।
यमो यच्छति भूतानि सर्वाण्येवाविशेषतः।
तथा राज्ञानुकर्तव्यं यन्तव्या विधिवत् प्रजाः॥44।।
सहस्राक्षेण राजा हि सर्वथैर्वोपमीयते।
स पश्यति च यं धर्मं स धर्मः पुरुषर्षभ॥45।।
अप्रमादेन शिक्षेथाः क्षमां बुद्धिं धृतिं मतिम्।
भूतानां चैव जिज्ञासा साध्वसाधु च सर्वदा॥46।।
सङ्ग्रहः सर्वभूतानां दानं च मधुरं वचः।
पौरजानपदाश्चैव गोप्तव्यास्ते यथासुखम्॥47।।
न जात्वदक्षो नृपतिः प्रजाः शक्नोति रक्षितुम्।
भारो हि सुमहांस्तात राज्यं नाम सुदुष्करम्॥48।।
तद्दण्डवित्नृपः प्राज्ञः शूरः शक्नोति रक्षितुम्।
न हि शक्यमदण्डेन क्लीबेनावुद्धिनापि वा॥49।।
अभिरूपैः कुले जातैर्दक्षैर्भक्तैर्बहुश्रुतैः।
सर्वा बुद्धीः परीक्षेथास्तापसाश्रमिणामपि॥50।।

जिसमें निग्रह[1] और अनुग्रह[2] दोनों प्रतिष्ठित हों, वह राजा इहलोक और पर लोक में मनोवाञ्छित फल पाता है।।41।। मान्धाता! राजा दुष्टों को दण्ड देने के कारण यम तथा धर्मिकों पर अनुग्रह करने के कारण उनके लिए परमेश्वर के समान है। जब वह अपनी इन्द्रियों को संयम में रखता है, तब शासन में समर्थ होता है और जब संयम में नहीं रखता, तब मर्यादा से नीचे गिर जाता है।।42।। जब राजा ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्य का बिना अवहेलना के सत्कार करके उनको उचित बर्ताव के साथ अपनाता है, तब वह राजा का धर्म कहलाता है।।43।। जैसे यमराज सभी प्राणियों पर समान रूप से शासन करते हैं, उसी प्रकार राजा को भी बिना किसी भेद-भाव के समस्त प्रजाओं पर विधिपूर्वक नियन्त्रण रखना चाहिये।।44।। पुरुषप्रवर! राजा की उपमा सब प्रकार से हजार नेत्रों वाले इन्द्र से दी जाती है; अतः राजा जिस धर्म को भलीभाँति समझ कर निश्चित कर देता है वही श्रेष्ठ धर्म माना गया है।।45।। राजन्! तुम सावधान होकर क्षमा, विवेक, धृति और बुद्धि की शिक्षा ग्रहण करो। समस्त प्राणियों की शक्ति तथा भलाई बुराई भी सदा जानने की इच्छा करो।।46।। समस्त प्राणियों को अपने अनुकूल बनाये

1. दुष्टों को दण्ड देने का स्वभाव।
2. दीन दुखियों तथा साधु पुरुषों के प्रति दया एवं सहानुभूति।

रखना, दान देना और मीठे वचन बोलना सीखो। नगर और बाहर गाँव वाले लोगों की तुम्हें इस प्रकार रक्षा करनी चाहिये, जिससे उन्हें सुख मिले।।47।। तात! जो दक्ष नहीं है, वह राजा कभी प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता; क्योंकि वह राज्य का सञ्चालन अत्यन्त दुष्कर कार्य बहुत बड़ा भार है।।48।। राज्य की रक्षा तो वही राजा कर सकता है, जो बुद्धिमान् और शूरवीर होने के साथ ही दण्ड देने की नीति को जानता हो। जो दण्ड देने से हिचकता है, वह नपुंसक और बुद्धिहीन नरेश कदापि राज्य की रक्षा नहीं कर सकता।।49।। तुम्हें रूपवान्, कुलीन, कार्यदक्ष, राजभक्त एवं बहुश मन्त्रियों के साथ रहकर तापसों और आश्रमवासियों की भी सम्पूर्ण बुद्धियों (सारे विचारों) की परीक्षा करनी चाहिए।।50।।

अतस्त्वं सर्वभूतानां धर्मं वेत्स्यसि वै परम्।
स्वदेशे परदेशे वा न ते धर्मो विनङ्क्ष्यति॥51।।
तस्मादर्थाच्च कामाच्च धर्म एवोत्तरो भवेत्।
अस्मिँल्लोके परे चैव धर्मात्मा सुखमेधते॥52।।
त्यजन्ति दारान् पुत्रांश्च मनुष्याः परिपूजिताः।
सङ्ग्रहश्चैव भूतानां दानं च मधुरा च वाक्॥53।।
अप्रमादश्च शौचं च राज्ञो भूतिकरं महत्।
एतेभ्यश्चैव मान्धातः सततं मा प्रमादिथाः॥54।।
अप्रमत्तो भवेद् राजा छिद्रदर्शी परात्मनोः।
नास्य च्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेषु परमन्वियात्॥55।।
एतद् वृत्तं वासवस्य यमस्य वरुणस्य च।
राजर्षीणां च सर्वेषां तत्त्वमप्यनुपालय॥56।।
तत् कुरुष्व महाराज वृत्तं राजर्षिसेवितम्।
आतिष्ठ दिव्यं पन्थानमह्वाय पुरुषर्षभ॥57।।
धर्मवृत्तं हि राजानं प्रेत्य चेह च भारत।
देवर्षिपितृगन्धर्वाः कीर्तयन्ति महौजसः॥58।।

ऐसा करने से तुमको सम्पूर्ण भूतों के परम धर्म का ज्ञान हो जाएगा; फिर स्वदेश में रहो या परदेश में, कहीं भी तुम्हारा धर्म नष्ट नहीं होगा।।51।। इस तरह विचार करने से अर्थ और काम की अपेक्षा धर्म ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। धर्मात्मा पुरुष इहलोक में और परलोक में भी सुख भोगता है।।52।। यदि मनुष्यों का सम्मान किया जाए तो वे सम्मान दाता के हित के लिए अपने पुत्रों और स्त्रियों को भी छोड़ देते हैं। समस्त प्राणियों को अपने पक्ष में मिलाये रखना, दान देना, मीठे वचन बोलना, प्रमाद का त्याग करना तथा बाहर और भीतर से पवित्र रहना—ये राजा का ऐश्वर्य बढ़ाने वाले बहुत बड़े साधन हैं। मान्धाता! तुम इन सब बातों की ओर से कभी प्रमाद न करना।।53-54।। राजा को सदा सावधान रहना चाहिए। वह शत्रु का तथा अपना भी छिद्र देखे और प्रयत्न करे कि शत्रु मेरा छिद्र अच्छी तरह न देखने पाये; परन्तु यदि शत्रु के छिद्रों (दुर्बलताओं) का पता लग जाए तो वह उस

पर चढ़ाई कर दे।।55।। इन्द्र, यम, वरुण तथा सम्पूर्ण राजर्षियों का यही बर्ताव है, तुम भी इसका निरन्तर पालन करो।।56।। पुरुषप्रवर महाराज! राजर्षियों द्वारा सेवित उस आचार का तुम पालन करो और शीघ्र ही प्रकाशयुक्त दिव्य मार्ग का आश्रय लो।।57।। भारत![1] महातेजस्वी देवता, ऋषि, पितर और गन्धर्व इहलोक और परलोक में भी धर्मपरायण राजा के यश का गान करते रहते हैं।।58।।

भीष्म उवाच

स एवमुक्तो मान्धाता तेनोतथ्येन भारत।
कृतवानविशङ्कश्च एकः प्राप च मेदिनीम्॥59।।
भवानपि तथा सम्यङ्मान्धातेव महीपते।
धर्मं कृत्वा महीं रक्ष स्वर्गे स्थानमवाप्स्यसि॥60।।

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन! उतथ्य के इस प्रकार उपदेश देने पर मान्धाता ने निशङ्क होकर उनकी आज्ञा का पालन किया और सारी पृथ्वी का एकछत्र राज्य पा लिया।।59।। पृथ्वीनाथ! मान्धाता की भाँति तुम भी अच्छी तरह धर्म का पालन करते हुए इस पृथ्वी की रक्षा करो; फिर तुम भी स्वर्गलोक में स्थान प्राप्त कर लोगे।।60।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि उतथ्यगीतासु एकनवतितमोऽध्यायः॥ 91 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्ग राजधर्मानुशासन पर्व में उतथ्य विषयक इक्यानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ।।91।।

उतथ्यगीता सम्पूर्णा

1. उतथ्य ने राजा को मान्धाता को उपदेश दिया है और मान्धाता सूर्यवंशी नरेश थे, इसलिए उनके उद्देश्य से 'भारत' सम्बोधन पद यद्यपि उचित नहीं है तथापि यह प्रसङ्ग भीष्मजी युधिष्ठिर को सुनाते हैं; अतः यह समझना चाहिए कि युधिष्ठिर के उद्देश्य से उन्होंने यहाँ 'भारत' विशेषण का प्रयोग किया है।

वामदेवगीता

प्रथमोऽध्यायः

राजा के धर्मपूर्वक आचार के विषय में वामदेवजी का वसुमना को उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

कथं धर्मे स्थातुमिच्छन् राजा वर्तेत धार्मिकः।
पृच्छामि त्वां कुरुश्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह॥1॥

युधिष्ठिर ने पूछा—कुरुश्रेष्ठ पितामह! धर्मात्मा राजा यदि धर्म में स्थित रहना चाहे तो उसे किस प्रकार बर्ताव करना चाहिये? यह मैं आपसे पूछता हूँ; आप मुझे बताइये॥1॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं दृष्टार्थतत्त्वेन वामदेवेन धीमता॥2॥
राजा वसुमना नाम ज्ञानवान् धृतिमाञ्शुचिः।
महर्षिं परिपप्रच्छ वामदेवं तपस्विनम्॥3॥
धर्मार्थसहितैर्वाक्यैर्भगवन्ननुशाधि माम्।
येन वृत्तेन वै तिष्ठन् न हीयेयं स्वधर्मतः॥4॥
तमब्रवीद्वामदेवस्तेजस्वी तपतां वरः।
हेमवर्णं सुखासीनं ययातिमिव नाहुषम्॥5॥

भीष्मजी ने कहा—राजन्! इस विषय में लोग तत्त्वज्ञानी महात्मा वामदेवजी द्वारा दिये हुए गीतोपदेश रूप एक प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं॥2॥ वसुमना नाम एक प्रसिद्ध राजा हो गये हैं, जो ज्ञानवान्, धैर्यवान् और पवित्र आचार-विचार वाले थे। उन्होंने एक दिन तपस्वी महर्षि वामदेवजी से पूछा—॥3॥ 'भगवन्! मैं किस बर्ताव का पालन करता रहूँ, जिससे अपने धर्म से कभी न गिरूँ। आप अपने अर्थ और धर्मयुक्त वचनों द्वारा मुझे इसी बात का उपदेश दीजिये'॥4॥ तब तपस्वी पुरुषों में श्रेष्ठ तेजस्वी महर्षि वामदेव ने नहुष पुत्र ययाति के समान सुखपूर्वक बैठे हुए सुवर्ण की-सी कान्ति वाले राजा वसुमना से कहा॥5॥

वामदेव उवाच

धर्ममेवानुवर्तस्व न धर्माद् विद्यते परम्।
धर्मे स्थिता हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम्॥6॥

अर्थसिद्धेः परं धर्मं मन्यते यो महीपतिः।
वृद्ध्यां च कुरुते बुद्धिं स धर्मेण विराजते॥7॥
अधर्मदर्शी यो राजा बलादेव प्रवर्तते।
क्षिप्रमेवापयातोऽस्मादुभौ प्रथममध्यमौ॥8॥
असत्पापिष्ठसचिवो वध्यो लोकस्य धर्महा।
सहैव परिवारेण क्षिप्रमेवावसीदति॥9॥
अर्थानामननुष्ठाता कामचारी विकत्थनः।
अपि सर्वां महीं लब्ध्वा क्षिप्रमेव विनश्यति॥10॥

वामदेवजी बोले—राजन्! तुम धर्म का ही अनुसरण करो। धर्म से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है; क्योंकि धर्म में स्थित रहने वाले राजा इस सारी पृथ्वी को जीत लेते हैं॥6॥ जो भूपाल धर्म को अर्थ सिद्धि की अपेक्षा भी बड़ा मानता है और उसी को बढ़ाने में अपने मन और बुद्धि का उपयोग करता है, वह धर्म के कारण बड़ी शोभा पाता है॥7॥ इसके विपरीत जो राजा अधर्म पर ही दृष्टि रखकर बलपूर्वक उसमें प्रवृत्त होता है, उसे धर्म और अर्थ दोनों पुरुषार्थ शीघ्र छोड़कर चल देते हैं॥8॥ जो दुष्ट एवं पापिष्ठ मन्त्रियों की सहायता से धर्म को हानि पहुँचाता है, वह सब लोगों का वध्य हो जाता है और अपने परिवार के साथ ही शीघ्र सङ्कट में पड़ जाता है॥9॥ जो राजा अर्थ सिद्धि की चेष्टा नहीं करता और स्वेच्छाचारी हो बढ़ बढ़ कर बातें बनाता है, वह सारी पृथ्वी का राज्य पाकर भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है॥10॥

अथाददानः कल्याणमनसूयुर्जितेन्द्रियः।
वर्धते मतिमान् राजा स्रोतोभिरिव सागरः॥11॥
न पूर्णोऽस्मीति मन्येत धर्मतः कामतोऽर्थतः।
बुद्धितो मित्रतश्चापि सततं वसुधाधिपः॥12॥
एतेष्वेव हि सर्वेषु लोकयात्रा प्रतिष्ठिता।
एतानि शृण्वँल्लभते यशः कीर्तिं श्रियं प्रजाः॥13॥
एवं यो धर्मसंरम्भी धर्मार्थपरिचिन्तकः।
अर्थान् समीक्ष्य भजते स ध्रुवं महदश्नुते॥14॥
अदाता ह्यनतिस्नेहो दण्डेनावर्तयन् प्रजाः।
साहसप्रकृती राजा क्षिप्रमेव विनश्यति॥15॥
अथ पापकृतं बुद्ध्या न च पश्यत्यबुद्धिमान्।
अकीर्त्याभिसमायुक्तो भूयो नरकमश्नुते॥16॥
अथ मानयितुर्दाम्नः श्लक्ष्णस्य वशवर्तिनः।
व्यसनं स्वमिवोत्पन्नं विजिघांसन्ति मानवाः॥17॥
यस्य नास्ति गुरुर्धर्मे न चान्यानपि पृच्छति।
सुखतन्त्रोऽर्थलाभेषु न चिरं सुखमश्नुते॥18॥

गुरुप्रधानो धर्मेषु स्वयमर्थानवेक्षिता।
धर्मप्रधानो लाभेषु स चिरं सुखमश्नुते॥19।।

परन्तु जो कल्याणकारी गुणों को ग्रहण करने वाला, अनिन्दक, जितेन्द्रिय और बुद्धिमान् होता है, वह राजा उसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त होता है, जैसे नदियों के प्रवाह से समुद्र।।11।। राजा को चाहिए कि वह सदा धर्म, अर्थ, काम, बुद्धि और मित्रों से सम्पन्न होने पर भी कभी अपने को पूर्ण न माने—सदा उन सबके संग्रह को बढ़ाने की ही चेष्टा करे।।12।। राजा की जीवन यात्रा इन्हीं सबों पर अवलम्बित है। इन सबको सुनने और ग्रहण करने से राजा को यश, कीर्ति, लक्ष्मी और प्रजा की प्राप्ति होती है।।13।। जो इस प्रकार धर्म के प्रति आग्रह रखने वाला एवं धर्म और अर्थ का चिन्तन करने वाला है तथा अर्थ पर भलीभाँति विचार करके उसका सेवन करता है, वह निश्चय ही महान् फल का भागी होता है।।14।। जो दुःसाहसी, दान न देने वाला और स्नेहशून्य तथा दण्ड के द्वारा प्रजा को बार-बार सताता है, वह राजा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।।15।। जो बुद्धिहीन राजा पाप करके भी अपनी बुद्धि के द्वारा अपने को पापी नहीं समझता, वह इस लोक में अपकीर्ति से कलङ्कित हो परलोक में नरक का भागी होता है।।16।। जो सबका मान करने वाला, दानी, स्नेहयुक्त तथा दूसरों के वशवर्ती होकर रहता है, उस पर यदि कोई सङ्कट आ जाए तो सब लोग उसे अपना ही सङ्कट मानकर उसको मिटाने की चेष्टा करते हैं।।17।। जिसको धर्म के विषय में शिक्षा देने वाला कोई गुरु नहीं है और दूसरों से भी कुछ नहीं पूछता है तथा धन मिल जाने पर सुखभोग में आसक्त हो जाता है, वह दीर्घ काल तक सुख नहीं भोग पाता है।।18।। जो धर्म के विषय में गुरु को प्रधान मानकर उनके उपदेश के अनुसार चलता है, जो स्वयं ही अर्थ सम्बन्धी सारे कार्यों को देखता है तथा सब प्रकार के लाभों में धर्म को ही प्रधान लाभ समझता है, वह चिरकाल तक सुख का उपभोग करता है।।19।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु द्विनवतितमोऽध्यायः॥ 92 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में वामदेवजी की गीता विषयक बानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ।।92।।

द्वितीयोऽध्यायः

वामदेवजी के द्वारा राजोचित बर्ताव का वर्णन

वामदेव उवाच

यत्राधर्मं प्रणयते दुर्बले बलवत्तरः।
तां वृत्तिमुपजीवन्ति ये भवन्ति तदन्वयाः॥1।।
राजानमनुवर्तन्ते तं पापाभिप्रवर्तकम्।
अविनीतमनुष्यं तत् क्षिप्रं राष्ट्रं विनश्यति॥2।।

यद् वृत्तमुपजीवन्ति प्रकृतिस्थस्य मानवाः।
तदेव विषमस्थस्य स्वजनोऽपि न मृष्यते॥3।।
साहसप्रकृतिर्यत्र किञ्चिदुल्बणमाचरेत्।
अशास्त्रलक्षणो राजा क्षिप्रमेव विनश्यति॥4।।
योऽत्यन्ताचरितां वृत्तिं क्षत्रियो नानुवर्तते।
जितानामजितानां च क्षत्रधर्मादपैति सः॥5।।
द्विषन्तं कृतकल्याणं गृहीत्वा नृपतिं रणे।
यो न मानयते द्वेषात् क्षत्रधर्मादपैति सः॥6।।
शक्तः स्यात् सुसुखो राजा कुर्यात्करणमापदि।
प्रियो भवति भूतानां न च विभ्रश्यते श्रियः॥7।।
अप्रियं यस्य कुर्वीत भूयस्तस्य प्रियं चरेत्।
न चिरेण प्रियः स स्याद् योऽप्रियः प्रियमाचरेत्॥8।।
मृषावादं परिहरेत् कुर्यात् प्रियमयाचितः।
न कामान्न च संरम्भान्न द्वेषाद् धर्ममुत्सृजेत्॥9।।
(अमाययैव वर्तेत न च सत्यं त्यजेद् बुधः।
दमं धर्मं च शीलं च क्षत्रधर्मं प्रजाहितम्॥)
नापत्रपेत प्रश्नेषु नाविभाव्यां गिरं सृजेत्।
न त्वरेत न चासूयेत् तथा सङ्गृह्यते परः॥10।।

वामदेवजी कहते हैं—राजन्! जिस राज्य में अत्यन्त बलवान् राजा दुर्बल प्रजा पर अधर्म या अत्याचार करने लगता है, वहाँ उसके अनुचर भी उस बर्ताव को अपनी जीविका का साधन बना लेते हैं।।1।। वे उस पापप्रवर्तक राजा का ही अनुसरण करते हैं; अतः उद्दण्ड मनुष्यों से भरा हुआ वह राष्ट्र शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।।2।। अच्छी अवस्था में रहने पर मनुष्य के जिस बर्ताव का दूसरे लोग भी आश्रय लेते हैं, सङ्कट में पड़ जाने पर उसी मनुष्य के उसी बर्ताव को उसके स्वजन भी नहीं सहन करते हैं।।3।। दुःसाहसी प्रकृति वाला जो राजा जहाँ कुछ उद्दण्डतापूर्ण बर्ताव करता है, वहाँ शास्त्रोक्त मर्यादा का उल्लङ्घन करने वाला वह राजा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।।4।। जो क्षत्रिय राज्य में रहने वाले विजित या अविजित मनुष्यों की अत्यन्त आचरण में लायी हुई वृत्ति का अनुवर्तन नहीं करता (अर्थात् उन लोगों को अपने परम्परागत आचार-विचार का पालन नहीं करने देता) वह क्षत्रिय धर्म से गिर जाता है।।5।। यदि कोई राजा पहले का उपकारी हो और किसी कारणवश वर्तमान काल में द्वेष करने लगा हो तो उस समय जो भूपाल उसे युद्ध में बन्दी बनाकर द्वेषवश उसका सम्मान नहीं करता, वह भी क्षत्रिय धर्म से गिर जाता है।।6।। राजा यदि समर्थ हो तो उत्तम सुख का अनुभव करे और करावे तथा आपत्ति में पड़ जाए तो उसके निवारण का प्रयत्न करे। ऐसा करने से वह सब प्राणियों का प्रिय होता है और कभी राजलक्ष्मी से भ्रष्ट नहीं होता।।7।। राजा को चाहिए कि यदि किसी का अप्रिय किया हो तो फिर उसका प्रिय भी करे। इस प्रकार यदि अप्रिय पुरुष भी प्रिय करने लगता है तो थोड़े ही समय में वह प्रिय हो जाता है।।8।। मिथ्या

भाषण करना छोड़ दे, बिना याचना या प्रार्थना किए ही दूसरों का प्रिय करे। किसी कामना से, क्रोध से तथा द्वेष से भी धर्म का त्याग न करे।।9।। विद्वान् राजा छल-कपट छोड़कर ही बर्ताव करे। सत्य को कभी न छोड़े। इन्द्रिय संयम, धर्माचरण, सुशीलता, क्षत्रिय धर्म तथा प्रजा के हित का कभी परित्याग न करे। यदि कोई कुछ पूछे तो उसका उत्तर देने में सङ्कोच न करे, बिना विचारे कोई बात मुँह से न निकाले, किसी काम में जल्दबाजी न करे और किसी की निन्दा न करे, ऐसा बर्ताव करने से शत्रु भी अपने वश में हो जाता है।।10।।

प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च सञ्ज्वरेत्।
न तप्येदर्थकृच्छ्रेषु प्रजाहितमनुस्मरन्॥11।।
यः प्रियं कुरुते नित्यं गुणतो वसुधाधिपः।
तस्य कर्माणि सिद्ध्यन्ति न च सन्त्यज्यते श्रिया॥12।।
निवृत्तं प्रतिकूलेषु वर्तमानमनुप्रिये।
भक्तं भजेत नृपतिः सदैव सुसमाहितः॥13।।
अप्रकीर्णेन्द्रियग्राममत्यन्तानुगतं शुचिम्।
शक्तं चैवानुरक्तं च युञ्ज्यान्महति कर्मणि॥14।।
एवमेतैर्गुणैर्युक्तो योऽनुरज्यति भूमिपम्।
भर्तुरर्थेष्वप्रमत्तं नियुज्यादर्थकर्मणि॥15।।
मूढमैन्द्रियकं लुब्धमनार्यचरितं शठम्।
अनतीतोपधं हिंस्रं दुर्बुद्धिमबहुश्रुतम्॥16।।
त्यक्तोदात्तं मद्यरतं द्यूतस्त्रीमृगयापरम्।
कार्ये महति युञ्जानो हीयते नृपतिः श्रिया॥17।।
रक्षितात्मा च यो राजा रक्ष्यान् यश्चानुरक्षति।
प्रजाश्च तस्य वर्धन्ते ध्रुवं च महदश्नुते॥18।।
ये केचिद् भूमिपतयः सर्वांस्तानन्ववेक्षयेत्।
सुहृद्भिरनभिख्यातैस्तेन राजातिरिच्यते॥19।।
अपकृत्य बलस्थस्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत्।
श्येनाभिपतनैरेते निपतन्ति प्रमाद्यतः॥20।।

यदि अपना प्रिय हो जाए तो बहुत प्रसन्न न हो और अप्रिय हो जाए तो अत्यन्त चिन्ता न करे। यदि आर्थिक सङ्कट आ पड़े तो प्रजा के हित का चिन्तन करते हुए तनिक भी संतप्त न हो।।11।। जो भूपाल अपने गुणों से सदा सबका प्रिय करता है, उसके सभी कर्म सफल होते हैं और सम्पत्ति कभी उसका साथ नहीं छोड़ती।।12।। राजा सदा सावधान रहकर अपने उस सेवक को हर तरह से अपनावे, जो प्रतिकूल कार्यों से अलग रहता हो और राजा का निरन्तर प्रिय करने में ही संलग्न हो।।13।। जो बड़े-बड़े काम हों, उन पर जितेन्द्रिय, अत्यन्त अनुगत, पवित्र आचार-विचार वाले, शक्तिशाली और अनुरक्त पुरुष को नियुक्त करे।।14।। इसी प्रकार जिसमें वे सब गुण मौजूद हों, जो राजा

को प्रसन्न भी रख सकता हो तथा स्वामी का कार्य सिद्ध करने के लिए सतत सावधान रहता हो, उसको धन की व्यवस्था के कार्य में लगावे।।15।। मूर्ख, इन्द्रियलोलुप, लोभी, दुराचारी, शठ, कपटी, हिंसक, दुर्बुद्धि, अनेक शास्त्रों के ज्ञान से शून्य, उच्च भावना से रहित, शराबी, जुआरी, स्त्रीलम्पट और मृगयासक्त पुरुष को जो राजा महत्त्वपूर्ण कार्यों पर नियुक्त करता है, वह लक्ष्मी से हीन हो जाता है।।16-17।। जो नरेश अपने शरीर की रक्षा न करके रक्षणीय पुरुषों की भी सदा रक्षा करता है, उसकी प्रजा अभ्युदयशील होती है और वह राजा भी निश्चय ही महान् फल का भागी होता है।।18।। जो राजा अपने अप्रसिद्ध सुहृदों के द्वारा गुप्त रूप से समस्त भूपतियों की अवस्था का निरीक्षण कराता है, वह अपने इस बर्ताव के द्वारा सर्वश्रेष्ठ हो जाता है।।19।। किसी बलवान् शत्रु का अपकार करके हम दूर जाकर रहेंगे, ऐसा समझ कर निश्चिन्त नहीं होना चाहिये; क्योंकि जैसे बाज पक्षी झपट्टा मारता है, उसी प्रकार ये दूरस्थ शत्रु भी असावधानी की अवस्था में टूट पड़ते हैं।।20।।

दृढमूलस्त्वदुष्टात्मा विदित्वा बलमात्मनः।
अबलानभियुञ्जीत न तु ये बलवत्तराः॥21।।
विक्रमेण महीं लब्ध्वा प्रजा धर्मेण पालयेत्।
आहवे निधनं कुर्याद् राजा धर्मपरायणः॥22।।
मरणान्तमिदं सर्वं नेह किञ्चिदनामयम्।
तस्माद् धर्मे स्थितो राजा प्रजा धर्मेण पालयेत्॥23।।
रक्षाधिकरणं युद्धं तथा धर्मानुशासनम्।
मन्त्रचिन्ता सुखं काले पञ्चभिर्वर्धते मही॥24।।
एतानि यस्य गुप्तानि स राजा राजसत्तमः।
सततं वर्तमानोऽत्र राजा धत्ते महीमिमाम्॥25।।
नैतान्येकेन शक्यानि सातत्येनानुवीक्षितुम्।
तेषु सर्वं प्रतिष्ठाप्य राजा भुङ्क्ते चिरं महीम्॥26।।
दातारं संविभक्तारं मार्दवोपगतं शुचिम्।
असन्त्यक्तमनुष्यं च तं जनाः कुर्वते नृपम्॥27।।
यस्तु निःश्रेयसं श्रुत्वा ज्ञानं तत् प्रतिपद्यते।
आत्मनो मतमुत्सृज्य तं लोकोऽनुविधीयते॥28।।
योऽर्थकामस्य वचनं प्रातिकूल्यान्न मृष्यते।
शृणोति प्रतिकूलानि सर्वदा विमना इव॥29।।
अग्राम्यचरितां वृत्तिं यो न सेवेत नित्यदा।
जितानामजितानां च क्षत्रधर्मादपैति सः॥30।।

राजा अपने को दृढ़ मूल (अपनी राजधानी को सुरक्षित) करके विरोधी लोगों को दूर रखकर अपनी शक्ति को समझ ले; फिर अपने से दुर्बल शत्रु पर आक्रमण करे। जो अपने से प्रबल हों, उन पर आक्रमण न करे।।21।। पराक्रम से इस पृथ्वी को प्राप्त करके

धर्मपरायण राजा अपनी प्रजा का धर्मपूर्वक पालन करे तथा युद्ध में शत्रुओं का संहार कर डाले।।22।। राजन्! इस जगत् के सभी पदार्थ अन्त में नष्ट होने वाले हैं; यहाँ कोई भी वस्तु नीरोग या अविनाशी नहीं है। इसलिए राज को धर्म पर स्थित रहकर प्रजा का धर्म के अनुसार ही पालन करना चाहिए।।23।। रक्षा के स्थान दुर्ग आदि, युद्ध, धर्म के अनुसार राज्य का शासन, मन्त्र चिन्तन तथा यथासमय सबको सुख प्रदान करना—इन पाँचों के द्वारा राज्य की वृद्धि होती है।।24।। जिसकी ये सब बातें गुप्त या सुरक्षित रहती हैं, वह राजा समस्त राजाओं में श्रेष्ठ माना जाता है। इनके पालन में सदा संलग्न रहने वाला नरेश ही इस पृथ्वी की रक्षा कर सकता है।।25।। एक ही पुरुष इन सभी बातों पर सदा ध्यान नहीं रख सकता, इसलिए इन सबका भार सुयोग्य अधिकारियों को सौंपकर राजा चिरकाल तक इस भूतल का राज्य भोग कर सकता है।।26।। जो पुरुष दानशील, सबके लिए सम्यक् विभागपूर्वक आवश्यक वस्तुओं का वितरण करने वाला, मृदुल स्वभाव, शुद्ध आचार-विचार वाला तथा मनुष्यों का त्याग न करने वाला होता है, उसी को लोग राजा बनाते हैं।।27।। जो कल्याणकारी उपदेश सुनकर अपने मत का आग्रह छोड़ उस ज्ञान को ग्रहण कर लेता है, उसके पीछे यह सारा जगत् चलता है।।28।। जो मन के प्रतिकूल होने के कारण अपने ही प्रयोजन की सिद्धि चाहने वाले सुहृद की बात नहीं सहन करता और अपनी अर्थसिद्धि के विरोधी वचनों को भी सुनता है, सदा अनमना सा रहता है, जो बुद्धिमान् शिष्ट पुरुषों द्वारा आचरण में लाए हुए बर्ताव का सदा सेवन नहीं करता एवं पराजित या अपराजित व्यक्तियों को उनके परम्परागत आचार का पालन नहीं करने देता, वह क्षत्रिय धर्म से गिर जाता है।।29-30।।

निगृहीतादमात्याच्च स्त्रीभ्यश्चैव विशेषतः।
पर्वताद् विषमाद् दुर्गाद्धस्तिनोऽश्वात् सरीसृपात्।
एतेभ्यो नित्ययुक्तः सन् रक्षेदात्मानमेव तु॥31।।
मुख्यानमात्यान् यो हित्वा निहीनान् कुरुते प्रियान्।
स वै व्यसनमासाद्य गाधमार्तो न विन्दति॥32।।
यः कल्याणगुणाञ्ज्ञातीन् प्रद्वेषान्नो बुभूषति।
अदृढात्मा दृढक्रोधः स मृत्योर्वसतेऽन्तिके॥33।।
अथ यो गुणसम्पन्नान् हृदयस्याप्रियानपि।
प्रियेण कुरुते वश्यांश्चिरं यशसि तिष्ठति॥34।।
नाकाले प्रणयेदर्थान्नाप्रिये जातु सञ्ज्वरेत्।
प्रिये नातिभृशं तुष्येद् युज्येतारोग्यकर्मणि॥35।।
के वानुरक्ता राजानः के भयात् समुपाश्रिताः।
मध्यस्थदोषाः के चैषामिति नित्यं विचिन्तयेत्॥36।।
न जातु बलवान् भूत्वा दुर्बले विश्वसेत् क्वचित्।
भारुण्डसदृशा ह्येते निपतन्ति प्रमाद्यतः॥37।।

अपि सर्वगुणैर्युक्तं भर्तारं प्रियवादिनम्।
अभिद्रुह्यति पापात्मा न तस्माद् विश्वसेज्जनात्॥38।।
एवं राजोपनिषदं ययातिः स्माह नाहुषः।
मनुष्यविषये युक्तो हन्ति शत्रूननुत्तमान्॥39।।

जिसको कभी कैद किया गया हो ऐसे मन्त्री से, विशेषत: स्त्रियों से, विषम पर्वत से, दुर्गम स्थान से तथा हाथी, घोड़े और सर्प से सदा सावधान रहकर राजा अपनी रक्षा करे।।31।। जो प्रधान मन्त्रियों का त्याग करके निम्न श्रेणी के मनुष्यों को अपना प्रिय बनाता है, वह सङ्कट के घोर समुद्र में पड़कर पीड़ित हो कहीं आश्रय नहीं पाता है।।32।। जो द्वेषवश कल्याणकारी गुणों वाले अपने सजातीय बन्धुओं एवं कुटुम्बी जनों का सम्मान नहीं करता, जिसका चित्त चञ्चल है तथा जो क्रोध को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहने वाला है, वह सदा मृत्यु के समीप निवास करता है।।33।। जो राजा हृदय को प्रिय लगने वाले न होने पर भी गुणवान् पुरुषों को प्रीतिजनक बर्ताव द्वारा अपने वश में कर लेता है, वह दीर्घकाल तक यशस्वी बना रहता है।।34।। राजा को चाहिये कि वह असमय में कर लगाकर धन संग्रह की चेष्टा न करे। कोई अप्रिय कार्य बन जाने पर अत्यन्त हर्ष से फूल न उठे और अपने शरीर को नीरोग बनाये रखने के कार्य में तत्पर रहे।।35।। इस बात का ध्यान रखे कि कौन राजा मुझसे प्रेम रखते हैं? कौन भय के कारण मेरा आश्रय लिये हुए हैं? इनमें से कौन मध्यस्थ हैं और कौन-कौन नरेश मेरे शत्रु बने हुए हैं?।।36।। राजा स्वयं बलवान् होकर भी कभी अपने दुर्बल शत्रु का विश्वास न करे; क्योंकि ये असावधानी की दशा में बाज पक्षी की तरह झपट्टा मारते हैं।।37।। जो पापात्मा मनुष्य अपने सर्वगुण सम्पन्न और सर्वदा प्रिय वचन बोलने वाले स्वामी से भी अकारण द्रोह करता है, उस पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।।38।। नहुषपुत्र राजा ययाति ने मानव मात्र के हित में तत्पर हो इस राजोपनिषद् का वर्णन किया है। जो इसमें निष्ठा रखकर इसके अनुसार चलता है, वह बड़े-बड़े शत्रुओं का विनाश कर डालता है।।39।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु त्रिनवतितमोऽध्यायः॥ 93 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में वामदेव गीता विषयक तिरानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ।।93।।

तृतीयोऽध्यायः

राजा और राज्य के लिए हितकर बर्ताव

वामदेव उवाच

अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेद् वसुधाधिपः।
जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप॥1।।

न चाप्यलब्धं लिप्सेत मूले नातिदृढे सति।
न हि दुर्बलमूलस्य राज्ञो लाभो विधीयते॥2।।
यस्य स्फीतो जनपदः सम्पन्नः प्रियराजकः।
सन्तुष्टपुष्टसचिवो दृढमूलः स पार्थिवः॥3।।
यस्य योधाः सुसन्तुष्टाः सान्त्विताः सूपधास्थिताः।
अल्पेनापि स दण्डेन महीं जयति पार्थिवः॥4।।
(दण्डो हि बलवान् यत्र तत्र साम प्रयुज्यते।
प्रदानं सामपूर्वं च भेदमूलं प्रशस्यते॥
त्रयाणां विफलं कर्म यदा पश्येत भूमिपः।
रन्ध्रं ज्ञात्वा ततो दण्डं प्रयुञ्जीताविचारयन्॥)
पौरजानपदा यस्य भूतेषु च दयालवः।
सधना धान्यवन्तश्च दृढमूलः स पार्थिवः॥5।।
(राष्ट्रकर्मकरा ह्येते राष्ट्रस्य च विरोधिनः।
दुर्विनीता विनीताश्च सर्वे साध्याः प्रयत्नतः॥
चाण्डालम्लेच्छजात्याश्च पाषण्डाश्च विकर्मिणः।
बलिनश्चाश्रमाश्चैव तथा गायकनर्तकाः॥
यस्य राष्ट्रे वसन्त्येते धान्योपचयकारिणः।
आयवृद्धौ सहायाश्च दृढमूलः स पार्थिवः॥)
प्रतापकालमधिकं यदा मन्येत चात्मनः।
तदा लिप्सेत मेधावी परभूमिधनान्युत॥6।।
भोगेषूदयमानस्य भूतेषु च दयावतः।
वर्धते त्वरमाणस्य विषयो रक्षितात्मनः॥7।।
तक्षेदात्मानमेवं स वनं परशुना यथा।
यः सम्यग् वर्तमानेषु स्वेषु मिथ्या प्रवर्तते॥8।।
नैव द्विषन्तो हीयन्ते राज्ञो नित्यमनिघ्नतः।
क्रोधं निहन्तुं यो वेद तस्य द्वेष्टा न विद्यते॥9।।
यदार्यजनविद्विष्टं कर्म तन्नाचरेद् बुधः।
यत् कल्याणमभिध्यायेत् तत्रात्मानं नियोजयेत्॥10।।
नैनमन्येऽवजानन्ति नात्मना परितप्यते।
कृत्यशेषेण यो राजा सुखान्यनुबुभूषति॥11।।
इदं वृत्तं मनुष्येषु वर्तते यो महीपतिः।
उभौ लोकौ विनिर्जित्य विजये सम्प्रतिष्ठते॥12।।

वामदेवजी कहते हैं—नरेश्वर! राजा युद्ध के सिवा किसी और ही उपाय से पहले अपनी विजय वृद्धि की चेष्टा करे; युद्ध से जो विजय प्राप्त होती है, उसे निम्न श्रेणी की बताया गया है।।1।। यदि राज्य की जड़ मजबूत न हो तो राजा को अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति—अनधिकृत देशों पर अधिकार की इच्छा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि जिसके मूल में ही दुर्बलता है, उस राजा को वैसा लाभ होना सम्भव नहीं है।।2।। जिस राजा का देश समृद्धिशाली, धनधान्य से सम्पन्न, राजा को प्रिय मानने वाले मनुष्यों से परिपूर्ण और हृष्ट-पुष्ट मन्त्रियों से सुशोभित है, उसी की जड़ मजबूत समझनी चाहिये।।3।। जिसके सैनिक सन्तुष्ट, राजा के द्वारा सान्त्वना प्राप्त और शत्रुओं को धोखा देने में चतुर हों, वह भूपाल थोड़ी-सी सेना के द्वारा भी पृथ्वी पर विजय पा लेता है।।4।। जिस स्थान पर शत्रु पक्ष की सेना अधिक प्रबल हो, वहाँ पहले साम नीति का ही प्रयोग करना उचित है। यदि उससे काम न चले तो धन या उपहार देने की नीति को अपनाना चाहिये। इस दान नीति के मूल में भी भेद नीति का समावेश हो अर्थात् शत्रुओं में फूट डालने की चेष्टा की जा रही हो तो उसे उत्तम माना गया है। जब राजा साम, दान और भेद—तीनों का प्रयोग निष्फल देखे, तब शत्रु की दुर्बलता का पता लगाकर दूसरा कोई विचार मन में न लाते हुए दण्ड नीति का ही प्रयोग करे—शत्रु के साथ युद्ध छेड़ दे। जिसके नगर और जनपद में रहने वाले लोग समस्त प्राणियों पर दया करने वाले और धन धान्य से सम्पन्न होते हैं, उस राजा की जड़ मजबूत समझी जाती है। ये नगर और जनपद के लोग राष्ट्र के कार्य की सिद्धि करने वाले और उसके विरोधी भी होते हैं। उद्दण्ड और विनयशील भी होते हैं। उन सबको प्रयत्नपूर्वक अपने वश में करना चाहिए। चाण्डाल, म्लेच्छ, पाखण्डी, शास्त्र विरुद्ध कर्म करने वाले, बलवान्, सभी आश्रमों के निवासी तथा गायक और नर्तक—इन सबको प्रयत्नपूर्वक वश में करना चाहिये। जिसके राज्य में सब लोग धन धान्य की वृद्धि करने वाले और आय बढ़ने में सहायक होकर रहते हैं, उस राजा की जड़ मजबूत समझी जाती है।।5।। बुद्धिमान् राजा जब अपने प्रताप को प्रकाशित करने का उपयुक्त अवसर समझे, तभी दूसरे का राज्य और धन लेने की चेष्टा करे।।6।। जिसके वैभव योग दिनोंदिन बढ़ रहे हों, जो सब प्राणियों पर दया रखता हो, काम करने में फुर्तीला हो और अपने शरीर की रक्षा का ध्यान रखता हो, उस राजा की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है ।।7।। जो अच्छा बर्ताव करने वाले स्वजनों के प्रति मिथ्या व्यवहार करता है, वह इस बर्ताव द्वारा कुल्हाड़ी से जङ्गल की भाँति अपने आपका ही उच्छेद कर डालता है ।।8।। जो राजा कभी किसी द्वेष करने वाले को दण्ड न दे तो उससे द्वेष करने वालों की कमी नहीं होती है; परन्तु जो क्रोध को मारने की कला जानता है, उसका कोई द्वेषी नहीं रहता है।।9।। जिसे श्रेष्ठ पुरुष बुरा समझते हों, बुद्धिमान् राजा वैसा कर्म कभी न करे। जिस कार्य को सबके लिए कल्याणकारी समझे, उसी में अपने आपको लगावे।।10।। जो राजा अपना कर्त्तव्य पूर्ण करके ही सुख का अनुभव करना चाहता है,

उसका न तो दूसरे लोग अनादर करते हैं और न वह स्वयं ही संतप्त होता है।।11।। जो राजा प्रजा के प्रति ऐसा बर्ताव करता है, वह इहलोक और परलोक दोनों को जीतकर विजय में प्रतिष्ठित होता है।।12।।

भीष्म उवाच

इत्युक्तो वामदेवेन सर्वं तत् कृतवान् नृपः।
तथा कुर्वंस्त्वमप्येतौ लोकौ जेता न संशयः॥13।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! वामदेवजी के इस प्रकार उपदेश देने पर राजा वसुमना सब कार्य उसी प्रकार करने लगे। यदि तुम भी ऐसा ही आचरण करोगे तो निःसन्देह लोक और परलोक दोनों सुधार लोगे।।13।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु चतुर्नवतितमोऽध्यायः॥ 94 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में वामदेवगीता विषयक चौरानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ।।94।।

वामदेवगीता सम्पूर्णा।

ऋषभगीता

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिर की आशा विषयक जिज्ञासा

युधिष्ठिर उवाच

शीलं प्रधानं पुरुषे कथितं ते पितामह।
कथं त्वाशा समुत्पन्ना या चाशा तद् वदस्व मे॥1।।
संशयो मे महानेष समुत्पन्नः पितामह।
छेत्ता च तस्य नान्योऽस्ति त्वत्तः परपुरञ्जय॥2।।
पितामहाशा महती ममासीद्धि सुयोधने।
प्राप्ते युद्धे तु तद् युक्तं तत् कर्तायमिति प्रभो॥3।।
सर्वस्याशा सुमहती पुरुषस्योपजायते।
तस्यां विहन्यमानायां दुःखो मृत्युर्न संशयः॥4।।
सोऽहं हताशो दुर्बुद्धिः कृतस्तेन दुरात्मना।
धार्तराष्ट्रेण राजेन्द्र पश्य मन्दात्मतां मम॥5।।
आशां महत्तरां मन्ये पर्वतादपि सद्रुमात्।
आकाशादपि वा राजन्नप्रमेयैव वा पुनः॥6।।
एषा चैव कुरुश्रेष्ठ दुर्विचिन्त्या सुदुर्लभा।
दुर्लभत्वाच्च पश्यामि किमन्यद् दुर्लभं ततः॥7।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! आपने पुरुष में शील को ही प्रधान बताया है। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि आशा की उत्पत्ति कैसे हुई? आशा क्या है? यह भी मुझे बताइये।।1।। शत्रु नगरी पर विजय पाने वाले पितामह! मेरे मन में यह महान् संशय उत्पन्न हुआ है। इसका निवारण करने वाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है।।2।। पितामह! दुर्योधन पर मेरी बड़ी भारी आशा थी कि युद्ध का अवसर उपस्थित होने पर वह उचित कार्य करेगा। प्रभो! मैं समझता था कि वह युद्ध किए बिना ही मुझे आधा राज्य लौटा देगा।।3।। प्रायः सभी मनुष्यों के हृदय में कोई-न-कोई बड़ी आशा पैदा होती ही है। उसके भङ्ग होने पर महान् दुःख होता है। किसी-किसी की मृत्यु तक हो जाती है, इसमें संशय नहीं है।।4।। राजेन्द्र! उस दुरात्मा धृतराष्ट्र पुत्र ने मुझ दुर्बुद्धि को हताश कर दिया। देखिये, मैं कैसा मन्द भाग्य हूँ।।5।। राजन्! मैं आशा को वृक्ष सहित पर्वत से भी बहुत बड़ी मानता हूँ अथवा वह आकाश से भी बढ़कर अप्रमेय है।।6।। कुरुश्रेष्ठ! वह अचिन्त्य और परम दुर्लभ है—उसे जीतना कठिन है। उसके दुर्लभ या दुर्जय होने के कारण ही मैं उसे इतनी बड़ी देखता और समझता हूँ। भला, आशा से बढ़कर दुर्लभ और क्या है?।।7।।

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि युधिष्ठिर निबोध तत्।
इतिहासं सुमित्रस्य निर्वृत्तमृषभस्य च॥8।।
सुमित्रो नाम राजर्षिर्हैहयो मृगयां गतः।
ससार स मृगं विद्ध्वा बाणेनानतपर्वणा॥9।।
स मृगो बाणमादाय ययावमितविक्रमः।
स च राजा बलात् तूर्णं ससार मृगयूथपम्॥10।।
ततो निम्नं स्थलं चैव स मृगोऽद्रवदाशुगः।
मुहूर्तमिव राजेन्द्र समेन स पथागमत्॥11।।
ततः स राजा तारुण्यादौरसेन बलेन च।
ससार बाणासनभृत् सखड्गोऽसौ तनुत्रवान्॥12।।
ततो नदान् नदीश्चैव पल्वलानि वनानि च।
अतिक्रम्याभ्यतिक्रम्य ससारैको वनेचरः॥13।।
स तु कामान् मृगो राजन्नासाद्यासाद्य तं नृपम्।
पुनरभ्येति जवनो जवेन महता ततः॥14।।
स तस्य बाणैर्बहुभिः समभ्यस्तो वनेचरः।
प्रक्रीडन्निव राजेन्द्र पुनरभ्येति चान्तिकम्॥15।।
पुनश्च जवमास्थाय जवनो मृगयूथपः।
अतीत्यातीत्य राजेन्द्र पुनरभ्येति चान्तिकम्॥16।।
तस्य मर्मच्छिदं घोरं तीक्ष्णं चामित्रकर्शनः।
समादाय शरं श्रेष्ठं कार्मुके तु तथासृजत्॥17।।
ततो गव्यूतिमात्रेण मृगयूथपयूथपः।
तस्य बाणपथं मुक्त्वा तस्थिवान् प्रहसन्निव॥18।।
तस्मिन् निपतिते बाणे भूमौ ज्वलिततेजसि।
प्रविवेश महारण्यं मृगो राजाप्यथाद्रवत्॥19।।

भीष्मजी ने कहा—युधिष्ठिर! इस विषय में मैं राजा सुमित्र तथा ऋषभ मुनि का पूर्वघटित इतिहास तुम्हें बताऊँगा। उसे ध्यान देकर सुनो।।8।। राजर्षि सुमित्र हैहयवंशी राजा थे। एक दिन वे शिकार खेलने के लिए वन में गये। वहाँ उन्होंने झुकी हुई गाँठ वाले बाण से एक मृग को घायल करके उसका पीछा करना आरम्भ किया।।9।। वह मृग बहुत तेज दौड़ने वाला था। वह राजा का बाण लिए दिए भाग निकला। राजा ने भी बलपूर्वक मृगों के उस यूथपति का तुरन्त पीछा किया।।10।। राजेन्द्र! शीघ्रतापूर्वक भागने वाला वह मृग वहाँ से नीची भूमि की ओर दौड़ा। फिर दो ही घड़ी में वह समतल मार्ग से भागने लगा।।11।। राजा भी नौजवान और हार्दिक बल से सम्पन्न थे, उन्होंने कवच बाँध रखा था। वे धनुष बाण और तलवार लिए उसका पीछा करने लगे।।12।। उधर वह वन में विचरने वाला मृग अकेला ही अनेक नदों, नदियों, गड्ढों और जङ्गलों

को बारम्बार लाङ्घता हुआ आगे-आगे भागता जा रहा था।।13।। राजन्! वह वेगशाली मृग अपनी इच्छा से ही राजा के निकट आ आ कर पुनः बड़े वेग से आगे भागता था।।14।। राजेन्द्र! यद्यपि राजा के बहुत-से बाण उसके शरीर में धंस गये थे, तथापि वह वनचारी मृग खेल करता हुआ सा बारम्बार उनके निकट आ जाता था।।15।। राजेन्द्र! वह मृग समूहों का सरदार था। उसका वेग बड़ा तीव्र था। वह बारम्बार बड़े वेग से छलांग मारता और दूर तक की भूमि लाङ्घ लाङ्घ कर पुनः निकट आ जाता था।।16।। तब शत्रुदमन नरेश ने एक बड़ा भयङ्कर तीखा बाण हाथ में लिया, जो मर्मस्थलों को विदीर्ण कर देने वाला था। उस श्रेष्ठ बाण को उन्होंने धनुष पर रखा।।17।। यह देख मृगों का यूथपति राजा के बाण का मार्ग छोड़कर दो कोस दूर जा पहुँचा और हँसता हुआ सा खड़ा हो गया।।18।। जब राजा का वह तेजस्वी बाण पृथ्वी पर गिर पड़ा, तब मृग एक महान् वन में घुस गया, राजा ने उस समय भी उसका पीछा नहीं छोड़ा।।19।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 125 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में ऋषभगीता विषयक एक सौ पच्चीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।125।।

द्वितीयोऽध्यायः

राजा सुमित्र का मृग की खोज करते हुए तपस्वी मुनियों के आश्रम पर पहुँचना और उनसे आशा के विषय में प्रश्न करना

भीष्म उवाच

प्रविश्य स महारण्यं तापसानामथाश्रमम्।
आससाद ततो राजा श्रान्तश्चोपाविशत् तदा॥1।।
तं कार्मुकधरं दृष्ट्वा श्रमार्तं क्षुधितं तदा।
समेत्य ऋषयस्तस्मिन् पूजां चक्रुर्यथाविधि॥2।।
स पूजामृषिभिर्दत्तां सम्प्रगृह्य नराधिपः।
अपृच्छत् तापसान् सर्वांस्तपसो वृद्धिमुत्तमाम्॥3।।
ते तस्य राज्ञो वचनं सम्प्रगृह्य तपोधनाः।
ऋषयो राजशार्दूलं तमपृच्छन् प्रयोजनम्॥4।।
केन भद्र सुखार्थेन सम्प्राप्तोऽसि तपोवनम्।
पदातिर्बद्धनिस्त्रिंशो धन्वी बाणी नरेश्वर॥5।।
एतदिच्छामहे श्रोतुं कुतः प्राप्तोऽसि मानद।
कस्मिन् कुले तु जातस्त्वं किन्नामा चासि ब्रूहि नः॥6।।
ततः स राजा सर्वेभ्यो द्विजेभ्यः पुरुषर्षभ।
आचचक्षे यथान्यायं परिचर्यां च भारत॥7।।

हैहयानां कुले जातः सुमित्रो मित्रनन्दनः।
चरामि मृगयूथानि निघ्नन् बाणैः सहस्रशः॥8॥
बलेन महता गुप्तः सामात्यः सावरोधनः।
मृगस्तु विद्धो बाणेन मया सरति शल्यवान्॥9॥
तं द्रवन्तमनुप्राप्तो वनमेतद् यदृच्छया।
भवत्सकाशं नष्टश्रीर्हताशः श्रमकर्शितः॥10॥
किं नु दुःखमतोऽन्यद् वै यदहं श्रमकर्शितः।
भवतामाश्रमं प्राप्तो हताशो भ्रष्टलक्षणः॥11॥
न राजलक्षणत्यागो न पुरस्य तपोधनाः।
दुःखं करोति तत् तीव्रं यथाऽऽशा विहता मम॥12॥
हिमवान् वा महाशैलः समुद्रो वा महोदधिः।
महत्त्वान्नान्वपद्येतां नभसो वान्तरं तथा॥13॥
आशायास्तपसि श्रेष्ठास्तथा नान्तमहं गतः।
भवतां विदितं सर्वं सर्वज्ञा हि तपोधनाः॥14॥
भवन्तः सुमहाभागास्तस्मात् पृच्छामि संशयम्।
आशावान् पुरुषो यः स्यादन्तरिक्षमथापि वा॥15॥
किं नु ज्यायस्तरं लोके महत्त्वात् प्रतिभाति वः।
एतदिच्छामि तत्त्वेन श्रोतुं किमिह दुर्लभम्॥16॥
यदि गुह्यं न वो नित्यं तदा प्रब्रूत मा चिरम्।
न गुह्यं श्रोतुमिच्छामि युष्मद्भ्यो द्विजसत्तमाः॥17॥
भवत् तपोविघातो वा यदि स्याद् विरमे ततः।
यदि वास्ति कथायोगो योऽयं प्रश्नो मयेरितः॥18॥
एतत् कारणसामर्थ्यं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
भवन्तोऽपि तपोनित्या ब्रूयुरेतत् समन्विताः॥19॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! उस महान् वन में प्रवेश करके राजा सुमित्र तापसों के आश्रम पर जा पहुँचे और वहाँ थककर बैठ गये॥1॥ वे परिश्रम से पीड़ित और भूख से व्याकुल हो रहे थे। उस अवस्था में धनुष धारण किए राजा सुमित्र को देखकर बहुत-से ऋषि उनके पास और और सबने मिलकर उनका विधिपूर्वक स्वागत सत्कार किया॥2॥ ऋषियों द्वारा किए गए उस स्वागत सत्कार को ग्रहण करके राजा ने भी उन सब तापसों से उनकी तपस्या की भलीभाँति वृद्धि होने का समाचार पूछा॥3॥ उन तपस्या के धनी महर्षियों ने राजा के वचनों को सादर ग्रहण करके उन नृपश्रेष्ठ से वहाँ आने का प्रयोजन पूछा॥4॥ 'कल्याणस्वरूप नरेश्वर! किस सुख के लिए आप इस तपोवन में तलवार बाँधे धनुष और बाण लिये पैदल ही चले आये हैं?॥5॥ मानद! हम यह सब सुनना चाहते हैं, आप कहाँ से पधारे हैं? किस कुल में आपका जन्म हुआ है? तथा आपका नाम क्या है? ये सारी बातें हैं बताइये'॥6॥ पुरुषप्रवर भरतनन्दन! तदनन्तर राजा सुमित्र ने उन समस्त ब्राह्मणों से यथोचित बात कही और अपना कार्यक्रम

बताया—।।7।। 'तपोधनो! मेरा जन्म हैहय कुल में हुआ है। मैं मित्रों का आनन्द बढ़ाने वाला राजा सुमित्र हूँ और सहस्रों बाणों के आघात से मृग समूहों का विनाश करता हुआ विचर रहा हूँ।।8।। मेरे साथ बहुत बड़ी सेना थी। उसके द्वारा सुरक्षित हो मैं मन्त्री और अन्त:पुर के साथ आया था, परन्तु मेरे बाणों से घायल हुआ एक मृग बाण सहित इधर ही भाग निकला।।9।। उस भागते हुए मृग के पीछे मैं अकस्मात् इस वन में आप लोगों के समीप आ पहुँचा हूँ। मेरी सारी शोभा नष्ट हो गयी है। मैं हताश होकर भारी परिश्रम से कष्ट पा रहा हूँ।।10।। मैंने परिश्रम के कारण जो इतना कष्ट पाया है और अपने राजचिह्नों से भ्रष्ट होकर एक हताश की भाँति आपके आश्रम में पैर रखा है, इससे बढ़कर दु:ख और क्या हो सकता है?।।11।। तपोधनो! नगर तथा राजचिह्नों का परित्याग मुझे वैसा तीव्र कष्ट नहीं दे रहा है, जैसा कि मेरी भग्न हुई आशा दे रही है।।12।। महान् पर्वत हिमालय अथवा अगाध जलराशि समुद्र अपनी विशालता के द्वारा आशा की समानता नहीं कर सकते। तपस्या में श्रेष्ठ तपोधनो! जैसे आकाश का कहीं अन्त नहीं है, उसी प्रकार मैं आशा का अन्त नहीं पा सका हूँ। आपको तो सब कुछ मालूम ही है; क्योंकि तपोधन मुनि सर्वज्ञ होते हैं।।13-14।। आप महान् सौभाग्यशाली तपस्वी है; इसलिए मैं आपसे अपने मन का सन्देह पूछता हूँ। एक ओर आशावान् पुरुष हो और दूसरी ओर अनन्त आकाश हो तो जगत् में महत्ता की दृष्टि से आप लोगों को कौन बड़ा जान पड़ता है? मैं इस बात को तत्त्व से सुनना चाहता हूँ। भला, यहाँ आकर कौन-सी वस्तु दुर्लभ रहेगी?।।15-16।। यदि आपके लिए सदा यह कोई गोपनीय रहस्य न हो तो शीघ्र इसका वर्णन कीजिये। विप्रवरो! मैं आप लोगों से ऐसी कोई बात नहीं सुनना चाहता, जो गोपनीय रहस्य हो।।17।। यदि मेरे इस प्रश्न से आप लोगों की तपस्या में विघ्न पड़ रहा हो तो मैं इससे विराम लेता हूँ और यदि आपके पास बातचीत का समय हो तो जो प्रश्न मैंने उपस्थित किया है, इसका आप समाधान करें। मैं इस आशा के कारण और सामर्थ्य के विषय में ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ। आप लोग भी सदा तप में संलग्न रहने वाले हैं, अत: एकत्र होकर इस प्रश्न का विवेचन करें'।।18-19।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 126 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में ऋषभगीता विषयक एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।126।।

तृतीयोऽध्यायः

ऋषभ का राजा सुमित्र को वीरद्युम्न और तनु मुनि का वृत्तान्त सुनाना

भीष्म उवाच

ततस्तेषां समस्तानामृषीणामृषिसत्तमः।
ऋषभो नाम विप्रर्षिर्विस्मयन्निदमब्रवीत्॥1।।

पुराहं राजशार्दूल तीर्थान्यनुचरन् प्रभो।
समासादितवान् दिव्यं नरनारायणाश्रमम्॥2।।
यत्र सा बदरी रम्या ह्रदो वैहायसः तथा।
यत्र चाश्वशिरा राजन् वेदान् पठति शाश्वतान्॥3।।
तस्मिन् सरसि कृत्वाहं विधिवत् तर्पणं पुरा।
पितॄणां देवतानां च ततोऽऽश्रममियां तदा॥4।।
रेमाते यत्र तौ नित्यं नरनारायणावृषी।
अदूरादाश्रमं कञ्चिद् वासार्थमगमं तदा॥5।।
तत्र चीराजिनधरं कृशमुच्चमतीव च।
अद्राक्षमृषिमायान्तं तनुं नाम तपोधनम्॥6।।
अन्यैर्नरैर्महाबाहो वपुषाष्टगुणान्वितम्।
कृशता चापि राजर्षे न दृष्ट्वा तादृशी क्वचित्॥7।।
शरीरमपि राजेन्द्र तस्य कानिष्ठिकासमम्।
ग्रीवा बाहू तथा पादौ केशाश्चाद्भुतदर्शनाः॥8।।
शिरः कायानुरूपं च कर्णौ नेत्रे तथैव च।
तस्य वाक्चैव चेष्टा च सामान्ये राजसत्तम॥9।।
दृष्ट्वाहं तं कृशं विप्रं भीतः परमदुर्मनाः।
पादौ तस्याभिवाद्याथ स्थितः प्राञ्जलिरग्रतः॥10।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर उन समस्त ऋषियों में से मुनिश्रेष्ठ ब्रह्मर्षि ऋषभ ने विस्मित होकर इस प्रकार कहा—।।1।। 'नृपश्रेष्ठ! पहले की बात है, मैं सब तीर्थों में विचरण करता हुआ भगवान् नरनारायण के दिव्य आश्रम में जा पहुँचा।।2।। राजन्! जहाँ वह रमणीय बदरीका वृक्ष है, जहाँ वैहायस[1] कुण्ड है तथा जहाँ अश्वशिरा (हयग्रीव) सनातन वेदों का पाठ करते हैं (वहीं नरनारायणाश्रम है)।।3।। उस वैहायस कुण्ड में स्नान करके मैंने विधिपूर्वक देवताओं और पितरों का तर्पण किया। उसके बाद उस आश्रम में प्रवेश किया, जहाँ मुनिवर नर और नारायण नित्य सानन्द निवास करते हैं। उसके बाद वहाँ से निकट ही एक-दूसरे आश्रम में मैं ठहरने के लिए गया। वहाँ मुझे तनु नाम वाले एक तपोधन ऋषि आते दिखायी दिये, जो चीर और मृगचर्म धारण किए हुए थे। उनका शरीर बहुत ऊँचा और दुर्बल था।।4-6।। महाबाहो! उन महर्षि का शरीर दूसरे मनुष्यों से आठ गुना लम्बा था। राजर्षे! मैंने उनकी जैसी दुर्बलता कहीं भी नहीं देखी है।।7।। राजेन्द्र! उनका शरीर भी कनिष्ठिका अङ्गुली के समान पतला था। उनकी गर्दन, दोनों भुजाएँ, दोनों पैर और सिर के बाल भी अद्भुत दिखायी देते थे।।8।। शरीर के अनुरूप ही उनके मस्तक, कान और नेत्र भी थे। नृपश्रेष्ठ! उनकी वाणी और चेष्टा

---

1. विहायसा गच्छन्त्या मन्दाकिन्या वैहायस्वा अयं वैहायसः अर्थात् आकाश मार्ग से गमन करने वाली मन्दाकिनी या आकाशगङ्गा का नाम वैहायसी है। वहीं के जल से भरा होने के कारण वह कुण्ड वैहायस कहलाता है। बदरिकाश्रम में गङ्गा का नाम अलकनन्दा है।

साधारण थी।।9।। मैं उन दुबले-पतले ब्राह्मण को देख कर डर गया और मन-ही-मन बहुत दुःखी हो गया; फिर उनके चरणों में प्रणाम करके दोनों हाथ जोड़कर उनके आगे खड़ा हो गया।।10।।

निवेद्य नामगोत्रे च पितरं च नरर्षभ।
प्रदिष्टे चासने तेन शनैरहमुपाविशम्॥11।।
ततः स कथयामास कथां धर्मार्थसंहिताम्।
ऋषिमध्ये महाराज तनुर्धर्मभृतां वरः॥12।।
तस्मिंस्तु कथयत्येव राजा राजीवलोचनः।
उपायाज्जवनैरश्वैः सबलः सावरोधनः॥13।।
स्मरन् पुत्रमरण्ये वै नष्टं परमदुर्मनाः।
भूरिद्युम्नपिता श्रीमान् वीरद्युम्नो महायशाः॥14।।
इह द्रक्ष्यामि तं पुत्रं द्रक्ष्यामीहेति पार्थिवः।
एवमाशाहृतो राजा चरन् वनमिदं पुरा॥15।।
दुर्लभः स मया द्रष्टुं नूनं परमधार्मिकः।
एकः पुत्रो महारण्ये नष्ट इत्यसकृत् तदा॥16।।
दुर्लभः स मया द्रष्टुमाशा च महती मम।
तया परीतगात्रोऽहं मुमूर्षुर्नात्र संशयः॥17।।
एतच्छ्रुत्वा तु भगवांस्तनुर्मुनिवरोत्तमः।
अवाक्शिरा ध्यानपरो मुहूर्तमिव तस्थिवान्॥18।।
तमनुध्यान्तमालक्ष्य राजा परमदुर्मनाः।
उवाच वाक्यं दीनात्मा मन्दं मन्दमिवासकृत्॥19।।
दुर्लभं किं नु देवर्षे आशायाश्चैव किं महत्।
ब्रवीतु भगवानेतद् यदि गुह्यं न ते मयि॥20।।

नरश्रेष्ठ! उनके सामने नाम, गोत्र और पिता का परिचय देकर उन्हीं के दिए हुए आसन पर धीरे-से बैठ गया।।11।। महाराज! तदनन्तर धर्मात्माओं में श्रेष्ठ तनु ऋषियों के बीच में बैठकर धर्म और अर्थ से युक्त कथा कहने लगे।।12।। उनके कथा कहते समय ही कमल के समान नेत्रों वाले एक नरेश वेगशाली घोड़ों द्वारा अपनी सेना और अन्तःपुर के साथ वहाँ आ पहुँचे।।13।। उनका पुत्र जङ्गल में खो गया था। उसकी याद करके वे बहुत दुःखी हो रहे थे। उनके पुत्र का नाम था भूरिद्युम्न और वे उसके महायशस्वी पिता श्रीमान् वीरद्युम्न थे।।14।। यहाँ उस पुत्र को अवश्य देखूँगा। यहाँ वह निश्चय ही दिखायी देगा। इसी आशा से बँधे हुए पृथ्वीपति राजा वीरद्युम्न उन दिनों उस वन में विचर रहे थे।।15।। 'वह बड़ा धर्मात्मा था। अब उसका दर्शन होना अवश्य ही मेरे लिए दुर्लभ है। एक ही बेटा था, वह भी इस विशाल वन में खो गया' इन्हीं बातों को वे बार-बार दुहराते थे।।16।। 'मेरे लिए उसका दर्शन दुर्लभ है तो भी मेरे मन में उसके मिलने की बड़ी भारी आशा लगी हुई है। उस आशा ने मेरे सम्पूर्ण शरीर पर अधिकार

कर लिया है। इसमें सन्देह नहीं कि मैं उसके लिए मौत को भी स्वीकार कर लेना चाहता हूँ'।।17।। राजा की यह बात सुनकर मुनियों में श्रेष्ठ भगवान् तनु नीचे सिर किए ध्यानमग्न हो दो घड़ी तक चुपचाप बैठे रह गये।।18।। उनको चिन्तन करते देख परम दुःखी हुए नरेश दीन हृदय हो मन्द मन्द वाणी में बारम्बार इस प्रकार कहने लगे—।।19।। 'देवर्षे! कौन वस्तु दुर्लभ है? और आशा से भी बड़ा क्या है? यदि आपकी दृष्टि में यह बात मुझसे छिपाने योग्य न हो तो आप इसे अवश्य बतावें'।।20।।

मुनिरुवाच

महर्षिर्भगवांस्तेन पूर्वमासीद् विमानितः।
बालिशां बुद्धिमास्थाय मन्दभाग्यतयाऽऽत्मनः॥21।।
अर्थयन् कलशं राजन् काञ्चनं वल्कलानि च।
अवज्ञापूर्वकेनापि न सम्पादितवांस्ततः।
निर्विण्णः स तु विप्रर्षिर्निराशः समपद्यत॥22।।
एवमुक्तोऽभिवाद्याथ तमृषिं लोकपूजितम्।
श्रान्तोऽवसीदद् धर्मात्मा यथा त्वं नरसत्तम॥23।।
अर्घ्यं ततः समानीय पाद्यं चैव महानृषिः।
आरण्येनैव विधिना राज्ञे सर्वं न्यवेदयत्॥24।।
ततस्ते मुनयः सर्वे परिवार्य नरर्षभम्।
उपाविशन् नरव्याघ्र सप्तर्षय इव ध्रुवम्॥25।।
अपृच्छंश्चैव तं तत्र राजानमपराजितम्।
प्रयोजनमिदं सर्वमाश्रमस्य निवेशने॥26।।

तब मुनि ने कहा—राजन्! आपके उस पुत्र ने पहले कभी मूढ़ बुद्धि का आश्रय लेकर अपने दुर्भाग्य के कारण एक पूजनीय महर्षि का अपमान कर दिया था।।21।। राजन्! वे उससे एक सुवर्णमय कलश और वल्कल माँग रहे थे। आपके पुत्र ने अवहेलना करके भी महर्षि की वह इच्छा पूरी नहीं की; इससे वे विप्र ऋषि अत्यन्त खिन्न और निराश हो गये थे।।22।। (ऋषभ कहते हैं—)नरश्रेष्ठ! उनके ऐसा कहने पर उन लोकपूजित महर्षि को प्रणाम करके धर्मात्मा राजा वीरद्युम्न तुम्हारे ही समान थककर शिथिल हो गये।।23।। तत्पश्चात् उन महर्षि ने तपोवन में प्रचलित शिष्टाचार की विधि से राजा को पाद्य और अर्घ्य आदि सब वस्तुएँ अर्पित कीं।।24।। पुरुषसिंह! तब वे सभी मुनि नरश्रेष्ठ वीरद्युम्न को सब ओर से घेरकर उनके पास बैठ गये, मानो सप्तर्षि ध्रुव को चारों ओर से घेरकर शोभा पा रहे हों।।25।। उन सबने वहाँ उन अपराजित नरेश से उस आश्रम पर पधारने का सारा प्रयोजन पूछा।।26।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 127 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में ऋषभगीता विषयक एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।127।।

चतुर्थोध्यायः

तनु मुनि का राजा वीरद्युम्न को आशा के स्वरूप का परिचय देना और ऋषभ के उपदेश से सुमित्र का आशा को त्याग देना

राजोवाच

वीरद्युम्न इति ख्यातो राजाहं दिक्षु विश्रुतः।
भूरिद्युम्नं सुतं नष्टमन्वेष्टुं वनमागतः॥1॥
एकः पुत्रः स विप्राग्र्य बाल एव च मेऽनघ।
न दृश्यते वने चास्मिंस्तमन्वेष्टुं चराम्यहम्॥2॥

राजा ने कहा—मुने! मैं सम्पूर्ण दिशाओं में विख्यात वीरद्युम्न नामक राजा हूँ और खोये हुए अपने पुत्र भूरिद्युम्न की खोज करने के लिए वन में आया हूँ॥1॥ निष्पाप विप्रवर! मेरे एक ही वह पुत्र था। वह भी बालक ही था। इस वन में आने पर वह कहीं दिखायी नहीं दे रहा है, उसी को खोजने के लिए मैं चारों ओर विचर रहा हूँ॥2॥

ऋषभ उवाच

इत्येवमुक्ते वचने राज्ञा मुनिरधोमुखः।
तूष्णीमेवाभवत् तत्र न च प्रत्युक्तवान् नृपम्॥3॥
स हि तेन पुरा विप्रो राज्ञा नात्यर्थमानितः।
आशाकृतश्च राजेन्द्र तपो दीर्घं समाश्रितः॥4॥
प्रतिग्रहमहं राज्ञां न करिष्ये कथञ्चन।
अन्येषां चैव वर्णानामिति कृत्वा धियं तदा॥5॥
आशा हि पुरुषं बालमुत्थापयति तस्थुषी।
तामहं व्यपनेष्यामि इति कृत्वा व्यवस्थितः।
वीरद्युम्नस्तु तं भूयः पप्रच्छ मुनिसत्तमम्॥6॥

ऋषभ कहते हैं—राजन्! राजा के ऐसा कहने पर वे मुनि नीचे मुँह किए चुपचाप ही बैठे रह गये। राजा को कुछ उत्तर न दे सके॥3॥ राजेन्द्र! पूर्वकाल में कभी उसी राजा ने उन्हीं ऋषि का विशेष आदर नहीं किया था। उनकी आशा भङ्ग कर दी थी। इससे वे मुनि 'मैं किसी प्रकार भी राजा या दूसरे वर्ण के लोगों का दिया हुआ दान नहीं ग्रहण करूँगा' ऐसा निश्चय करके दीर्घकालीन तपस्या में लग गये थे॥4-5॥ बहुत काल तक रहने वाली आशा मूर्ख मनुष्य को ही उद्यमशील बनाती है। मैं उसे दूर कर दूँगा। ऐसा निश्चय करके वे तपस्या में स्थिर हो गये थे। इधर वीरद्युम्न ने उन मुनिश्रेष्ठ से पुनः प्रश्न किया॥6॥

राजोवाच

आशायाः किं कृशत्वं च किं चेह भुवि दुर्लभम्।
ब्रवीतु भगवानेतत् त्वं हि धर्मार्थदर्शिवान्॥7॥

ततः संस्मृत्य तत् सर्वं स्मारयिष्यन्निवाब्रवीत्।
राजानं भगवान् विप्रस्ततः कृशतनुस्तदा॥8॥

राजा बोले—विप्रवर! आप धर्म और अर्थ के ज्ञाता हैं, अतः यह बताने की कृपा करें कि आशा से बढ़कर दुर्बलता क्या है? और इस पृथ्वी पर सबसे दुर्लभ क्या है?॥7॥ तब उन दुर्बल शरीर वाले पूज्यपाद ऋषि ने पहले की सारी बातों को याद करके राजा को भी उनका स्मरण दिलाते हुए से इस प्रकार कहा॥8॥

ऋषिरुवाच

कृशत्वेन समं राजन्नाशाया विद्यते नृप।
तस्या वै दुर्लभत्वाच्च प्रार्थिताः पार्थिवा मया॥9॥

ऋषि बोले—नरेश्वर! आशा या आशावान् की दुर्बलता के समान और किसी की दुर्बलता नहीं है। जिस वस्तु की आशा की जाती है, उसकी दुर्लभता के कारण ही मैंने बहुत-से राजाओं के यहाँ याचना की है॥9॥

राजोवाच

कृशाकृशे मया ब्रह्मन् गृहीते वचनात् तव।
दुर्लभत्वं च तस्यैव वेदवाक्यमिव द्विज॥10॥
संशयस्तु महाप्राज्ञ सञ्जातो हृदये मम।
तन्मुने मम तत्त्वेन वक्तुमर्हसि पृच्छतः॥11॥
त्वत्तः कृशतरं किं नु ब्रवीतु भगवानिदम्।
यदि गुह्यं न ते किञ्चिद् विद्यते मुनिसत्तम॥12॥

राजा ने कहा—ब्रह्मन्! मैंने आपके कहने से यह अच्छी तरह समझ लिया कि जो आशा से बँधा हुआ है, वह दुर्बल है और जिसने आशा को जीत लिया है, वह पुष्ट है। द्विजश्रेष्ठ! आपकी इस बात को भी मैंने वेदवाक्य की भाँति ग्रहण किया कि जिस वस्तु की आशा की जाती है, वह अत्यन्त दुर्लभ होती है॥10॥ महाप्राज्ञ! मुने! किन्तु मेरे मन में एक संशय है, जिसे पूछ रहा हूँ। आप उसे यथार्थ रूप से बताने की कृपा करें॥11॥ मुनिश्रेष्ठ! यदि कोई वस्तु आपके लिए गोपनीय या छिपाने योग्य न हो तो आप यह बतावें कि आपसे भी बढ़कर अत्यन्त दुर्बल वस्तु क्या है?॥12॥

कृश उवाच

दुर्लभोऽप्यथवा नास्ति योऽर्थी धृतिमवाप्नुयात्।
स दुर्लभतरस्तात योऽर्थिनं नावमन्यते॥13॥
सत्कृत्य नोपकुरुते परं शक्त्या यथार्हतः।
या सक्ता सर्वभूतेषु साऽऽशा कृशतरी मया॥14॥
कृतघ्नेषु च या सक्ता नृशंसेष्वलसेषु च।
अपकारिषु चासक्ता साऽऽशा कृशतरी मया॥15॥
एकपुत्रः पिता पुत्रे नष्टे वा प्रोषितेऽपि वा।

प्रवृत्तिं यो न जानाति साऽऽशा कृशतरी मया॥16॥
प्रसवे चैव नारीणां वृद्धानां पुत्रकारिता।
तथा नरेन्द्र धनिनां साऽऽशा कृशतरी मया॥17॥
प्रदानकाङ्क्षिणीनां च कन्यानां वयसि स्थिते।
श्रुत्वा कथास्तथायुक्ताः साऽऽशा कृशतरी मया॥18॥
एतच्छ्रुत्वा ततो राजन् स राजा सावरोधनः।
संस्पृश्य पादौ शिरसा निपपात द्विजर्षभम्॥19॥

दुर्बल शरीर वाले मुनि ने कहा—तात! जो याचक धैर्य धारण कर सके अर्थात् किसी वस्तु की आवश्यकता होने पर भी उसके लिए किसी से याचना न करे, वह दुर्लभ है एवं जो याचना करने वाले याचक की अवहेलना न करे—आदरपूर्वक उसकी इच्छा पूर्ण करे, ऐसा पुरुष संसार में अत्यन्त दुर्लभ है॥13॥ जब मनुष्य सत्कार करके याचक को आशा दिलाकर भी उसका शक्ति के अनुसार यथायोग्य उपकार नहीं करता, उस स्थिति में सम्पूर्ण भूतों के मन में जो आशा होती है, वह मुझसे भी अत्यन्त कृश होती है॥14॥ कृतघ्न, नृशंस, आलसी तथा दूसरों का अपकार करने वाले पुरुषों में जो आशा होती है, वह (कभी पूर्ण न होने के कारण चिन्ता से दुर्बल बना देती है; इसलिए वह) मुझसे भी अत्यन्त कृश है॥15॥ इकलौते बेटे का बाप जब अपने पुत्र के खो जाने या परदेश में चले जाने पर उसका कोई समाचार नहीं जान पाता, तब उसके मन में जो आशा रहती है, वह मुझसे भी अत्यन्त कृश होती है॥16॥ नरेन्द्र! वृद्ध अवस्था वाली नारियों के हृदय में जो पुत्र पैदा होने के लिए आशा बनी रहती है तथा धनियों के मन में जो अधिकाधिक धन लाभ की आशा रहती है, वह मुझसे अत्यन्त कृश है॥17॥ तरुण अवस्था आने पर विवाह की चर्चा सुनकर ब्याह की इच्छा रखने वाली कन्याओं के हृदय में जो आशा होती है, वह मुझसे भी अत्यन्त कृश होती है[1]॥18॥ राजन्! ब्राह्मणश्रेष्ठ उस ऋषि की वह बात सुनकर राजा अपनी रानी के साथ उनके चरणों का मस्तक से स्पर्श करके वहीं गिर पड़े॥19॥

राजोवाच

प्रसादये त्वां भगवन् पुत्रेणेच्छामि सङ्गमम्।
यदेतदुक्तं भवता सम्प्रति द्विजसत्तम॥20॥
सत्यमेतन्न सन्देहो यदेतद् व्याहृतं त्वया।
ततः प्रहस्य भगवांस्तनुर्धर्मभृतां वरः॥21॥
पुत्रमस्यानयत् क्षिप्रं तपसा च श्रुतेन च।
स समानीय तत्पुत्रं तमुपालभ्य पार्थिवम्॥22॥
आत्मानं दर्शयामास धर्मं धर्मभृतां वरः।

1. आशा को अत्यन्त कृश कहने का तात्पर्य यह है कि वह मनुष्य को अत्यन्त कृश बना देती है।

स दर्शयित्वा चात्मानं दिव्यमद्भुतदर्शनम्।
विपाप्मा विगतक्रोधश्चचार वनमन्तिकात्॥23।।
एतद् दृष्टं मया राजंस्तथा च वचनं श्रुतम्।
आशामपनयस्वाशु ततः कृशतरीमिमाम्॥24।।

राजा बोले—भगवन्! मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। मुझे अपने पुत्र से मिलने की बड़ी इच्छा है। द्विजश्रेष्ठ! आपने मुझसे इस समय जो कुछ कहा है, आपका यह सारा कथन सत्य है, इसमें सन्देह नहीं। तब धर्मात्माओं में श्रेष्ठ भगवान् तनु ने हँसकर अपनी तपस्या और शास्त्रज्ञान के प्रभाव से राजकुमार को शीघ्र वहाँ बुला दिया। इस प्रकार उनके पुत्र को वहाँ बुलाकर तथा राजा को उलाहना देकर धर्मात्माओं में श्रेष्ठ तनु मुनि ने उन्हें अपने साक्षात् धर्मस्वरूप का दर्शन कराया। दिव्य और अद्भुत दिखायी देने वाले अपने स्वरूप का उन्हें दर्शन कराकर क्रोध और पाप से रहित तनु मुनि निकटवर्ती वन में चले गये।।20-23।।

भीष्म उवाच

स तथोक्तस्तदा राजन् ऋषभेण महात्मना।
सुमित्रोऽपनयत् क्षिप्रमाशां कृशतरीं ततः॥25।।
एवं त्वमपि कौन्तेय श्रुत्वा वाणीमिमां मम।
स्थिरो भव महाराज हिमवानिव पर्वतः॥26।।
त्वं हि प्रष्टा च श्रोता च कृच्छ्रेष्वनुगतेष्विह।
श्रुत्वा मम महाराज न सन्तप्तुमिहार्हसि॥27।।

ऋषभ कहते हैं—राजन्! मैंने यह सब कुछ अपनी आँखों से देखा है और मुनि का वह कथन भी अपने कानों से सुना है। ऐसे ही तुम भी शरीर को अत्यन्त कृश बना देने वाली इस मृगविषयक दुराशा को शीघ्र ही त्याग दो।।24।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! महात्मा ऋषभ के ऐसा कहने पर सुमित्र ने शरीर को अत्यन्त दुर्बल बनाने वाली वह आशा तुरन्त ही त्याग दी।।25।। महाराज! कुन्तीकुमार! तुम भी मेरा यह कथन सुनकर आशा को त्याग दो और हिमालय पर्वत के समान स्थिर हो जाओ।।26।। महाराज! ऐसे सङ्कट उपस्थित होने पर भी तुम यहाँ उपयुक्त प्रश्न करते और उनका योग्य उत्तर सुनते हो; इसलिए दुर्योधन के पास जो सन्धि न हो सकी, उसको लेकर तुम्हें संतप्त नहीं होना चाहिए।।27।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु
अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 128 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्व में ऋषभगीता विषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।128।।

ऋषभगीता सम्पूर्णा

ब्रह्मगीता–I

प्रथमोऽध्यायः

राजा किस का धन ले और किस का न ले तथा किस के साथ कैसा बर्ताव करे—इसका विचार

भीष्म उवाच

अत्र गाथा ब्रह्मगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
येन मार्गेण राजा वै कोशं सञ्जनयत्युत॥1॥
न धनं यज्ञशीलानां हार्यं देवस्वमेव च।
दस्यूनां निष्क्रियाणां च क्षत्रियो हर्तुमर्हति॥2॥
इमाः प्रजाः क्षत्रियाणां राज्यभोगाश्च भारत।
धनं हि क्षत्रियस्यैव द्वितीयस्य न विद्यते॥3॥
तदस्य स्याद् बलार्थं वा धनं यज्ञार्थमेव च।
अभोग्याश्चौषधीश्छित्त्वा भोग्या एव पचन्त्युत॥4॥
यो वै न देवान् न पितॄन् न मर्त्यान् हविषार्चति।
अनर्थकं धनं तत्र प्राहुर्धर्मविदो जनाः॥5॥
हरेत् तद् द्रविणं राजन् धार्मिकः पृथिवीपतिः।
ततः प्रीणयते लोकं न कोशं तद्विधं नृपः॥6॥
असाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति।
आत्मानं सङ्क्रमं कृत्वा कृत्स्नधर्मविदेव सः॥7॥
तथा तथा जयेल्लोकाञ्शक्त्या चैव यथा यथा।
उद्विजन्ति जन्तवो यद्वच्छुक्लजीवा यथा यथा॥8॥
अनिमित्तात् सम्भवन्ति तथायज्ञः प्रजायते।
यथैव दंशमशकं यथा चाण्डपिपीलिकम्।
सैव वृत्तिरयज्ञेषु यथा धर्मो विधीयते॥9॥
यथा ह्यकस्माद् भवति भूमौ पांसुर्विलोलितः।
तथैवेह भवेद् धर्मः सूक्ष्मः सूक्ष्मतरस्तथा॥10॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जिस मार्ग या उपाय से राजा अपना खजाना भरता है, उसके विषय में प्राचीन इतिहास के जानकार लोग ब्रह्माजी की कही हुई कुछ गाथाएँ कहा करते हैं।।1।। राजा को यज्ञानुष्ठान करने वाले द्विजों का धन नहीं लेना चाहिये। इसी प्रकार उसे देव सम्पत्ति में भी हाथ नहीं लगाना चाहिये। वह लुटेरों तथा अकर्मण्य मनुष्यों के धन का अपहरण कर सकता है।।2।। भरतनन्दन! ये समस्त प्रजाएँ क्षत्रियों की हैं।

राज्यभोग भी क्षत्रियों के ही हैं और सारा धन भी उन्हीं का है, दूसरे का नहीं है; किन्तु वह धन उसकी सेना के लिए है या यज्ञानुष्ठान के लिए। राजन्! जो खाने योग्य नहीं हैं, उन ओषधियों या वृक्षों को काट कर मनुष्य उनके द्वारा खाने योग्य ओषधियों को पकाते हैं। इसी प्रकार जो देवताओं, पितरों और मनुष्यों का हविष्य के द्वारा पूजन नहीं करता है, उसके धन को धर्मज्ञ पुरुषों ने व्यर्थ बताया है। अतः धर्मात्मा राजा ऐसे धन को छीन ले और उसके द्वारा प्रजा का पालन करे, किन्तु वैसे धन से राजा अपना कोश न भरे।।3-6।। जो राजा दुष्टों से धन छीनकर उसे श्रेष्ठ पुरुषों को बाँट देता है, वह अपने आपको सेतु बनाकर उन सबको पार कर देता है। उसे सम्पूर्ण धर्मों का ज्ञाता ही मानना चाहिये।।7।। धर्मज्ञ राजा अपनी शक्ति के अनुसार उसी-उसी तरह लोकों पर विजय प्राप्त करे, जैसे उद्भिज्ज जन्तु (वृक्ष आदि) अपनी शक्ति के अनुसार आगे बढ़ते हैं तथा जैसे वज्रकीट आदि क्षुद्र जीव बिना ही निमित्त के उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही बिना ही कारण के यज्ञहीन कर्त्तव्य विरोधी मनुष्य भी राज्य में उत्पन्न हो जाते हैं। अतः राजा को चाहिए कि मच्छर, डाँस और चींटी आदि कीटों के साथ जैसा बर्ताव किया जाता है, वही बर्ताव उन सत्कर्म विरोधियों के साथ करे, जिससे धर्म का प्रचार हो।।8-10।। जिस प्रकार अकस्मात् पृथ्वी की धूल को लेकर सिल पर पीसा जाए तो वह और भी महीन होती है, उसी प्रकार विचार करने से धर्म का स्वरूप उत्तरोत्तर सूक्ष्म जान पड़ता है।।11।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥136॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।।136।।

ब्रह्मगीता-I सम्पूर्णा

भीष्मगीता

प्रथमोऽध्यायः

समस्त अनर्थों का कारण लोभ को बताकर उससे होने वाले विभिन्न पापों का वर्णन तथा श्रेष्ठ महापुरुषों के लक्षण

युधिष्ठिर उवाच

पापस्य यदधिष्ठानं यतः पापं प्रवर्तते।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन भरतर्षभ॥1।।

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतश्रेष्ठ! मैं यथार्थ रूप से यह सुनना चाहता हूँ कि पाप का अधिष्ठान क्या है और किससे उसकी प्रवृत्ति होती है?।।1।।

भीष्म उवाच

पापस्य यदधिष्ठानं तच्छृणुष्व नराधिप।
एको लोभो महाग्राहो लोभात् पापं प्रवर्तते॥2।।
अतः पापमधर्मश्च तथा दुःखमनुत्तमम्।
निकृत्या मूलमेतद्धि येन पापकृतो जनाः॥3।।
लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रवर्तते।
लोभान्मोहश्च माया च मानः स्तम्भः परासुता॥4।।
अक्षमा ह्रीपरित्यागः श्रीनाशो धर्मसङ्क्षयः।
अभिध्याप्रख्यता चैव सर्वं लोभात् प्रवर्तते॥5।।
अत्यागश्चातितर्षश्च विकर्मसु च याः क्रियाः।
कुलविद्यामदश्चैव रूपैश्वर्यमदस्तथा॥6।।
सर्वभूतेष्वभिद्रोहः सर्वभूतेष्वसत्कृतिः।
सर्वभूतेष्वविश्वासः सर्वभूतेष्वनार्जवम्॥7।।
हरणं परवित्तानां परदाराभिमर्शनम्।
वाग्वेगो मनसो वेगो निन्दावेगस्तथैव च॥8।।
उपस्थोदरयोर्वेगो मृत्युवेगश्च दारुणः।
ईर्ष्यावेगश्च बलवान् मिथ्यावेगश्च दुर्जयः॥9।।
रसवेगश्च दुर्वार्यः श्रोत्रवेगश्च दुःसहः।
कुत्सा विकत्था मात्सर्यं पापं दुष्करकारिता॥10।।
साहसानां च सर्वेषामकार्याणां क्रियास्तथा।
जातौ बाल्ये च कौमारे यौवने चापि मानवाः॥11।।

न सन्त्यजन्त्यात्मकर्म यो न जीर्यति जीर्यतः।
यो न पूरयितुं शक्यो लोभः प्राप्त्या कुरूद्वह॥12॥
नित्यं गम्भीरतोयाभिरापगाभिरिवोदधिः।
न प्रहृष्यति यो लाभैः कामैर्यश्च न तृप्यति॥13॥
यो न देवैर्न गन्धर्वैर्नासुरैर्न महोरगैः।
ज्ञायते नृप तत्त्वेन सर्वैर्भूतगणैस्तथा॥14॥

भीष्मजी ने कहा—नरेश्वर! पाप का जो अधिष्ठान है, उसे सुनो। एकमात्र लोभ ही पाप का अधिष्ठान है। वह मनुष्य को निगल जाने के लिए एक बड़ा ग्राह है। लोभ से ही पाप की प्रवृत्ति होती है॥2॥ लोभ से ही पाप, अधर्म तथा महान् दुःख की उत्पत्ति होती है। शठता तथा छल-कपट का भी मूल कारण लोभ ही है। इसी के कारण मनुष्य पापाचारी हो जाते हैं॥3॥ लोभ से ही क्रोध प्रकट होता है, लोभ से ही काम की प्रवृत्ति होती है और लोभ से ही माया, मोह, अभिमान, उद्दण्डता तथा पराधीनता आदि दोष प्रकट होते हैं॥4॥ असहनशीलता, निर्लज्जता, सम्पत्ति नाश, धर्म क्षय, चिन्ता और अपयश—ये सब लोभ से ही सम्भव होते हैं॥5॥ लोभ से ही कृपणता, अत्यन्त तृष्णा, शास्त्र विरुद्ध कर्मों में प्रवृत्ति, कुल और विद्या विषयक अभिमान, रूप और ऐश्वर्य का मद, समस्त प्राणियों के प्रति द्रोह, सबका तिरस्कार, सबके प्रति अविश्वास तथा कुटिलता पूर्ण बर्ताव होते हैं॥6-7॥ पराये धन का अपहरण, परायी स्त्रियों के प्रति बलात्कार, वाणी का वेग, मन का वेग, निन्दा करने की विशेष प्रवृत्ति, जननेन्द्रिय का वेग, उदर का वेग, मृत्यु का भयङ्कर वेग अर्थात् आत्महत्या, ईर्ष्या का प्रबल वेग, मिथ्या का दुर्जय वेग, अनिवार्य रसनेन्द्रिय का वेग, दुःसह श्रोत्रेन्द्रिय का वेग, घृणा, अपनी प्रशंसा के लिए बढ़-चढ़ कर बातें बनाना, मत्सरता, पाप, दुष्कर कर्मों में प्रवृत्ति, न करने योग्य कार्य कर बैठना इन सबका कारण भी लोभ ही है। कुरुश्रेष्ठ! मनुष्य जन्म काल में, बाल्यावस्था में तथा कौमार और यौवनावस्था में जिसके कारण अपने बुरे कर्मों को छोड़ नहीं पाते हैं, जो मनुष्य के वृद्ध होने पर भी जीर्ण नहीं होता, वह लोभ ही है। जिस प्रकार गहरे जल वाली बहुत-सी नदियों के मिल जाने से भी समुद्र नहीं भरता है, उसी प्रकार कितने ही पदार्थों का लाभ क्यों न हो जाए, लोभ का पेट कभी नहीं भरता है। लोभी मनुष्य बहुत-सा लाभ पाकर भी सन्तुष्ट नहीं होता। भोगों से वह कभी तृप्त नहीं होता। नरेश्वर! न देवताओं, न गन्धर्वों, न असुरों, न बड़े-बड़े नागों और न सम्पूर्ण भूतगणों द्वारा ही लोभ का स्वरूप यथार्थ रूप से जाना जाता है॥8-14॥

स लोभः सह मोहेन विजेतव्यो जितात्मना।
दम्भो द्रोहश्च निन्दा च पैशुन्यं मत्सरस्तथा॥15॥
भवन्त्येतानि कौरव्य लुब्धानामकृतात्मनाम्।
सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्ति बहुश्रुताः॥16॥
छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्तीहाल्पबुद्धयः।
द्वेषक्रोधप्रसक्ताश्च शिष्टाचारबहिष्कृताः॥17॥

अन्तःक्रूरा वाङ्मधुराः कूपाश्छन्नास्तृणैरिव।
धर्मवैतं सिकाः क्षुद्रा मुष्णन्ति ध्वजिनो जगत्॥18।।
कुर्वते च बहून् मार्गांस्तान् हेतुबलमाश्रिताः।
सतां मार्गान् विलुम्पन्ति लोभाज्ञानेषु निष्ठिताः॥19।।
धर्मस्य ह्रियमाणस्य लोभग्रस्तैर्दुरात्मभिः।
या या विक्रियते संस्था ततः सापि प्रपद्यते॥20।।
दर्पः क्रोधो मदः स्वप्नो हर्षः शोकोऽतिमानिता।
एत एव हि कौरव्य दृश्यन्ते लुब्धबुद्धिषु॥21।।
एतानशिष्टान् बुध्यस्व नित्यं लोभसमन्वितान्।
शिष्टांस्तु परिपृच्छेथा यान् वक्ष्यामि शुचिव्रतान्॥22।।
येष्वावृत्तिभयं नास्ति परलोकभयं न च।
नामिषेषु प्रसङ्गोऽस्ति न प्रियेष्वप्रियेषु च॥23।।
शिष्टाचारः प्रियो येषु दमो येषु प्रतिष्ठितः।
सुखं दुःखं समं येषां सत्यं येषां परायणम्॥24।।
दातारो न ग्रहीतारो दयावन्तस्तथैव च।
पितृदेवातिथेयाश्च नित्योद्युक्तास्तथैव च॥25।।

जिसने अपने मन और इन्द्रियों को काबू में कर लिया है, उस पुरुष को चाहिये कि वह मोह सहित लोभ को जीतें। कुरुनन्दन! दम्भ, द्रोह, निन्दा, चुगली और मत्सरता—ये सभी दोष अजितात्मा लोभी पुरुष में ही होते हैं। बहुश्रुत विद्वान् बड़े-बड़े शास्त्रों को कण्ठस्थ कर लेते हैं। सबकी शङ्काओं का निवारण कर देते है; परन्तु इस लोभ में फँस कर उनकी बुद्धि मारी जाती है और वे निरन्तर क्लेश उठाते रहते हैं। वे दोष और क्रोध से फँस कर शिष्टाचार को छोड़ देते हैं और ऊपर से मीठे वचन बोलते हुए भी भीतर से अत्यन्त कठोर हो जाते हैं। उनकी स्थिति घास-फूस से ढके हुए कुएँ के समान होती है। वे धर्म के नाम पर संसार को धोखा देने वाले, क्षुद्र मनुष्य धर्मध्वजी होकर (धर्म का ढोंग फैलाकर) जगत् को लूटते हैं।।15-18।। युक्तिबल का आश्रय लेकर बहुत-से असत् मार्ग खड़े कर देते हैं तथा लोभ और अज्ञान में स्थित हो सत्पुरुषों के स्थापित किए हुए मार्गों (धर्म मर्यादाओं) का नाश करने लगते हैं।।19।। लोभग्रस्त दुरात्मा पुरुषों द्वारा अपहृत (विकृत) होने वाले धर्म की जो-जो स्थिति बिगड़ जाती या बदल जाती है, वह उसी रूप में प्रचलित हो जाती है।।20।। कुरुनन्दन! जिनकी बुद्धि लोभ में फँसी हुई है, उन मनुष्यों में दर्प, क्रोध, मद, दुःस्वप्न, हर्ष, शोक तथा अत्यन्त अभिमान—ये ही दोष दिखायी देते हैं।।21।। जो सदा लोभ में डूबे रहते हैं, ऐसे ही मनुष्यों को तुम अशिष्ट समझो। तुम्हें शिष्ट पुरुषों से ही अपनी शङ्काएँ पूछनी चाहिये। पवित्र नियमों का पालन करने वाले उन शिष्ट पुरुषों का मैं परिचय दे रहा हूँ।।22।। जिन्हें फिर संसार में जन्म लेने का भय नहीं है, परलोक से भी भय नहीं है, जिनकी भोगों में आसक्ति नहीं है तथा प्रिय और अप्रिय में भी जिनका राग-द्वेष नहीं है।।23।। जिन्हें शिष्टाचार प्रिय है। जिनमें इन्द्रिय संयम प्रतिष्ठित है। जिनके लिए सुख और दुःख समान हैं। सत्य ही जिनका

परम आश्रय है।।24।। वे देते हैं, लेते नहीं। उनमें स्वभाव से ही दया भरी रहती है। वे देवताओं, पितरों तथा अतिथियों के सेवक होते हैं और सत्कर्म करने के सदा-सदा उद्यत रहते हैं।।25।।

सर्वोपकारिणो वीराः सर्वधर्मानुपालकाः।
सर्वभूतहिताश्चैव सर्वदेयाश्च भारत॥26।।
न ते चालयितुं शक्या धर्मव्यापारकारिणः।
न तेषां भिद्यते वृत्तं यत् पुरा साधुभिः कृतम्॥27।।
न त्रासिनो न चपला न रौद्राः सत्पथे स्थिताः।
ते सेव्याः साधुभिर्नित्यं येष्वहिंसा प्रतिष्ठिता॥28।।
कामक्रोधव्यपेता ये निर्ममा निरहङ्कृताः।
सुव्रताः स्थिरमर्यादास्तानुपास्व च पृच्छ च॥29।।
न धनार्थं यशोऽर्थं वा धर्मस्तेषां युधिष्ठिर।
अवश्यं कार्य इत्येव शरीरस्य क्रियास्तथा॥30।।
न भयं क्रोधचापल्ये न शोकस्तेषु विद्यते।
न धर्मध्वजिनश्चैव न गुह्यं कञ्चिदास्थिताः॥31।।
येष्वलोभस्तथामोहो ये च सत्यार्जवे स्थिताः।
तेषु कौन्तेय रज्येथा येषां न भ्रश्यते पुनः॥32।।
ये न हृष्यन्ति लाभेषु नालाभेषु व्यथन्ति च।
निर्ममा निरहङ्काराः सत्त्वस्थाः समदर्शिनः॥33।।
लाभालाभौ सुखदुःखे च तात प्रियाप्रिये मरणं जीवितं च।
समानि येषां स्थिरविक्रमाणां बुभुत्सतां सत्त्वपथो स्थितानाम्॥34।।
धर्मप्रियांस्तान् सुमहानुभावान् दान्तोऽप्रमत्तश्च समर्चयेथाः।
दैवात् सर्वे गुणवन्तो भवन्ति शुभाशुभे वाक्प्रलापास्तथान्ये॥35।।

भरतनन्दन! वे वीर पुरुष सबका उपकार करने वाले, सम्पूर्ण धर्मों के रक्षक तथा समस्त प्राणियों के हितैषी होते हैं। वे परहित के लिए सर्वस्व निछावर कर देते हैं।।26।। उन्हें सत्कर्म से विचलित नहीं किया जा सकता। वे केवल धर्म के अनुष्ठान में तत्पर रहते हैं। पहले के श्रेष्ठ पुरुषों ने जिसका पालन किया है, उसी सदाचार का वे भी पालन करते हैं। उनका वह आचार कभी नष्ट नहीं होता।।27।। वे किसी को भय नहीं दिखाते, चपलता नहीं करते, उनका स्वभाव किसी के लिए भयङ्कर नहीं होता है, वे सदा सन्मार्ग में ही स्थित रहते हैं, उनमें अहिंसा नित्य प्रतिष्ठित होती है, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषों का ही सदा सेवन करना चाहिये।।28।। जो काम और क्रोध से रहित, ममता और अहङ्कार से शून्य, उत्त व्रत का पालन करने वाले तथा धर्म मर्यादा को स्थिर रखने वाले हैं, उन्हीं महापुरुषों का सङ्ग करो और उनसे अपना सन्देह पूछो।।29।। युधिष्ठिर! उनका धर्म पालन धन बटोरने या यश कमाने के लिए नहीं होता। वे धर्म तथा शरीरिक क्रियाओं को अवश्य कर्त्तव्य समझकर ही करते हैं।।30।। उनमें भय, क्रोध, चपलता तथा शोक नहीं होता।

वे धर्मध्वजी (पाखण्डी) नहीं होते, किसी गोपनीय पाखण्ड पूर्ण धर्म का आश्रय नहीं लेते हैं।।31।। कुन्तीनन्दन! जिनमें लोभ और मोह का अभाव है, जो सत्य और सरलता में स्थित हैं तथा कभी सदाचार से भ्रष्ट नहीं होते हैं; ऐसे पुरुषों में तुम्हें प्रेम रखना चाहिये।।32।। तात! जो लाभ में हर्ष से फूल नहीं उठते, हानि में व्यथित नहीं होते, ममता और अहङ्कार से शून्य हैं, जो सर्वदा सत्त्व गुण में स्थित और समदर्शी होते हैं, जिनकी दृष्टि में लाभ हानि, सुख-दुःख, प्रिय अप्रिय तथा जीवन मरण समान हैं, जो सुदृढ़ पराकमी, आध्यात्मिक उन्नति के इच्छुक और सत्त्वमय मार्ग में स्थित हैं, उन धर्मप्रेमी महानुभावों की तुम सावधान और जितेन्द्रिय रहकर सेवा सत्कार करो। वे सब महापुरुष स्वभाव से ही बड़े गुणवान् होते हैं। शुभ और अशुभ के विषय में उनकी वाणी यथार्थ होती है। दूसरे लोग तो केवल बातें बनाने वाले होते हैं।।33-35।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि आपन्मूलभूतदोषकथने अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्याय:॥ 158 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में आपत्ति के मूलभूत दोष का वर्णन विषयक एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ।।158।।

द्वितीयोऽध्याय:

अज्ञान और लोभ एक-दूसरे का कारण बताकर दोनों की एकता करना और दोनों को ही समस्त दोषों का कारण सिद्ध करना

युधिष्ठिर उवाच

अनर्थानामधिष्ठानमुक्तो लोभ: पितामह।
अज्ञानमपि वै तात श्रोतुमिच्छामि तत्त्वत:॥1।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! आपने सब अनर्थों के आधारभूत लोभ का वर्णन तो किया, अब अज्ञान का भी यथार्थ रूप से वर्णन कीजिये; मैं उसके परिणाम को भी सुनना चाहता हूँ।।1।।

भीष्म उवाच

करोति पापं योऽज्ञानान्नात्मनो वेत्ति च क्षयम्।
प्रद्वेष्टि साधुवृत्तांश्च स लोकस्यैति वाच्यताम्॥2।।
अज्ञानान्निरयं याति तथाज्ञानेन दुर्गतिम्।
अज्ञानात् क्लेशमाप्नोति तथापत्सु निमज्जति॥3।।

भीष्मजी ने कहा—युधिष्ठिर! जो मनुष्य अज्ञानवश पाप करता है और उससे होने वाली अपनी ही हानि को नहीं समझता तथा श्रेष्ठ पुरुषों से द्वेष करता है, उसकी संसार में बड़ी निन्दा होती है।।2।। अज्ञान से ही जीव नरक में पड़ता है। अज्ञान से ही

उसकी दुर्गति होती है, अज्ञान से वह कष्ट उठाता और विपत्तियों के समुद्र में डूब जाता है।।3।।

युधिष्ठिर उवाच

अज्ञानस्य प्रवृत्तिं च स्थानं वृद्धिक्षयोदयौ।
मूलं योगं गतिं कालं कारणं हेतुमेव च॥4।।
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन यथावदिह पार्थिव।
अज्ञानप्रसवं हीदं यद् दुःखमुपलभ्यते॥5।।

युधिष्ठिर ने पूछा—भूपाल! अज्ञान की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, क्षय, उद्गम, मूल, योग, गति, काल, कारण और हेतु क्या हैं?।।4।। पृथ्वीनाथ! मैं इस विषय को यथावत् रूप से तत्त्व के विवेचनपूर्वक सुनना चाहता हूँ; क्योंकि यह जो दुःख उपलब्ध होता है, उसकी उत्पत्ति का कारण अज्ञान ही है।।5।।

भीष्म उवाच

रागो द्वेषस्तथा मोहो हर्षः शोकोऽभिमानिता।
कामः क्रोधश्च दर्पश्च तन्द्री चालस्यमेव च॥6।।
इच्छा द्वेषस्तथा तापः परवृद्ध्युपतापिता।
अज्ञानमेतन्निर्दिष्टं पापानां चैव याः क्रियाः॥7।।
एतस्य वा प्रवृत्तेश्च वृद्ध्यादीन्याश्च पृच्छसि।
विस्तरेण महाराज शृणु तच्च विशेषतः॥8।।
उभावेतौ समफलौ समदोषौ च भारत।
अज्ञानं चातिलोभश्चाप्येकं जानीहि पार्थिव॥9।।
लोभप्रभवमज्ञानं वृद्धं भूयः प्रवर्धते।
स्थाने स्थानं क्षये क्षैण्यमुपैति विविधां गतिम्॥10।।
मूलं लोभस्य मोहो वै कालात्मगतिरेव च।
छिन्ने भिन्ने तथा लोभे कारणं काल एव च॥11।।
तस्याज्ञानाद्धि लोभो हि लोभादज्ञानमेव च।
सर्वदोषास्तथा लोभात् तस्माल्लोभं विवर्जयेत्॥12।।
जनको युवनाश्वश्च वृषादर्भिः प्रसेनजित्।
लोभक्षयाद् दिवं प्राप्तास्तथैवान्ये नराधिपाः॥13।।
प्रत्यक्षं तु कुरुश्रेष्ठ त्यज लोभमिहात्मना।
त्यक्त्वा लोभं सुखं लोके प्रेत्य चानुचरिष्यसि॥14।।

भीष्मजी ने कहा—राजन्! राग, द्वेष, मोह, हर्ष, शोक, अभिमान, काम, क्रोध, दर्प, तन्द्रा, आलस्य, इच्छा, वैर, ताप, दूसरों की उन्नति देखकर जलना और पापाचार करना—इन सबको (अज्ञान का कार्य होने से) अज्ञान बताया गया है।।6-7।। महाराज! इस अज्ञान की उत्पत्ति और वृद्धि आदि के विषय में जो प्रश्न कर रहे हो, उसके विषय में विशेष विस्तार के साथ किया हुआ मेरा वर्णन सुनो।।8।। भारत!

पृथ्वीनाथ! अज्ञान और अत्यन्त लोभ—इन दोनों को एक समझो, क्योंकि इनके परिणाम और दोष समान ही हैं।।9।। लोभ से ही अज्ञान प्रकट होता है और लोभ के बढ़ने पर, वह अज्ञान और भी बढ़ता है। जब तक लोभ रहता है, तब तक अज्ञान भी बना रहता है और जब लोभ का क्षय होता है, तब अज्ञान भी क्षीण हो जाता है। अज्ञान और लोभ के कारण ही जीव नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेता है।।10।। मोह भी नि:सन्देह लोभ का मूल कारण है। यह काल स्वरूप मोहात्मक अज्ञान ही मनुष्य की बुरी गति का कारण है। लोभ के छिन्न-भिन्न होने में भी काल ही कारण है।।11।। मूढ़ मनुष्य को अज्ञान से लोभ और लोभ से अज्ञान होता है। लोभ से ही सारे दोष पैदा होते हैं; इसलिए लोभ को त्याग देना चाहिए।।12।। जनक, युवनाश्व, वृषादर्भि, प्रसेनजित् तथा अन्य नरेश लोभ का नाश करके ही दिव्य लोक में गये हैं।।13।। कुरुश्रेष्ठ! तुम स्वयं प्रयत्न करके इस प्रत्यक्ष दीखने वाले लोभ का परित्याग करो। लोभ का त्याग कर इस लोक में सुख तथा मृत्यु के पश्चात् परलोक में भी आनन्द प्राप्त करके सुखपूर्वक विचरोगे।।14।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि अज्ञानमाहात्म्ये एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्याय:॥ 159 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में अज्ञान का माहात्म्य विषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ।।159।।

तृतीयोऽध्याय:

मन और इन्द्रियों के संयम रूप दम का माहात्म्य

युधिष्ठिर उवाच

स्वाध्याये कृतयत्नस्य नरस्य च पितामह।
धर्मकामस्य धर्मात्मन् किं नु श्रेय इहोच्यते॥1।।
बहुधा दर्शने लोके श्रेयो यदिह मन्यसे।
अस्मिंल्लोके परे चैव तन्मे ब्रूहि पितामह॥2।।
महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत।
किंस्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम्॥3।।
धर्मस्य महतो राजन् बहुशाखस्य तत्त्वत:।
यन्मूलं परमं तात तत् सर्वं ब्रूह्यशेषत:॥4।।

युधिष्ठिर ने पूछा—धर्मात्मा पितामह! जो स्वाध्याय के लिए यत्नशील हैं और धर्म पालन की इच्छा रखता है, उस मनुष्य के लिए इस संसार में श्रेय क्या बताया जाता है?।।1।। पितामह! जगत् में श्रेय का प्रतिपादन करने वाले अनेक प्रकार के दर्शन (मत) हैं; परन्तु आप जिसे श्रेय मानते हों, जो इस लोक और परलोक में भी कल्याण करने वाला हो, उसे मुझे बताइये।।2।। भारत! धर्म का मार्ग बहुत बड़ा है। इससे बहुत-सी

शाखाएँ निकली हुई हैं। इन धर्मों में से कौन-सा धर्म सर्वोत्तम, अवश्य पालन करने योग्य माना गया है?।।3।। राजन्! बहुत-सी शाखाओं से युक्त इस महान् धर्म का वास्तव में परम मूल क्या है? तात! ये सब बातें मुझे पूर्ण रूप से बताइये।।4।।

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि येन श्रेयो ह्यवाप्स्यसि।
पीत्वामृतमिव प्राज्ञो ज्ञानतृप्तो भविष्यसि॥5।।
धर्मस्य विधयो नैके ये वै प्रोक्ता महर्षिभिः।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम्॥6।।
दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः॥7।।
दमात् तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते॥8।।
दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम्।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत्॥9।।
दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम।
दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम्॥10।।

भीष्मजी ने कहा—युधिष्ठिर! मैं बड़े हर्ष के साथ तुम्हें वह उपाय बताता हूँ, जिससे तुम कल्याण प्राप्त कर लोगे। जैसे अमृत को पीकर पूर्ण तृप्ति हो जाती है, उसी प्रकार तुम ज्ञानी होकर इस ज्ञान सुधा से पूर्णतः तृप्त हो जाओगे।।5।। महर्षियों ने अपने-अपने ज्ञान के अनुसार धर्म की एक नहीं, अनेक विधियाँ बतायी हैं, परन्तु उन सबका आधार दम (मन और इन्द्रियों का संयम) ही है।।6।। धर्म के सिद्धान्त को जानने वाले वृद्ध पुरुष दम को निःश्रेयस (परम कल्याण) का साधन बताते हैं। विशेषतः ब्राह्मण के लिए तो दम ही सनातन धर्म है।।7।। दम से ही उसे अपने शुभ कर्मों की यथावत् सिद्धि प्राप्त होती है। दम उसके लिए दान, यज्ञ और स्वाध्याय से भी बढ़कर है।।8।। दम तेज की वृद्धि करता है, दम परम पवित्र साधन है, दम से पाप रहित हुआ तेजस्वी पुरुष परम पद को प्राप्त कर लेता है।।9।। हमने संसार में दम के समान दूसरा कोई धर्म नहीं सुना। जगत् में सभी धर्म वालों के यहाँ दम को उत्कृष्ट बताया गया है। सबने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।।10।।

प्रेत्य चात्र मनुष्येन्द्र परमं विन्दते सुखम्।
दमेन हि समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते॥11।।
सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं पर्येति लोकांश्च मनश्चास्य प्रसीदति॥12।।
अदान्तः पुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते।
अनर्थांश्च बहूनन्यान् प्रसृजत्यात्मदोषजान्॥13।।
आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम्।

तस्य लिङ्गानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः॥14॥
क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥15॥
अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः प्रियवादिता।
अविहिंसानसूया चाप्येषां समुदयो दमः॥16॥
गुरुपूजा च कौरव्य दया भूतेष्वपैशुनम्।
जनवादं मृषावादं स्तुतिनिन्दाविसर्जनम्॥17॥
कामं क्रोधं च लोभं च दर्पं स्तम्भं विकत्थनम्।
रोषमीर्ष्यावमानं च नैव दान्तो निषेवते॥18॥
अनिन्दितो ह्यकामात्मा नाल्पेष्वर्थ्यनसूयकः।
समुद्रकल्पः स नरो न कथञ्चन पूर्यते॥19॥
अहं त्वयि मयि त्वं च मयि ते तेषु चाप्यहम्।
पूर्वसम्बन्धिसंयोगं नैतद् दान्तो निषेवते॥20॥

नरेन्द्र! दम से अर्थात् इन्द्रिय और मन के संयम से युक्त पुरुष को महान् धर्म की प्राप्ति होती है। वह इहलोक और परलोक में भी परम सुख पाता है॥11॥ जिसने अपने मन और इन्द्रियों का दमन कर लिया है, वह सुख से सोता, सुख से ही जानता और सुखपूर्वक ही लोकों में विचरता है। उसका मन सदा प्रसन्न रहता है॥12॥ जिसकी इन्द्रियाँ और मन वश में नहीं हैं, वह पुरुष निरन्तर क्लेश उठाता है। साथ ही वह अपने ही दोषों से बहुत-से दूसरे दूसरे अनर्थों की भी सृष्टि कर लेता है॥13॥ चारों आश्रमों में दम को ही उत्तम व्रत बताया गया है। अब मैं इन्द्रिय दमन एवं मनोनिग्रह के उन लक्षणों को बताऊँगा, जिनका उदय होना ही दम कहा गया है॥14॥ क्षमा, धीरता, अहिंसा, समता, सत्यवादिता, सरलता, इन्द्रिय विजय, दक्षता, कोमलता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, क्रोधहीनता, सन्तोष, प्रिय वचन बोलने का स्वभाव, किसी भी प्राणी को कष्ट न देना और दूसरों के दोष न देखना—इन सद्गुणों का उदय होना ही दम कहलाता है॥15-16॥ कुरुनन्दन! जिसने मन और इन्द्रियों का दमन कर लिया है, उसमें गुरुजनों के प्रति आदर का भाव, समस्त प्राणियों के प्रति दया और किसी की भी चुगली न खाने की प्रवृत्ति होती है। वह जनापवाद, असत्य भाषण, निन्दा-स्तुति की प्रवृत्ति, काम, क्रोध, लोभ, दर्प, जडता, डींग हाँकना, रोष, ईर्ष्या और दूसरों का अपमान—इन दुर्गुणों का कभी सेवन नहीं करता॥17-18॥ इन्द्रिय और मन को वश में रखने वाले पुरुष की कभी निन्दा नहीं होती। उसके मन में कोई कामना नहीं होती। वह छोटी-छोटी वस्तुओं के लिए किसी के सामने हाथ नहीं फैलाता अथवा तुच्छ विषय सुखों की अभिलाषा नहीं रखता, दूसरों के दोष नहीं देखता। वह मनुष्य समुद्र के समान अगाध गाम्भीर्य धारण करता है। जैसे समुद्र अनन्त जलराशि पाकर भी भरता नहीं है, उसी प्रकार वह भी निरन्तर धर्म सञ्चय से कभी तृप्त नहीं होता॥19॥ 'मैं तुम पर स्नेह रखता हूँ और तुम मुझ पर। वे मुझमें अनुराग रखते हैं और मैं उनमें' इस प्रकार पहले के सम्बन्धियों के सम्बन्ध का जितेन्द्रिय पुरुष चिन्तन नहीं करता॥20॥

सर्वा ग्राम्यास्तथाऽऽरण्या याश्च लोके प्रवृत्तयः।
निन्दां चैव प्रशंसां च यो नाश्रयति मुच्यते॥21॥
मैत्रोऽथ शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविच्च यः।
मुक्तस्य विविधैः सङ्गैस्तस्य प्रेत्य फलं महत्॥22॥
सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविद् बुधः।
प्राप्येह लोके सत्कारं सुगतिं प्रतिपद्यते॥23॥
कर्म यच्छुभमेवेह सद्भिराचरितं च यत्।
तदेव ज्ञानयुक्तस्य मुनेर्वर्त्म न हीयते॥24॥
निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयुक्तो जितेन्द्रियः।
कालाकाङ्क्षी चरत्येवं ब्रह्मभूयाय कल्पते॥25॥
अभयं यस्य भूतेभ्यो भूतानामभयं यतः।
तस्य देहाद् विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन॥26॥
अवाचिनोति कर्माणि न च सम्प्रचिनोति ह।
समः सर्वेषु भूतेषु मैत्रायणगतिश्चरेत्॥27॥
शकुनीनामिवाकाशे जले वारिचरस्य च।
यथा गतिर्न दृश्येत तथा तस्य न संशयः॥28॥
गृहानुत्सृज्य यो राजन् मोक्षमेवाभिपद्यते।
लोकास्तेजोमयास्तस्य कल्पन्ते शाश्वतीः समाः॥29॥

जगत् में ग्रामीणों और वनवासियों की जो-जो प्रवृत्तियाँ होती हैं, उन सबका जो सेवन नहीं करता तथा दूसरों की निन्दा और प्रशंसा से भी दूर रहता है, उसकी मुक्ति हो जाती है॥21॥ जो सबके प्रति मित्रता का भाव रखने वाला और सुशील है, जिसका मन प्रसन्न है, जो नाना प्रकार की आसक्तियों से मुक्त तथा आत्मज्ञानी है, उसे मृत्यु के पश्चात् मोक्ष रूप महान् फल की प्राप्ति होती है॥22॥ जो सदाचारी, शील सम्पन्न, प्रसन्नचित्त और आत्म-तत्त्व को जानने वाला है, वह विद्वान् पुरुष इस लोक में सत्कार पाकर परलोक में परम गति पाता है॥23॥ इस जगत् में जो केवल शुभ (कल्याणकारी) कर्म है तथा सत्पुरुषों ने जिसका आचरण किया है, वही ज्ञानवान् मुनि का मार्ग है। वह स्वभावतः उसका आचरण करता है। उससे कभी च्युत नहीं होता॥24॥ ज्ञान सम्पन्न जितेन्द्रिय पुरुष घर से निकल कर वन का आश्रय ले वहाँ मृत्यु काल की प्रतीक्षा करता हुआ निर्द्वन्द्व विचरता रहता है। इस प्रकार वह ब्रह्म भाव को प्राप्त होने में समर्थ हो जाता है॥25॥ जिसको दूसरे प्राणियों से भय नहीं है तथा जिससे दूसरे प्राणी भी भय नहीं मानते, उस देहाभिमान से रहित महात्मा पुरुष को कहीं से भी भय नहीं प्राप्त होता॥26॥ वह उपभोग द्वारा प्रारब्ध कर्मों को क्षीण करता है और कर्तृत्वाभिमान तथा फलासक्ति से शून्य होने के कारण नूतन कर्मों का सञ्चय नहीं करता है। सभी प्राणियों में समान भाव रखकर सबको मित्र की भाँति अभयदान देता हुआ विचरता है॥27॥ जैसे आकाश में पक्षियों और जल में जलचर जन्तुओं का पदचिह्न नहीं दिखायी देता, उसी प्रकार ज्ञानी की गति भी जानने में नहीं आती है। इसमें तनिक भी संशय नहीं है॥28॥ राजन्! जो

घर बार को छोड़कर मोक्ष मार्ग का ही आश्रय लेता है, उसे अनन्त वर्षों के लिए दिव्य तेजोमय लोक प्राप्त होते हैं।।29।।

सन्न्यस्य सर्वकर्माणि सन्न्यस्य विधिवत्तपः।
सन्न्यस्य विविधा विद्याः सर्वं सन्न्यस्य चैव ह॥30।।
कामे शुचिरनावृत्तः प्रसन्नात्माऽऽत्मविच्छुचिः।
प्राप्येह लोके सत्कारं स्वर्गं समभिपद्यते॥31।।
यच्च पैतामहं स्थानं ब्रह्मराशिसमुद्भवम्।
गुहायां पिहितं नित्यं तद् दमेनाभिगम्यते॥32।।
ज्ञानारामस्य बुद्धस्य सर्वभूताविरोधिनः।
नावृत्तिभयमस्तीह परलोकभयं कुतः॥33।।
एक एव दमे दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेनं क्षमयायुक्तमशक्तं मन्यते जनः॥34।।
एकोऽस्य सुमहाप्राज्ञ दोषः स्यात् सुमहान् गुणः।
क्षमया विपुला लोकाः सुलभा हि सहिष्णुता॥35।।
दान्तस्य किमरण्येन तथादान्तस्य भारत।
यत्रैव निवसेद् दान्तस्तदरण्यं स चाश्रमः॥36।।

जिसका आचार-विचार शुद्ध और अन्तःकरण निर्मल है, जिसकी कामनाएँ शुद्ध हैं तथा जो भोगों से पराङ्मुख हो चुका है, वह आत्मज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण कर्मों का, तपस्या का तथा नाना प्रकार की विद्याओं का विधिवत् संन्यास (त्याग) कर के सर्वत्यागी संन्यासी होकर इहलोक में सम्मानित हो परलोक में अक्षय स्वर्ग (ब्रह्मधाम) को प्राप्त होता है।।30-31।। ब्रह्मराशि से उत्पन्न हुआ जो पितामह ब्रह्माजी का उत्तम धाम है, वह हृदय गुहा में छिपा हुआ है। उसकी प्राप्ति सदा दम (इन्द्रिय संयम और मनोनिग्रह) से ही होती है।।32।। जिसका कभी भी प्राणी के साथ विरोध नहीं है, जो ज्ञान स्वरूप आत्मा में रमता रहता है, ऐसे ज्ञानी को इस लोक में पुनः जन्म लेने का भय ही नहीं रहता, फिर उसे परलोक का भय कैसे हो सकता है?।।33।। दम अर्थात् संयम में एक ही दोष है, दूसरा नहीं। वह यह कि क्षमाशील होने के कारण उसे लोग असमर्थ समझने लगते हैं।।34।। महाप्राज्ञ युधिष्ठिर! उसका यह एक दोष ही महान् गुण हो सकता है। क्षमा धारण करने से उसको बहुत-से पुण्यलोक सुलभ होते हैं। साथ ही क्षमा से सहिष्णुता भी आ जाती है।।35।। भारत! संयमी पुरुष को वन में जाने की क्या आवश्यकता है? और जो असंयमी हैं, उनको वन में रहने से भी क्या लाभ है? संयमी पुरुष जहाँ रहे, वहीं उसके लिए वन और और आश्रम है।।36।।

वैशम्पायन उवाच

एतद् भीष्मस्य वचनं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः।
अमृतेनेव सन्तृप्तः प्रहृष्टः समपद्यत॥37।।
पुनश्च परिपप्रच्छ भीष्मं धर्मभृतां वरम्।

ततः प्रति स चोवाच तस्मै सर्वं कुरूद्वह॥38॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मजी की यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न हुए, मानो अमृत पीकर तृप्त हो गए हों॥37॥ कुरुश्रेष्ठ! तत्पश्चात् उन्होंने धर्मात्माओं में श्रेष्ठ भीष्म जी से पुनः तपस्या के विषय में प्रश्न किया। तब भीष्मजी ने उन्हें उसके विषय में सब कुछ बताना आरम्भ किया॥38॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि दमकथने षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥160॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म में दम का वर्णन विषय एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥160॥

चतुर्थोऽध्यायः

तप की महिमा

भीष्म उवाच

सर्वमेतत् तपोमूलं कवयः परिचक्षते।
न ह्यतप्ततपा मूढः क्रियाफलमवाप्नुते॥1॥
प्रजापतिरिदं सर्वं तपसैवासृजत् प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे॥2॥
तपसैव ससर्जान्नं फलमूलानि यानि च।
त्रील्लोँकांस्तपसा सिद्धाः पश्यन्ति सुसमाहिताः॥3॥
औषधान्यगदादीनि क्रियाश्च विविधास्तथा।
तपसैव हि सिद्ध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम्॥4॥
यद् दुरापं भवेत् किञ्चित्तत् सर्वं तपसो भवेत्।
ऐश्वर्यमृषयः प्राप्तास्तपसैव न संशयः॥5॥
सुरापोऽसम्मतादायी भ्रूणहा गुरुतल्पगः।
तपसैव सुतप्तेन नरः पापात् प्रमुच्यते॥6॥
तपसो बहुरूपस्य तैस्तैर्द्वारैः प्रवर्ततः।
निवृत्त्या वर्तमानस्य तपो नानशनात् परम्॥7॥
अहिंसा सत्यवचनं दानमिन्द्रियनिग्रहः।
एतेभ्यो हि महाराज तपो नानशनात् परम्॥8॥
न दुष्करतरं दानान्नातिमातरमाश्रयः।
त्रैविद्येभ्यः परं नास्ति सन्न्यासः परमं तपः॥9॥
इन्द्रियाणीह रक्षन्ति स्वर्गधर्माभिगुप्तये।
तस्मादर्थे च धर्मे च तपो नानशनात् परम्॥10॥
ऋषयः पितरो देवा मनुष्या मृगपक्षिणः।

यानि चान्यानि भूतानि स्थावराणि चराणि च॥11॥
तपःपरायणाः सर्वे सिद्ध्यन्ति तपसा च ते।
इत्येवं तपसा देवा महत्त्वं प्रतिपेदिरे॥12॥
इमानीष्टविभागानि फलानि तपसः सदा।
तपसा शक्यते प्राप्तुं देवत्वमपि निश्चयात्॥13॥

भीष्मजी ने कहा—राजन्! इस सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण तप ही है, ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं। जिस मूढ़ ने तपस्या नहीं की है, उसे अपने शुभ कर्मों का फल नहीं मिलता है।।1।। भगवान् प्रजापति ने तप से ही इस समस्त संसार की सृष्टि की है तथा ऋषियों ने तप से ही वेदों का ज्ञान प्राप्त किया है।।2।। जो-जो फल, मूल और अन्न हैं, उनको विधाता ने तप से ही उत्पन्न किया है। तपस्या से सिद्ध हुए एकाग्र चित्त महात्मा पुरुष तीनों लोकों को प्रत्यक्ष देखते हैं।।3।। औषध, आरोग्य आदि की प्राप्ति तथा नाना प्रकार की क्रियाएँ तपस्या से ही सिद्ध होती है; क्योंकि प्रत्येक साधन की जड़ तपस्या ही है।।4।। संसार में कुछ भी दुर्लभ वस्तु हो, वह सब तपस्या से सुलभ हो सकती है। ऋषियों ने तपस्या से ही अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्य को प्राप्त किया है, इसमें संशय नहीं है।।5।। शराबी, किसी की सम्मति के बिना ही उसकी वस्तु उठा लेने वाला (चोर), गर्भ हत्यारा और गुरुपत्नीगामी मनुष्य भी अच्छी तरह की हुई तपस्या द्वारा ही पाप से छुटकारा पाता है।।6।। तपस्या के अनेक रूप हैं और भिन्न-भिन्न साधनों एवं उपायों द्वारा मनुष्य उसमें प्रवृत्त होता है; परन्तु जो निवृत्ति मार्ग से चल रहा है, उसके लिए उपवास से बढ़कर दूसरा कोई तप नहीं है।।7।। महाराज! अहिंसा, सत्यभाषण, दान और इन्द्रिय संयम—इन सबसे बढ़कर तप है और उपवास से बड़ी कोई तपस्या नहीं है।।8।। दान से बढ़कर कोई दुष्कर धर्म नहीं है, माता की सेवा से बड़ा कोई दूसरा आश्रय नहीं है, तीनों वेदों के विद्वानों से श्रेष्ठ कोई विद्वान् नहीं है और संन्यास सबसे बड़ा तप है।।9।। इस संसार में धार्मिक पुरुष स्वर्ग के साधनभूत धर्म की रक्षा के लिए इन्द्रियों को सुरक्षित (संयमशील बनाये) रखते हैं। परन्तु धर्म और अर्थ दोनों की सिद्धि के लिए तप ही श्रेष्ठ साधन है और उपवास से बढ़कर कोई तपस्या नहीं है।।10।। ऋषि, पितर, देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी तथा दूसरे जो चराचर प्राणी हैं, वे सब तपस्या में ही तत्पर रहते हैं। तपस्या से ही उन्हें सिद्धि प्राप्त होती है। इसी प्रकार देवताओं ने भी तपस्या से ही महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त किया है।।11-12।। ये जो भिन्न-भिन्न अभीष्ट फल कहे गए हैं, वे सब सदा तपस्या से ही सुलभ होते हैं। तपस्या से निश्चय ही देवत्व भी प्राप्त किया जा सकता है।।13।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि तपः
प्रशंसायामेकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 161 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में तपस्या की प्रशंसा विषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ।।161।।

पञ्चमोऽध्यायः

सत्य के लक्षण, स्वरूप और महिमा का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं धर्मं प्रशंसन्ति विप्रर्षिपितृदेवताः।
सत्यमिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि पितामह॥1॥
सत्यं किंलक्षणं राजन् कथं वा तदवाप्यते।
सत्यं प्राप्य भवेत् किञ्च कथं चैव तदुच्यताम्॥2॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! ब्राह्मण, ऋषि, पितर और देवता—ये सब सत्य भाषण रूप धर्म की प्रशंसा करते हैं; अतः अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि सत्य क्या है? उसे मुझे बताइये॥1॥ राजन्! सत्य का लक्षण क्या है? उसकी प्राप्ति कैसे होती है? सत्य का पालन करने से क्या लाभ होता है? और कैसे होता है? यह बताइये॥2॥

भीष्म उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माणां सङ्करो न प्रशस्यते।
अविकारितमं सत्यं सर्ववर्णेषु भारत॥3॥
सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः॥4॥
सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥5॥
आचारानिह सत्यस्य यथावदनुपूर्वशः।
लक्षणं च प्रवक्ष्यामि सत्यस्येह यथाक्रमम्॥6॥
प्राप्यते च यथा सत्यं तच्च श्रोतुमिहार्हसि।
सत्यं त्रयोदशविधं सर्वलोकेषु भारत॥7॥
सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता॥8॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश॥9॥
सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च।
सर्वधर्माविरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते॥10॥
आत्मनिष्टे तथानिष्टे रिपौ च समता तथा।
इच्छाद्वेषक्षयं प्राप्य कामक्रोधक्षयं तथा॥11॥
दमो नान्यस्पृहा नित्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च।
अभयं रोगशमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते॥12॥
अमात्सर्यं बुधाः प्राहुर्दाने धर्मे च संयमः।
अवस्थितेन नित्यं च सत्येनामत्सरी भवेत्॥13॥

भीष्मजी ने कहा—भरतनन्दन! ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के जो धर्म हैं, उनका परस्पर सम्मिश्रण अच्छा नहीं माना जाता है। निर्विकार सत्य सभी वर्णों में प्रतिष्ठित है।।3।। सत्पुरुषों में सदा सत्य रूप धर्म का ही पालन हुआ है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्य को ही सदा सिर झुकाना चाहिये; क्योंकि सत्य ही जीव की परम गति है।।4।। सत्य ही धर्म, तप और योग है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है, सत्य को ही परम यज्ञ कहा गया है तथा सब कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है।।5।। अब मैं तुम्हें क्रमश: सत्य के आचार और लक्षण ठीक-ठीक बताऊँगा।।6।। साथ ही यह भी बता देना चाहता हूँ कि उस सत्य की प्राप्ति कैसे होती है? तुम ध्यान देकर सुनो। भारत! सम्पूर्ण लोकों में सत्य के तेरह भेद माने गये हैं।।7।। राजेन्द्र! सत्य, समता, दम, मत्सरता का अभाव, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा (सहनशीलता), अनसूया, त्याग, परमात्मा का ध्यान, आर्यता (श्रेष्ठ आचरण), निरन्तर स्थिर रहने वाली धृति (धैर्य) तथा अहिंसा—ये तेरह सत्य के ही स्वरूप हैं इसमें संशय नहीं है।।8-9।। नित्य एकरस, अविनाशी और अविकारी होना ही सत्य का लक्षण है। समस्त धर्मों के अनुकूल कर्त्तव्यपालन रूप योग के द्वारा इस सत्य की प्राप्ति होती है।।10।। अपने प्रिय मित्र में तथा अप्रिय शत्रु में भी समान भाव रखना 'समता' है। इच्छा (राग), द्वेष, काम और क्रोध को मिटा देना ही समता की प्राप्ति का उपाय है।।11।। किसी दूसरे की वस्तु को लेने की इच्छा न करना, सदा गम्भीरता और धीरता रखना, भय को त्याग देना तथा मन के रोगों को शान्त कर देना—यह 'दम' (मन और इन्द्रियों के संयम) का लक्षण है। इसकी प्राप्ति ज्ञान से होती है।।12।। दान और धर्म करते समय मन पर संयम रखना अर्थात् इस विषय में दूसरों से ईर्ष्या न करना इसे विद्वान् लोग 'मत्सरता का अभाव' कहते हैं। सदा सत्य का पालन करने से ही मनुष्य मत्सरता से रहित हो सकता है।।13।।

अक्षमाया: क्षमायाश्च प्रियाणीहाप्रियाणि च।
क्षमते सम्मत: साधु: साध्वाप्नोति च सत्यवाक्॥14।।
कल्याणं कुरुते बाढं धीमान् न ग्लायते क्वचित्।
प्रशान्तवाङ्मना नित्यं ह्रीस्तु धर्मादवाप्यते॥15।।
धर्मार्थहेतो: क्षमते तितिक्षा क्षान्तिरुच्यते।
लोकसङ्ग्रहणार्थं वै सा तु धैर्येण लभ्यते॥16।।
त्याग: स्नेहस्य यत् त्यागो विषयाणां तथैव च।
रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा॥17।।
आर्यता नाम भूतानां य: करोति प्रयत्नत:।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च॥18।।
धृतिर्नाम सुखे दु:खे यथा नाप्नोति विक्रियाम्।
तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद् भूतिमात्मन:॥19।।
सर्वथा क्षमिणा भाव्यं तथा सत्यपरेण च।
वीतहर्षभयक्रोधो धृतिमाप्नोति पण्डित:॥20।।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥21॥
एते त्रयोदशाकाराः पृथक् सत्यैकलक्षणाः।
भजन्ते सत्यमेवेह बृंहयन्ते च भारत॥22॥
नान्तः शक्यो गुणानां च वक्तुं सत्यस्य पार्थिव।
अतः सत्यं प्रशंसन्ति विप्राः सपितृदेवताः॥23॥
नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत्॥24॥
उपैति सत्याद् दानं हि तथा यज्ञाः सदक्षिणाः।
त्रेताग्निहोत्रं वेदाश्च ये चान्ये धर्मनिश्चयाः॥25॥
अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥26॥

जो सहने और न सहने योग्य व्यवहारों तथा प्रिय एवं अप्रिय वचनों को भी समान रूप से सहन कर लेता है, वही सर्वसम्मत क्षमाशील श्रेष्ठ पुरुष है। सत्यवादी पुरुष को ही उत्तम रीति से क्षमा भाव की प्राप्ति होती है॥14॥ जो बुद्धिमान् पुरुष भलीभाँति दूसरों का कल्याण करता है और मन में कभी खेद नहीं मानता, जिसकी मन-वाणी सदा शान्त रहती हैं, वह लज्जाशील माना जाता है। वह लज्जा नामक गुण धर्म के आचारण से प्राप्त होता है॥15॥ धर्म और अर्थ के लिए मनुष्य जो कष्ट सहन करता है, उसकी वह सहनशीलता 'तितिक्षा' कहलाती है। लोगों के सामने आदर्श उपस्थित करने के लिए उसका अवश्य पालन करना चाहिए। तितिक्षा की प्राप्ति धैर्य से होती है (दूसरों के दोष न देखना 'अनसूया' है)॥16॥ विषयों की आसक्ति का जो त्याग है, वही वास्तविक त्याग है। राग-द्वेष से रहित होने पर ही त्याग की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं (परमात्म चिन्तन का नाम ही 'ध्यान' है)॥17॥ जो मनुष्य अपने को प्रकट न करके प्रयत्नपूर्वक प्राणियों की भलाई का काम करता रहता है, उसके उस श्रेष्ठ भाव और आचरण का नाम ही 'आर्यता' है। यह आसक्ति के त्याग से प्राप्त होता है॥18॥ सुख या दुःख प्राप्त होने पर मन में विकार न होना 'धृति' है। जो अपनी उन्नति चाहता हो, उस बुद्धिमान् पुरुष को सदा ही 'धृति' का सेवन करना चाहिए॥19॥ मनुष्य को सदा क्षमाशील होना तथा सत्य में तत्पर रहना चाहिये। जिसने हर्ष, भय और क्रोध तीनों को त्याग दिया है, उस विद्वान् पुरुष को ही 'धैर्य' की प्राप्ति होती है॥20॥ मन, वाणी और क्रिया द्वारा सभी प्राणियों के साथ कभी द्रोह न करना तथा दया और दान यह श्रेष्ठ पुरुषों का सनातन धर्म है॥21॥ ये पृथक् पृथक् तेरह रूपों में बताये हुए धर्म एकमात्र सत्य को ही लक्षित कराने वाले हैं। ये सत्य का ही आश्रय लेते और उसी की वृद्धि एवं पुष्टि करते हैं॥22॥ पृथ्वीनाथ! सत्य के गुणों की सीमा नहीं बतायी जा सकती। इसीलिए पितर और देवताओं के सहित ब्राह्मण सत्य की प्रशंसा करते हैं॥23॥ सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और झूठ से बढ़कर कोई पातक नहीं है। सत्य ही धर्म की आधारशिला है; अतः

सत्य का लोप न करे।।24।। दान का, दक्षिणाओं सहित यज्ञ का, त्रिविध अग्नियों में हवन का, वेदों के स्वाध्याय का तथा अन्य जो धर्म का निर्णय करने वाले शास्त्र हैं, उनके भी अध्ययन का फल मनुष्य सत्य से प्राप्त कर लेता है।।25।। यदि एक ओर एक हजार अश्वमेध यज्ञों को और दूसरी ओर एकमात्र सत्य को तराजू पर रखा जाए तो एक हजार अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा सत्य का ही पलड़ा भारी होगा।।26।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि सत्यप्रशंसायां द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 162 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में सत्य की प्रशंसा विषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ।।162।।

षष्ठोऽध्यायः

काम, क्रोध आदि तेरह दोषों का निरूपण और उनके नाश का उपाय

युधिष्ठिर उवाच

यतः प्रभवति क्रोधः कामो वा भरतर्षभ।
शोकमोहौ विधित्सा च परासुत्वं तथा मदः॥1।।
लोभो मात्सर्यमीर्ष्या च कुत्सासूया कृपा तथा।
एतत् सर्वं महाप्राज्ञ याथातथ्येन मे वद॥2।।

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतश्रेष्ठ! परम बुद्धिमान् पितामह! क्रोध, काम, शोक, मोह, विधित्सा (शास्त्रविरुद्ध काम करने की इच्छा), परासुता (दूसरों के मारने की इच्छा), मद, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, निन्दा दोष दृष्टि और कञ्जूसी (दैन्यभाव)—ये सब दोष किससे उत्पन्न होते हैं? यह ठीक-ठीक बताइये।।1-2।।

भीष्म उवाच

त्रयोदशैतेऽतिबलाः शत्रवः प्राणिनां स्मृताः।
उपासन्ते महाराज समन्तात् पुरुषानिह॥3।।
एते प्रमत्तं पुरुषमप्रमत्तास्तुदन्ति च।
वृका इव विलुम्पन्ति दृष्ट्वैव पुरुषं बलात्॥4।।
एभ्यः प्रवर्तते दुःखमेभ्यः पापं प्रवर्तते।
इति मर्त्यो विजानीयात् सततं पुरुषर्षभ॥5।।
एतेषामुदयं स्थानं क्षयं च पृथिवीपते।
हन्त ते कथयिष्यामि क्रोधस्योत्पत्तिमादितः॥6।।
यथातत्त्वं क्षितिपते तदिहैकमनाः शृणु।
लोभात् क्रोधः प्रभवति परदोषैरुदीर्यते॥7।।
क्षमया तिष्ठते राजन् क्षमया विनिवर्तते।

सङ्कल्पाज्जायते कामः सेव्यमानो विवर्धते॥8।।
यदा प्राज्ञो विरमते तदा सद्यः प्रणश्यति।
परासुता क्रोधलोभादभ्यासाच्च प्रवर्तते॥9।।
दयया सर्वभूतानां निर्वेदात् सा निवर्तते।
अवद्यदर्शनादेति तत्त्वज्ञानाच्च धीमताम्॥10।।
अज्ञानप्रभवो मोहः पापाभ्यासात् प्रवर्तते।
यदा प्राज्ञेषु रमते तदा सद्यः प्रणश्यति॥11।।
विरुद्धानीह शास्त्राणि ये पश्यन्ति कुरूद्वह।
विधित्सा जायते तेषां तत्त्वज्ञानान्निवर्तते॥12।।
प्रीत्या शोकः प्रभवति वियोगात् तस्य देहिनः।
यदा निरर्थकं वेत्ति तदा सद्यः प्रणश्यति॥13।।

भीष्मजी ने कहा—महाराज युधिष्ठिर! तुम्हारे कहे हुए ये तेरह दोष प्राणियों के अत्यन्त प्रबल शत्रु माने गये हैं, जो यहाँ मनुष्यों को सब ओर से घेरे रहते हैं।।3।। ये सदा सावधान रहकर प्रमाद में पड़े हुए पुरुष को अत्यन्त पीड़ा देते हैं। मनुष्य को देखते ही भेड़ियों की तरह बलपूर्वक उस पर टूट पड़ते हैं।।4।। नरश्रेष्ठ! इन्हीं से सबको दुःख प्राप्त होता है, इन्हीं की प्रेरणा से मनुष्य की पाप कर्मों में प्रवृत्ति होती है। प्रत्येक पुरुष को सदा इस बात की जानकारी रखनी चाहिये।।5।। पृथ्वीनाथ! अब मैं यह बता रहा हूँ कि इनकी उत्पत्ति किससे होती है? ये किस तरह स्थिर रहते हैं? और कैसे इनका विनाश होता है? राजन्! सबसे पहले क्रोध की उत्पत्ति का यथार्थ रूप से वर्णन करता हूँ। तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर इस विषय को सुनो! राजन्! क्रोध लोभ से उत्पन्न होता, दूसरों के दोष देखने से बढ़ता, क्षमा करने से थम जाता और क्षमा से ही निवृत्त हो जाता है। काम सङ्कल्प से उत्पन्न होता है। उसका सेवन किया जाए तो बढ़ता है और जब बुद्धिमान् पुरुष उससे विरक्त हो जाता है, तब वह (काम) तत्काल नष्ट हो जाता है।।6-8।। क्रोध और लोभ से तथा अभ्यास से परासुता प्रकट होती है। सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति दया से और वैराग्य से वह निवृत्त होती है। परदोष दर्शन से इसकी उत्पत्ति होती और बुद्धिमानों के तत्त्वज्ञान से वह नष्ट हो जाती है।।9-10।। मोह अज्ञान से उत्पन्न होता है और पाप की आवृत्ति करने से बढ़ता है। जब मनुष्य विद्वानों में अनुराग करता है, तब उसका मोह तत्काल नष्ट हो जाता है।।11।। कुरुश्रेष्ठ! जो लोग धर्म के विरोधी शास्त्रों का अवलोकन करते हैं, उनके मन में अनुचित कर्म करने की इच्छा रूप विधित्सा उत्पन्न होती है। यह तत्त्व ज्ञान से निवृत्त होती है।।12।। जिस पर प्रेम हो, उस प्राणी के वियोग से शोक प्रकट होता है। परन्तु जब मनुष्य यह समझ ले कि शोक व्यर्थ है—उससे कोई लाभ नहीं है तो तुरन्त ही उस शोक की शान्ति हो जाती है।।13।।

परासुता क्रोधलोभादभ्यासाच्च प्रवर्तते।
दयया सर्वभूतानां निर्वेदात् सा निवर्तते॥14।।

सत्यत्यागात् तु मात्सर्यमहितानां च सेवया।
एतत् तु क्षीयते तात साधूनामुपसेवनात्॥15।।
कुलाज्ज्ञानात् तथैश्वर्यान्मदो भवति देहिनाम्।
एभिरेव तु विज्ञातैः स च सद्यः प्रणश्यति॥16।।
ईर्ष्या कामात् प्रभवति संहर्षाच्चैव जायते।
इतरेषां तु सत्त्वानां प्रज्ञया सा प्रणश्यति॥17।।
विभ्रमाल्लोकबाह्यानां द्वेष्यैर्वाक्यैरसम्मतैः।
कुत्सा सञ्जायते राजँल्लोकान् प्रेक्ष्याभिशाम्यति॥18।।
प्रतिकर्तुं न शक्ता ये बलस्थायापकारिणे।
असूया जायते तीव्रा कारुण्याद् विनिवर्तते॥19।।
कृपणान् सततं दृष्ट्वा ततः सञ्जायते कृपा।
धर्मनिष्ठां यदा वेत्ति तदा शाम्यतिसा कृपा॥20।।
अज्ञानप्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा।
अस्थिरत्वं च भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा निवर्तते॥21।।
एतान्येव जितान्याहुः प्रशमाच्च त्रयोदश।
एते हि धार्तराष्ट्राणां सर्वे दोषास्त्रयोदश।
त्वया सत्यार्थिना नित्यं विजिता ज्येष्ठसेवनात्॥23।।

क्रोध, लोभ और अभ्यास के कारण परासुता अर्थात् दूसरों को मारने की इच्छा होती है। समस्त प्राणियों के प्रति दया और वैराग्य होने से उसकी निवृत्ति हो जाती है।।14।। सत्य का त्याग और दुष्टों का साथ करने से मात्सर्य दोष की उत्पत्ति होती है। तात! श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा और सङ्गति करने से उसका नाश हो जाता है।।15।। अपने उत्तम कुल, उत्कृष्ट ज्ञान तथा ऐश्वर्य का अभिमान होने से देहाभिमानी मनुष्यों पर मद सवार हो जाता है; परन्तु इनके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर वह मद तत्काल उतर जाता है।।16।। मन में कामना होने से तथा दूसरे प्राणियों की हँसी खुशी देखने से ईर्ष्या की उत्पत्ति होती है तथा विवेकशील बुद्धि के द्वारा उसका नाश होता है।।17।। राजन्! समाज से बहिष्कृत हुए नीच मनुष्यों के द्वेषपूर्ण तथा अप्रामाणिक वचनों को सुनकर भ्रम में पड़ जाने से निन्दा करने की आदत होती है; परन्तु श्रेष्ठ पुरुषों को देखने से वह शान्त हो जाती है।।18।। जो लोग अपनी बुराई करने वाले बलवान् मनुष्य से बदला लेने में असमर्थ होते हैं, उनके हृदय में तीव्र असूया (दोष दर्शन की प्रवृत्ति) पैदा होती है, परन्तु दया का भाव जाग्रत होने से उसकी निवृत्ति हो जाती है।।19।। सदा कृपण मनुष्यों को देखने से अपने में भी दैन्य भाव—कञ्जूसी का भाव पैदा होता है; धर्मनिष्ठ पुरुषों के उदार भाव को जान लेने पर वह कञ्जूसी का भाव नष्ट हो जाता है।।20।। प्राणियों का भोगों के प्रति जो लोभ देखा जाता है, वह अज्ञान के ही कारण है। भोगों की क्षणभङ्गुरता को देखने और जानने से उसकी निवृत्ति हो जाती है।।21।। कहते हैं, ये तेरहों दोष शान्ति धारण करने से जीत लिए जाते हैं। धृतराष्ट्र के पुत्रों में ये सभी दोष मौजूद थे और

तुम सत्य को ग्रहण करना चाहते हो; इसलिए तुमने श्रेष्ठ पुरुषों के सेवन से इन सब पर विजय प्राप्त कर ली।।22-23।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि लोभनिरूपणे त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 163 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में लोभ निरूपण विषयक एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ।।163।।

सप्तमोऽध्याय:

नृशंस अर्थात् अत्यन्त नीच पुरुष के लक्षण

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यं विजानामि दर्शनेन सतां सदा।
नृशंसान्न विजानामि तेषां कर्म च भारत॥1।।
कण्टकान् कूपमग्निं च वर्जयन्ति यथा नराः।
तथा नृशंसकर्माणं वर्जयन्ति नरा नरम्॥2।।
नृशंसो दह्यते नित्यं प्रेत्य चेह च भारत।
तस्मात् त्वं ब्रूहि कौरव्य तस्य धर्मविनिश्चयम्॥3।।

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतनन्दन! सदा श्रेष्ठ पुरुषों के सेवन और दर्शन से मैं इस बात को जानता हूँ कि कोमलता पूर्ण बर्ताव कैसे किया जाता है? परन्तु नृशंस मनुष्यों और उनके कर्मों का मुझे विशेष ज्ञान नहीं है।।1।। जैसे मनुष्य रास्ते में मिले हुए काँटों, कुओं और आग को बचाकर चलते हैं, उसी प्रकार मनुष्य नृशंस कर्म करने वाले पुरुषों को भी दूर से ही त्याग देते हैं।।2।। भारत! कुरुनन्दन! नृशंस मनुष्य इस लोक और परलोक में भी सदा ही शोक की आग से जलता रहता है; अत: आप मुझे नृशंस मनुष्य और उसके धर्म-कर्म का यथार्थ परिचय दीजिये।।3।।

भीष्म उवाच

स्पृहा स्याद् गर्हिता चैव विधित्सा चैव कर्मणाम्।
आक्रोष्टा क्रुश्यते चैव वञ्चितो बुद्ध्यते स च॥4।।
दत्तानुकीर्तिर्विषमः क्षुद्रो नैकृतिकः शठः।
असंविभागी मानी च तथा सङ्गी विकत्थनः॥5।।
सर्वातिशङ्की पुरुषो बलीशः कृपणोऽथवा।
वर्गप्रशंसी सततमाश्रमद्वेषसङ्करी॥6।।
हिंसाविहारः सततमविशेषगुणागुणः।
बह्वलीकोऽमनस्वी च लुब्धोऽत्यर्थं नृशंसकृत्॥7।।
धर्मशीलं गुणोपेतं पापमित्यवगच्छति।

आत्मशीलप्रमाणेन न विश्वसिति कस्यचित्॥8॥
परेषां यत्र दोषः स्यात् तद् गुह्यं सम्प्रकाशयेत्।
समानेष्वेव दोषेषु वृत्त्यर्थमुपघातयेत्॥9॥
तथोपकारिणं चैव मन्यते वञ्चितं परम्।
दत्त्वापि च धनं काले सन्तपत्युपकारिणे॥10॥
भक्ष्यं पेयमथालेह्यं यच्चान्यत् साधु भोजनम्।
प्रेक्षमाणेषु योऽश्नीयान्नृशंसमिति तं वदेत्॥11॥
ब्राह्मणेभ्यः प्रदायाग्रं यः सुहृद्भिः सहाश्नुते।
स प्रेत्य लभते स्वर्गमिह चानन्त्यमश्नुते॥12॥
एष ते भरतश्रेष्ठ नृशंसः परिकीर्तितः।
सदा विवर्जनीयो हि पुरुषेण विजानता॥13॥

भीष्मजी ने कहा—राजन्! जिसके मन में बड़ी घृणित इच्छाएँ रहती हैं, जो हिंसा प्रधान कुत्सित कर्मों को आरम्भ करना चाहता है, स्वयं दूसरों की निन्दा करता है और दूसरे उसकी निन्दा करते हैं, जो अपने को दैव से वञ्चित समझता और पाप में निवृत्त होता है, दिये हुए दान का बारम्बार बखान करता है, जिसके मन में विषमता भरी रहती है, जो नीच कर्म करने वाला, दूसरों की जीविका का नाश करने वाला और शठ है, भोग्य वस्तुओं को दूसरों को दिये बिना ही अकेले भोगता है, जिसके भीतर अभिमान भरा हुआ है, जो विषयों में आसक्त और अपनी प्रशंसा के लिए व्यर्थ ही बढ़-चढ़ कर बातें बनाने वाला है, जिसके मन में सबके प्रति सन्देह बना रहता है, जो कौए की तरह वञ्चक दृष्टि रखने वाला है, जिसमें कृपणता कूट-कूट कर भरी है, जो अपने ही वर्ग के लोगों की प्रशंसा करता, सदा आश्रमों से द्वेष रखता और वर्ण सङ्करता फैलाता है, सदा हिंसा के लिए ही जिसका घूमना फिरना होता है, जो गुण को भी अवगुण के समान समझता और बहुत झूठ बोलता है, जिसके मन में उदारता नहीं है और जो अत्यन्त लोभी है, ऐसा मनुष्य ही नृशंस कर्म करने वाला कहा गया है॥4-7॥ वह धर्मात्मा और गुणवान् पुरुष को ही पापी मानता है और अपने स्वभाव को आदर्श मानकर किसी पर विश्वास नहीं करता है॥8॥ जहाँ दूसरों की बदनामी होती हो, वहाँ उनके गुप्त दोषों को भी प्रकट कर देता है और अपने तथा दूसरे के अपराध बराबर होने पर भी वह आजीविका के लिए दूसरे का ही सर्वनाश करता है॥9॥ जो उसका उपकार करता है, उसको वह अपने जाल में फँसा हुआ समझता है और उपकारी को भी यदि कभी धन देता है तो उसके लिए बहुत समय तक पश्चात्ताप करता रहता है॥10॥ जो मनुष्य दूसरों के देखते रहने पर भी उत्तम भक्ष्य, पेय, लेह्य तथा दूसरे दूसरे भोज्य पदार्थों को अकेला ही खा जाता है, उसको भी नृशंस ही कहना चाहिये॥11॥ जो पहले ब्राह्मण को देकर पीछे अपने सुहृदों के साथ स्वयं भोजन करता है, वह इस लोक में अनन्त सुख भोगता है और मृत्यु के पश्चात् स्वर्गलोक में जाता है॥12॥ भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार

तुम्हारे प्रश्न के अनुसार यहाँ नृशंस मनुष्य का परिचय दिया गया है। विज्ञ पुरुष को चाहिये कि वह सदा उससे बचकर रहे।।13।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि नृशंसाख्याने चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥164॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में नृशंस का वर्णन विषयक एक सौ चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ।।164।।

अष्टमोऽध्यायः

नाना प्रकार के पापों और उनके प्रायश्चित्तों का वर्णन

भीष्म उवाच

हृतार्थो यक्ष्यमाणश्च सर्ववेदान्तगश्च यः।
आचार्यपितृकार्यार्थं स्वाध्यायार्थमथापि च॥1।।
एते वै साधवो दृष्ट्वा ब्राह्मणा धर्मभिक्षवः।
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्या च भारत॥2।।
अन्यत्र दक्षिणादानं देयं भरतसत्तम।
अन्येभ्योऽपि बहिर्वेदि चाकृतान्नं विधीयते॥3।।
सर्वरत्नानि राजा हि यथार्हं प्रतिपादयेत्।
ब्राह्मणा एव वेदाश्च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः।
अन्योन्यं विभवाचारा यजन्ते गुणतः सदा॥4।।
यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये।
अधिकं चापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति॥5।।
यज्ञश्चेत् प्रतिरुद्धः स्यादंशेनैकेन यज्वनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि॥6।।
यो वैश्यः स्याद् बहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः।
कुटुम्बात् तस्य तद्वित्तं यज्ञार्थं पार्थिवो हरेत्॥7।।
आहरेदथ नो किञ्चित् कामं शूद्रस्य वेश्मनः।
न हि यज्ञेषु शूद्रस्य किञ्चिदस्ति परिग्रहः॥8।।
योऽनाहिताग्निः शतगुरयज्वा च सहस्रगुः।
तयोरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन्॥9।।
अदातृभ्यो हरेद् वित्तं विख्याप्य नृपतिः सदा।
तथैवाचरतो धर्मो नृपतेः स्यादथाखिलः॥10।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! सम्पूर्ण वेदों और उपनिषदों का पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण यदि यज्ञ करने वाला हो तथा उसका धन चोर चुरा ले गये हों तो राजा का कर्त्तव्य है कि वह उसे आचार्य की दक्षिणा देने, पितरों का श्राद्ध करने तथा वेद शास्त्रों

का स्वाध्याय करने के लिए धन दे। भरतनन्दन! ये श्रेष्ठ ब्राह्मण प्राय: धर्म के लिए धन की भिक्षा माँगते देखे गये हैं। इन्हें दान और विद्याध्ययन के लिए धन देना चाहिए।।1-2।। भरतश्रेष्ठ! इससे भिन्न परिस्थिति में ब्राह्मण को केवल दक्षिणा देनी चाहिये और ब्राह्मणेतर मनुष्यों को भी यज्ञवेदी से बाहर कच्चा अन्न देने का विधान है।।3।। राजा को चाहिये कि वह ब्राह्मणों को उनकी योग्यता के अनुसार सब प्रकार के रत्नों का दान करे; क्योंकि ब्राह्मण ही वेद एवं बहुसंख्यक दक्षिणा वाले यज्ञरूप हैं। अपनी सम्पत्ति के अनुसार समस्त कार्यों का आयोजन करने वाले वे ब्राह्मण सदा आपस में मिलकर गुणयुक्त यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं।।4।। जिस ब्राह्मण के पास अपने पालनीय कुटुम्बीजनों के भरण-पोषण के लिए तीन वर्ष तक उपभोग में आने लायक पर्याप्त धन हो अथवा उससे भी अधिक वैभव विद्यमान हो, वही सोमपान का अधिकारी है—उसे ही सोमयाग का अनुष्ठान करना चाहिए।।5।। यदि धर्मात्मा राजा के रहते हुए किसी यज्ञकर्त्ता का, विशेषत: ब्राह्मण का यज्ञ धन के बिना अधूरा रह जाए—उसके एक अंश की पूर्ति शेष रह जाए तो राजा को चाहिये कि उसके राज्य में जो बहुत पशुओं तथा वैभव से सम्पन्न वैश्य हो, यदि वह यज्ञ तथा सोमयाग से रहित हो तो उसके कुटुम्ब से उस धन को यज्ञ के लिए ले ले।।6-7।। किन्तु राजा अपनी इच्छा के अनुसार शूद्र के घर से थोड़ा-सा भी धन न ले आवे; क्योंकि यज्ञों में शूद्र का किञ्चिन्मात्र भी अधिकार नहीं है।।8।। जिस वैश्य के पास एक सौ गौएँ हों और वह अग्निहोत्र न करता हो तथा जिसके पास एक हजार गौएँ हों और वह यज्ञ न करता हो, दन दोनों के कुटुम्बों से राजा बिना विचारे ही धन उठा लावे।।9।। जो धन रहते हुए उसका दान न करते हों, ऐसे लोगों के इस दोष को विख्यात करके राजा सदा धर्म के लिए उनका धन ले ले, ऐसा आचरण करने वाले राजा को सम्पूर्ण धर्म की प्राप्ति होती है।।10।।

तथैव शृणु मे भक्तं भक्तानि षडनश्नत:।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मण:॥11।।
खलात् क्षेत्रात् तथा रामाद् यतो वाप्युपपद्यते।
आख्यातव्यं नृपस्यैतत्पृच्छतेऽपृच्छतेऽपि वा॥12।।
न तस्मै धारयेद् दण्डं राजा धर्मेण धर्मवित्।
क्षत्रियस्य तु बालिश्याद् ब्राह्मण: क्लिश्यते क्षुधा॥13।।
श्रुतशीले समाज्ञाय वृत्तिमस्य प्रकल्पयेत्।
अथैनं परिरक्षेत पिता पुत्रमिवौरसम्॥14।।
इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये।
अनुकल्प: परो धर्मो धर्मवादैस्तु केवलम्॥15।।
विश्वैर्देवैश्च साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभि:।
आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधि: प्रतिनिधीकृत:॥16।।
प्रभु: प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पे न वर्तते।
न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम्॥17।।

न ब्राह्मणो निवेदेत किञ्चिद् राजनि वेदवित्।
स्ववीर्याद् राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम्॥18॥
तस्माद् राज्ञः सदा तेजो दुःसहं ब्रह्मवादिनाम्।
कर्ता शास्ता विधाता च ब्राह्मणो देव उच्यते॥19॥

युधिष्ठिर! इसी प्रकार मैं अन्न के विषय में जो बात बता रहा हूँ, उसे सुनो। यदि ब्राह्मण अन्नाभाव के कारण लगातार छः समय तक उपवास कर जाए तो उस अवस्था में वह किसी निकृष्ट कर्म करने वाले मनुष्य के घर से उतने धन का अपहरण कर सकता है, जिससे उसके एक दिन का भोजन चल जाए और दूसरे दिन के लिए कुछ बाकी न रहे॥11॥ खलिहान से, खेत से, बगीचे से अथवा जहाँ से भी अन्न मिल सके, वहीं से वह भोजन मात्र के लिए अन्न उठा जावे और उसके बाद राजा पूछे या न पूछे, उसके पास जाकर अपनी वह बात उसे कह दे॥12॥ उस दशा में धर्मज्ञ राजा धर्म के अनुसार उसे दण्ड न दे; क्योंकि क्षत्रिय राजा की नादानी से ही ब्राह्मण को भूख का कष्ट उठाना पड़ता है॥13॥ राजा उसके शास्त्रज्ञान और स्वभाव का परिचय प्राप्त करके उसके लिए उचित आजीविका की व्यवस्था करे और जैसे पिता अपने औरस पुत्र की रक्षा करता है, उसी प्रकार वह उस ब्राह्मण की रक्षा करे॥14॥ प्रतिवर्ष किए जाने वाले आग्रयण आदि यज्ञ यदि न किये जा सके हों तो उनके बदले प्रतिदिन वैश्वानरी इष्टि समर्पित करे। मुख्य कर्म के स्थान में जो गौण कार्य किया जाता है, उसका नाम अनुकल्प है, धर्मज्ञ पुरुषों द्वारा बताया गया अनुकल्प भी परम धर्म ही है॥15॥ क्योंकि विश्वेदेव, साध्य, ब्राह्मण और महर्षि—इन सब लोगों ने मृत्यु से डरकर आपत्काल के विषय में प्रत्येक विधि का प्रतिनिधि नियत कर दिया है॥16॥ जो मुख्य विधि के अनुसार कर्म करने में समर्थ होकर भी गौण विधि से काम चलाता है, उस दुर्बुद्धि मनुष्य को पारलौकिक फल की प्राप्ति नहीं होती॥17॥ वेदज्ञ ब्राह्मण को चाहिये कि वह राजा के निकट अपनी आवश्यकता निवेदन न करे; क्योंकि ब्राह्मण की अपनी शक्ति तथा राजा की शक्ति में से उसकी अपनी ही शक्ति प्रबल है॥18॥ अतः ब्रह्मवादियों का तेज राजा के लिए दुःसह है। ब्राह्मण इस जगत् का कर्त्ता, शासक, धारण पोषण करने वाला और देवता कहलाता है॥19॥

तस्मिन्नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कामीरयेद् गिरम्।
क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः॥20॥
धनैर्वैश्यश्च शूद्रश्च मन्त्रैर्होमैश्च वै द्विजः।
नैव कन्या न युवतिर्नामन्त्रज्ञो न बालिशः॥21॥
परिवेष्टाग्निहोत्रस्य भवेन्नासंस्कृतस्तथा।
नरकं निपतन्त्येते जुह्वानाः स च यस्य तत्।
तस्माद् वैतानकुशलो होता स्याद् वेदपारगः॥22॥
प्राजापत्यमदत्त्वाश्वमग्न्याधेयस्य दक्षिणाम्।
अनाहिताग्निरिति स प्रोच्यते धर्मदर्शिभिः॥23॥

पुण्यानि यानि कुर्वीत श्रद्धधानो जितेन्द्रिय:।
अनाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्न यजेत कथञ्चन॥24॥
प्रजा: पशूंश्च स्वर्गं च हन्ति यज्ञो ह्यदक्षिण:।
इन्द्रियाणि यश: कीर्तिमायुश्चाप्यवकृन्तति॥25॥
उदक्यामासते ये च द्विजा: केचिदनग्नय:।
होमं चाश्रोत्रियं येषां ते सर्वे पापकर्मिण:॥26॥
उदपानोदके ग्रामे ब्राह्मणो वृषलीपति:।
उषित्वा द्वादश समा: शूद्रकर्मैव गच्छति॥27॥
अभार्यां शयने बिभ्रच्छूद्रं वृद्धं च वै द्विज:।
अब्राह्मणं मन्यमानस्तृणेष्वासीत पृष्ठत:।
तथा संशुध्यते राजन् शृणु चात्र वचो मम॥28॥
यदेकरात्रेण करोति पापं निकृष्टवर्णं ब्राह्मण: सेवमान:।
स्थानासनाभ्यां विहरन् व्रती स त्रिभिर्वर्षै: शमयेदात्मपापम्॥29॥
न नर्मयुक्तमनृतं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन् न विवाहकाले।
न गुर्वर्थं नात्मनो जीवितार्थे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि॥30॥

अत: उसके प्रति अमङ्गलसूचक बात न कहे। रूखे वचन न बोले। क्षत्रिय अपने बाहुबल से, वैश्य और शूद्र धन के बल से तथा ब्राह्मण मन्त्र एवं हवन की शक्ति से अपनी विपत्ति से पार हो सकता है। न कन्या, न युवती, न मन्त्र न जानने वाला, न मूर्ख और न संस्कारहीन पुरुष ही अग्नि में हवन करने का अधिकारी है। यदि ये हवन करते हैं तो स्वयं तो नरक में पड़ते ही हैं, जिसका वह यज्ञ है, वह भी नरक में गिरता है। अत: जो यज्ञ कर्म में कुशल और वेदों का पारङ्गत विद्वान् हो, वही होता हो सकता है।।20-22।। जो अग्निहोत्र आरम्भ करके प्रजापति देवता के लिए अश्व रूप दक्षिणा का दान नहीं करता, धर्मदर्शी पुरुष उसे अनाहिताग्नि कहते हैं।।23।। मनुष्य जो भी पुण्य कर्म करे, उसे श्रद्धापूर्वक और जितेन्द्रिय भाव से करे। पर्याप्त दक्षिणा दिये बिना किसी तरह यज्ञ न करे।।24।। बिना दक्षिणा का यज्ञ प्रजा और पशु का नाश करता है और स्वर्ग की प्राप्ति में भी विघ्न डाल देता है। इतना ही नहीं, वह इन्द्रिय, यश, कीर्ति तथा आयु को भी क्षीण करता है।।25।। जो ब्राह्मण रजस्वला स्त्री के साथ समागम करते हैं, जिन्होंने घर में अग्नि की स्थापना नहीं की है तथा जो अवैदिक रीति से हवन करते हैं, वे सभी पापाचारी हैं।।26।। जिस गाँव में एक ही कुएँ का पानी सब लोग पीते हैं, वहाँ बारह वर्षों तक निवास करने से तथा शूद्र जाति की स्त्री के साथ विवाह कर लेने से ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है।।27।। यदि ब्राह्मण अपनी पत्नी के सिवा दूसरी स्त्री को शय्या पर बिठा ले अथवा बड़े बूढ़े शूद्र को या ब्राह्मणेतर—क्षत्रिय या वैश्य को सम्मान देता हुआ ऊँचे आसन पर बैठाकर स्वयं चटाई पर बैठे तो वह ब्राह्मणत्व से गिर जाता है। राजन्! उसकी शुद्ध जिस प्रकार होती है, वह मुझसे सुनो।।28।। यदि ब्राह्मण एक रात भी किसी नीच वर्ण के मनुष्य की सेवा करे अथवा उसके साथ एक जगह रहे या एक आसन पर बैठे तो इससे जो पाप लगता है, उसको वह तीन वर्षों तक व्रत का पालन करते हुए पृथ्वी

पर विचरने से दूर कर सकता है।।29।। राजन्! परिहास में, स्त्री के पास, विवाह के अवसर पर, गुरु के हित के लिए अथवा अपने प्राण बचाने के उद्देश्य से बोला गया असत्य हानिकारक नहीं होता। इन पाँच अवसरों पर असत्य बोलना पाप नहीं बताया गया है।।30।।

श्रद्दधानः शुभां विद्यां हीनादपि समाप्नुयात्।
सुवर्णमपि चामेध्यादाददीताविचारयन्॥31।।
स्त्रीरत्नं दुष्कुलाच्चापि विषादप्यमृतं पिबेत्।
अदूष्या हि स्त्रियो रत्नमाप इत्येव धर्मतः॥32।।
गोब्राह्मणहितार्थं च वर्णानां सङ्करेषु च।
वैश्यो गृह्णीत शस्त्राणि परित्राणार्थमात्मनः॥33।।
सुरापानं ब्रह्महत्या गुरुतल्पमथापि वा।
अनिर्देश्यानि मन्यन्ते प्राणान्तमिति धारणा॥34।।
सुवर्णहरणं स्तैन्यं विप्रस्वं चेति पातकम्।
विहरन् मद्यपानाच्च अगम्यागमनादपि॥35।।
पतितैः सम्प्रयोगाच्च ब्राह्मणीयोनितस्तथा।
अचिरेण महाराज पतितो वै भवत्युत॥36।।
संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्।
याजनाध्यापनाद् यौनान्न तु यानासनाशनात्॥37।।
एतानि हित्वातोऽन्यानि निर्देश्यानीति भारत।
निर्देश्यानेन विधिना कालेनाव्यसनी भवेत्॥38।।
अन्नं वीर्यं ग्रहीतव्यं प्रेतकर्मण्यपातिते।
त्रिषु त्वेतेषु पूर्वेषु न कुर्वीत विचारणाम्॥39।।
अमात्यान् वा गुरून् वापि जह्याद् धर्मेण धार्मिकः।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणैर्नैतैरर्हति संविदम्॥40।।

नीच वर्ण के पुरुष के पास भी उत्तम विद्या हो तो उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिये और सोना अपवित्र स्थान में भी पड़ा हो तो उसे बिना हिचकिचाहट के उठा लेना चाहिये।।31।। नीच कुल से भी उत्तम स्त्री को ग्रहण कर ले, विष के स्थान से भी अमृत मिले तो उसे पी ले; क्योंकि स्त्रियाँ, रत्न और जल—ये धर्मतः दूषणीय नहीं होते हैं।।32।। गौ और ब्राह्मणों का हित, वर्ण सङ्करता का निवारण तथा अपनी रक्षा करने के लिए वैश्य भी हथियार उठा सकता है।।33।। मदिरापान, ब्रह्महत्या तथा गुरुस्त्री गमन—इन महापापों से छूटने के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है। किसी भी उपाय से अपने प्राणों का अन्त कर देना ही उन पापों का प्रायश्चित्त होगा, ऐसी विद्वानों की धारणा है।।34।। सुवर्ण की चोरी, अन्य वस्तुओं की चोरी तथा ब्राह्मण का धन छीन लेना—यह महान् पाप है। महाराज! मदिरापान और अगम्या स्त्री के साथ गमन करने से, पतितों के साथ सम्पर्क रखने से तथा ब्राह्मणेतर होकर ब्राह्मणी के साथ समागम

करने से स्वेच्छाचारी पुरुष शीघ्र ही पतित हो जाता है।।35-36।। पतित क साथ रहने से, उसका यज्ञ कराने से और उसे पढ़ाने से मनुष्य एक वर्ष में पतित हो जाता है; परन्तु उसकी सन्तान के साथ अपनी सन्तान का विवाह करने से, एक सवारी या एक आसन पर बैठने से तथा उसके साथ भोजन करने से वह एक वर्ष में नहीं, किन्तु तत्काल पतित हो जाता है।।37।। भरतनन्दन! उपर्युक्त पाप अनिर्देश्य (प्रायश्चित्त रहित) कहे गये हैं। इन्हें छोड़ कर और जितने पाप हैं, वे निर्देश्य हैं—शास्त्र में उनका प्रायश्चित्त बताया गया है। उसके अनुसार प्रायश्चित्त करके पाप का व्यसन छोड़ देना चाहिये।।38।। पूर्वोक्त (शराबी, ब्रह्म हत्यारा और गुरुपत्नीगामी) तीन पापियों के मरने पर उनकी दाहादिक क्रिया किये बिना ही कुटुम्बीजनों को उनके अन्न और धन पर अधिकार कर लेना चाहिये। इसमें कुछ अन्यथा विचार करने की आवश्यकता नहीं है।।39।। धार्मिक राजा अपने मन्त्री और गुरुजनों को भी पतित हो जाने पर धर्मानुसार त्याग दे और जब तक ये अपने पापों का प्रायश्चित्त न कर लें, तब तक इनके साथ बात चीत न करें।।40।।

अधर्मकारी धर्मेण तपसा हन्ति किल्बिषम्।
ब्रुवन् स्तेन इति स्तेनं तावत् प्राप्नोति किल्बिषम्॥41।।
अस्तेनं स्तेन इत्युक्त्वा द्विगुणं पापमाप्नुयात्।
त्रिभागं ब्रह्महत्यायाः कन्या प्राप्नोति दुष्यती॥42।।
यस्तु दूषयिता तस्याः शेषं प्राप्नोति पाप्मनः।
ब्राह्मणानवगर्ह्येह स्पृष्ट्वा गुरुतरं भवेत्॥43।।
वर्षाणां हि शतं तावत् प्रतिष्ठां नाधिगच्छति।
सहस्रं चैव वर्षाणां निपत्य नरकं वसेत्॥44।।
तस्मान्नैवावगर्ह्येत नैव जातु निपातयेत्।
शोणितं यावतः पांसून् सङ्गृह्णीयाद् द्विजक्षतात्॥45।।
तावतीः स समा राजन् नरके प्रतिपद्यते।
भ्रूणहाऽऽहवमध्ये तु शुद्ध्यते शस्त्रपाततः॥46।।
आत्मानं जुहुयादग्नौ समिद्धे तेन शुद्ध्यते।
सुरापो वारुणीमुष्णां पीत्वा पापाद् विमुच्यते॥47।।
तया स काये निर्दग्धे मृत्युं वा प्राप्य शुद्ध्यति।
लोकांश्च लभते विप्रो नान्यथा लभते हि सः॥48।।
गुरुतल्पमधिष्ठाय दुरात्मा पापचेतनः।
स्त्र्याकारां प्रतिमां लिङ्ग्य मृत्युना सोऽभिशुद्ध्यति।।49।।
अथवा शिश्नवृषणावादायाञ्जलिना स्वयम्॥50।।
नैर्ऋतीं दिशमास्थाय निपतेत् स त्वजिह्मगः।
ब्राह्मणार्थेऽपि वा प्राणान् सन्त्यजेत् तेन शुद्ध्यति॥51।।

पापाचारी मनुष्य यदि धर्माचरण और तपस्या करे तो अपने पाप को नष्ट कर देता है। चोर को 'यह चोर है' ऐसा कह देने मात्र से चोर के बराबर पाप का भागी होना

पड़ता है।।41।। जो चोर नहीं है, उसको चोर कह देने से मनुष्य को चोर से दूना पाप लगता है। कुमारी कन्या यदि अपनी इच्छा से चरित्र भ्रष्ट हो जाए तो उसे ब्रह्म हत्या का तीन-चौथाई पाप भोगना पड़ता है।।42।। और जो उसे कलङ्कित करने वाला पुरुष है, वह शेष एक चौथाई पाप का भागी होता है। इस जगत् में ब्राह्मणों को गाली देकर या उन्हें तिरस्कारपूर्वक धक्के देकर हटाने से मनुष्य का बड़ा भारी पाप लगता है।।43।। सौ वर्षों तक जो उसे प्रेत की भाँति भटकना पड़ता है, कहीं भी ठहरने के लिए ठौर नहीं मिलता। फिर एक हजार वर्षों तक उसे नरक में गिरकर रहना पड़ता है।।44।। अतः न ब्राह्मण को गाली दे और न उसे कभी धरती पर गिरावे। राजन्! ब्राह्मण के शरीर में घाव हो जाने पर उससे निकला हुआ रक्त धूल के जितने कणों को भिगोता है, उसे चोट पहुँचाने वाला मनुष्य उतने ही वर्षों तक नरक में पड़ा रहता है। गर्भ के बच्चे की हत्या करने वाला यदि युद्ध में शस्त्रों के आघात से मर जाए तो उसकी शुद्धि हो जाती है अथवा प्रज्वलित अग्नि में कूद कर अपने आपको होम दे तो वह शुद्ध हो जाता है। मदिरा पीने वाला पुरुष यदि मदिरा को खूब गरम करके पी ले तो वह पाप से छुटकारा पा जाता है, अथवा उससे शरीर जल जाने के कारण उसकी मृत्यु हो जाए तो वह शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार शुद्ध हो जाने पर ही वह ब्राह्मण शुद्ध लोकों को प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं।।45-48।। पापपूर्ण विचार रखने वाला दुरात्मा पुरुष यदि गुरुपत्नीगमन का पाप कर बैठे तो वह लोहे की गरम की हुई नारी प्रतिमा का आलिङ्गन करके प्राण दे देने पर ही उस पाप से शुद्ध होता है।।49।। अथवा अपने शिश्न और अण्डकोष को स्वयं ही काटकर अञ्जलि में ले सीधे नैर्ऋत्य दिशा की ओर जाता हुआ गिर पड़े या ब्राह्मण के लिए प्राणों का परित्याग कर दे तो शुद्ध हो जाता है।।50-51।।

अश्वमेधेन वापीष्ट्वा अथवा गोसवेन वा।
अग्निष्टोमेन वा सम्यगिह प्रेत्य च पूज्यते॥52।।
तथैव द्वादशसमाः कपाली ब्रह्महा भवेत्।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यं स्वकर्म ख्यापयन् मुनिः॥53।।
एवं वा तपसा युक्तो ब्रह्महा सवनी भवेत्।
एवं तु समभिज्ञातामात्रेयीं वा निपातयेत्॥54।।
द्विगुणा ब्रह्महत्या वै आत्रेयीनिधने भवेत्।
सुरापो नियताहारो ब्रह्मचारी क्षितीशयः॥55।।
ऊर्ध्वं त्रिभ्योऽपि वर्षेभ्यो यजेताग्निष्टुता परम्।
ऋषभैकसहस्रं वा गा दत्त्वा शौचमाप्नुयात्॥56।।
वैश्यं हत्वा तु वर्षे द्वे ऋषभैकशतं च गाः।
शूद्रं हत्वाब्दमेवैकमृषभं च शतं च गाः॥57।।
श्ववराहखरान् हत्वा शौद्रमेव व्रतं चरेत्।
मार्जारचाषमण्डूकान् काकं व्यालं च मूषिकम्॥58।।

उक्तः पशुसमो दोषो राजन् प्राणिनिपातनात्।
प्रायश्चित्तान्यथान्यानि प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः॥59।।
अल्पे वाप्यथ शोचेत पृथक् संवत्सरं चरेत्।
त्रीणि श्रोत्रियभार्यायां परदारे च द्वे स्मृते॥60।।
काले चतुर्थे भुञ्जानो ब्रह्मचारी व्रती भवेत्।
स्थानासनाभ्यां विहरेत् त्रिरह्नाभ्युपयन्नपः।
एवमेव निराकर्ता यश्चाग्नीनपविध्यति॥61।।

अथवा अश्वमेध यज्ञ, गोसव नाम यज्ञ या अग्निष्टोम यज्ञ के द्वारा भलीभाँति यजन करके वह इहलोक तथा परलोक में पूजित होता है।।52।। ब्रह्महत्या करने वाला मनुष्य उस मरे हुए ब्राह्मण की खोपड़ी लेकर अपना पाप कर्म लोगों को सुनाता रहे और बारह वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए सवेरे, शाम तथा दोपहर तीनों समय स्नान करे। इस प्रकार वह तपस्या में संलग्न रहे। इससे उसकी शुद्धि हो जाती है। इसी तरह जो जान-बूझ कर गर्भिणी स्त्री की हत्या करता है, उसे उस गर्भिणी वध के कारण दो ब्रह्म हत्याओं का पाप लगता है।।।53-54।। मदिरा पीने वाला मनुष्य मिताहारी और ब्रह्मचारी रहने के बाद 'अग्निष्टोम' यज्ञ करे। तत्पश्चात् एक हजार बैल या इतनी ही गौएँ ब्राह्मणों को दान दे तो वह शुद्ध हो जाता है।।55-56।। यदि वैश्य की हत्या कर दे तो दो वर्षों तक पूर्वोक्त नियम से रहने के बाद एक सौ बैल और एक सौ गौओं का दान करना चाहिए।।57।। कुत्ते, सूअर और गदहों की हत्या करके मनुष्य शूद्र वध सम्बन्धी व्रत का ही आचरण करे। राजन्! बिल्ली, नीलकण्ठ, मेढक, कौआ, साँप और चूहा आदि प्राणियों को मारने से भी उक्त पशुवध के ही समान पाप बताया गया है। अब दूसरे प्रायश्चित्तों का भी क्रमशः वर्णन करता हूँ। अनजान में कीड़ों-मकोडों का वध आदि छोटा पाप हो जाए तो उसक लिए पश्चात्ताप करे। इतने ही से उसकी शुद्धि हो जाती है। गोवध के सिवा अन्य जितने उपपातक हैं, उनमें से प्रत्येक के लिए एक-एक वर्ष तक व्रत का आचरण करे। श्रोत्रिय की पत्नी से व्यभिचार करने पर तीन वर्ष तक और अन्य परस्त्रियों से समागम करने पर दो वर्षों तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए दिन के चौथे पहर में एक बार भोजन करे। अपने लिए पृथक् स्थान और आसन की व्यवस्था रखते हुए घूमता रहे। दिन में तीन बार जल से स्नान करे। ऐसा करने से ही वह अपने उपर्युक्त पापों का निवारण कर सकता है। जो अग्नि को भ्रष्ट करता है, उसके लिए भी यही प्रायश्चित्त है।।58-61।।

त्यजत्यकारणे यश्च पितरं मातरं गुरुम्।
पतितः स्यात् स कौरव्य यथा धर्मेषु निश्चयः॥62।।
ग्रासाच्छादनमात्रं तु दद्यादिति निदर्शनम्।
(ब्रह्मचारी द्विजेभ्यश्च दत्त्वा पापात् प्रमुच्यते।)
भार्यायां व्यभिचारिण्यां निरुद्धायां विशेषतः।
यत् पुंसः परदारेषु तदेनां चारयेद् व्रतम्॥63।।
श्रेयांसं शयनं हित्वा यान्यं पापं निगच्छति।

श्वभिस्तामर्दयेद्राजा संस्थाने बहुविस्तरे॥64॥
पुमांसमुन्नयेत् प्राज्ञः शयने तप्त आयसे।
अप्यादधीत दारूणि तत्र दह्येत पापकृत्॥65॥
एष दण्डो महाराज स्त्रीणां भर्तृष्वतिक्रमात्।
संवत्सराभिशस्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो भवेत्॥66॥
द्वे तस्य त्रीणि वर्षाणि चत्वारि सहसेविनि।
कुचरः पञ्चवर्षाणि चरेद्भैक्ष्यं मुनिव्रतः॥67॥
परिवित्तिः परिवेत्ता या चैव परिविद्यते।
पाणिग्रहास्त्वधर्मेण सर्वे ते पतिताः स्मृताः॥68॥
चरेयुः सर्व एवैते वीरहा यद् व्रतं चरेत्।
चान्द्रायणं चरेन् मासं कृच्छ्रं वा पापशुद्धये॥69॥
परिवेत्ता प्रयच्छेत तां स्नुषां परिवित्तये।
ज्येष्ठेन त्वभ्यनुज्ञातो यवीयानप्यनन्तरम्।
एवं च मोक्षमाप्नोति तौ च सा चैव धर्मतः॥70॥

कुरुनन्दन! जो अकारण ही पिता, माता और गुरु का परित्याग करता है, वह पतित हो जाता है। उसे केवल अन्न और वस्त्र दे और पैतृक सम्पत्ति से वञ्चित कर दे। वह ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए ब्राह्मणों को दान दे (और पिता माता आदि का पूर्ववत् आदर करने लगे) तो उस पाप से मुक्त हो जाता है, यह धर्मशास्त्रों का निर्णय है। यदि पत्नी ने व्यभिचार किया हो और विशेषतः इस कार्य में पकड़ ली गई हो तो परायी स्त्री से व्यभिचार करने वाले पुरुष के लिए जो प्रायश्चित्त रूप व्रत बताया गया है, वही उससे भी करावे॥62॥ जो अपने श्रेष्ठ पति को छोड़कर अन्य पापी की शय्या पर जाती है, उस कुलटा को अत्यन्त विस्तृत मैदान में खड़ी करके राजा कुत्तों से नोचवा डाले॥63-64॥ इसी तरह व्यभिचारी पुरुष को बुद्धिमान् राजा लोहे की तपायी हुई खाट पर सुलाकर ऊपर से लकड़ी रख दे और आग लगा दे, जिससे वह पापी उसी में जलकर भस्म हो जाए। महाराज! पति की अवहेलना करके परपुरुषों से व्यभिचार करने वाली स्त्रियों के लिए भी यही दण्ड है, उपर्युक्त कहे हुए में जिन दुष्टों के लिए प्रायश्चित्त बताया है, उनके लिए यह भी विधान है कि एक वर्ष के भीतर प्रायश्चित्त न करने पर दुष्ट पुरुष को दूसरा दण्ड प्राप्त होना चाहिए। जो मनुष्य दो, तीन, चार या पाँच वर्षों तक उस पतित पुरुष के संसर्ग में रहे, वह मुनिजनोचित व्रत धारण करके उतने ही वर्षों तक पृथ्वी पर घूमता हुआ भिक्षा वृत्ति से जीवन निर्वाह करे॥65-67॥ ज्येष्ठ भाई का विवाह होने से पहले ही यदि छोटा भाई अधर्मपूर्वक विवाह कर ले तो ज्येष्ठ को 'परिवित्ति' कहते हैं। छोटे भाई को 'परिवेत्ता' कहते हैं और उसकी पत्नी को जिसका परिवेदन (ग्रहण) किया जाता है, परिवेदनीया कहते हैं, ये सबके सब पतित माने गये हैं॥68॥ इन तीनों को पृथक् पृथक् अपनी शुद्धि के लिए उसी व्रत का आचरण करना चाहिए, जो यज्ञहीन ब्राह्मण के लिए बताया गया है अथवा एक मास तक चान्द्रायण या

कृच्छ्रचान्द्रायण व्रत करे।।69।। परिवेत्ता पुरुष उस नववधू को पतोहू के रूप में ज्येष्ठ भाई को सौंप दे और ज्येष्ठ भाई की आज्ञा मिलने पर छोटा भाई उसे पत्नी रूप में ग्रहण करे। ऐसा करने पर वे तीनों धर्म के अनुसार पाप से छुटकारा पाते हैं।।70।।

अमानुषीषु गोवर्ज्यमनावृष्टिर्न दुष्यति।
अधिष्ठात्रवमन्तारं पशूनां पुरुषं विदुः॥71।।
परिधायोर्ध्ववालं तु पात्रमादाय मृन्मयम्।
चरेत् सप्तगृहान्नित्यं स्वकर्म परिकीर्तयन्॥72।।
तत्रैव लब्धभोजी स्याद् द्वादशाहात् स शुद्ध्यति।
चरेत्संवत्सरं चापि तद् व्रतं येन कृन्तति॥73।।
भवेत् तु मानुषेष्वेवं प्रायश्चित्तमनुत्तमम्।
दानं वा दानशक्तेषु सर्वमेतत् प्रकल्पयेत्॥74।।
अनास्तिकेषु गोमात्रं दानमेकं प्रचक्षते।
श्ववराहमनुष्याणां कुक्कुटस्य खरस्य च॥75।।
मांसं मूत्रं पुरीषं च प्राश्य संस्कारमर्हति।
ब्राह्मणस्तु सुरापस्य गन्धमादाय सोमपः॥76।।
अपस्त्र्यहं पिबेदुष्णं त्र्यहमुष्णं पयः पिबेत्।
त्र्यहमुष्णं पयः पीत्वा वायुभक्षो भवेत् त्र्यहम्॥77।।
एवमेतत् समुद्दिष्टं प्रायश्चित्तं सनातनम्।
ब्राह्मणस्य विशेषेण यदज्ञानेन सम्भवेत्॥78।।

पशु जातियों में गौओं को छोड़कर अन्य किसी की अनजान में हिंसा हो जाए तो वह दोषावह नहीं मानी जाती; क्योंकि मनुष्य को पशुओं का अधिष्ठाता एवं पालक माना गया है।।71।। गो वध करने वाला पापी उस गाय की पूँछ को इस प्रकार धारण करे कि उसका बाल ऊपर की ओर रहे। फिर मिट्टी का पात्र हाथ में लेकर प्रतिदिन सात घरों में भिक्षा माँगे और अपने पाप कर्म की बात कहकर लोगों को सुनाता रहे। उन्हीं सात घरों की भिक्षा में जो अन्न मिल जाए, वही खाकर रहे। ऐसा करने से वह बारह दिनों में शुद्ध हो जाता है। यदि पाप अधिक हो तो एक वर्ष तक उस व्रत का अनुष्ठान करे, जिससे वह अपने पाप को नष्ट कर देता है।।72-73।। इस प्रकार मनुष्यों के लिए परम उत्तम प्रायश्चित्त का विधान है। उनमें जो दान करने में समर्थ हों, उनके लिए दान की भी विधि है। यह सब प्रायश्चित्त विचारपूर्वक करना चाहिये।।74।। अनास्तिक पुरुषों के लिए एक गोदान मात्र ही प्रायश्चित्त बतलाया गया है। कुत्ते, सूअर, मनुष्य, मुर्गे और गदहे के मांस और मल-मूत्र खा लेने पर द्विज का पुनः संस्कार होना चाहिये। सोमपान करने वाला ब्राह्मण यदि किसी शराबी की गन्ध भी सूँघ ले तो वह तीन दिनों तक गरम जल पीकर रहे, फिर तीन दिन गरम दूध पीये। तीन दिन गरम दूध पीने के बाद तीन दिन तक केवल वायु पीकर रहे। इससे वह शुद्ध हो जाता है।।75-77।। इस प्रकार यह सनातन

प्रायश्चित्त सबके लिए बताया गया है। ब्राह्मण के लिए इसका विशेष रूप से विधान है। अनजान में जो पाप बन जाए, उसी के लिए प्रायश्चित्त है।।78।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि प्रायश्चित्तीये
पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 165 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में पापों के प्रायश्चित्त की विधि विषयक एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ।।165।।

खड्गगीता

नवमोऽध्यायः

खड्ग की उत्पत्ति और प्राप्ति की परम्परा की महिमा का वर्णन

वैशम्पायन उवाच

कथान्तरमथासाद्य खड्गयुद्धविशारदः।
नकुलः शरतल्पस्थमिदमाह पितामहम्॥1।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कथाप्रसङ्ग की समाप्ति के समय अवसर पाकर खड्ग युद्ध विशारद नकुल ने बाण शय्या पर सोये हुए पितामह भीष्म से इस प्रकार प्रश्न किया।।1।।

नकुल उवाच

धनुः प्रहरणं श्रेष्ठमतीवात्र पितामह।
मतस्तु मम धर्मज्ञ खड्ग एव सुसंशितः॥2।।
विशीर्णे कार्मुके राजन् प्रक्षीणेषु च वाजिषु।
खड्गेन शक्यते युद्धे साध्वात्मा परिरक्षितुम्॥3।।
शरासनधरांश्चैव गदाशक्तिधरांस्तथा।
एकः खड्गधरो वीरः समर्थः प्रतिबाधितुम्॥4।।
अत्र मे संशयश्चैव कौतूहलमतीव च।
किंस्वित् प्रहरणं श्रेष्ठं सर्वयुद्धेषु पार्थिव॥5।।
कथं चोत्पादितः खड्गः कस्मै चार्थाय केन च।
पूर्वाचार्यं च खड्गस्य प्रब्रूहि प्रपितामह॥6।।

नकुल बोले—धर्मज्ञ पितामह! यद्यपि इस जगत् में धनुष अत्यन्त श्रेष्ठ अस्त्र समझा जाता है, तथापि मुझे तो अत्यन्त तीखा खड्ग ही अच्छा जान पड़ता है।।2।। राजन्! जब धनुष टूट जाए और घोड़े भी नष्ट हो जाएँ तब भी युद्ध स्थल में खड्ग के

द्वारा अपने शरीर की भलीभाँति रक्षा की जा सकती है।।3।। एक ही खड्गधारी वीर धनुष, गदा और शक्ति धारण करने वाले बहुत-से योद्धाओं को बाधा देने में समर्थ है।।4।। पृथ्वीनाथ! इस विषय में मेरे मन में संशय और अत्यन्त कौतूहल भी हो रहा है कि सम्पूर्ण युद्धों में कौन-सा आयुध श्रेष्ठ है?।।5।। पितामह! खड्ग की उत्पत्ति कैसे और किस प्रयाजन के लिए हुई? किसने इसे उत्पन्न किया? खड्ग युद्ध का प्रथम आचार्य कौन था? यह सब मुझे बताइये।।6।।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा माद्रीपुत्रस्य धीमतः।
स तु कौशलसंयुक्तं सूक्ष्मचित्रार्थसम्मतम्॥7।।
ततस्तस्योत्तरं वाक्यं स्वरवर्णोपपादितम्।
शिक्षया चोपपन्नाय द्रोणशिष्याय भारत॥8।।
उवाच स तु धर्मज्ञो धनुर्वेदस्य पारगः।
शरतल्पगतो भीष्मो नकुलाय महात्मने॥9।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन! जनमेजय! बुद्धिमान् माद्रीपुत्र नकुल की वह बात कौशलयुक्त तो थी ही, सूक्ष्म तथा विचित्र अर्थ से भी सम्पन्न थी। उसे सुनकर बाण शय्या पर सोये हुए धनुर्वेद के पारङ्गत विद्वान् धर्मज्ञ भीष्म से शिक्षा प्राप्त महामनस्वी द्रोण शिष्य नकुल को सुन्दर स्वर एवं वर्णों से युक्त वाणी में इस प्रकार उत्तर देना आरम्भ किया।।7-9।।

भीष्म उवाच

तत्त्वं शृणुष्व माद्रेय यदेतत् परिपृच्छसि।
प्रबोधितोऽस्मि भवता धातुमानिव पर्वतः॥10।।
सलिलैकार्णवं तात पुरा सर्वमभूदिदम्।
निष्प्रकम्पमनाकाशमनिर्देश्यमहीतलम्॥11।।
तमसाऽऽवृतमस्पर्शमतिगम्भीरदर्शनम्।
निःशब्दं चाप्रमेयं च तत्र जज्ञे पितामहः॥12।।
सोऽसृजद् वातमग्निं च भास्करं चापि वीर्यवान्।
आकाशमसृजच्चोर्ध्वमधो भूमिं च नैर्ऋतीम्॥13।।
नभः सचन्द्रतारं च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।
संवत्सरानृतून् मासान् पक्षानथ लवान् क्षणान्॥14।।
ततः शरीरं लोकस्थं स्थापयित्वा पितामहः।
जनयामास भगवान् पुत्रानुत्तमतेजसः॥15।।
मरीचिमृषिमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
वसिष्ठाङ्गिरसौ चोभौ रुद्रं च प्रभुमीश्वरम्॥16।।
प्राचेतसस्तथा दक्षः कन्याषष्टिमजीजनत्।
ता वै ब्रह्मर्षयः सर्वाः प्रजार्थं प्रतिपेदिरे॥17।।

ताभ्यो विश्वानि भूतानि देवाः पितृगणास्तथा।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव रक्षांसि विविधानि च॥18॥
पतत्रिमृगमीनाश्च प्लवङ्गाश्च महोरगाः।
तथा पक्षिगणाः सर्वे जलस्थलविचारिणः॥19॥
उद्भिदः स्वेदजाश्चैव साण्डजाश्च जरायुजाः।
जज्ञे तात जगत् सर्वं तथा स्थावरजङ्गमम्॥20॥

भीष्मजी ने कहा—माद्रीनन्दन! तुम जो यह प्रश्न कर रहे हो, इसका तत्त्व सुनो। मैं तो खून से लथपथ हो गेरूधातु से रङ्गे हुए पर्वत के समान पड़ा हुआ था। तुमने यह प्रश्न करके मुझे जगा दिया॥10॥ तात! पूर्वकाल में यह सम्पूर्ण जगत् जल के एकमात्र महासागर के रूप में था। उस समय इसमें कम्पन नहीं था। आकाश का पता नहीं था। भूतल का कहीं नाम भी नहीं था॥11॥ सब कुछ अन्धकार से आवृत्त था। शब्द और स्पर्श का भी अनुभव नहीं होता था। वह एकार्णव देखने में बड़ा गम्भीर था। उसकी कहीं सीमा नहीं थी, उसी में पितामह ब्रह्माजी का प्रादुर्भाव हुआ॥12॥ उन शक्तिशाली पितामह ने वायु, अग्नि और सूर्य की सृष्टि की। आकाश, ऊपर, नीचे, भूमि तथा राक्षस समूह की भी रचना की॥13॥ चन्द्रमा तथा तारों सहित आकाश, नक्षत्र, ग्रह, संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, लव और क्षणों की सृष्टि भी उन्होंने ही की॥14॥ तदनन्तर भगवान् ब्रह्मा ने लौकिक शरीर धारण करके मुनिवर मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ, अङ्गिरा तथा स्वभाव एवं ऐश्वर्य से सम्पन्न रुद्र—इन तेजस्वी पुत्रों को उत्पन्न किया॥15-16॥ प्रचेताओं के पुत्र दक्ष ने साठ कन्याओं को जन्म दिया। उन सबको प्रजा की उत्पत्ति के लिए ब्रह्मर्षियों ने पत्नी रूप में प्राप्त किया॥17॥ उन्हीं कन्याओं से समस्त प्राणी, देवता, पितर, गन्धर्व, अप्सरा, नाना प्रकार के राक्षस, पशु, पक्षी, मत्स्य, वानर, बड़े-बड़े नाग, जल और स्थल में विचरने वाले सब प्रकार के पक्षिगण, उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज प्राणी उत्पन्न हुए। तात! इस प्रकार सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम जगत् उत्पन्न हुआ॥18-20॥

भूतसर्गमिमं कृत्वा सर्वलोकपितामहः।
शाश्वतं वेदपठितं धर्मं प्रयुयुजे ततः॥21॥
तस्मिन्धर्मे स्थिता देवाः सहाचार्यपुरोहिताः।
आदित्या वसवो रुद्राः ससाध्या मरुदश्विनः॥22॥
भृग्वत्र्यङ्गिरसः सिद्धाः काश्यपाश्च तपोधनाः।
वसिष्ठगौतमागस्त्यास्तथा नारदपर्वतौ॥23॥
ऋषयो वालखिल्याश्च प्रभासाः सिकतास्तथा।
घृतपाः सोमवायव्या वैश्वानरमरीचिपाः॥24॥
अकृष्टाश्चैव हंसाश्च ऋषयो वाग्नियोनयः।
वानप्रस्थाः पृश्नयश्च स्थिता ब्रह्मानुशासने॥25॥
दानवेन्द्रास्त्वतिक्रम्य तत् पितामहशासनम्।

धर्मस्यापचयं चक्रुः क्रोधलोभसमन्विताः॥26॥
हिरण्यकशिपुश्चैव हिरण्याक्षो विरोचनः।
शम्बरो विप्रचित्तिश्च विराधो नमुचिर्बलिः॥27॥
एते चान्ये च बहवः सगणा दैत्यदानवाः।
धर्मसेतुमतिक्रम्य रेमिरेऽधर्मनिश्चयाः॥28॥
सर्वे तुल्याभिजातीया यथा देवास्तथा वयम्।
इत्येवं धर्ममास्थाय स्पर्धमानाः सुरर्षिभिः॥29॥
न प्रियं नाप्यनुक्रोशं चक्रुर्भूतेषु भारत।
त्रीनुपायानतिक्रम्य दण्डेन रुरुधुः प्रजाः॥30॥

सर्वलोक पितामह ब्रह्मा ने इन समस्त प्राणियों की सृष्टि करके उनके ऊपर वेदोक्त सनातन धर्म के पालन का भार रखा॥21॥ आचार्य और पुरोहितगणों सहित देवता, आदित्य, वसुगण, रुद्रगण, साध्यगण, मरुद्गण तथा अश्विनीकुमार—ये सभी उस सनातन धर्म में प्रतिष्ठित हुए॥22॥ भृगु, अत्रि और अङ्गिरा—ये सिद्ध मुनि, तपस्या के धनी काश्यपगण, वसिष्ठ, गौतम, अगस्त्य, देवर्षि नारद, पर्वत, बालखिल्य ऋषि, प्रभास, सिकत, घृतप (घी पीकर रहने वाले), सोमप (सोमपान करने वाले), वायव्य (वायु पीकर रहने वाले), मरीचिप (सूर्य की किरणों का पान करने वाले) और वैश्वानर तथा अकृष्ट (बिना जोते बोये उत्पन्न हुए अन्न ये जीविका चलाने वाले), हंस मुनि (संन्यासी), अग्नि से उत्पन्न होने वाले ऋषिगण, वानप्रस्थ और पृश्निगण—ये सभी महात्मा ब्रह्माजी की आज्ञा के अधीन रहकर सनातन धर्म का पालन करने लगे॥23-25॥ परन्तु दानवेश्वरों ने क्रोध और लोभ से युक्त हो ब्रह्माजी की उस आज्ञा का उल्लङ्घन करके धर्म को हानि पहुँचाना आरम्भ किया॥26॥ हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, विरोचन, शम्बर, विप्रचित्ति, विराध, नमुचि और बलि—ये तथा और भी बहुत-से दैत्य और दानव अपने दल के साथ धर्म मर्यादा का उल्लङ्घन करके अधर्म करने का ही दृढ़ निश्चय लेकर आमोद-प्रमोद में जीवन व्यतीत करने लगे॥27-28॥ वे सभी दैत्य कहते थे कि 'हम और देवता एक ही जाति के हैं; अत: जैसे देवता हैं, वैसे हम हैं' इस प्रकार जातीय धर्म का आश्रय लेकर दैत्यगण देवर्षियों के साथ स्पर्धा रखने लगे॥29॥ भरतनन्दन! वे न तो प्राणियों का प्रिय करते थे और न उन पर दयाभाव ही रखते थे। वे साम, दाम और भेद—इन तीनों उपायों को लाङ्घ कर केवल दण्ड के द्वारा समस्त प्रजाओं को पीड़ा देने लगे॥30॥

न जग्मुः संविदं तैश्च दर्पादसुरसत्तमाः।
अथ वै भगवान् ब्रह्मा ब्रह्मर्षिभिरुपस्थितः॥31॥
तदा हिमवतः शृङ्गे सुरम्ये पद्मतारके।
शतयोजनविस्तारे मणिरत्नचयाचिते॥32॥
तस्मिन् गिरिवरे पुत्र पुष्पितद्रुमकानने।
तस्थौ स विबुधश्रेष्ठो ब्रह्मा लोकार्थसिद्धये॥33॥

ततो वर्षसहस्रान्ते वितानमकरोत् प्रभुः।
विधिना कल्पदृष्टेन यथावच्चोपपादितम्॥34॥
ऋषिभिर्यज्ञपटुभिर्यथावत् कर्मकर्तृभिः।
समिद्भिः परिसङ्कीर्णं दीप्यमानैश्च पावकैः॥35॥
काञ्चनैर्यज्ञभाण्डैश्च भ्राजिष्णुभिरलङ्कृतम्।
वृतं देवगणैश्चैव प्रवरैर्यज्ञमण्डलम्॥36॥
तथा ब्रह्मर्षिभिश्चैव सदस्यैरुपशोभितम्।
तत्र घोरतमं वृत्तमृषीणां मे परिश्रुतम्॥37॥
चन्द्रमा विमलं व्योम यथाभ्युदिततारकम्।
विकीर्याग्निं तथा भूतमुत्थितं श्रूयते तदा॥38॥
नीलोत्पलसवर्णाभं तीक्ष्णदंष्ट्रं कृशोदरम्।
प्रांशुं सुदुर्धर्षतरं तथैव ह्यमितौजसम्॥39॥
तस्मिन्नुत्पतमाने च प्रचचाल वसुन्धरा।
महोर्मिकलितावर्तश्चुक्षुभे स महोदधिः॥40॥

वे असुरश्रेष्ठ घमण्ड में भकर उन प्रजाओं के साथ बातचीत भी नहीं करते थे। तदनन्तर ब्रह्मर्षियों सहित भगवान् ब्रह्मा हिमालय के सुरम्य शिखर पर उपस्थित हुए। वह इतना ऊँचा था कि आकाश के तारे उस पर विकसित कमल के समान जान पड़ते थे। उसका विस्तार सौ योजन का था। वह मणियों तथा रत्न समूहों से व्याप्त था॥31-32॥ बेटा नकुल! जहाँ के वृक्ष और वन फूलों से भरे हुए थे, उस श्रेष्ठ पर्वतशिखर पर सुरश्रेष्ठ ब्रह्माजी सम्पूर्ण जगत् का कार्य सिद्ध करने के लिए ठहर गये॥33॥ तदनन्तर कई सहस्र वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् ब्रह्मा ने शास्त्रोक्त विधि के अनुसार वहाँ एक यज्ञ आरम्भ किया। यज्ञकुशल महर्षियों तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं ने यथावत् विधि के अनुसार उस यज्ञ का सम्पादन किया। वहाँ यज्ञ वेदियों पर समिधाएँ फैली हुई थीं। जगह-जगह अग्निदेव प्रज्वलित हो रहे थे। चमचमाते हुए सुवर्ण निर्मित यज्ञपात्र यज्ञ मण्डप की शोभा बढ़ाते थे। वह यज्ञ मण्डल श्रेष्ठ देवताओं तथा सभासद बने हुए महर्षियों से सुशोभित होता था। उस समय वहाँ एक अत्यन्त भयङ्कर घटना घटित हुई, जिसे मैंने ऋषियों के मुँह से सुना था। जैसे ताराओं के उगने पर निर्मल आकाश में चन्द्रमा का उदय हो, उसी प्रकार उस यज्ञ मण्डप में अग्नि को इधर-उधर बिखेर कर एक भयङ्कर भूत प्रकट हुआ, ऐसा सुना जाता है॥34-38॥ उसके शरीर का रङ्ग नीलकमल के समान श्याम था, दाढ़ें अत्यन्त तीखी दिखयी देती थीं और उसका पेट अत्यन्त कृश था। वह बहुत ऊँचा, परम दुर्धर्ष और अमित तेजस्वी जान पड़ता था॥39॥ उसके उत्पन्न होते ही धरती डोलने लगी, समुद्र क्षुब्ध हो उठा और उसमें उत्ताल तरङ्गों के साथ भंवरें उठने लगीं॥40॥

पेतुरुल्का महोत्पाताः शाखाश्च मुमुचुर्द्रुमाः।
अप्रशान्ता दिशः सर्वाः पवनश्चाशिवो ववौ॥41॥

मुहुर्मुहुश्च भूतानि प्राव्यथन्त भयात् तथा।
ततः स तुमुलं दृष्ट्वा तं च भूतमुपस्थितम्॥42॥
महर्षिसुरगन्धर्वानुवाचेदं पितामहः।
मयैवं चिन्तितं भूतमसिर्नामैष वीर्यवान्॥43॥
रक्षणार्थाय लोकस्य वधाय च सुरद्विषाम्।
ततस्तद्रूपमुत्सृज्य बभौ निस्त्रिंश एव सः॥44॥
विमलस्तीक्ष्णधारश्च कालान्तक इवोद्यतः।
ततः स शितिकण्ठाय रुद्रायार्षभकेतवे॥45॥
ब्रह्मा ददावसिं तीक्ष्णमधर्मप्रतिवारणम्।
ततः स भगवान् रुद्रो महर्षिजनसंस्तुतः॥46॥
प्रगृह्यासिममेयात्मा रूपमन्यच्चकार ह।
चतुर्बाहुः स्पृशन् मूर्ध्ना भूस्थितोऽपि दिवाकरम्॥47॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्महालिङ्गो मुखाज्ज्वालाः समुत्सृजन्।
विकुर्वन् बहुधा वर्णान् नीलपाण्डुरलोहितान्॥48॥

आकाश से उल्काएँ गिरने लगीं, बड़े-बड़े उत्पात प्रकट होने लगे, वृक्ष स्वयं ही अपनी शाखाओं को गिराने लगे, सम्पूर्ण दिशाएँ अशान्त हो गईं और अमङ्गलकारी वायु प्रचण्ड वेग से बहने लगी॥41॥ सभी प्राणी भय के मारे बारम्बार व्यथित हो उठते थे। उस भयानक भूत को उपस्थित हुआ देख पितामह ब्रह्मा ने महर्षियों, देवताओं तथा गन्धर्वों से कहा—॥42॥ 'मैंने ही इस भूत का चिन्तन किया था। यह असि नामधारी प्रबल आयुध है। इसे मैंने सम्पूर्ण जगत् की रक्षा तथा देवद्रोही असुरों के वध के लिए प्रकट किया है।' तत्पश्चात् वह भूत उस रूप को त्यागकर तीस अङ्गुल से कुछ बड़े खड्ग के रूप में प्रकाशित होने लगा। उसकी धार बड़ी तीखी थी। वह चमचमाता हुआ खड्ग काल और अन्तक के समान उद्यत प्रतीत होता था। इसके बाद ब्रह्माजी ने अधर्म का निवारण करने में समर्थ वह तीखी तलवार वृषभ चिह्नित ध्वजा वाले नीलकण्ठ भगवान् रुद्र को दे दी। उस समय महर्षिगण रुद्रदेव की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। तब अप्रमेयस्वरूप भगवान् रुद्र ने वह तलवार लेकर एक दूसरा चतुर्भुज रूप धारण किया, जो भूतल पर खड़ा होकर भी अपने मस्तक से सूर्यदेव का स्पर्श कर रहा था॥43-47॥ उसकी दृष्टि ऊपर की ओर थी, वह महान् चिह्न धारण किए हुए था। मुख से आग की लपटें छोड़ रहा था और अपने अङ्गों से नील, श्वेत तथा लोहित (लाल) अनेक प्रकार के रङ्ग प्रकट कर रहा था॥48॥

बिभ्रत्कृष्णाजिनं वासो हेमप्रवरतारकम्।
नेत्रं चैकं ललाटेन भास्करप्रतिमं वहन्॥49॥
शुशुभातेऽतिविमले द्वे नेत्रे कृष्णपिङ्गले।
ततो देवो महादेवः शूलपाणिर्भगाक्षिहा॥50॥
सम्प्रगृह्य तु निस्त्रिंशं कालाग्निसमवर्चसम्।

त्रिकूटं चर्म चोद्यम्य सविद्युतमिवाम्बुदम्।
चचार विविधान् मार्गान् महाबलपराक्रमः॥51॥
विधुन्वन्नसिमाकाशे तथा युद्धचिकीर्षया।
तस्य नादं विनदतो महाहासं च मुञ्चतः॥52॥
बभौ प्रतिभयं रूपं तदा रुद्रस्य भारत।
तद्रूपधारिणं रुद्रं रौद्रकर्मचिकीर्षया॥53॥
निशम्य दानवाः सर्वे हृष्टाः समभिदुद्रुवुः।
अश्मभिश्चाभ्यवर्षन्त प्रदीप्तैश्च तथोल्मुकैः॥54॥
घोरैः प्रहरणैश्चान्यैः क्षुरधारैरयोमयैः।
ततस्तु दानवानीकं सम्प्रणेतारमच्युतम्॥55॥
रुद्रं दृष्ट्वा बलोद्भूतं प्रमुमोह चचाल च।
चित्रं शीघ्रपदत्वाच्च चरन्तमसिपाणिनम्॥56॥
तमेकमसुराः सर्वे सहस्रमिति मेनिरे।
छिन्दन् भिन्दन् रुजन् कृन्तन् दारयन् पथयन्नपि॥57॥
अचरद् वैरिसङ्घेषु दावाग्निरिव कक्षगः।
असिवेगप्रभग्नास्ते छिन्नबाहूरुवक्षसः॥58॥

उसने काले मृगचर्म को वस्त्र के रूप में धारण कर रखा था, जिसमें सुवर्ण निर्मित तारे जड़े हुए थे। वह अपने ललाट में सूर्य के समान एक तेजस्वी नेत्र धारण करता था। उसके सिवा काले और पिङ्गल वर्ण के दो अत्यन्त निर्मल नेत्र और शोभा पा रहे थे। तदनन्तर भगदेवता के नेत्रों का नाश करने वाले महान् बल और पराक्रम से सम्पन्न शूलपाणि भगवान् महादेव काल और अग्नि के तुल्य तेजस्वी खड्ग को तथा बिजली सहित मेघ के समान चमकीली तीन कोनों वाली ढाल को हाथ में लेकर भाँति भाँति के मार्गों से विचरने लगे और युद्ध करने की इच्छा से वह तलवार आकाश में घुमाने लगे। भरतनन्दन! उस समय जोर-जोर से गर्जते और महान् अट्टहास करते हुए रुद्रदेव का स्वरूप बड़ा भयङ्कर प्रतीत होता था। भयानक कर्म करने की इच्छा से वैसा ही रूप धारण करने वाले रुद्रदेव को देखकर समस्त दानव हर्ष और उत्साह में भरकर उनके ऊपर टूट पड़े। कुछ लोग पत्थर बरसाने लगे, कुछ जलते लुआठे चलाने लगे, दूसरे भयङ्कर अस्त्र शस्त्रों से काम लेने लगे और कितने ही लोहनिर्मित छुरों की तीखी धारों से चोट करने लगे। तत्पश्चात् दानव दल ने देखा कि देव सेनापति का कार्य सम्भालने वाले उत्कट बलशाली रुद्रदेव युद्ध से पीछे नहीं हट रहे हैं, तब वे मोहित और विचिलत हो उठे। शीघ्रतापूर्वक पैर उठाने के कारण विचित्र गति से विचरण करने वाले एकमात्र खड्गधारी रुद्रदेव को वे सब असुर सहस्रों के समान समझने लगे। जैसे सूखी लकड़ी और घास-फूस में लगा हुआ दावानल वन के समस्त वृक्षों को जला देता है, उसी प्रकार भगवान् रुद्र शत्रु समुदाय में दैत्यों को मारते काटते, चीरते फाड़ते, घायल करते, छेदते तथा विदीर्ण और धराशायी करते हुए विचरने लगे॥49-57॥ तलवार के वेग से उन सबमें भगदड़ मच गयी। कितनों की भुजाएँ और जांघें कट गईं। बहुतों के वक्षःस्थल

विदीर्ण हो गए और कितनों के शरीरों से आँखें बाहर निकल आयीं। इस प्रकार वे महाबली दैत्य मरकर पृथ्वी पर गिर पड़े।।58।।

सम्प्रकीर्णान्त्रगात्राश्च पेतुरुर्व्यां महाबलाः।
अपरे दानवा भग्नाः खड्गपातावपीडिताः॥59।।
अन्योन्यमभिनर्दन्तो दिशः सम्प्रतिपेदिरे।
भूमिं केचित् प्रविविशुः पर्वतानपरे तथा॥60।।
अपरे जग्मुराकाशमपरेऽम्भः समाविशन्।
तस्मिन् महति संवृत्ते समरे भृशदारुणे॥61।।
बभूव भूः प्रतिभया मांसशोणितकर्दमा।
दानवानां शरीरैश्च पतितैः शोणितोक्षितैः॥62।।
समाकीर्णा महाबाहो शैलैरिव सकिंशुकैः।
स रुद्रो दानवान् हत्वा कृत्वा धर्मोत्तरं जगत्॥63।।
रौद्रं रूपमथोत्क्षिप्य चक्रे रूपं शिवं शिवः।
ततो महर्षयः सर्वे सर्वे देवगणास्तथा॥64।।
जयेनाद्भुतकल्पेन देवदेवं तथार्चयन्।
ततः स भगवान् रुद्रो दानवक्षतजोक्षितम्॥65।।
असिं धर्मस्य गोप्तारं ददौ सत्कृत्य विष्णवे।
विष्णुर्मरीचये प्रादान्मरीचिर्भगवानपि॥66।।
महर्षिभ्यो ददौ खड्गमृषयो वासवाय च।
महेन्द्रो लोकपालेभ्यो लोकपालास्तु पुत्रक॥67।।
मनवे सूर्यपुत्राय ददुः खड्गं सुविस्तरम्।
ऊचुश्चैनं तथा वाक्यं मानुषाणां त्वमीश्वरः॥68।।
असिना धर्मगर्भेण पालयस्व प्रजा इति।
धर्मसेतुमतिक्रान्ताः स्थूलसूक्ष्मात्मकारणात्॥69।।
विभज्य दण्डं रक्ष्यास्तु धर्मतो न यदृच्छया।
दुर्वाचा निग्रहो दण्डो हिरण्यबहुलस्तथा॥70।।
व्यङ्गता च शरीरस्य वधो वानल्पकारणात्।
असेरेतानि रूपाणि दुर्वारादीनि निर्दिशेत्॥71।।

दूसरे दानव तलवार की चोट से पीड़ित हो भाग खड़े हुए और एक-दूसरे को डाँट बताते हुए उन्होंने सम्पूर्ण दिशाओं की शरण ली। कितने ही धरती में घुस गये, बहुत-से पर्वतों में छिप गये, कुछ आकाश में उड़ चले और दूसरे बहुत-से दानव पानी में समा गये। वह अत्यन्त दारुण महान् युद्ध आरम्भ होने पर पृथ्वी पर रक्त और मांस की कीच जम गई जिससे वह अत्यन्त भयङ्कर प्रतीत होने लगी। महाबाहो! खून से लथपथ होकर गिरी हुई दानवों की लाशों से ढकी हुई यह भूमि पलाश के फूलों से युक्त पर्वत शिखरों द्वारा आच्छादित सी जान पड़ती थी। दानवों का वध करके जगत् में धर्म की प्रधानता

स्थापित करने के पश्चात् भगवान् रुद्रदेव ने उस रौद्र रूप को त्याग दिया। फिर वे कल्याणकारी शिव अपने मङ्गलमय रूप से सुशोभित होने लगे। तत्पश्चात् सम्पूर्ण महर्षियों और देवताओं ने उस अद्भुत विजय से सन्तुष्ट हो देवाधिदेव महादेव की पूजा की। तदनन्तर भगवान् रुद्र ने दानवों के खून से रङ्गे हुए उस धर्मरक्षक खड्ग को बड़े सत्कार के साथ भगवान् विष्णु के हाथ में दे दिया। भगवान् विष्णु ने मरीचि को, मरीचि ने महर्षियों को और महर्षियों ने इन्द्र को वह खड्ग प्रदान किया। बेटा! फिर महेन्द्र ने लोकपालों को और लोकपालों ने सूर्यपुत्र मनु को वह विशाल खड्ग दे दिया। तलवार देकर उन्होंने मनु से कहा—'तुम मनुष्यों के शासक हो; अतः इस धर्मगर्भित खड्ग से प्रजा का पालन करो। जो लोग स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर को सुख देने के लिए धर्म की मर्यादा का उल्लङ्घन करें, उन्हें न्यायपूर्वक पृथक् पृथक् दण्ड देना। धर्मपूर्वक समस्त प्रजा की रक्षा करना किसी के प्रति स्वेच्छाचार न करना। कटुवचन से अपराधी का दमन करना 'वाग्दण्ड' कहलाता है। जिसमें अपराधी से बहुत-सा सुवर्ण वसूल किया जाए, वह 'अर्थदण्ड' कहलाता है। शरीर के किसी अङ्ग विशेष का छेदन करना 'काय दण्ड' कहा गया है। किसी महान् अपराध के कारण अपराधी का जो वध किया जाता है, वह 'प्राणदण्ड' के रूप में प्रसिद्ध है। ये चारों दण्ड तलवार के दुर्निवार या दुर्धर्ष रूप हैं। यह बात समस्त प्रजा को बता देनी चाहिए।।59-71।।

असेरेवं प्रमाणानि परिपाल्य व्यतिक्रमात्।
स विसृज्याथ पुत्रं स्वं प्रजानामधिपं ततः॥72।।
मनुः प्रजानां रक्षार्थं क्षुपाय प्रददावसिम्।
क्षुपाज्जग्राह चेक्ष्वाकुरिक्ष्वाकोश्च पुरूरवाः॥73।।
आयुश्च तस्माल्लेभे तं नहुषश्च ततो भुवि।
ययातिर्नहुषाच्चापि पूरुस्तस्माच्च लब्धवान्॥74।।
अमूर्तरयसःतस्मात्ततो भूमिशयो नृपः।
भरतश्चापि दौष्यन्तिर्लेभे भूमिशयादसिम्॥75।।
तस्माल्लेभे च धर्मज्ञो राजन्नैलविलस्तथा।
ततस्त्वैलविलाल्लेभे धुन्धुमारो नरेश्वरः॥76।।
धुन्धुमाराच्च काम्बोजो मुचुकुन्दस्ततोऽलभत्।
मुचुकुन्दान्मरुत्तश्च मरुत्तादपि रैवतः॥77।।
रैवताद्युवनाश्वश्च युवनाश्वात्ततो रघुः।
इक्ष्वाकुवंशजस्तस्माद्धरिणाश्वः प्रतापवान्॥78।।
हरिणाश्वादसिं लेभे शुनकः शुनकादपि।
उशीनरो वै धर्मात्मा तस्माद्भोजः स यादवः॥79।।
यदुभ्यश्च शिबिर्लेभे शिबेश्चापि प्रतर्दनः।
प्रतर्दनादष्टकश्च पृषदश्वोऽष्टकादपि॥80।।

जब प्रजा के द्वारा धर्म का उल्लङ्घन हो जाए तो खड्ग के द्वारा प्रमाणित (साधित) होने वाले इन दण्डों का यथायोग्य प्रयोग करके धर्म की रक्षा करनी चाहिये।' ऐसा कहकर लोकपालों ने अपने पुत्र प्रजापालक मनु को विदा कर दिया। तत्पश्चात् मनु ने प्रजा की रक्षा के लिए वह खड्ग क्षुप को दे दिया। क्षुप से इक्ष्वाकु और इक्ष्वाकु से पुरूरवा ने उस तलवार को ग्रहण किया।।72-73।। पुरूरवा से आयु ने, आयु से नहुष ने, नहुष से ययाति ने और ययाति से पूरु ने इस भूतल पर वह खड्ग प्राप्त किया।।।74।। पूरु से अमूर्तरया, अमूर्तरया से राजा भूमिशय ने और भूमिशय से दुष्यन्त कुमार भरत ने उस खड्ग को ग्रहण किया।।75।। राजन्! उनसे धर्मज्ञ ऐलविल ने वह तलवार प्राप्त की। ऐलविल से वह महाराज धुन्धुमार को मिली।।76।। धुन्धुमार से काम्बोज ने, काम्बोज से मुचुकुन्द ने, मुचुकुन्द से मरुत्त ने, मरुत्त से रैवत ने, रैवत से युवनाश्व ने, युवनाश्व से इक्ष्वाकुवंशी रघु ने, रघु से प्रतापी हरिणाश्व ने, हरिणाश्व से शुनक ने, शुनक से धर्मात्मा उशीनर ने, उशीनर से यदुवंशी भोज ने, यदुवंशियों से शिबि ने, शिबि से प्रतर्दन ने, प्रतर्दन से अष्टक ने तथा अष्टक से पृषदश्व ने वह तलवार प्राप्त की।।77-80।।

पृषदश्वाद् भरद्वाजो द्रोणस्तस्मात् कृपस्तत:।
ततस्त्वं भ्रातृभि: सार्धं परमासिमवाप्तवान्॥81।।
कृत्तिकास्तस्य नक्षत्रमसेरग्निश्च दैवतम्।
रोहिणी गोत्रमस्याथ रुद्रश्च गुरुरुत्तम:॥82।।
असेरष्टौ हि नामानि रहस्यानि निबोध मे।
पाण्डवेय सदा यानि कीर्तयन् लभते जयम्॥83।।
असिर्विशसन: खड्गस्तीक्ष्णधारो दुरासद:।
श्रीगर्भो विजयश्चैव धर्मपालस्तथैव च॥84।।
अग्र्य: प्रहरणानां च खड्गो माद्रवतीसुत।
महेश्वरप्रणीतश्च पुराणे निश्चयं गत:॥85।।
(एतानि चैव नामानि पुराणे निश्चितानि वै।)
पृथुस्तूत्पादयामास धनुराद्यमरिन्दम:।
तेनेयं पृथिवी दुग्धा सस्यानि सुबहून्यपि।
धर्मेण च यथापूर्वं वैन्येन परिरक्षिता॥86।।
तदेतदार्षं माद्रेय प्रमाणं कर्तुमर्हसि।
असेश्च पूजा कर्तव्या सदा युद्धविशारदै:॥87।।
इत्येष प्रथम: कल्पो व्याख्यातस्ते सुविस्तरात्।
असेरुत्पत्तिसंसर्गो यथावद्भरतर्षभ॥88।।
सर्वथैतदिदं श्रुत्वा खड्गसाधनमुत्तमम्।
लभते पुरुष: कीर्तिं प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते॥89।।

पृषदश्व से भरद्वाजवंशी द्रोणाचार्य ने और द्रोणाचार्य से कृपाचार्य ने खड्ग विद्या प्राप्त की। फिर कृपाचार्य से भाइयों सहित तुमने उस उत्तम खड्ग का उपदेश प्राप्त किया

है।।81।। उस 'असि' का नक्षत्र कृत्तिका है, देवता अग्नि है, गोत्र रोहिणी है तथा उत्तम गुरु रुद्रदेव हैं।।82।। पाण्डुनन्दन! असि के आठ गोपनीय नाम हैं। उन्हें मेरे मुँह से सुना। उन नामों का कीर्तन करने वाला पुरुष युद्ध में विजय प्राप्त करता है।।83।। 1. असि, 2. विशसन, 3. खड्ग, 4. तीक्ष्णधार, 5. दुरासद, 6. श्रीगर्भ, 7. विजय और 8. धर्मपाल—ये ही वे आठ नाम हैं।।84।। माद्रीनन्दन! खड्ग सब आयुधों में श्रेष्ठ है। भगवान् रुद्र ने सबसे पहले इसका सञ्चालन किया था। पुराण में इसकी श्रेष्ठता का निश्चय किया गया है। उपर्युक्त सारे नाम पुराणों में निश्चित रूप से कहे गये हैं।।85।। शत्रुदमन पृथु ने सबसे पहले धनुष का उत्पादन किया था और उन्होंने ही इस पृथ्वी से नाना प्रकार के शस्यों (अन्न के बीजों) का दोहन किया था। उन वेनकुमार पृथु के पहले के ही समान धर्मपूर्वक इस पृथ्वी की रक्षा की थी।।86।। माद्रीनन्दन! यह ऋषियों का बताया हुआ मत है। तुम्हें इसे प्रमाण मानकर इस पर विश्वास करना चाहिये। युद्ध विशारद पुरुषों को सदा ही खड्ग की पूजा करनी चाहिये।।87।। भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार मैंने असि (खड्ग) की उत्पत्ति का प्रसङ्ग तुम्हें विस्तारपूर्वक और यथावत् रूप से बताया है। इससे सिद्ध हुआ कि खड्ग ही आयुधों में सबसे प्रथम प्रकट हुआ है।।88।। खड्ग प्राप्ति का यह उत्तम प्रसङ्ग सब प्रकार से सुनकर पुरुष इस संसार में कीर्ति पाता है और देह त्याग के पश्चात् अक्षय सुख का भागी होता है।।89।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि खड्गोत्पत्तिकथने षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 166 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में खड्ग की उत्पत्ति का कथन विषयक एक सौ छियासठवाँ अध्याय पूरा हुआ।।166।।

खड्गगीता सम्पूर्णा

षड्जगीता

दशमोऽध्यायः

धर्म, अर्थ और काम के विषय में विदुर तथा पाण्डवों के पृथक् पृथक् विचार तथा अन्त में युधिष्ठिर का निर्णय

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवति भीष्मे तु तूष्णींभूत युधिष्ठिरः।
पप्रच्छावसथं गत्वा भ्रातॄन् विदुरपञ्चमान्॥1।।
धर्मे चार्थे च कामे च लोकवृत्तिः समाहिता।

तेषां गरीयान् कतमो मध्यम: को लघुश्च क:॥2॥
कस्मिंश्चात्मा निधातव्यस्त्रिवर्गविजयाय वै।
संहृष्टा नैष्ठिकं वाक्यं यथावद् वक्तुमर्हथ॥3॥
ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञ: प्रथमं प्रतिभानवान्।
जगाद विदुरो वाक्यं धर्मशास्त्रमनुस्मरन्॥4॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह कहकर जब भीष्मजी चुप हो गये, तब राजा युधिष्ठिर ने घर जाकर अपने चारों भाइयों तथा पाँचवें विदुरजी से प्रश्न किया—॥1॥ 'लोगों की प्रवृत्ति प्राय: धर्म, अर्थ और काम की ओर होती है। इन तीनों में कौन सबसे श्रेष्ठ, कौन मध्यम और कौन लघु है?॥2॥ इन तीनों पर विजय पाने के लिए विशेषत: किसमें मन लगाना चाहिए। आप सब लोग हर्ष और उत्साह के साथ इस प्रश्न का यथावत् रूप से उत्तर दें और वही बात कहें, जिस पर आपकी पूरी आस्था हो'॥3॥ तब अर्थ की गति और तत्त्व को जानने वाले प्रतिभाशाली विदुरजी ने धर्मशास्त्र का स्मरण करके सबसे पहले कहना आरम्भ किया॥4॥

विदुर उवाच

बाहुश्रुत्यं तपस्त्याग: श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा।
भावशुद्धिर्दया सत्यं संयमश्चात्मसम्पद:॥5॥
एतदेवाभिपद्यस्व मा तेऽभूच्चलितं मन:।
एतन्मूलौ हि धर्मार्थावेतदेकपदं हि मे॥6॥
धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोका: प्रतिष्ठिता:।
धर्मेण देवा ववृधुर्धर्मे चार्थ: समाहित:॥7॥
धर्मो राजन् गुण: श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिण:॥8॥
तस्माद् धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि॥9॥

विदुरजी बोले—राजन्! बहुत-से शास्त्रों का अनुशीलन, तपस्या, त्याग, श्रद्धा, यज्ञकर्म, क्षमा, भावशुद्धि, दया, सत्य और संयम—ये सब आत्मा की सम्पत्ति हैं॥5॥ युधिष्ठिर! तुम इन्हीं को प्राप्त करो। इनकी ओर से तुम्हारा मन विचलित नहीं होना चाहिये। धर्म और अर्थ की जड़ ये ही हैं। मेरे मत में ये ही परम पद हैं॥6॥ धर्म से ही ऋषियों ने संसार समुद्र को पार किया है। धर्म पर ही सम्पूर्ण लोक टिके हुए हैं। धर्म से ही देवताओं की उन्नति हुई है और धर्म में ही अर्थ की भी स्थिति है॥7॥ राजन्! धर्म ही श्रेष्ठ गुण है, अर्थ को मध्यम बताया जाता है और काम सबकी अपेक्षा लघु है; ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं॥8॥ अत: मन को वश में करके धर्म को अपना प्रधान ध्येय बनाना चाहिये और सम्पूर्ण प्राणियों के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये, जैसा हम अपने लिए चाहते हैं॥9॥

वैशम्पायन उवाच

समाप्तवचने तस्मिन्नर्थशास्त्रविशारदः।
पार्थो धर्मार्थतत्त्वज्ञो जगौ वाक्यं प्रचोदितः॥10॥

वैश्याम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विदुरजी की बात समाप्त होने पर धर्म और अर्थ के तत्त्व को जानने वाले अर्थशास्त्र विशारद अर्जुन ने युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर कहा॥10॥

अर्जुन उवाच

कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रशस्यते।
कृषिर्वाणिज्यगोरक्षं शिल्पानि विविधानि च॥11॥
अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः।
न ह्यृतेऽर्थेन वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः॥12॥
विषयैरर्थवान् धर्ममाराधयितुमुत्तमम्।
कामं च चरितुं शक्तो दुष्प्रापमकृतात्मभिः॥13॥
अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः।
अर्थसिद्ध्या विनिर्वृत्तावुभावेतौ भविष्यतः॥14॥
तद्गतार्थं हि पुरुषं विशिष्टतरयोनयः।
ब्रह्माणमिव भूतानि सततं पर्युपासते॥15॥
जटाजिनधरा दान्ताः पङ्कदिग्धा जितेन्द्रियाः।
मुण्डा निस्तन्तवश्चापि वसन्त्यर्थार्थिनः पृथक्॥16॥
काषायवसनाश्चान्ये श्मश्रुला ह्रीनिषेविणः।
विद्वांसश्चैव शान्ताश्च मुक्ताः सर्वपरिग्रहैः॥17॥
अर्थार्थिनः सन्ति केचिदपरे स्वर्गकाङ्क्षिणः।
कुलप्रत्यागमाश्चैके स्वं स्वं धर्ममनुष्ठिताः॥18॥
आस्तिका नास्तिकाश्चैव नियताः संयमे परे।
अप्रज्ञानं तमोभूतं प्रज्ञानं तु प्रकाशिता॥19॥
भृत्यान् भोगैर्द्विषो दण्डैर्यो योजयति सोऽर्थवान्।
एतन्मतिमतां श्रेष्ठ मतं मम यथातथम्।
अनयोस्तु निबोध त्वं वचनं वाक्यकण्ठयोः॥20॥

अर्जुन बोले—राजन्! यह कर्म भूमि है। यहाँ जीविका के साधनभूत कर्मों की ही प्रशंसा होती है। खेती, व्यापार, गोपालन तथा भाँति भाँति के शिल्प—ये सब अर्थ प्राप्ति के साधन हैं॥11॥ अर्थ ही समस्त कर्मों की मर्यादा के पालन में सहायक है। अर्थ के बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते, ऐसा श्रुति का कथन है॥12॥ धनवान् मनुष्य धन के द्वारा उत्तम धर्म का पालन और अजितेन्द्रिय पुरुषों के लिए दुर्लभ कामनाओं की प्राप्ति कर सकता है॥13॥ श्रुति का कथन है कि धर्म और काम अर्थ के ही दो अवयव हैं। अर्थ की सिद्धि से उन दोनों की भी सिद्धि हो जाएगी॥14॥ जैसे सब

प्राणी सदा ब्रह्माजी की उपासना करते हैं, उसी प्रकार उत्तम जाति के मनुष्य भी सदा धनवान् पुरुष की उपासना किया करते हैं।।15।। जटा और मृगचर्म धारण करने वाले जितेन्द्रिय संयतचित्त शरीर में पङ्क धारण किए मुण्डित मस्तक नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी अर्थ की अभिलाषा रखकर पृथक् पृथक् निवास करते हैं।।16।। सब प्रकार के संग्रह से रहित, सङ्कोचशील, शान्त, गेरुआ वस्त्रधारी, दाढ़ी मूँछ बढ़ाये विद्वान् पुरुष भी धन की अभिलाषा करते देखे गये हैं। कुछ दूसरे प्रकार के ऐसे लोग हैं, जो स्वर्ग पाने की इच्छा रखते हैं और कुल परम्परागत नियमों का पालन करते हुए अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के धर्मों का अनुष्ठान कर रहे हैं; किन्तु वे भी धन की इच्छा रखते हैं।।17-18।। दूसरे बहुत-से आस्तिक नास्तिक संयम नियम परायण पुरुष हैं, जो अर्थ के इच्छुक होते हैं। अर्थ की प्रधानता को न जानना तमोमय अज्ञान है। अर्थ की प्रधानता का ज्ञान प्रकाशमय है।।19।। धनवान् वही है, जो अपने भृत्यों को उत्तम भोग और शत्रुओं को दण्ड देकर उनको वश में रखता है। बुद्धिमानों में श्रेष्ठ महाराज! मुझे तो यही मत ठीक जंचता है। अब आप इन दोनों की बात सुनिये। इनकी वाणी कण्ठ तक आ गई है अर्थात् ये दोनों भाई बोलने के लिए उतावले हो रहे हैं।।20।।

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मार्थकुशलौ माद्रीपुत्रावनन्तरम्।
नकुलः सहदेवश्च वाक्यं जगदतुः परम्॥21।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर धर्म और अर्थ के ज्ञान में कुशल माद्रीकुमार नकुल और सहदेव ने अपनी उत्तम बात इस प्रकार उपस्थित की।।21।।

नकुलसहदेवावूचतुः

आसीनश्च शयानश्च विचरन्नपि वा स्थितः।
अर्थयोगं दृढं कुर्याद् योगैरुच्चावचैरपि॥22।।
अस्मिंस्तु वै विनिर्वृत्ते दुर्लभे परमप्रिये।
इह कामानवाप्नोति प्रत्यक्षं नात्र संशयः॥23।।
योऽर्थो धर्मेण संयुक्तो धर्मो यश्चार्थसंयुतः।
तद्धि त्वामृतसंवादं तस्मादेतौ मताविह॥24।।
अनर्थस्य न कामोऽस्ति तथार्थोऽधर्मिणः कुतः।
तस्मादुद्विजते लोको धर्मार्थाद् यो बहिष्कृतः॥25।।
तस्माद् धर्मप्रधानेन साध्योऽर्थः संयतात्मना।
विश्वस्तेषु हि भूतेषु कल्पते सर्वमेव हि॥26।।
धर्मं समाचरेत् पूर्वं ततोऽर्थं धर्मसंयुतम्।
ततः कामं चरेत् पश्चात् सिद्धार्थः स हि तत्परम्॥27।।

नकुल-सहदेव बोले—महाराज! मनुष्य को बैठते, सोते, घूमते-फिरते अथवा खड़े होते समय भी छोटे-बड़े हर तरह के उपायों से धन की आय को सुदृढ़ बनाना चाहिये।।22।। धन अत्यन्त प्रिय और दुर्लभ वस्तु है। इसकी प्राप्ति अथवा सिद्धि हो

जाने पर मनुष्य संसार में अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर सकता है, इसका सभी को प्रत्यक्ष अनुभव है—इसमें संशय नहीं है।।23।। जो धन धर्म से युक्त हो और जो धर्म धन से सम्पन्न हो, वह निश्चित रूप से आपके लिए अमृत के समान होगा, यह हम दोनों का मत है।।24।। निर्धन मनुष्य की कामना पूर्ण नहीं होती और धर्महीन मनुष्य को धन भी कैसे मिल सकता है। जो पुरुष धर्मयुक्त अर्थ से वञ्चित है, उससे सब लोग उद्विग्न रहते हैं।।25।। इसलिए मनुष्य अपने मन को संयम में रखकर जीवन में धर्म को प्रधानता देते हुए पहले धर्माचरण करके ही फिर धन का साधन करे; क्योंकि धर्मपरायण पुरुष पर ही समस्त प्राणियों का विश्वास होता है और जब सभी प्राणी विश्वास करने लगते हैं, तब मनुष्य का सारा काम स्वतः सिद्ध हो जाता है।।26।। अतः सबसे पहले धर्म का आचरण करे; फिर धर्मयुक्त धन का संग्रह करे। इसके बाद दोनों की अनुकूलता रखते हुए काम का सेवन करे। इस प्रकार त्रिवर्ग संग्रह करने से मनुष्य सफल मनोरथ हो जाता है।।27।।

वैशम्पायन उवाच

विरेमतुस्तु तद्वाक्यमुक्त्वा तावश्विनोः सुतौ।
भीमसेनस्तदा वाक्यमिदं वक्तुं प्रचक्रमे॥28।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इतना कहकर नकुल और सहदेव चुप हो गये। तब भीमसेन ने इस तरह कहना आरम्भ किया।।28।।

भीमसेन उवाच

नाकामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति।
नाकामः कामयानोऽस्ति तस्मात् कामो विशिष्यते॥29।।
कामेन युक्ता ऋषयस्तपस्येव समाहिताः।
पलाशफलमूलादा वायुभक्षाः सुसंयताः॥30।।
वेदोपवेदेष्वपरे युक्ताः स्वाध्यायपारगाः।
श्राद्धयज्ञक्रियायां च तथा दानप्रतिग्रहे॥31।।
वणिजः कर्षका गोपाः कारवः शिल्पिनस्तथा।
देवकर्मकृतश्चैव युक्ताः कामेन कर्मसु॥32।।
समुद्रं वा विशन्त्यन्ये नराः कामेन संयुताः।
कामो हि विविधाकारः सर्वं कामेन सन्ततम्॥33।।
नास्ति नासीन्नाभविष्यद्भूतं कामात्मकात् परम्।
एतत् सारं महाराज धर्मार्थावत्र संस्थितौ॥34।।
नवनीतं यथा दध्नस्तथा कामोऽर्थधर्मतः।
श्रेयस्तैलं हि पिण्याकाद् घृतं श्रेय उदश्वितः।
श्रेयः पुष्पफलं काष्ठात् कामो धर्मार्थयोर्वरः॥35।।
पुष्पतो मध्विव रसः काम आभ्यां तथा स्मृतः।
कामो धर्मार्थयोर्योनिः कामश्चाथ तदात्मकः॥36।।

नाकामतो ब्राह्मणाः स्वन्नमर्थान्नाकामतो ददति ब्राह्मणेभ्यः।
नाकामतो विविधा लोकचेष्टा तस्मात् कामः प्राक् त्रिवर्गस्य दृष्टः॥37॥
सुचारुवेषाभिरलङ्कृताभिर्मदोत्कटाभिः प्रियदर्शनाभिः।
रमस्व योषाभिरुपेत्य कामं कामो हि राजन् परमो भवेन्नः॥38॥
बुद्धिर्ममैषा परिखास्थितस्य मा भूद्विचारस्तव धर्मपुत्र।
स्यात् संहितं सद्भिरफल्गुसारं ममेति वाक्यं परमानृशंसम्॥39॥
धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकभक्तः स नरो जघन्यः।
तयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे॥40॥
प्राज्ञः सुहृच्चन्दनसारलिप्तो विचित्रमाल्याभरणैरुपेतः।
ततो वचः सङ्ग्रहविस्तरेण प्रोक्त्वाथ वीरान् विरराम भीमः॥41॥
ततो मुहूर्तादथ धर्मराजो वाक्यानि तेषामनुचिन्त्य सम्यक्।
उवाच वाचावितथं स्मयन् वै लब्धश्रुतां धर्मभृतां वरिष्ठः॥42॥

भीमसेन बोले—धर्मराज! जिसके मन में कोई कामना नहीं है, उसे न तो धन कमाने की इच्छा होती है और न धर्म करने की ही। कामनाहीन पुरुष तो काम (भोग) भी नहीं चाहता है; इसलिए त्रिवर्ग में काम ही सबसे बढ़कर है।।29।। किसी-न-किसी कामना से संयुक्त होकर ही ऋषि लोग तपस्या में मन लगता हैं। फल, मूल और पत्ते चबाकर रहते हैं। वायु पीकर मन और इन्द्रियों का संयम करते हैं।।30।। कामना से ही लोग वेद और उपवेदों का स्वाध्याय करते तथा उसमें पारङ्गत विद्वान् हो जाते हैं। कामना से ही श्राद्धकर्म, यज्ञकर्म, दान और प्रतिग्रह में लोगों की प्रवृत्ति होती है।।31।। व्यापारी, किसान, ग्वाले, कारीगर और शिल्पी तथा देव सम्बन्धी कार्य करने वाले लोग भी कामना से ही अपने-अपने कर्मों में लगे रहते हैं।।32।। कामना से युक्त हुए दूसरे मनुष्य समुद्र में भी घुस जाते हैं। कामना के विविध रूप हैं तथा सारा कार्य ही कामना से व्याप्त है।।33।। सभी प्राणी कामना रखते हैं। उससे भिन्न कामना रहित प्राणी न कहीं है, न कभी था और न भविष्य में होगा ही; अत: यह काम ही त्रिवर्ग का सार है। महाराज! धर्म और अर्थ भी इसी में स्थित है।।34।। जैसे दही का सार माखन है, उसी प्रकार धर्म और अर्थ का सार काम है। जैसे खली से श्रेष्ठ तेल है, तक्र से श्रेष्ठ घी है और वृक्ष के काष्ठ से श्रेष्ठ उसका फूल और फल है, उसी प्रकार धर्म और अर्थ दोनों से श्रेष्ठ काम है।।35।। जैसे फल से उसका मधु तुल्य रस श्रेष्ठ है, उसी प्रकार धर्म और अर्थ से काम श्रेष्ठ माना गया है। काम धर्म और अर्थ का कारण है, अत: वह धर्म और अर्थरूप है।।36।। बिना किसी कामना के ब्राह्मण अच्छे अन्न का भी भोजन नहीं करते और बिना कामना के कोई ब्राह्मणों को धन का दान नहीं करते हें। जगत् के प्राणियों को जो नाना प्रकार की चेष्टा होती है, वह बिना कामना के नहीं होती; अत: त्रिवर्ग में काम का ही प्रथम एवं प्रधान स्थान देखा गया है।।37।। अत: राजन्! आप काम का अवलम्बन करके सुन्दर वेषवाली, आभूषणों से विभूषित तथा देखने में मनोहर एवं मदमत्त युवतियों के साथ विहार कीजिये। हम लोगों को इस जगत् में काम को ही श्रेष्ठ मानना चाहिये।।38।। धर्मपुत्र! मैंने गहराई में पैठकर ऐसा निश्चय किया है। मेरे इस कथन में

आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। मेरा यह वचन उत्तम, कोमल, श्रेष्ठ, तुच्छता रहित एवं सारभूत है; अतः श्रेष्ठ पुरुष भी इसे स्वीकार कर सकते हैं।।39।। मेरे विचार से धर्म, अर्थ और काम तीनों का एक साथ ही सेवन करना चाहिये। जो इनमें से एक का ही भक्त है, वह मनुष्य अधम है, जो दो के सेवन में निपुण है, उसे मध्यम श्रेणी का बताया गया है और जो त्रिवर्ग में समान रूप से अनुरक्त है, वह मनुष्य उत्तम है।।40।। बुद्धिमान्, सुहृद, चन्दन सार से चर्चित तथा विचित्र मालाओं और आभूषणों से विभूषित भीमसेन उन वीर बन्धुओं से सङ्क्षेप और विस्तारपूर्वक पूर्वोक्त वचन कहकर चुप हो गये।।41।। जिन्होंने महात्माओं के मुख से धर्म का उपदेश सुना है, उन धर्मात्माओं में श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर ने दो घड़ी तक पूर्व वक्ताओं के वचनों पर भलीभाँति विचार करके मुसकराते हुए यह यथार्थ बात कही।।42।।

युधिष्ठिर उवाच

निः संशयं निश्चितधर्मशास्त्राः सर्वे भवन्तो विदितप्रमाणाः।
विज्ञातुकामस्य ममेह वाक्यमुक्तं यद् वै नैष्ठिकं तच्छ्रुतं मे।
इदं त्ववश्यं गदतो ममापि वाक्यं निबोधध्वमनन्यभावाः॥43॥
यो वै न पापे निरतो न पुण्ये नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे।
विमुक्तदोषः समलोष्टकाञ्चनो विमुच्यते दुःखसुखार्थसिद्धेः॥44॥
भूतानि जातिस्मरणात्मकानि जराविकारैश्च समन्वितानि।
भूयश्च तैस्तैः प्रतिबोधितानि मोक्षं प्रशंसन्ति न तं च विद्मः॥45॥
स्नेहेन युक्तस्य न चास्ति मुक्तिरिति स्वयम्भूर्भगवानुवाच।
बुधाश्च निर्वाणपरा भवन्ति तस्मान्न कुर्यात् प्रियमप्रियं च॥46॥
एतत् प्रधानं च न कामकारो यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।
भूतानि सर्वाणि विधिर्नियुङ्क्ते विधिर्बलीयानिति वित्त सर्वे॥47॥
न कर्मणाऽऽप्नोत्यनवाप्यमर्थं यद्धावि तद्वै भवतीति वित्त।
त्रिवर्गहीनोऽपि हि विन्दतेऽर्थं तस्मादहो लोकहिताय गुह्यम्॥48॥

युधिष्ठिर बोले—बन्धुओं! इसमें सन्देह नहीं कि आप लोग धर्मशास्त्रों के सिद्धान्तों पर विचार करके एक निश्चय पर पहुँच चुके हैं। आप लोगों को प्रमाणों का भी ज्ञान पर्याप्त है। मैं सबके विचार जानना चाहता था, इसलिए मेरे सामने यहाँ आप लोगों ने जो अपना-अपना निश्चित सिद्धान्त बताया है, वह सब मैंने ध्यान से सुना है। अब आप, मैं जो कुछ कह रहा हूँ, मेरी उस बात को भी अनन्यचित्त होकर अवश्य सुनिये।।43।। जो न पाप में लगा हो और न पुण्य में, न तो अर्थोपार्जन में तत्पर हो न धर्म में, न काम में ही। वह सब प्रकार के दोषों से रहित मनुष्य दुःख और सुख को देने वाली सिद्धियों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है, उस समय मिट्टी के ढेले और सोने में उसका समान भाव हो जाता है।।44।। जो पूर्वजन्म की बातों को स्मरण करने वाले तथा वृद्धावस्था के विकार से युक्त हैं, वे मनुष्य नाना प्रकार के सांसारिक दुःखों के उपभोग से निरन्तर पीड़ित हो मुक्ति की ही प्रशंसा करते हैं, परन्तु हम लोग उस मोक्ष के विषय में

जानते ही नहीं हैं।।45।। स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माजी का कथन है कि जिसके मन में आसक्ति है, उसकी कभी मुक्ति नहीं होती। आसक्ति शून्य ज्ञानी मनुष्य ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं; अत: मुमुक्षु पुरुष को चाहिये कि वह किसी का प्रिय अथवा अप्रिय न करे।।46।। इस प्रकार विचार करना ही मोक्ष का प्रधान उपाय है, स्वेच्छाचार नहीं। विधाता ने मुझे जिस कार्य में लगा दिया है, मैं उसे ही करता हूँ। विधाता सभी प्राणियों को विभिन्न कार्यों के लिए प्रेरित करता है। अत: आप सब लोगों को ज्ञात होना चाहिये कि विधाता ही प्रबल है।।47।। मनुष्य कर्म द्वारा अप्राप्य अर्थ नहीं पा सकता। जो होनहार है, वही होती है; इस बात को तुम सब लोग जान लो। मनुष्य त्रिवर्ग से रहित होने पर भी आवश्यक पदार्थ को प्राप्त कर लेता है; अत: मोक्ष प्राप्ति का गूढ़ उपाय (ज्ञान) ही जगत् का वास्तविक कल्याण करने वाला है।।48।।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तदग्र्यं वचनं मनोनुगं समस्तमाज्ञाय ततो हि हेतुमत्।
तदा प्रणेदुश्च जहर्षिरे च ते कुरुप्रवीराय च चक्रिरेऽञ्जलिम्॥49।।
सुचारुवर्णाक्षरचारुभूषितां मनोनुगां निर्धुतवाक्यकण्टकाम्।
निशम्य तां पार्थिव पार्थभाषितां गिरं नरेन्द्राः प्रशशंसुरेव ते॥50।।
स चापि तान् धर्मसुतो महामनास्तदा प्रतीतान् प्रशशंस वीर्यवान्।
पुनश्च पप्रच्छ सरिद्वरासुतं ततः परं धर्ममहीनचेतसम्॥51।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिर की कही हुई बात बड़ी उत्तम, युक्तियुक्त और मन में बैठने वाली हुई। उसे पूर्ण रूप से समझकर वे सब भाई बड़े प्रसन्न हो हर्षनाद करने लगे। उन सबने कुरुकुल के प्रमुख वीर युधिष्ठिर को अञ्जलि बाँधकर प्रणाम किया।।49।। जनमेजय! युधिष्ठिर की उस वाणी में किसी प्रकार का दोष नहीं था। वह अत्यन्त सुन्दर स्वर और व्यञ्जन के सन्निवेश से विभूषित तथा मन के अनुरूप थी, उसे सुनकर समस्त राजाओं ने युधिष्ठिर की भूरि-भूरि प्रशंसा की।।50।। पराक्रमी धर्मपुत्र महामना युधिष्ठिर ने भी उन समस्त विश्वासपात्र नरेशों एवं बन्धुजनों की प्रशंसा की और पुन: उदारचेता गङ्गानन्दन भीष्मजी के पास आकर उनसे उत्तम धर्म के विषय में प्रश्न किया।।51।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि षड्जगीतायां
सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 167 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में षड्जगीता विषयक एक सौ सड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ।।167।।

षड्जगीता सम्पूर्णा

एकादशोऽध्यायः

मित्र बनाने एवं न बनाने योग्य पुरुषों के लक्षण तथा कृतघ्न गौतम की कथा का आरम्भ

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ कुरूणां प्रीतिवर्धन।
प्रश्नं कञ्चित् प्रवक्ष्यामि तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥1।।
कीदृशा मानवाः सौम्याः कैः प्रीतिः परमा भवेत्।
आयत्यां च तदात्वे च के क्षमास्तान् वदस्व मे॥2।।
न हि तत्र धनं स्फीतं न च सम्बन्धिबान्धवाः।
तिष्ठन्ति यत्र सुहृदस्तिष्ठन्तीति मतिर्मम॥3।।
दुर्लभो हि सुहृच्छ्रोता दुर्लभश्च हितः सुहृत्।
एतद् धर्मभृतां श्रेष्ठ सर्वं व्याख्यातुमर्हसि॥4।।

युधिष्ठिर ने कहा—कौरवकुल की प्रीति बढ़ाने वाले महाज्ञानी पितामह! मैं कुछ और प्रश्न आपके सामने उपस्थित कर रहा हूँ। मेरे उन प्रश्नों का विवेचन कीजिये।।1।। सौम्य स्वभाव के मनुष्य कैसे होते हैं? किनके साथ प्रेम करना उत्तम होता है? वर्तमान और भविष्य में कौन-से मनुष्य उपकार करने में समर्थ होते हैं? उन सबका मुझसे वर्णन कीजिये।।2।। मेरी तो यह धारणा है कि जिस स्थान पर सुहृद खड़े होते हैं, वहाँ न तो प्रचुर धन काम दे सकता है और न सम्बन्धी तथा बन्धु बान्धव ही ठहर सकते हैं।।3।। हित की बात सुनने वाला सुहृद दुर्लभ है तथा हितकारी सुहृद भी दुर्लभ ही है। धर्मात्माओं में श्रेष्ठ पितामह! इन सब प्रश्नों का आप विशद विवेचन कीजिये।।4।।

भीष्म उवाच

सन्धेयान् पुरुषान् राजन्नसन्धेयांश्च तत्त्वतः।
वदतो मे निबोध त्वं निखिलेन युधिष्ठिर॥5।।
लुब्धः क्रूरस्त्यक्तधर्मा निकृतिः शठ एव च।
क्षुद्रः पापसमाचारः सर्वशङ्की तथालसः॥6।।
दीर्घसूत्रोऽनृजुः क्रुष्टो गुरुदारप्रधर्षकः।
व्यसने यः परित्यागी दुरात्मा निरपत्रपः॥7।।
सर्वतः पापदर्शी च नास्तिको वेदनिन्दकः।
सम्प्रकीर्णेन्द्रियो लोके यः कामं निरतश्चरेत्॥8।।
असत्यो लोकविद्विष्टः समये चानवस्थितः।
पिशुनोऽथाकृतप्रज्ञो मत्सरी पापनिश्चयः॥9।।
दुःशीलोऽथाकृतात्मा च नृशंसः कितवस्तथा।
मित्रैरपकृतिर्नित्यमिच्छतेऽर्थं परस्य यः॥10।।
ददतश्च यथाशक्ति यो न तुष्यति मन्दधीः।

अधैर्यमपि यो युङ्क्ते सदा मित्रं नरर्षभ॥11॥
अस्थानक्रोधनोऽयुक्तो यश्चाकस्माद् विरुध्यते।
सुहृदश्चैव कल्याणानाशु त्यजति किल्बिषी॥12॥
अल्पेऽप्यपकृते मूढस्तथाज्ञानात् कृतेऽपि च।
कार्यसेवी च मित्रेषु मित्रद्वेषी नराधिप॥13॥
शत्रुर्मित्रमुखो यश्च जिह्मप्रेक्षी विलोचनः।
न विरज्यति कल्याणे यस्त्यजेत् तादृशं नरम्॥14॥
पानपो द्वेषणः क्रोधी निर्घृणः परुषस्तथा।
परोपतापी मित्रध्रुक् तथा प्राणिवधे रतः॥15॥
कृतघ्नश्चाधमो लोके न सन्धेयः कदाचन।
छिद्रान्वेषी ह्यसन्धेयः सन्धेयानपि मे शृणु॥16॥

भीष्मजी ने कहा—राजा युधिष्ठिर! किनके साथ सन्धि (मित्रता) करनी चाहिये और किनके साथ नहीं? यह बात मैं तुम्हें ठीक-ठीक बता रहा हूँ। तुम सब कुछ ध्यान देकर सुनो॥5॥ जो लोभी, क्रूर, धर्मत्यागी, कपटी, शठ, क्षुद्र, पापाचारी, सब पर सन्देह करने वाला, आलसी, दीर्घसूत्री, कुटिल, निन्दित, गुरुपत्नीगामी, सङ्कट के समय साथ छोड़कर चल देने वाला, दुरात्मा, निर्लज्ज, सब ओर पापपूर्ण दृष्टि डालने वाला, नास्तिक, वेदों की निन्दा करने वाला, इन्द्रियों को खुला छोड़कर जगत् में इच्छानुसार विचरने वाला, झूठा, सबके द्वेष का पात्र, अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर न रहने वाला, चुगलखोर, अपवित्र बुद्धि वाला, ईर्ष्यालु, पापपूर्ण विचार रखने वाला, दुष्ट स्वभाव वाला, मन को वश में न रखने वाला नृशंस, धूर्त, मित्रों की बुराई करने वाला, सदा दूसरों का धन लेने की इच्छा रखने वाला, यथाशक्ति देने वाले पर भी सन्तुष्ट न रहने वाला, मन्द बुद्धि, मित्र को भी सदा धैर्य से विचलित करने वाला, असावधान, बेमौके क्रोध करने वाला, अकस्मात् विरोधी होकर कल्याणकारी सुहृदों को भी शीघ्र ही त्याग देने वाला, अनजान में थोड़ा-सा भी अपराध बन जाने पर मित्र का अनिष्ट करने वाला, पापी, अपना काम बनाने के लिए ही मित्रों से मेल रखने वाला, वास्तव में मित्रद्वेषी, मुख से मित्रता की बातें करके भीतर से शत्रुभाव रखने वाला, कुटिल दृष्टि से देखने वाला, विपरीतदर्शी, भलाई से कभी पीछे न हटने वाले मित्र को भी त्याग देने वाला, शराबी, द्वेषी, क्रोधी, निर्दयी, क्रूर, दूसरों को सताने वाला, मित्रद्रोही, प्राणियों की हिंसा में तत्पर रहने वाला, कृतघ्न तथा नीच हो, संसार में ऐसे मनुष्य के साथ कभी सन्धि नहीं करनी चाहिये। जो दूसरों का छिद्र खोजता हो, वह भी सन्धि करने के योग्य नहीं है। अब सन्धि करने के योग्य पुरुषों को बता रहा हूँ, सुनो॥6-16॥

कुलीना वाक्यसम्पन्ना ज्ञानविज्ञानकोविदाः।
रूपवन्तो गुणोपेतास्तथाऽलुब्धा जितश्रमाः॥17॥
सन्मित्राश्च कृतज्ञाश्च सर्वज्ञा लोभवर्जिताः।
माधुर्यगुणसम्पन्नाः सत्यसन्धा जितेन्द्रियाः॥18॥

व्यायामशीलाः सततं कुलपुत्राः कुलोद्वहाः।
दोषैः प्रमुक्ताः प्रथितास्ते ग्राह्याः पार्थिवैर्नराः॥19॥
यथाशक्ति समाचाराः सम्प्रतुष्यन्ति हि प्रभो।
नास्थाने क्रोधवन्तश्च न चाकस्माद् विरागिणः।
विरक्ताश्च न दुष्यन्ति मनसाप्यर्थकोविदाः॥20॥
आत्मानं पीडयित्वापि सुहृत्कार्यपरायणाः।
विरज्यन्ति न मित्रेभ्यो वासो रक्तमिवाविकम्॥21॥
क्रोधाच्च लोभमोहाभ्यां नानर्थे युवतीषु च।
न दर्शयन्ति सुहृदो विश्वस्ता धर्मवत्सलाः॥22॥
लोष्टकाञ्चनतुल्यार्थाः सुहृत्सु दृढबुद्धयः।
ये चरन्त्यभिमानानि सृष्टार्थमनुषङ्गिणः॥23॥
सङ्गृह्णन्तः परिजनं स्वाम्यर्थपरमाः सदा।
ईदृशैः पुरुषश्रेष्ठैर्यः सन्धिं कुरुते नृपः॥24॥
तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव।
शास्त्रनित्या जितक्रोधा बलवन्तो रणे सदा॥25॥
जन्मशीलगुणोपेताः सन्धेयाः पुरुषोत्तमाः।
ये च दोषसमायुक्ता नराः प्रोक्ता मयानघ॥26॥
तेषामप्यधमा राजन् कृतघ्ना मित्रघातकाः।
त्यक्तव्यास्तु दुराचाराः सर्वेषामिति निश्चयः॥27॥

जो कुलीन, बोलने में समर्थ, ज्ञान-विज्ञान में कुशल, रूपवान्, गुणवान्, लोभहीन, काम करने से कभी न थकने वाले, अच्छे मित्रों से सम्पन्न, कृतज्ञ, सर्वज्ञ, लोभ से दूर रहने वाले, मधुर स्वभाव वाले, सत्यप्रतिज्ञ, जितेन्द्रिय, सदा व्यायामशील, उत्तम कुल की सन्तान, अपने कुल का भार वहन करने में समर्थ, दोष शून्य तथा लोक में विख्यात हों, ऐसे मनुष्यों को राजा अपना मित्र बनावे॥17-19॥ प्रभो! जो अपनी शक्ति के अनुसार कर्त्तव्य का ठीक-ठीक पालन करते और सन्तुष्ट रहते हैं, जिन्हें बेमौके क्रोध नहीं आता, जो अकस्मात् स्नेह का त्याग नहीं करते, जो उदासीन हो जाने पर भी मन से कभी बुराई नहीं चाहते, अर्थ के तत्त्व को समझते हैं और अपने को कष्ट में डालकर भी हितैषी पुरुषों का कार्य सिद्ध करते हैं। जैसे रङ्गा हुआ ऊनी कपड़ा अपना रङ्ग नहीं छोड़ता, उसी प्रकार जो मित्र की ओर से विरक्त नहीं होते हैं, जो क्रोधवश मित्र का अनर्थ करने में प्रवृत्त नहीं होते हैं तथा लोभ और मोह के वशीभूत हो मित्र की युवतियों पर अपनी आसक्ति नहीं दिखाते, जो मित्र के विश्वासपात्र और धर्म के प्रति अनुरक्त हैं, जिनकी दृष्टि में मिट्टी का ढेला और सोना दोनों एक से हैं, जो सदा सुहृदों के प्रति सुस्थिर बुद्धि रखने वाले हैं, सबके लिए प्रमाणभूत शास्त्रों के अनुसार चलते हैं और प्रारब्धवश प्राप्त हुए धन में ही सन्तुष्ट रहते हैं, जो कुटुम्ब का संग्रह रखते हुए सदा अपने सुहृद एवं स्वामी के कार्य साधन में तत्पर रहते हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुषों के साथ जो

राजा सन्धि (मेल) करता है, उसका राज्य उसी तरह बढ़ता है, जैसे चन्द्रमा की चाँदनी। जो प्रतिदिन शास्त्रों का स्वाध्याय करते हैं, क्रोध को काबू में रखते हैं और युद्ध में सदा प्रबल रहते हैं, जिनका उत्तम कुल में जन्म हुआ है, जो शीलवान् और श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न हैं, वे श्रेष्ठ पुरुष ही मित्र बनाने के योग्य होते हैं। निष्पाप नरेश! मैंने जो दोषयुक्त मनुष्य बताये हैं, उन सबमें अधम होते हैं कृतघ्न! वे मित्रों की हत्या तक कर डालते हैं। ऐसे दुराचारी नराधमों को दूर से ही त्याग देना चाहिये। यह सबका निश्चय है।।20-27।।

युधिष्ठिर उवाच

विस्तरेणाथ सम्बन्धं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वत:।
मित्रद्रोही कृतघ्नश्च य: प्रोक्तस्तद्वदस्व मे॥28।।

युधिष्ठिर ने कहा—पितामह! आपने जिसे मित्रद्रोही और कृतघ्न कहा है, उसका यथार्थ इतिहास क्या है? यह मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ, आप कृपा करके मुझे बताइये।।28।।

भीष्म उवाच

हन्त ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
उदीच्यां दिशि यद् वृत्तं म्लेच्छेषु मनुजाधिप॥29।।
ब्राह्मणो मध्यदेशीय: कश्चिद् वै ब्रह्मवर्जित:।
ग्रामं वृद्धियुतं वीक्ष्य प्राविशद् भैक्ष्यकाङ्क्षया॥30।।
तत्र दस्युर्धनयुत: सर्ववर्णविशेषवित्।
ब्रह्मण्य: सत्यसन्धश्च दाने च निरतोऽभवत्॥31।।
तस्य क्षयमुपागम्य ततो भिक्षामयाचत।
प्रतिश्रयं च वासार्थं भिक्षां चैवाथ वार्षिकीम्॥32।।
प्रादात् तस्मै स विप्राय वस्त्रं च सदृशं नवम्।
नारीं चापि वयोपेतां भर्त्रा विरहितां तथा॥33।।
एतत् सम्प्राप्य हृष्टात्मा दस्यो: सर्वं द्विजस्तथा।
तस्मिन् गृहवरे राजंस्तया रेमे स गौतम:॥34।।
कुटुम्बार्थं च दास्याश्च साहाय्यं चाप्यथाकरोत्।
तत्रावसत् स वर्षांश्च समृद्धे शबरालये॥35।।
बाणवेधे परं यत्नमकरोच्चैव गौतम:।
चक्राङ्गान् स च नित्यं वै सर्वतो वनगोचरान्॥36।।
जघान गौतमो राजन् यथा दस्युगणास्तथा।
हिंसापटुर्घृणाहीन: सदा प्राणिवधे रत:॥37।।

भीष्मजी ने कहा—नरेश्वर! मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें एक पुराना इतिहास बता रहा हूँ। यह घटना उत्तर दिशा में म्लेच्छों के देश में घटित हुई थी।।29।। मध्यदेश का एक ब्राह्मण; जिसने वेद बिल्कुल नहीं पढ़ा था, कोई सम्पन्न गाँव देखकर उसमें भीख माँगने

के लिए गया।।30।। उस गाँव में एक धनी डाकू रहता था, जो समस्त वर्णों की विशेषता का जानकार था। उसके हृदय में ब्राह्मणों के प्रति भक्ति थी। वह सत्यप्रतिज्ञ और दानी था।।31।। ब्राह्मण ने उसी के घर जाकर भिक्षा के लिए याचना की। दस्यु ने ब्राह्मण को रहने के लिए एक घर देकर वर्ष भर निर्वाह करने के योग्य अन्न की भिक्षा का प्रबन्ध कर दिया, उपयुक्त नया वस्त्र दिया और उसकी सेवा में एक युवती दासी भी दे दी, जो उस समय पति से रहित थी।।32-33।। राजन्! दस्यु से ये सारी वस्तुएँ पाकर ब्राह्मण मन-ही-मन बड़ा प्रसन्न हुआ और उस सुन्दर गृह में दासी के साथ आनन्दपूर्वक रहने लगा।।34।। वह दासी के कुटुम्ब के लिए कुछ सहायता भी करने लगा। ब्राह्मण ने भील के उस समृद्धिशाली भवन में अनेक वर्षों तक निवास किया।।35।। उसका नाम गौतम था। उसने बाण चलाकर लक्ष्य वेधने का वहाँ बड़े यत्न के साथ अभ्यास किया। राजन्! गौतम भी दस्युओं की तरह प्रतिदिन जङ्गल में सब ओर घूम-फिर कर हंसों का शिकार करने लगा। वह हिंसा में बड़ा प्रवीण था। उसमें दया नहीं थी। वह सदा प्राणियों को मारने की ही ताक में लगा रहता था।।36-37।।

गौतमः सन्निकर्षेण दस्युभिः समतामियात्।
तथा तु वसतस्तस्य दस्युग्रामे सुखं तदा॥38।।
अगमन् बहवो मासा निघ्नतः पक्षिणो बहून्।
ततः कदाचिदपरो द्विजस्तं देशमागतः॥39।।
जटाचीराजिनधरः स्वाध्यायपरमः शुचिः।
विनीतो नियताहारो ब्रह्मण्यो वेदपारगः॥40।।
स ब्रह्मचारी तद्देश्यः सखा तस्यैव सुप्रियः।
तं दस्युग्राममगमद् यत्रासौ गौतमोऽवसत्॥41।।
स तु विप्रगृहान्वेषी शूद्रान्नपरिवर्जकः।
ग्रामे दस्युसमाकीर्णे व्यचरत् सर्वतोदिशम्॥42।।
ततः स गौतमगृहं प्रविवेश द्विजोत्तमः।
गौतमश्चापि सम्प्राप्तस्तावन्योन्येन सङ्गतौ॥43।।
चक्राङ्गभारस्कन्धं तं धनुष्पाणिं धृतायुधम्।
रुधिरेणावसिक्ताङ्गं गृहद्वारमुपागतम्॥44।।
तं दृष्ट्वा पुरुषादाभमपध्वस्तं क्षयागतम्।
अभिज्ञाय द्विजो व्रीडन्निदं वाक्यमथाब्रवीत्॥45।।

डाकुओं के सम्पर्क में रहने से गौतम भी उनके ही समान पूरा डाकू बन गया। डाकुओं के गाँव में सुखपूर्वक रहकर प्रतिदिन बहुत-से पक्षियों का शिकार करते हुए उसके कई महीने बीत गये। तदनन्तर एक दिन कोई दूसरा ब्राह्मण उस गाँव में आया, जो जटा, वल्कल और मृगचर्म धारण किए हुए था। वह स्वाध्याय परायण, पवित्र, विनयी, नियम के अनुकूल भोजन करने वाला, ब्राह्मणभक्त तथा वेदों का पारङ्गत विद्वान् था।।38-40।। वह ब्रह्मचारी ब्राह्मण गौतम के ही गाँव का निवासी तथा उसका परम

प्रिय मित्र था और घूमता हुआ डाकुओं के उसी गाँव में जा पहुँचा था, जहाँ गौतम निवास करता था।।41।। वह शूद्र का अन्न नहीं खाता था; इसलिए दस्युओं से भरे हुए उस गाँव में ब्राह्मण के घर की तलाश करता हुआ सब ओर घूमने लगा।।42।। घूमता हुआ वह श्रेष्ठ ब्राह्मण गौतम के घर पर गया, इतने ही में गौतम भी शिकार से लौट कर वहाँ आ पहुँचा। उन दोनों की एक-दूसरे से भेंट हुई।।43।। ब्राह्मण ने देखा, गौतम के कन्धे पर मारे गये हंस की लाश है, हाथ में धनुष और बाण है, सारा शरीर रक्त से सींच उठा है, घर के दरवाजे पर आया हुआ गौतम नरभक्षी राक्षस के समान जान पड़ता है और ब्राह्मणत्व से भ्रष्ट हो चुका है। उसे इस अवस्था में घर पर आया देख ब्राह्मण ने पहचान लिया। पहचानकर वे बड़े लज्जित हुए और उससे इस प्रकार बोले।।44-45।।

किमिदं कुरुषे मोहाद् विप्रस्त्वं हि कुलोद्वहः।
मध्यदेशपरिज्ञातो दस्युभावं गतः कथम्॥46।।
पूर्वान् स्मर द्विज ज्ञातीन् प्रख्यातान् वेदपारगान्।
तेषां वंशेऽभिजातस्त्वमीदृशः कुलपांसनः॥47।।
अवबुध्यात्मनाऽऽत्मानं सत्त्वं शीलं श्रुतं दमम्।
अनुक्रोशं च संस्मृत्य त्यज वासमिमं द्विज॥48।।
स एवमुक्तः सुहृदा तेन तत्र हितैषिणा।
प्रत्युवाच ततो राजन् विनिश्चित्य तदार्तवत्॥49।।
निर्धनोऽस्मि द्विजश्रेष्ठ नापि वेदविदप्यहम्।
वित्तार्थमिह सम्प्राप्तं विद्धि मां द्विजसत्तम॥50।।
त्वद्दर्शनात् तु विप्रेन्द्र कृतार्थोऽस्म्यद्य वै द्विज।
आवां हि सह यास्यावः श्वो वसस्वाद्य शर्वरीम्॥51।।
स तत्र न्यवसद् विप्रो घृणी किञ्चिदसंस्पृशन्।
क्षुधितश्छन्द्यमानोऽपि भोजनं नाभ्यनन्दत॥52।।

'अरे! तू मोहवश यह क्या कर रहा है? तू तो मध्यदेश का विख्यात एवं कुलीन ब्राह्मण था। यहाँ डाकू कैसे बन गया?।।46।। ब्रह्मन्! अपने पूर्वजों को तो याद कर। उनकी कितनी ख्याति थी। वे कैसे वेदों के पारङ्गत विद्वान् थे और तू उन्हीं के वंश में पैदा होकर ऐसा कुल कलङ्क निकला।।47।। अब भी अपने आपको पहचान! तू द्विज है; अतः द्विजोचित सत्त्व, शील, शास्त्रज्ञान, संयम और दया भाव को याद करके अपने इस निवास स्थान को त्याग दे'।।48।। राजन्! अपने उस हितैषी सुहृद के इस प्रकार कहने पर गौतम मन-ही-मन कुछ निश्चय करके आर्त्त सा होकर बोला—।।49।। 'द्विजश्रेष्ठ! मैं निर्धन हूँ और वेद को भी नहीं जानता; अतः द्विजप्रवर! मुझे धन कमाने के लिए इधर आया हुआ समझें।।50।। विपेन्द्र! आज आपके दर्शन से मैं कृतार्थ हो गया। ब्रह्मन्! अब रात भर यही रहिये, कल सबेरे हम दोनों साथ ही चलेंगे'।।51।। वह ब्राह्मण दयालु था। गौतम के अनुरोध से उसके यहाँ ठहर गया, किन्तु वहाँ की किसी भी वस्तु को हाथ से छुआ भी नहीं। यद्यपि वह भूखा था और भोजन करने के लिए गौतम

द्वारा उससे बड़ी अनुनय विनय की गई, तो भी किसी तरह वहाँ का अन्न ग्रहण करना उसने स्वीकार नहीं किया।।52।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 168 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में कृतघ्न का उपाख्यान विषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ।।168।।

द्वादशोऽध्यायः

गौतम का समुद्र की ओर प्रस्थान और संध्या के समय एक दिव्य बक पक्षी के घर पर अतिथि होना

भीष्म उवाच

तस्यां निशायां व्युष्टायां गते तस्मिन् द्विजोत्तमे।
निष्क्रम्य गौतमोऽगच्छत् समुद्रं प्रति भारत॥1।।
सामुद्रिकान् स वणिजस्ततोऽपश्यत् स्थितान् पथि।
स तेन सह सार्थेन प्रययौ सागरं प्रति॥2।।
स तु सार्थो महान् राजन् कस्मिंश्चिद् गिरिगह्वरे।
मत्तेन द्विरदेनाथ निहतः प्रायशोऽभवत्॥3।।
स कथञ्चिद् भयात् तस्माद् विमुक्तो ब्राह्मणस्तथा।
कान्दिग्भूतो जीवितार्थी प्रदुद्रावोत्तरां दिशम्॥4।।
स तु सार्थपरिभ्रष्टस्तस्माद् देशात्तथा च्युतः।
एकाकी व्यचरत् तत्र वने किंपुरुषो यथा॥5।।
स पन्थानमथासाद्य समुद्राभिसरं तदा।
आससाद वनं रम्यं दिव्यं पुष्पितपादपम्॥6।।
सर्वर्तुकैराम्रवणैः पुष्पितैरुपशोभितम्।
नन्दनोद्देशसदृशं यक्षकिन्नरसेवितम्॥7।।
शालैस्तालैस्तमालैश्च कालागुरुवनैस्तथा।
चन्दनस्य च मुख्यस्य पादपैरुपशोभितम्।
गिरिप्रस्थेषु रम्येषु तेषु तेषु सुगन्धिषु॥8।।
समन्ततो द्विजश्रेष्ठास्तत्राकूजन्त वै तदा।
मनुष्यवदनाश्चान्ये भारुण्डा इति विश्रुताः॥9।।
भूलिङ्गशकुनाश्चान्ये सामुद्राः पर्वतोद्भवाः।
स तान्यतिमनोज्ञानि विहगानां रुतानि वै॥10।।
शृण्वन् सुरमणीयानि विप्रोऽगच्छत गौतमः।
ततोऽपश्यत् सुरम्येषु सुवर्णसिकताचिते॥11।।

देशे समे सुखे चित्रे स्वर्गोद्देशसमे नृप।
श्रिया जुष्टं महावृक्षं न्यग्रोधं च सुमण्डलम्॥12।।
शाखाभिरनुरूपाभिर्भूयिष्ठं क्षत्रसन्निभम्।
तस्य मूलं च संसिक्तं वरचन्दनवारिणा॥13।।

भीष्मजी कहते हैं—भारत! जब रात बीती, सवेरा हुआ और वह श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँ से चला गया, तब गौतम भी घर छोड़ कर समुद्र की ओर चल दिया।।1।। रास्ते में उसने देखा कि समुद्र के आस-पास रहने वाले कुछ व्यापारी वैश्य ठहरे हुए हैं। वह उन्हीं के दल के साथ हो लिया और समुद्र की ओर जाने लगा।।2।। राजन्! वैश्यों का वह महान् दल किसी पर्वत की गुफा में डेरा डाले हुए था। इतने ही में एक मत वाले हाथी ने उस पर आक्रमण कर दिया। उस दल के अधिकांश मनुष्य उसके द्वारा मारे गये।।3।। गौतम ब्राह्मण किसी तरह उस भय से छूट तो गया; परन्तु उस घबराहट में वह यह निर्णय न कर सका कि मुझे किस दिशा में जाना है? अपने प्राण बचाने के लिए वह उत्तर दिशा की ओर भाग चला।।4।। व्यापारियों के दल का साथ छूट गया, अत: उस देश से भी भ्रष्ट होकर वह अकेला ही उस वन में विचरने लगा; मानो कोई किंपुरुष घूम रहा हो।।5।। उस समय समुद्र की ओर जाने वाला एक मार्ग उसे मिल गया और उसी को पकड़कर वह दिव्य एवं रमणीय वन में जा पहुँचा। वहाँ के सभी वृक्ष सुन्दर फूलों से सुशोभित थे।।6।। सभी ऋतुओं में फूलने फलने वाली आम्र वृक्षों की पङ्क्तियाँ उस वन की शोभा बढ़ा रही थीं। यक्षों और किन्नरों से सेवित वह प्रदेश नन्दनवन के समान मनोरम जान पड़ता था।।7।। शाल, ताल, तमाल, काले अगुरु के वन तथा श्रेष्ठ चन्दन के वृक्ष उस वन को सुशोभित करते थे। वहाँ के रमणीय और सुगन्धित पर्वतीय समतल प्रदेशों में चारो ओर उत्तमोत्तम पक्षी कलरव कर रहे थे। कहीं मनुष्यों के समान मुख वाले 'भारुण्ड' नामक पक्षी बोलते थे। कहीं समुद्र तट और पर्वतों पर रहने वाले भूलिङ्ग पक्षी तथा अन्य विहङ्गम चहचहा रहे थे। पक्षियों के उन मधुर मनोहर एवं रमणीय कलरवों को सुनता हुआ गौतम ब्राह्मण आगे की ओर बढ़ता चला गया। नरेश्वर! तदनन्तर उन रमणीय प्रदेशों में से एक ऐसे स्थान पर जो सुवर्णमयी बालुका राशि से व्याप्त, समतल, सुखद, विचित्र तथा स्वर्गीय भूमि के समान मनोहर था, गौतम ने एक अत्यन्त शोभायमान बरगद का विशाल वृक्ष देखा, जो चारों ओर मण्डलाकार फैला हुआ था। अपनी बहुत-सी सुन्दर शाखाओं के कारण वह वृक्ष एक महान् छत्र के समान जान पड़ता था। उसकी जड़ चन्दन मिश्रित जल से सींची गई थी।।8-13।।

दिव्यपुष्पान्वितं श्रीमत् पतामहसभोपमम्।
तं दृष्ट्वा गौतम: प्रीतो मन: कान्तमनुत्तमम्॥14।।
मेध्यं सुरगृहप्रख्यं पुष्पितै: पादपैर्वृतम्।
तमासाद्य मुदा युक्तस्तस्याधस्तादुपाविशत्॥15।।
तत्रासीनस्य कौन्तेय गौतमस्य सुख: शिव:।
पुष्पाणी समुपस्पृश्य प्रववावनिल: शुभ:।

ह्लादयन् सर्वगात्राणि गौतमस्य तदा नृप॥16॥
स तु विप्रः प्रशान्तश्च स्पृष्टः पुण्येन वायुना।
सुखमासाद्य सुष्वाप भास्करश्चास्तमभ्ययात्॥17॥
ततोऽस्तं भास्करे याते सन्ध्याकाल उपस्थिते।
आजगाम स्वभवनं ब्रह्मलोकात् खगोत्तमः॥18॥
नाडीजङ्घ इति ख्यातो दयितो ब्रह्मणः सखा।
बकराजो महाप्राज्ञः कश्यपस्यात्मसम्भवः॥19॥
राजधर्मेति विख्यातो बभूवाप्रतिमो भुवि।
देवकन्यासुतः श्रीमान् विद्वान् देवसमप्रभः॥20॥
मृष्टाभरणसम्पन्नो भूषणैरर्कसन्निभैः।
भूषितः सर्वगात्रेषु देवगर्भः श्रिया ज्वलन्॥21॥
तमागतं खगं दृष्ट्वा गौतमो विस्मितोऽभवत्।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तो हिंसार्थी चाभ्यवैक्षत॥22॥

ब्रह्माजी की सभा के समान शोभा पाने वाला वह वृक्ष दिव्य पुष्पों से सुशोभित था। उस परम उत्तम मनोरम वटवृक्ष को देखकर गौतम को बड़ी प्रसन्नता हुई॥14॥ वह पवित्र, देवगृह के समान सुन्दर और खिले हुए वृक्षों से घिरा हुआ था। उस वृक्ष के पास जाकर वह बड़े हर्ष के साथ उसके नीचे छाया में बैठा॥15॥ कुन्तीनन्दन! गौतम के वहाँ बैठते ही फूलों का स्पर्श करके सुन्दर मन्द सुगन्ध वायु चलने लगी, जो बड़ी ही सुखद और कल्याणप्रद जान पड़ती थी। नरेश्वर! वह गौतम के सम्पूर्ण अङ्गों को आह्लाद प्रदान कर रही थी॥16॥ उस पवित्र वायु का स्पर्श पाकर गौतम को बड़ी शान्ति मिली। वह सुख का अनुभव करता हुआ वहीं लेट गया। उधर सूर्य भी डूब गया॥17॥ तदनन्तर, सूर्य के अस्ताचल को चले जाने के पश्चात् संध्या काल उपस्थित होने पर ब्रह्मलोक से वहाँ एक श्रेष्ठ पक्षी आया। वह वृक्ष ही उसका घर या वासस्थान था॥18॥ वह महर्षि कश्यप का पुत्र और ब्रह्माजी का प्रिय सखा था। उसका नाम था नाडीजङ्घ। वह बगुलों का राजा और महाबुद्धिमान् था॥19॥ वह अनुपम पक्षी इस भूतल पर राजधर्मा के नाम से विख्यात था। देवकन्या से उत्पन्न होने के कारण उसके शरीर की कान्ति देवता के समान थी। वह बड़ा विद्वान् था और दिव्य तेज से सम्पन्न दिखायी देता था॥20॥ उसके अङ्गों में सूर्यदेव की किरणों के समान चमकीले आभूषण शोभा देते थे। वह देवकुमार अपने सभी अङ्गों में विशुद्ध एवं दिव्य आभरणों से विभूषित हो दिव्य दीप्ति से देदीप्यमान होता था॥21॥ उस पक्षी को आया देख गौतम आश्चर्य से चकित हो उठा। उस समय वह भूखा प्यासा तो था ही रास्ता चलने की थकावट से भी चूर-चूर हो रहा था। अतः राजधर्मा को मार डालने की इच्छा से उसकी ओर देखा॥22॥

राजधर्मोवाच

स्वागतं भवतो विप्र दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मे गृहम्।
अस्तं च सविता यातः सन्ध्येयं समुपस्थिता॥23॥

मम त्वं निलयं प्राप्तः प्रियातिथिरनिन्दितः।
पूजितो यास्यसि प्रातर्विधिदृष्टेन कर्मणा॥24॥

राजधर्मा (पास आकर) बोला—विप्रवर! आपका स्वागत है। यह मेरा घर है। आप यहाँ पधारे, यह मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात है। सूर्यदेव अस्ताचल को चले गये। यह संध्याकाल उपस्थित है॥23॥ आप मेरे घर आये हुए प्रिय एवं उत्तम अतिथि हैं। मैं शास्त्रीय विधि के अनुसार आज आपकी पूजा करूँगा। रात में मेरा आतिथ्य स्वीकार करके कल प्रातःकाल यहाँ से जाइयेगा॥24॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने
एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 169 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में कृतघ्न का उपाख्यान विषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥169॥

त्रयोदशोऽध्यायः

गौतम का राजधर्मा द्वारा आतिथ्य सत्कार और उसका राक्षसराज विरूपाक्ष के भवन में प्रवेश

भीष्म उवाच

गिरं तां मधुरां श्रुत्वा गौतमो विस्मितस्तदा।
कौतूहलान्वितो राजन्राजधर्माणमैक्षत्॥1॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! पक्षी की वह मधुर वाणी सुनकर गौतम को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह कौतूहलपूर्ण दृष्टि से राजधर्मा की ओर देखने लगा॥1॥

राजधर्मोवाच

भोः कश्यपस्य पुत्रोऽहं माता दाक्षायणी च मे।
अतिथिस्त्वं गुणोपेतः स्वागतं ते द्विजोत्तम॥2॥

राजधर्मा बोला—द्विजश्रेष्ठ! मैं महर्षि कश्यप का पुत्र हूँ। मेरी माता दक्ष प्रजापति की कन्या हैं। आप गुणवान् अतिथि हैं, मैं आपका स्वागत करता हूँ॥2॥

भीष्म उवाच

तस्मै दत्त्वा स सत्कारं विधिदृष्टेन कर्मणा।
शालपुष्पमयीं दिव्यां बृसीं वै समकल्पयत्॥3॥
भगीरथरथाक्रान्तदेशान् गङ्गानिषेवितान्।
ये चरन्ति महामीनास्तांश्च तस्यान्वकल्पयत्॥4॥
वह्निं चापि सुसन्दीप्तं मीनांश्चापि सुपीवरान्।
स गौतमायातिथये न्यवेदयत काश्यपिः॥5॥
भुक्तवन्तं च तं विप्रं प्रीतात्मानं महातपाः।

क्लमापनयनार्थं स पक्षाभ्यामभ्यवीजयत्॥6।।
ततो विश्रान्तमासीनं गोत्रप्रश्नमपृच्छत।
सोऽब्रवीद् गौतमोऽस्मीति ब्रह्म नान्यदुदाहरत्॥7।।
तस्मै पर्णमयं दिव्यं दिव्यपुष्पाधिवासितम्।
गन्धाढ्यं शयनं प्रादात् स शिश्ये तत्र वै सुखम्॥8।।
अथोपविष्टं शयने गौतमं धर्मराट् तदा।
पप्रच्छ काश्यपो वाग्मी किमागमनकारणम्॥9।।
ततोऽब्रवीद् गौतमस्तं दरिद्रोऽहं महामते।
समुद्रगमनाकाङ्क्षी द्रव्यार्थमिति भारत॥10।।
तं काश्यपोऽब्रवीत् प्रीतो नोत्कण्ठां कर्तुमर्हसि।
कृतकार्यो द्विजश्रेष्ठ सद्रव्यो यास्यसे गृहान्॥11।।
चतुर्विधा ह्यर्थसिद्धिर्बृहस्पतिमतं यथा।
पारम्पर्यं तथा दैवं काम्यं मैत्रमिति प्रभो॥12।।
प्रादुर्भूतोऽस्मि ते मित्रं सुहृत्त्वं च मम त्वयि।
सोऽहं तथा यतिष्यामि भविष्यसि यथार्थवान्॥13।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ऐसा कहकर राजधर्मा ने शास्त्रीय विधि के अनुसार गौतम का सत्कार किया। शाल के फूलों का आसन बनाकर उसे बैठने के लिए दिया।।3।। राजा भगीरथ के रथ से आक्रान्त हुए जिन भू-भागों में श्रीगङ्गाजी प्रवाहित होती हैं, वहाँ गङ्गाजी के जल में जो बड़े-बड़े मत्स्य विचरते हैं, उन्हीं में से कुछ मत्स्यों को लाकर राजधर्मा ने गौतम के लिए भोजन की व्यवस्था की।।4।। कश्यप के उस पुत्र ने अग्नि प्रज्वलित कर दी और मोटे-मोटे मत्स्य लाकर अपने अतिथि गौतम को अर्पित कर दिये।।5।। वह ब्राह्मण उन मत्स्यों को पकाकर जब खा चुका और उसकी अन्तरात्मा तृप्त हो गई, तब वह महातपस्वी पक्षी उसकी थकावट दूर करने के लिए अपने पङ्खों से हवा करने लगा।।6।। विश्राम के पश्चात् जब वह बैठा, तब राजधर्मा ने उससे गोत्र पूछा। गौतम ने कहा—'मेरा नाम गौतम है और मैं जाति से ब्राह्मण हूँ।' इससे अधिक कोई बात वह बता न सका।।7।। तब पक्षी ने उसके लए पत्तों का दिव्य बिछावन तैयार किया, जो फूलों से अधिवासित होने के कारण सुगन्ध से मँह मँह महक रहा था। वह बिछावन उसे दिया और गौतम उस पर सुखपूर्वक सोया।।8।। धर्मराज! जब गौतम उस बिछौने पर बैठा, तब बातचीत में कुशल कश्यपकुमार ने पूछा—'ब्रह्मन्! आप इधर किसलिए आये हैं?'।।9।। भारत! तब गौतम ने उससे कहा—'महामते! मैं दरिद्र हूँ और धन के लिए समुद्र तट पर जाने की इच्छा लेकर घर से चला हूँ'।।10।। यह सुनकर राजधर्मा ने प्रसन्न होकर कहा—'द्विजश्रेष्ठ! अब आप वहाँ तक जाने के लिए उत्सुक न हों, यहीं आपका काम हो जाएगा। आप यहीं से धन लेकर अपने घर को जाइयेगा।।11।। प्रभो! बृहस्पतिजी के मत के अनुसार अर्थ की सिद्धि चार प्रकार से होती है—वंश परम्परा से, प्रारब्ध की अनुकूलता से, धन के लिए किए गए सकाम कर्म से

और मित्र के सहयोग से।।12।। मैं आपका मित्र हो गया हूँ, आपके प्रति मेरा सौहार्द्र बढ़ गया है; अत: मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे आपको अर्थ की प्राप्ति हो जाएगी'।।13।।

ततः प्रभातसमये सुखं दृष्ट्वाब्रवीदिदम्।
गच्छ सौम्य पथानेन कृतकृत्यो भविष्यसि॥14।।
इतस्त्रियोजनं गत्वा राक्षसाधिपतिर्महान्।
विरूपाक्ष इति ख्यातः सखा मम महाबलः॥15।।
तं गच्छ द्विजमुख्य त्वं स मद्वाक्यप्रचोदितः।
कामानभीप्सितांस्तुभ्यं दाता नास्त्यत्र संशयः॥16।।
इत्युक्तः प्रययौ राजन् गौतमो विगतक्लमः।
फलान्यमृतकल्पानि भक्षयन् स यथेष्टतः॥17।।
चन्दनागुरुमुख्यानि त्वक्पत्राणां वनानि च।
तस्मिन् पथि महाराज सेवमानो द्रुतं ययौ॥18।।
ततो मेरुव्रजं नाम नगरं शैलतोरणम्।
शैलप्राकारवप्रं च शैलयन्त्राकुलं तथा॥19।।
विदितश्चाभवत् तस्य राक्षसेन्द्रस्य धीमतः।
प्रहितः सुहृदा राजन् प्रीयमाणः प्रियातिथिः॥20।।
ततः स राक्षसेन्द्रः स्वान्प्रेष्यानाह युधिष्ठिर।
गौतमो नगरद्वाराच्छीघ्रमानीयतामिति॥21।।
ततः पुरवरात् तस्मात् पुरुषाः श्येनचेष्टनाः।
गौतमेत्यभिभाषन्तः पुरद्वारमुपागमन्॥22।।
ते तमूचुर्महाराज राजप्रेष्यास्तदा द्विजम्।
त्वरस्व तूर्णमागच्छ राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति॥23।।
राक्षसाधिपतिर्वीरो विरूपाक्ष इति श्रुतः।
स त्वां त्वरति वै द्रष्टुं तत् क्षिप्रं संविधीयताम्॥24।।
ततः स प्राद्रवद् विप्रो विस्मयाद् विगतक्लमः।
गौतमः परमर्धिं तां पश्यन् परमविस्मितः॥25।।
तैरेव सहितो राज्ञो वेश्म तूर्णमुपाद्रवत्।
दर्शनं राक्षसेन्द्रस्य काङ्क्षमाणो द्विजस्तदा॥26।।

तदनन्तर जब प्रातःकाल हुआ, तब राजधर्मा ने ब्राह्मण के सुख का उपाय सोचकर इस प्रकार कहा—'सौम्य! इस मार्ग से जाइये, आपका कार्य सिद्ध हो जाएगा। यहाँ से तीन योजन दूर जाने पर जो नगर मिलेगा, वहाँ महाबली राक्षसराज विरूपाक्ष रहते हैं, वे मेरे महान् मित्र हैं।।14-15।। द्विजश्रेष्ठ! आप उनके पास जाइये। वे मेरे कहने से आपको यथेष्ट धन देंगे और आपकी मनोवाञ्छित कामनाएँ पूर्ण करेंगे, इसमें संशय नहीं है'।।16।। राजन्! उसके ऐसा कहने पर गौतम वहाँ से चल दिया। उसकी सारी थकावट दूर हो चुकी थी। महाराज! मार्ग में तेजपातों के वन में, जहाँ चन्दन और अगरु के वृक्षों

की प्रधानता थी, विश्राम करता और इच्छानुसार अमृत के समान मधुर फल खाता हुआ वह बड़ी तेजी से आगे बढ़ता चला गया।।17-18।। चलते-चलते वह मेरुव्रज नामक नगर में जा पहुँचा, जिसके चारों ओर पर्वतों के टीले और पर्वतों की ही चहारदीवारी थी। उसका सदर फाटक भी एक पर्वत ही था। नगर की रक्षा के लिए सब ओर शिला की बड़ी-बड़ी चट्टानें और मशीनें थीं।।19।। परम बुद्धिमान् राक्षसराज विरूपाक्ष के सेवकों द्वारा यह सूचना दी गई कि राजन्! आपके मित्र ने एक प्रिय अतिथि को आपके पास भेजा है, वह बहुत प्रसन्न है।।20।। युधिष्ठिर! यह समाचार पाते ही राक्षसराज ने अपने सेवकों से कहा—'गौतम को नगरद्वार से शीघ्र यहाँ लाया जाए'।।21।। यह आदेश प्राप्त होते ही राजसेवक गौतम को पुकारते हुए बाज की तरह झपट कर उस श्रेष्ठ नगर के फाटक पर आये।।22।। महाराज! राजा के सेवकों ने उस समय उस ब्राह्मण से कहा—'ब्रह्मन्! जल्दी कीजिये। शीघ्र आइये। महाराज आपसे मिलना चाहते हैं।।23।। विरूपाक्ष नाम से प्रसिद्ध वीर राक्षसराज आपको देखने के लिए उतावले हो रहे हैं; अतः आप शीघ्रता कीजिये'।।24।। बुलावा सुनते ही गौतम की थकावट दूर हो गई। वह विस्मित होकर दौड़ पड़ा। राक्षसराज की उस महासमृद्धि को देखकर उसे बड़ा आश्चर्य होता था।।25।। राक्षसराज के दर्शन की इच्छा मन में लिए वह ब्राह्मण उन सेवकों के साथ शीघ्र ही राजमहल में जा पहुँचा।।26।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 170 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में कृतघ्न का उपाख्यान विषयक एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ।।170।।

चतुर्दशोऽध्यायः

गौतम का राक्षसराज के यहाँ से सुवर्ण राशि लेकर लौटना और अपने मित्र बक के वध का घृणित विचार मन में लाना

भीष्म उवाच

ततः स विदितो राज्ञः प्रविश्य गृहमुत्तमम्।
पूजितो राक्षसेन्द्रेण निषसादासनोत्तमे॥1।।
पृष्टश्च गोत्रचरणं स्वाध्यायं ब्रह्मचारिकम्।
न तत्र व्याजहारान्यद् गोत्रमात्रादृते द्विजः॥2।।
ब्रह्मवर्चसहीनस्य स्वाध्यायोपरतस्य च।
गोत्रमात्रविदो राजा निवासं समपृच्छत॥3।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर राजा को उसके आगमन की सूचना दी गई और वह उनके उत्तम भवन में प्रविष्ट हुआ। वहाँ राक्षसराज ने उसका विधिवत् पूजन किया। तत्पश्चात् वह एक उत्तम आसन पर विराजमान हुआ।।1।। विरूपाक्ष ने गौतम से

उसके गोत्र, शाखा और ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक किए गए स्वाध्याय के विषय में प्रश्न किया; परन्तु उसने गोत्र (जाति) के सिवा और कुछ नहीं बताया।।2।। तब ब्राह्मणोचित तेज से हीन, स्वाध्याय से उपरत, केवल गोत्र अथवा जाति का नाम जानने वाले उस ब्राह्मण से राजा ने उसका निवासस्थान पूछा।।3।।

राक्षस उवाच

क्व ते निवासः कल्याण किंगोत्रा ब्राह्मणी च ते।
तत्त्वं ब्रूहि न भीः कार्या विश्वसस्व यथासुखम्॥4।।

राक्षसराज बोले—भद्र! तुम्हारा निवास कहाँ है? तुम्हारी पत्नी किस गोत्र की कन्या है? यह सब ठीक-ठीक बताओ। भय न करो। मुझ पर विश्वास करो और सुख से रहो।।4।।

गौतम उवाच

मध्यदेशप्रसूतोऽहं वासो मे शबरालये।
शूद्रा पुनर्भूर्भार्या मे सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥5।।

गौतम ने कहा—राक्षसराज! मेरा जन्म तो हुआ है मध्यदेश में, किन्तु मैं एक भील के घर में रहता हूँ। मेरी स्त्री शूद्र जाति की है और मुझसे पहले दूसरे की पत्नी रह चुकी है। यह बात मैं आपसे सत्य ही कहता हूँ।।5।।

भीष्म उवाच

ततो राजा विममृशे कथं कार्यमिदं भवेत्।
कथं वा सुकृतं मे स्यादिति बुद्ध्यान्वचिन्तयत्॥6।।
अयं वै जन्मना विप्रः सुहृत् तस्य महात्मनः।
सम्प्रेषितश्च तेनायं काश्यपेन ममान्तिकम्॥7।।
तस्य प्रियं करिष्यामि स हि मामाश्रितः सदा।
भ्राता मे बान्धवश्चासौ सखा च हृदयङ्गमः॥8।।
कार्तिक्यामद्य भोक्तारः सहस्रं मे द्विजोत्तमाः।
तत्रायमपि भोक्ता च देयमस्मे च मे धनम्॥9।।
स चाद्य दिवसः पुण्यो ह्यतिथिश्चायमागतः।
सङ्कल्पितं चैव धनं किं विचार्यमतः परम्॥10।।
ततः सहस्रं विप्राणां विदुषां समलङ्कृतम्।
स्नातानामनुसम्प्राप्तं सुमहत् क्षौमवाससाम्॥11।।
तानागतान् द्विजश्रेष्ठान् विरूपाक्षो विशाम्पते।
यथार्हं प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा॥12।।
बृस्यस्तेषां तु सन्न्यस्ता राक्षसेन्द्रस्य शासनात्।
भूमौ वरकुशाः स्तीर्णाः प्रेष्यैर्भरतसत्तम॥13।।
तासु ते पूजिता राज्ञा निषण्णा द्विजसत्तमाः।

तिलदर्भोदकेनाथ अर्चिता विधिवद् द्विजाः॥14॥
विश्वेदेवाः सपितरः साग्नयश्चोपकल्पिताः।
विलिप्ताः पुष्पवन्तश्च सुप्रचाराः सुपूजिताः।
व्यराजन्त महाराज नक्षत्रपतयो यथा॥15॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! यह सुनकर राक्षसराज मन-ही-मन विचार करने लगे कि अब किस तरह काम करना चाहिये? कैसे मुझे पुण्य प्राप्त हो सकता है? इस प्रकार उन्होंने बारम्बार बुद्धि लगाकर सोचा और विचारा॥6॥ वे मन-ही-मन कहने लगे, 'यह केवल जन्म से ही ब्राह्मण है; परन्तु महात्मा राजधर्मा का सुहृद है। उन कश्यपकुमार ने ही इसे यहाँ मेरे पास भेजा है; अतः उनका प्रिय कार्य अवश्य करूँगा। वह सदा मुझ पर भरोसा रखता है और मेरा भाई, बान्धव तथा हार्दिक मित्र भी है॥7-॥8॥ आज कार्तिक की पूर्णिमा है। आज के दिन सहस्रों श्रेष्ठ ब्राह्मण मेरे यहाँ भोजन करेंगे। उन्हीं में यह भी भोजन कर लेगा, उन्हीं के साथ इसे भी धन देना चाहिये। आज पुण्य दिवस है, यह ब्राह्मण अतिथि रूप से यहाँ आया है और मैंने धन दान करने का सङ्कल्प कर ही रखा है। अब इसके बाद क्या विचार करना है?॥9-10॥ तदनन्तर भोजन के समय हजारों विद्वान् ब्राह्मण स्नान करके रेशमी वस्त्र और अलङ्कार धारण किए वहाँ आ पहुँचे॥11॥ प्रजानाथ! विरूपाक्ष ने वहाँ पधारे हुए उन श्रेष्ठ ब्राह्मणों का शास्त्रीय विधि के अनुसार यथायोग्य स्वागत सत्कार किया॥12॥ भरतश्रेष्ठ! राक्षसराज की आज्ञा से सेवकों ने जमीन पर उनके लिए कुश के सुन्दर आसन बिछा दिये॥13॥ राजा के द्वारा सम्मानित वे श्रेष्ठ ब्राह्मण जब उन आसनों पर विराजमान हो गये, तब विरूपाक्ष ने तिल, कुश और जल लेकर उनका विधिवत् पूजन किया॥14॥ उनमें विश्वेदेवों, पितरों तथा अग्निदेव की भावना करके उन सबको चन्दन लगाया, फूलों की मालाएँ पहनायीं और सुन्दर रीति से उनकी पूजा की। महाराज! उन आसनों पर बैठकर वे ब्राह्मण की चन्द्रमा की भाँति शोभा पाने लगे॥15॥

ततो जाम्बूनदीः पात्रीर्वज्राङ्का विमलाः शुभाः।
वरान्नपूर्णा विप्रेभ्यः प्रादान्मधुघृतप्लुताः॥16॥
तस्य नित्यं सदाऽऽषाढ्यां माघ्यां च बहवो द्विजाः।
ईप्सितं भोजनवरं लभन्ते सत्कृतं सदा॥17॥
विशेषतस्तु कार्तिक्यां द्विजेभ्यः सम्प्रयच्छति।
शरद्व्यपाये रत्नानि पौर्णमास्यामिति श्रुतिः।
सुवर्णं रजतं चैव मणीनथ च मौक्तिकान्॥18॥
वज्रान् महाधनांश्चैव वैदूर्याजिनराङ्कवान्।
रत्नराशीन् विनिक्षिप्य दक्षिणार्थे स भारत॥19॥
ततः प्राह द्विजश्रेष्ठान् विरूपाक्षो महाबलः।
गृह्णीत रत्नान्येतानि यथोत्साहं यथेष्टतः॥20॥
येषु येषु च भाण्डेषु भक्तुं वो द्विजसत्तमाः।

तान्येवादाय गच्छध्वं स्ववेश्मानिति भारत॥21॥
इत्युक्तवचने तस्मिन् राक्षसेन्द्रे महात्मनि।
यथेष्टं तानि रत्नानि जगृहुर्ब्राह्मणर्षभाः॥22॥
ततो महार्हैस्ते सर्वे रत्नैरभ्यर्चिताः शुभैः।
ब्राह्मणा मृष्टवसनाः सुप्रीताः स्म ततोऽभवन्॥23॥
ततस्तान् राक्षसेन्द्रश्च द्विजानाह पुनर्वचः।
नानादेशगतान् राजन् राक्षसान् प्रतिषिध्य वै॥24॥
अद्यैकं दिवसं विप्रा न वोऽस्तीह भयं क्वचित्।
राक्षसेभ्यः प्रमोदध्वमिष्टतो यात माचिरम्॥25॥
ततः प्रदुद्रुवुः सर्वे विप्रसंघाः समन्ततः।
गौतमोऽपि सुवर्णस्य भारमादाय सत्वरः॥26॥

तत्पश्चात् उसने हीरों से जड़ी हुई सोने की स्वच्छ सुन्दर थालियों में घी से बने हुए मीठे पकवान परोसकर उन ब्राह्मणों के आगे रख दिये।।16।। उसके यहाँ आषाढ़ और माघ की पूर्णिमा को सदा बहुत-से ब्राह्मण सत्कारपूर्वक अपनी इच्छा के अनुसार उत्तम भोजन पाते थे।।17।। विशेषत: कार्तिक की पूर्णिमा को, जबकि शरद् ऋतु की समाप्ति होती है, वह ब्राह्मणों को रत्नों का दान करता था; ऐसा सुनने में आया है।।18।। भारत! भोजन के पश्चात् ब्राह्मणों के समक्ष बहुत-से सोने, चाँदी, मणि, मोती, बहुमूल्य हीरे, वैदूर्यमणि, रङ्कुमृग के चर्म तथा रत्नों के कई ढेर लगाकर महाबली विरूपाक्ष ने उन श्रेष्ठ ब्राह्मणों से कहा—'द्विजवरो! आप लोग अपनी इच्छा और उत्साह के अनुसार इन रत्नों को उठा ले जाएँ और जिनमें आप लोगों ने भोजन किया है, उन पात्रों को भी अपने घर लेते जाएँ'।।19-22।। उन महात्मा राक्षसराज के ऐसा कहने पर उन ब्राह्मणों ने इच्छानुसार उन सब रत्नों को ले लिया।।23।। तत्पश्चात् उन सुन्दर एवं महामूल्यवान् रत्नों द्वारा पूजित हुए वे सभी उज्ज्वल वस्त्रधारी ब्राह्मण बड़े प्रसन्न हुए।।24।। राजन्! इसके बाद राक्षसराज विरूपाक्ष ने नाना देशों से आये हुए राक्षसों को हिंसा करने से रोककर उन ब्राह्मणों से कहा—'विप्रगण! आज एक दिन के लिए आप लोगों को राक्षसों की ओर से कहीं कोई भय नहीं है; अत: आनन्द कीजिये और शीघ्र ही अपने अभीष्ट स्थान को चले जाइये। विलम्ब न कीजिये'।।25-26।।

कृच्छ्रात् समुद्धरन् भारं न्यग्रोधं समुपागमत्।
न्यषीदच्च परिश्रान्तः क्लान्तश्च क्षुधितश्च सः॥27॥
ततस्तमभ्यगाद् राजन् राजधर्मा खगोत्तमः।
स्वागतेनाभिनन्दंश्च गौतमं मित्रवत्सलः॥28॥
तस्य पक्षाग्रविक्षेपैः क्लमं व्यपनयत् खगः।
पूजां चाप्यकरोद् धीमान् भोजनं चाप्यकल्पयत्॥29॥
स भुक्तवान् सुविश्रान्तो गौतमोऽचिन्तयत् तदा।
हाटकस्याभिरूपस्य भारोऽयं सुमहान्मया॥30॥

गृहीतो लोभमोहाभ्यां दूरं च गमनं मम।
न चास्ति पथि भोक्तव्यं प्राणसन्धारणं मम॥31॥
किं कृत्वा धारयेयं वै प्राणानित्यभ्यचिन्तयत्।
ततः स पथि भोक्तव्यं प्रेक्षमाणो न किञ्चन॥32॥
कृतघ्नः पुरुषव्याघ्र मनसेदमचिन्तयत्।
अयं बकपतिः पार्श्वे मांसराशिः स्थितो महान्।
इमं हत्वा गृहीत्वा च यास्येऽहं समभिद्रुतम्॥33॥

यह सुनकर सब ब्राह्मण समुदाय चारों ओर भाग चले। गौतम भी सुवर्ण का भारी भार लेकर बड़ी कठिनाई से ढोता हुआ जल्दी-जल्दी बरगद के पास आया। वहाँ पहुँचते ही थककर बैठ गया। वह भूख से पीड़ित और क्लान्त हो रहा था॥27-28॥ राजन्! तत्पश्चात् पक्षियों में श्रेष्ठ मित्रवत्सल राजधर्मा गौतम के पास और स्वागतपूर्वक उसका अभिनन्दन किया॥29॥ उस बुद्धिमान् पक्षी ने अपने पङ्खों के अग्रभाग का सञ्चालन करके उसे हवा की और सारी थकावट दूर कर दी; फिर उसका पूजन किया तथा उसके लिए भोजन की व्यवस्था की॥30॥ भोजन करके विश्राम कर लेने पर गौतम इस प्रकार चिन्ता करने लगा—'अहो! मैंने लोभ और मोह से प्रेरित होकर सुन्दर सुवर्ण का यह महान् भार ले लिया है। अभी मुझे बहुत दूर जाना है। रास्ते में खाने के लिए कुछ भी नहीं है, जिससे मेरे प्राणों की रक्षा हो सके॥31-32॥ अब मैं कौन-सा उपाय करके अपने प्राणों को धारण कर सकूँगा?' इस प्रकार की चिन्ता में वह मग्न हो गया। पुरुषसिंह! तदनन्तर मार्ग में भोजन के लिए कुछ भी न देख कर उस कृतघ्न ने मन-ही-मन इस प्रकार विचार किया—'यह बगुलों का राजा राजधर्मा मेरे पास ही तो है। यह मांस का एक बहुत बड़ा ढेर है। इसी को मार कर ले लूँ और शीघ्रतापूर्वक यहाँ से चल दूँ'॥33-35॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने
एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 171 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म में कृतघ्न का उपाख्यान विषयक एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥171॥

पञ्चदशोऽध्यायः

कृतघ्न गौतम द्वारा मित्र राजधर्मा का वध तथा राक्षसों द्वारा उसकी हत्या और कृतघ्न के मांस को अभक्ष्य बताना

भीष्म उवाच

अथ तत्र महार्चिष्माननलो वातसारथिः।
तस्याविदूरे रक्षार्थं खगेन्द्रेण कृतोऽभवत्॥1॥
स चापि पार्श्वे सुष्वाप विश्वस्तो बकराट् तदा।

कृतघ्नस्तु स दुष्टात्मा तं जिघांसुरथाग्रतः॥2॥
ततोऽलातेन दीप्तेन विश्वस्तं निजघान तम्।
निहत्य च मुदा युक्तः सोऽनुबन्धं न दृष्टवान्॥3॥
स तं विपक्षरोमाणं कृत्वाग्नावपचत् तदा।
तं गृहीत्वा सुवर्णं च ययौ द्रुततरं द्विजः॥4॥
(ततो दाक्षायणीपुत्रं नागतं तं तु भारत।
विरूपाक्षश्चिन्तयन् वै हृदयेन विदूयता॥)
ततोऽन्यस्मिन् गते चाह्नि विरूपाक्षोऽब्रवीत् सुतम्।
न प्रेक्षे राजधर्माणमद्य पुत्र खगोत्तमम्॥5॥
स पूर्वसन्ध्यां ब्रह्माणं वन्दितुं याति सर्वदा।
मां वा दृष्ट्वा कदाचित् स न गच्छति गृहं खगः॥6॥
उभे द्विरात्रिसन्ध्ये वै नाभ्यगात् स ममालयम्।
तस्मान्न शुद्ध्यते भावो मम स ज्ञायतां सुहृत्॥7॥
स्वाध्यायेन वियुक्तो हि ब्रह्मवर्चसवर्जितः।
तद्व्रतस्तत्र मे शङ्का हन्यात् तं स द्विजाधमः॥8॥
दुराचारस्तु दुर्बुद्धिरिङ्गितैर्लक्षितो मया।
निष्कृपो दारुणाकारो दुष्टो दस्युरिवाधमः॥9॥
गौतमः स गतस्तत्र तेनोद्विग्नं मनो मम।
पुत्र शीघ्रमितो गत्वा राजधर्मनिवेशनम्॥10॥
ज्ञायतां स विशुद्धात्मा यदि जीवति मा चिरम्।
स एवमुक्तस्त्वरितो रक्षोभिः सहितो ययौ॥11॥
न्यग्रोधं तत्र चापश्यत्कङ्कालं राजधर्मणः।
स रुदन्नगमत् पुत्रो राक्षसेन्द्रस्य धीमतः॥12॥
त्वरमाणः परं शक्त्या गौतमग्रहणाय वै।
ततोऽविदूरे जगृहुर्गौतमं राक्षसास्तदा॥13॥
राजधर्मशरीरं च पक्षास्थिचरणोज्झितम्।
तमादायाथ रक्षांसि द्रुतं मेरुव्रजं ययुः॥14॥
राज्ञश्च दर्शयामासुः शरीरं राजधर्मणः।
कृतघ्नं परुषं तं च गौतमं पापकारिणम्॥15॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! पक्षिराज राजधर्मा ने अपने मित्र गौतम की रक्षा के लिए उससे थोड़ी दूर पर आग प्रज्वलित कर दी थी, जिससे हवा का सहारा पाकर बड़ी-बड़ी लपटें उठ रही थीं॥1॥ बकराज को भी मित्र पर विश्वास था; इसलिए उस समय उसके पास ही सो गया। इधर वह दुष्टात्मा कृतघ्न उसका वध करने की इच्छा से उठा और विश्वासपूर्वक सोये हुए राजधर्मा को सामने से जलती हुई लकड़ी लेकर उसके द्वारा मार डाला। उसे मारकर वह बहुत प्रसन्न हुआ, मित्र के वध से जो पाप लगता है, उसकी ओर उसकी दृष्टि नहीं गयी॥2-3॥ उसने मरे हुए पक्षी के पङ्ख और बाल

नोचकर उसे आग में पकाया और उसे साथ में ले सुवर्ण का बोझ सिर पर उठाकर वह ब्राह्मण बड़ी तेजी के के साथ वहाँ से चल दिया।।4।। भारत! उस दिन दक्ष कन्या का पुत्र राजधर्मा अपने मित्र विरूपाक्ष के यहाँ न जा सका; इससे विरूपाक्ष व्याकुल हृदय से उसके लिए चिन्ता करने लगा। तदनन्तर दूसरा दिन भी व्यतीत हो जाने पर विरूपाक्ष ने अपने पुत्र से कहा—'बेटा! मैं आज पक्षियों में श्रेष्ठ राजधर्मा को नहीं देख रहा हूँ।।5।। वे पक्षिप्रवर प्रतिदिन प्रातःकाल ब्रह्माजी की वन्दना करने के लिए जाया करते थे और वहाँ से लौटने पर मुझे मिले बिना कभी अपने घर नहीं जाते थे।।6।। आज दो संध्याएँ व्यतीत हो गईं, किन्तु वह मेरे घर पर नहीं पधारे; अतः मेरे मन में सन्देह पैदा हो गया है। तुम मेरे मित्र का पता लगाओ।।7।। वह अधम ब्राह्मण गौतम स्वाध्याय रहित और ब्रह्मतेज से शून्य था तथा हिंसक जान पड़ता था। उसी पर मेरा सन्देह है। कहीं वह मेरे मित्र को मार न डाले।।8।। उसकी चेष्टाओं से मैंने लक्षित किया तो वह मुझे दुर्बुद्धि एवं दुराचारी तथा दयाहीन प्रतीत होता था। वह आकार से ही बड़ा भयानक और दुष्ट दस्यु के समान अधम जान पड़ता था।।9।। नीच गौतम यहाँ से लौटकर फिर उन्हीं के निवास स्थान पर गया था; इसलिए मेरे मन में उद्वेग हो रहा है। बेटा! तुम शीघ्र यहाँ से राजधर्मा के घर पर जाओ और पता लगाओ कि वे शुद्धात्मा पक्षिराज जीवित हैं या नहीं। इस कार्य में विलम्ब न करो। पिता की ऐसी आज्ञा पाकर वह तुरन्त ही राक्षसों के साथ उस वट वृक्ष के पास गया। वहाँ उसे राजधर्मा का कङ्काल अर्थात् उसके पङ्ख, हड्डियों और पैरों का समूह दिखायी दिया। बुद्धिमान् राक्षसराज पुत्र राजधर्मा की यह दशा देखकर रो पड़ा और उसने पूरी शक्ति लगाकर गौतम को शीघ्र पकड़ने की चेष्टा की। तदनन्तर कुछ ही दूर जाने पर राक्षसों ने गौतम को पकड़ लिया। साथ ही उन्हें पङ्ख, पैर और हड्डियों से रहित राजधर्मा की लाश भी मिल गई। गौतम को लेकर वे राक्षस शीघ्र ही मेरुव्रज में गये। वहाँ उन्होंने राजा को राजधर्मा का मृत शरीर दिखाया और पापाचारी कृतघ्न गौतम को भी सामने खड़ा कर दिया।।10-15।।

रुरोद राजा तं दृष्ट्वा सामात्यः सपुरोहितः।
आर्तनादश्च सुमहानभूत् तस्य निवेशने॥16।।
सस्त्रीकुमारं च पुरं बभूवास्वस्थमानसम्।
अथाब्रवीन्नृपः पुत्रं पापोऽयं वध्यतामिति॥17।।
अस्य मांसैरिमे सर्वे विहरन्तु यथेष्टतः।
पापाचारः पापकर्मा पापात्मा पापसाधनः॥18।।
हन्तव्योऽयं मम मतिर्भवद्भिरिति राक्षसाः।
इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसा घोरविक्रमाः॥19।।
नैच्छन्त तं भक्षयितुं पापकर्माणमित्युत।
दस्यूनां दीयतामेष साध्वद्य पुरुषाधमः॥20।।
इत्यूचुस्ते महाराज राक्षसेन्द्रं निशाचराः।
शिरोभिः प्रणताः सर्वे व्याहरन् राक्षसाधिपम्॥21।।

न दातुमर्हसि त्वं नो भक्षणायास्य किल्बिषम्।
एवमस्त्विति तानाह राक्षसेन्द्रो निशाचरान्॥22।।
दस्यूनां दीयतामेष कृतघ्नोऽद्यैव राक्षसाः।
इत्युक्ता राक्षसास्तेन शूलपट्टिशपाणयः॥23।।
कृत्वा तं खण्डशः पापं दस्युभ्यः प्रददुस्तदा।
दस्यवश्चापि नैच्छन्त तमत्तुं पापकारिणम्।
क्रव्यादा अपि राजेन्द्र कृतघ्नं नोपभुञ्जते॥24।।
ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता राजन् कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥25।।
मित्रद्रोही नृशंसश्च कृतघ्नश्च नराधमः।
क्रव्यादैः कृमिभिश्चैव न भुज्यन्ते हि तादृशाः॥26।।

अपने मित्र को इस दशा में देखकर मन्त्री और पुरोहितों के साथ राजा विरूपाक्ष फूट-फूट कर रोने लगे। उनक महल में महान् आर्त्तनाद गूँजने लगा। स्त्री और बच्चों सहित सारे नगर में शोक छा गया। किसी का भी मन स्वस्थ न रहा।।16।। तब राजा ने अपने पुत्र को आज्ञा दी—'बेटा! इस पापी को मार डालो। ये समस्त राक्षस इसके मांस का यथेष्ट उपयोग करें।।17।। 'राक्षसो! यह पापाचारी, पापकर्मा और पापात्मा है। इसके सारे साधन पापमय हैं; इतः तुम्हें इसका वध कर देना चाहिये, यही मेरा मत है'। राक्षसराज के इस प्रकार आदेश देने पर भी भयानक पराक्रमी राक्षसों ने गौतम को खाने की इच्छा नहीं की; क्योंकि वह घोर पापाचारी था। महाराज! उन निशाचरों ने राक्षसराज से कहा—'प्रभो! इस नराधम का मांस दस्युओं को दे दिया जाए। आप हमें इसका पाप खाने के लिए न दें।' इस प्रकार समस्त राक्षसों ने राक्षसराज के चरणों में मस्तक रखकर प्रार्थना की। यह सुनकर राक्षसराज ने उन निशाचरों से कहा—'राक्षसो! ऐसा ही सही, इस कृतघ्न को आज ही डाकुओं के हवाले कर दो।' राजा की ऐसी आज्ञा पाकर हाथ में शूल और पट्टिश धारण किए राक्षसों ने पापी गौतम के टुकड़े-टुकड़े करके उसे दस्युओं का सौंप दिया। राजेन्द्र! उन दस्युओं ने भी उस पापाचारी का मांस खाने की इच्छा नहीं की। मांसाहारी जीव-जन्तु भी कृतघ्न का मांस काम में नहीं लेते हैं।।18-24।। राजन्! ब्रह्म हत्यारे, शराबी, चोर तथा व्रतभङ्ग करने वालों के लिए शास्त्र में प्रायश्चित्त का विधान है; परन्तु कृतघ्न के उद्धार का कोई उपाय नहीं बताया गया है।।25।। मित्रद्रोही, नृशंस, नराधम तथा कृतघ्न—ऐसे मनुष्यों का मांस मांसभक्षी जीव-जन्तु तथा कीड़े भी नहीं खाते हैं।।26।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 172 ॥

इस प्रकार श्री महाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में कृतघ्न का उपाख्यान विषयक एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ।।172।।

षोडशोऽध्यायः

राजधर्मा और गौतम का पुनः जीवित होना

भीष्म उवाच

ततश्चितां बकपतेः कारयामास राक्षसः।
रत्नैर्गन्धैश्च बहुभिर्वस्त्रैश्च समलङ्कृताम्॥1।।
ततः प्रज्वाल्य नृपतिर्बकराजं प्रतापवान्।
प्रेतकार्याणि विधिवद् राक्षसेन्द्रश्चकार ह॥2।।
तस्मिन् काले च सुरभिर्देवी दाक्षायणी शुभा।
उपरिष्टात् ततस्तस्य सा बभूव पयस्विनी॥3।।
तस्या वक्त्राच्च्युतः फेनः क्षीरमित्रस्तदानघ।
सोऽपतद्वै ततस्तस्यां चितायां राजधर्मणः॥4।।
ततः सञ्जीवितस्तेन बकराजस्तदानघ।
उत्पत्य च समीयाय विरूपाक्षं बकाधिपः॥5।।
ततोऽभ्ययाद् देवराजो विरूपाक्षपुरं तदा।
प्राह चेदं विरूपाक्षं दिष्ट्या सञ्जीवितस्त्वया॥6।।
श्रावयामास चेन्द्रस्तं विरूपाक्षं पुरातनम्।
यथा शापः पुरा दत्तो ब्रह्मणा राजधर्मणः॥7।।
यदा बकपती राजन् ब्राह्मणं नोपसर्पति।
ततो रोषादिदं प्राह खगेन्द्राय पितामहः॥8।।
यस्मान्मूढो मम सभां नागतोऽसौ बकाधमः।
तस्माद् वधं स दुष्टात्मा नचिरात् समवाप्स्यति॥9।।
तदयं तस्य वचनान्निहतो गौतमेन वै।
तेनैवामृतसिक्तश्च पुनः सञ्जीवितो बकः॥10।।
राजधर्मा बकः प्राह प्रणिपत्य पुरन्दरम्।
यदि तेऽनुग्रहकृता मयि बुद्धिः सुरेश्वर॥11।।
सखायं मे सुदयितं गौतमं जीवयेत्युत।
तस्य वाक्यं समादाय वासवः पुरुषर्षभ॥12।।
सिक्त्वामृतेन तं विप्रं गौतमं जीवयत् तदा।
सभाण्डोपस्करं राजंस्तमासाद्य बकाधिपः॥13।।
सम्परिष्वज्य सुहृदं प्रीत्या परमया युतः।
अथ तं पापकर्माणं राजधर्मा बकाधिपः॥14।।
विसर्जयित्वा सधनं प्रविवेश स्वमालयम्।
यथोचितं च स बको ययौ ब्रह्मसदस्तथा॥15।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर विरूपाक्ष ने बकराज के लिए एक चिता तैयार करायी। उसे बहुत-से रत्नों, सुगन्धित चन्दनों तथा वस्त्रों से खूब सजाया गया

था।।1।। तत्पश्चात् बकराज के शव को उसके ऊपर रखकर प्रतापी राक्षसराज ने उसमें आग लगायी और विधिपूर्वक मित्र का दाहकर्म सम्पन्न किया।।2।। उसी समय दिव्य धेनु दक्षकन्या सुरभिदेवी वहाँ आकर आकाश में ठीक चिता के ऊपर खड़ी हो गई।।3।। अनघ! उनके मुख से दूध मिश्रित फेन झरकर गिरा, वह राजधर्मा की उस चिता पर पड़ा।।4।। निष्पाप नरेश! उससे उस समय बकराज जी उठा और वह उड़कर विरूपाक्ष से जा मिला।।5।। उसी समय देवराज इन्द्र विरूपाक्ष के नगर में आये और विरूपाक्ष से इस प्रकार बोले—'बड़े सौभाग्य की बात है कि तुम्हारे द्वारा बकराज को जीवन मिला'।।6।। इन्द्र ने विरूपाक्ष को एक प्राचीन घटना सुनायी, जिसके अनुसार ब्रह्माजी ने पहले राजधर्मा को शाप दिया था।।7।। राजन्! एक समय जब बकराज ब्रह्माजी की सभा में नहीं पहुँच सके, तब पितामह ने बड़े रोष में भकर इन पक्षिराज को शाप देते हुए कहा—।।8।। 'वह मूर्ख और नीच बगुला मेरी सभा में नहीं आया है; इसलिए शीघ्र ही उस दुष्टात्मा को वध का कष्ट भोगना पड़ेगा'।।9।। ब्रह्माजी के उस वचन से ही गौतम ने इनका वध किया और ब्रह्माजी ने ही पुनः अमृत छिड़कर राजधर्मा को जीवनदान दिया है।।10।। तदनन्तर राजधर्मा बक ने इन्द्र को प्रणाम करके कहा—'सुरेश्वर! यदि आपकी मुझ पर कृपा है तो मेरे प्रिय मित्र गौतम को भी जीवित कर दीजिये'। पुरुषप्रवर! उसके अनुरोध को स्वीकार करके इन्द्रदेव ने गौतम ब्राह्मण को भी अमृत छिड़ककर जिला दिया। राजन्! बर्तन और सुवर्ण आदि सब सामग्री सहित प्रिय सुहृद् गौतम को पाकर बकराज ने बड़े प्रेम से उसको हृदय से लगा लिया।।11-13।। फिर बकराज राजधर्मा ने उस पापाचारी को धन सहित विदा करके अपने घर में प्रवेश किया। तदनन्तर बकराज यथोचित रीति से ब्रह्माजी की सभा में गया और ब्रह्माजी ने उस महात्मा का आतिथ्य सत्कार किया।।14-15।।

ब्रह्मा चैनं महात्मानमातिथ्येनाभ्यपूजयत्।
गौतमश्चापि सम्प्राप्य पुनस्तं शबरालयम्।
शूद्रायां जनयामास पुत्रान् दुष्कृतकारिणः॥16।।
शापश्च सुमहांस्तस्य दत्तः सुरगणैस्तदा।
कुक्षौ पुनर्भ्वाः पापोऽयं जनयित्वा चिरात् सुतात्॥17।।
निरयं प्राप्स्यति महत् कृतघ्नोऽयमिति प्रभो।
एतत् प्राह पुरा सर्वं नारदो मम भारत॥18।।
संस्मृत्य चापि सुमहदाख्यानं भरतर्षभ।
मयापि भवते सर्वं यथावदनुवर्णितम्॥19।।
कुतः कृतघ्नस्य यशः कुतः स्थानं कुतः सुखम्।
अश्रद्धेयः कृतघ्नो हि कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥20।।
मित्रद्रोहो न कर्तव्यः पुरुषेण विशेषतः।
मित्रध्रुङ्नरकं घोरमनन्तं प्रतिपद्यते॥21।।
कृतज्ञेन सदा भाव्यं मित्रकामेन चैव ह।
मित्राच्च लभते सर्वं मित्रात् पूजां लभेत च॥22।।
मित्राद् भोगांश्च भुञ्जीत मित्रेणापत्सु मुच्यते।

सत्कारैरुत्तमैर्मित्रं पूजयेत विचक्षणः॥23॥
परित्याज्यो बुधैः पापः कृतघ्नो निरपत्रपः।
मित्रद्रोही कुलाङ्गारः पापकर्मा नराधमः॥24॥
एष धर्मभृतां श्रेष्ठ प्रोक्तः पापो मया तव।
मित्रद्रोही कृतघ्नो वै किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥25॥

गौतम भी पुनः भीलों के ही गाँव में जाकर रहने लगा। वहाँ उसने उस शूद्र जाति की स्त्री के पेट से ही अनेक पापाचारी पुरुषों को उत्पन्न किया॥16॥ तब देवताओं ने गौतम को महान् शाप देते हुए कहा—'यह पापी कृतघ्न है और दूसरा पति स्वीकार करने वाली शूद्रजातीय स्त्री के पेट से बहुत दिनों से सन्तान पैदा करता आ रहा है। इस पाप के कारण यह घोर नरक में पड़ेगा'॥17॥ भारत! यह सारा प्रसङ्ग पूर्वकाल में मुझसे महर्षि नारद ने कहा था। भरतश्रेष्ठ! इस महान् आख्यान को याद करके मैंने तुम्हारे समक्ष सब यथार्थ रूप से कहा है॥18-19॥ कृतघ्न को कैसे यश प्राप्त हो सकता है? उसे कैसे स्थान और सुख की उपलब्धि हो सकती है? कृतघ्न विश्वास के योग्य नहीं होता। कृतघ्न के उद्धार के लिए शास्त्रों में कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है॥20॥ मनुष्य को विशेष ध्यान देकर मित्रद्रोह के पाप से बचना चाहिये। मित्रद्रोही मनुष्य अनन्त काल के लिए घोर नरक में पड़ता है॥21॥ प्रत्येक मनुष्य को सदा कृतज्ञ होना चाहिये और मित्र की इच्छा रखनी चाहिये; क्योंकि मित्र से सब कुछ प्राप्त होता है। मित्र के सहयोग से सदा सम्मान की प्राप्ति होती है॥22॥ मित्र की सहायता से भोगों की भी उपलब्धि होती है और मित्र द्वारा मनुष्य आपत्तियों से छुटकारा पा जाता है, अतः बुद्धिमान् पुरुष उत्तम सत्कारों द्वारा मित्र का पूजन करे॥23॥ जो पापी, कृतघ्न, निर्लज्ज, मित्रद्रोही, कुलाङ्गार और पापाचारी हो, ऐसे अधम मनुष्य का विद्वान् पुरुष सदा त्याग करे॥24॥ धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर! इस प्रकार यह मैंने तुम्हें पापी, मित्रद्रोही और कृतघ्न पुरुष का परिचय दिया है। अब और क्या सुनना चाहते हो?॥25॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तदा वाक्यं भीष्मेणोक्तं महात्मना।
युधिष्ठिरः प्रीतमना बभूव जनमेजय॥26॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महात्मा भीष्म का यह वचन सुनकर राजा युधिष्ठिर मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए॥26॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कृतघ्नोपाख्याने त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 173 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत आपद्धर्म पर्व में कृतघ्न का उपाख्यान विषयक एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥173॥

भीष्मगीता सम्पूर्णा

सेनजिद्गीता-II एवं पिङ्गलागीता

प्रथमोऽध्यायः

शोकाकुल चित्त की शान्ति के लिए राजा सेनजित् और ब्राह्मण के संवाद का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

धर्माः पितामहेनोक्ता राजधर्माश्रिताः शुभाः।
धर्ममाश्रमिणां श्रेष्ठं वक्तुमर्हसि पार्थिव॥1।।

राजा युधिष्ठिर ने कहा—पितामह! यहाँ तक आपने राजधर्म सम्बन्धी श्रेष्ठ धर्मों का उपदेश दिया। पृथ्वीनाथ! अब आप आश्रमियों के उत्तम धर्म का वर्णन कीजिये।।1।।

भीष्म उवाच

सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्ग्यः सत्यफलं तपः।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया॥2।।
यस्मिन्यस्मिंस्तु विषये यो यो याति विनिश्चयम्।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम॥3।।
यथा यथा च पर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः॥4।।
एवं व्यवसिते लोके बहुदोषे युधिष्ठिर।
आत्ममोक्षनिमित्तं वै यतेत मतिमान्नरः॥5।।

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! वेदों में सर्वत्र सभी आश्रमों के लिए स्वर्ग साधक यथार्थ फल की प्राप्ति कराने वाली तपस्या का उल्लेख है। धर्म के बहुत-से द्वार हैं। संसार में कोई ऐसी क्रिया नहीं है, जिसका कोई फल न हो।।2।। भरतश्रेष्ठ! जो-जो पुरुष जिस-जिस विषय में पूर्ण निश्चय को पहुँच जाता है (जिसके द्वारा उसे अभीष्ट सिद्धि का विश्वास हो जाता है), उसी को यह कर्त्तव्य समझता है। दूसरे विषय को नहीं।।3।। मनुष्य जैसे-जैसे संसार के पदार्थों को सारहीन समझता है, वैसे ही वैसे इनमें उसका वैराग्य होता जाता है, इसमें संशय नहीं है।।4।। युधिष्ठिर! इस प्रकार यह जगत् अनेक दोषों से परिपूर्ण है, ऐसा निश्चय करके बुद्धिमान् पुरुष अपने मोक्ष के लिए प्रयत्न करे।।5।।

युधिष्ठिर उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
यया बुद्ध्या नुदेच्छोकं तन्मे ब्रूहि पितामह॥6।।

युधिष्ठिर ने पूछा—दादाजी! धन के नष्ट हो जाने पर अथवा स्त्री, पुत्र या पिता के मर जाने पर किस बुद्धि से मनुष्य अपने शोक का निवारण करे? यह मुझे बताइये।।6।।

भीष्म उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
अहो दुःखमिति ध्यायञ्शोकस्यापचितिं चरेत्॥7।।
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यथा सेनजितं विप्रः कश्चिदेत्याब्रवीत्सुहृत्॥8।।
पुत्रशोकाभिसन्तप्तं राजानं शोकविह्वलम्।
विषण्णमनसं दृष्ट्वा विप्रो वचनमब्रवीत्॥9।।
किं नु मुह्यसि मूढस्त्वं शोच्यः किमनुशोचसि।
यदा त्वामपि शोचन्तः शोच्या यास्यन्ति तां गतिम्॥10।।
त्वं चैवाहं च ये चान्ये त्वामुपासन्ति पार्थिव।
सर्वे तत्र गमिष्यामो यत एवागता वयम्॥11।।

भीष्मजी ने कहा—वत्स! जब धन नष्ट हो जाए अथवा स्त्री, पुत्र या पिता की मृत्यु हो जाए, तब 'ओह! संसार कैसा दुःखमय है' यह सोचकर मनुष्य शोक को दूर करने वाले शम-दम आदि साधनों का अनुष्ठान करें।।7।। इस विषय में किसी हितैषी ब्राह्मण ने राजा सेनजित् के पास आकर उन्हें जैसा उपदेश दिया था, उसी प्राचीन इतिहास को विज्ञ पुरुष दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया करते हैं।।8।। राजा सेनजित् के पुत्र की मृत्यु हो गई थी। वे उसी के शोक की आग से जल रहे थे। उनका मन विषाद में डूबा हुआ था। उन शोक विह्वल नरेश को देखकर ब्राह्मण ने इस प्रकार कहा—।।9।। 'राजन्! तुम मूढ़ मनुष्य की भाँति क्यों मोहित हो रहे हो? शोक के योग्य तो तुम स्वयं ही हो, फिर दूसरों के लिए क्यों शोक करते हो? अजी! एक दिन ऐसा आएगा, जब कि दूसरे शोचनीय मनुष्य तुम्हारे लिए भी शोक करते हुए उसी गति को प्राप्त होंगे।।10।। पृथ्वीनाथ! तुम, मैं और ये दूसरे लोग जो इस समय तुम्हारे पास बैठे हैं, सब वहीं जाएँगे, जहाँ से हम आये हैं।।11।।

सेनजिदुवाच

का बुद्धिः किं तपो विप्र कः समाधिस्तपोधन।
किं ज्ञानं किं श्रुतं चैव यत् प्राप्य न विषीदसि॥12।।
(हृष्यन्तमवसीदन्तं सुखदुःखविपर्यये।
आत्मानमनुशोचामि ममैष हृदि संस्थितः॥)

सेनजित् ने पूछा—तपस्या के धनी ब्राह्मणदेव! आपके पास ऐसी कौन-सी बुद्धि, कौन तप, कौन समाधि, कैसा ज्ञान और कौन-सा शास्त्र है, जिसे पाकर आपको किसी प्रकार का विषाद नहीं है।।12।।

(सुख और दुःख का चक्र घूमता रहता है। मैं सुख में हर्ष से फूल उठता हूँ और दुःख में खिन्न हो जाता हूँ। ऐसी अवस्था में पड़े हुए अपने आपके लिए मुझे निरन्तर शोक होता है। यह शोक मेरे हृदय में डेरा डाले बैठा है।)

ब्राह्मण उवाच

पश्य भूतानि दुःखेन व्यतिषिक्तानि सर्वशः।
उत्तमाधममध्यानि तेषु तेष्विह कर्मसु॥13।।
(अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याहं तं न पश्यामि यो मम॥)
आत्मापि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम।
यथा मम तथाऽन्येषामिति चिन्त्य न मे व्यथा।
एतां बुद्धिमहं प्राप्य न प्रहृष्ये न च व्यथे॥14।।
यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः॥15।।
एवं पुत्राश्च पौत्राश्च ज्ञातयो बान्धवास्तथा।
तेषां स्नेहो न कर्तव्यो विप्रयोगो ध्रुवो हि तैः॥16।।
अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः।
न त्वासौ वेद न त्वं तं कः सन् किमनुशोचसि॥17।।
तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम्।
सुखात् सञ्जायते दुःखं दुःखमेवं पुनः पुनः॥18।।
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
सुखदुःखे मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्ततः॥19।।
सुखात् त्वं दुःखमापन्नः पुनरापत्स्यसे सुखम्।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम्॥20।।
शरीरमेवायतनं सुखस्य दुःखस्य चाप्यायतनं शरीरम्।
यद्यच्छरीरेण करोति कर्म तेनैव देही समुपाश्नुते तत्॥21।।
जीवितं च शरीरेण जात्यैव सह जायते।
उभे सह विवर्तेते उभे सह विनश्यतः॥22।।
स्नेहपाशैर्बहुविधैराविष्टविषया जनाः।
अकृतार्थाश्च सीदन्ते जलैः सैकतसेतवः॥23।।
स्नेहेन तिलवत् सर्वं सर्गचक्रे निपीड्यते।
तिलपीडैरिवाक्रम्य क्लेशैरज्ञानसम्भवैः॥24।।
सञ्चिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः।
एकः क्लेशानवाप्नोति परत्रेह च मानवः॥25।।

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! देखो, इस संसार में उत्तम, मध्यम और अधम सभी प्राणी भिन्न–भिन्न कर्मों में आसक्त हो दुःख से ग्रस्त हो रहे हैं।।13।। (मैं तो अकेला हूँ।

न तो दूसरा कोई मेरा है और न मैं किसी दूसरे का हूँ। मैं उस पुरुष को नहीं देखता, जिसका मैं होऊँ तथा उसके भी नहीं देखता, जो मेरा हो (न मुझ पर किसी की ममता है, न मेरा ही किसी पर ममत्व है)। यह शरीर भी मेरा नहीं अथवा सारी पृथ्वी भी मेरी नहीं है। ये सब वस्तुएँ जैसी मेरी हैं, वैसी ही दूसरों की भी हैं। ऐसा सोचकर इनके लिए मेरे मन में कोई व्यथा नहीं होती। इसी बुद्धि को पाकर न मुझे हर्ष होता है, न शोक।।14।। जिस प्रकार समुद्र में बहते हुए दो काष्ठ कभी एक-दूसरे से मिल जाते हैं और मिलकर फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार इस लोक में प्राणियों का समागम होता है।।15।। इसी तरह पुत्र, पौत्र, जाति, बान्धव और सम्बन्धी भी मिल जाते हैं। उनके प्रति कभी कोई आसक्ति नहीं बढ़ानी चाहिये; क्योंकि एक दिन उनसे बिछोह होना निश्चित है।।16।। तुम्हारा पुत्र किसी अज्ञात स्थिति से आया था और अब अज्ञात स्थिति में ही चला गया है। न तो वह तुम्हें जानता था और न तुम उसे जानते थे; फिर तुम उसके कौन होकर किस लिए शोक करते हो?।।17।। संसार में विषयों की तृष्णा से जो व्याकुलता होती है, उसी का नाम दुःख है और उस दुःख का विनाश ही सुख है। उस सुख के बाद (पुनः कामनाजनित) दुःख होता है। इस प्रकार बारम्बार दुःख ही होता रहता है।।18।। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आता है। मनुष्यों के सुख और दुःख चक्र की भाँति घूमते रहते हैं।।19।। इस समय तुम सुख से दुःख में आ पड़े हो। अब फिर तुम्हें सुख की प्राप्ति होगी। यहाँ किसी भी प्राणी को न तो सदा सुख ही प्राप्त होता है और न सदा दुःख ही।।20।। यह शरीर ही सुख का आधार है और यही दुःख का भी आधार है। देहाभिमानी पुरुष शरीर से जो-जो कर्म करता है, उसी के अनुसार वह सुख एवं दुःख रूप फल भोगता है।।21।। यह जीवन स्वभावतः शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है। दोनों साथ-साथ विविध रूपों में रहते हैं और साथ-ही-साथ नष्ट हो जाते हैं।।22।। मनुष्य नाना प्रकार के स्नेह बन्धनों में बँधे हुए हैं, अतः वे सदा विषयों की आसक्ति से घिरे रहते हैं; इसीलिए जैसे बालू द्वारा बनाये हुए पुल जल के वेग से बह जाते हैं, उसी प्रकार उन मनुष्यों की विषय कामना सफल नहीं होती; जिससे वे दुःख पाते रहते हैं।।23।। तेली लोग तेल के लिए जैसे तिलों को कोल्हू में पेरते हैं, उसी प्रकार स्नेह के कारण सब लोग अज्ञानजनित क्लेशों द्वारा सृष्टि चक्र में पिस रहे हैं।।24।। मनुष्य स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्ब के लिए चोरी आदि पाप कर्मों का संग्रह करता है, किन्तु इस लोक और परलोक में उसे अकेले ही उन समस्त कर्मों का क्लेशमय फल भोगना पड़ता है।।25।।

पुत्रदारकुटुम्बेषु प्रसक्ताः सर्वमानवाः।
शोकपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव॥26।।
पुत्रनाशे वित्तनाशे ज्ञातिसम्बन्धिनामपि।
प्राप्यते सुमहद् दुःखं दावाग्निप्रतिमं विभो।
दैवायत्तमिदं सर्वं सुखदुःखे भवाभवौ॥27।।
असुहृत् ससुहृच्चापि सशत्रुर्मित्रवानपि।

सप्रज्ञः प्रज्ञया हीनो दैवेन लभते सुखम्॥28।।
नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः।
न च प्रज्ञालमर्थानां न सुखानामलं धनम्॥29।।
न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः॥30।।
बुद्धिमन्तं च शूरं च मूढं भीरुं जडं कविम्।
दुर्बलं बलवन्तं च भागिनं भजते सुखम्॥31।।
धेनुर्वत्सस्य गोपस्य स्वामिनस्तस्करस्य च।
पयः पिबति यस्तस्या धेनुस्तस्येति निश्चयः॥32।।
ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः।
ते नराः सुखमेधन्ते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥33।।
अन्त्येषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे।
अन्त्यप्राप्तिं सुखामाहुर्दुःखमन्तरमन्त्ययोः॥34।।
(सुखं स्वपिति दुर्मेधाः स्वानि कर्माण्यचिन्तयन्।
अविज्ञानेन महता कम्बलेनेव संवृतः॥)
ये च बुद्धिसुखं प्राप्ता द्वन्द्वातीता विमत्सराः।
तान् नैवार्था न चानर्था व्यथयन्ति कदाचन॥35।।

स्त्री, पुत्र और कुटुम्ब में आसक्त हुए सभी मनुष्य उसी प्रकार शोक के समुद्र में डूब जाते हैं, जैसे बूढ़े जङ्गली हाथी दलदल में फँस कर नष्ट हो जाते हैं।।26।। प्रभो! यहाँ सब लोगों को पुत्र, धन, कुटुम्बी तथा सम्बन्धियों का नाश होने पर दावानल के समान दाह उत्पन्न करने वाला महान् दुःख प्राप्त होता है; परन्तु सुख-दुःख और जन्म मृत्यु आदि यह सब कुछ प्रारब्ध के ही अधीन है।।27।। मनुष्य हितैषी सुहृदों से युक्त हो या न हो, वह शत्रु के साथ हो या मित्र के, बुद्धिमान् हो या बुद्धिहीन, दैव की अनुकूलता होने पर ही सुख पाता है।।28।। अन्यथा न तो सृहद सुख देने में समर्थ हैं, न शत्रु दुःख देने में समर्थ हैं, न तो बुद्धि धन देने की शक्ति रखती है और न धन ही सुख देने में समर्थ होता है।।29।। न तो बुद्धि धन की प्राप्ति में कारण है, न मूर्खता निर्धनता में, वास्तव में संसार चक्र की गति का वृत्तान्त कोई ज्ञानी पुरुष ही जान पाता है, दूसरा नहीं।।30।। बुद्धिमान्, शूरवीर, मूढ़, डरपोक, गूँगा, विद्वान्, दुर्बल और बलवान् जो भी भाग्यवान होगा—दैव जिसके अनुकूल होगा, उसे बिना यत्न के ही सुख प्राप्त होगा।।31।। दूध देने वाली गौ बछड़े की है या उसे दुहने अथवा चराने वाले ग्वाले की है या रखने वाले मालिक की है अथवा उसे चुराकर ले जाने वाले चोर की है? वास्तव में जो उसका दूध पीता है, उसी की वह गाय है; ऐसा विद्वानों का निश्चय है।।32।। इस संसार में जो अत्यन्त मूढ़ हैं और जो बुद्धि से परे पहुँच गये हैं, वे ही मनुष्य सुखी हैं। बीच के सभी लोग कष्ट भोगते हैं।।33।। ज्ञानी पुरुष अन्तिम स्थितियों में रमण करते हैं, मध्यवर्ती स्थिति में नहीं। अन्तिम स्थिति की प्राप्ति सुख स्वरूप बतायी जाती है और उन दोनों के मध्य की स्थिति दुःखरूप कही गई है।।34।। (खोटी बुद्धि वाला मूर्ख मनुष्य

अपने कर्मों के शुभाशुभ परिणाम की कोई परवा न करके सुख से सोता है; क्योंकि वह कम्बल से ढके हुए पुरुष की भाँति महान् अज्ञान से आवृत्त रहता है।) किन्तु जिन्हें ज्ञानजनित सुख प्राप्त है, जो द्वन्द्वों से अतीत हैं तथा जिनमें मत्सरता का भी अभाव है, उन्हें अर्थ और अनर्थ कभी पीड़ा नहीं देते हैं।।35।।

अथ ये बुद्धिमप्राप्ता व्यतिक्रान्ताश्च मूढताम्।
तेऽतिवेलं प्रहृष्यन्ति सन्तापमुपयान्ति च॥36।।
नित्यं प्रमुदिता मूढा दिवि देवगणा इव।
अवलेपेन महता परिभूत्या विचेतसः॥37।।
सुखं दुःखान्तमालस्यं दुःखं दाक्ष्यं सुखोदयम्।
भूतिस्त्वेवं श्रिया सार्धं दक्षे वसति नालसे॥38।।
सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः॥39।।
शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥40।।
बुद्धिमन्तं कृतप्रज्ञं शुश्रूषुमनसूयकम्।
दान्तं जितेन्द्रियं चापि शोको न स्पृशते नरम्॥41।।
एतां बुद्धिं समास्थाय गुप्तचित्तश्चरेद् बुधः।
उदयास्तमयज्ञं हि न शोकः स्प्रष्टुमर्हति॥42।।
यन्निमित्तं भवेच्छोकस्तापो वा दुःखमेव च।
आयासो वा यतो मूलमेकाङ्गमपि तत् त्यजेत्॥43।।
किञ्चिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम्।
तदेव परितापार्थं सर्वं सम्पद्यते तथा॥44।।
यद् यत् यजति कामानां तत् सुखस्याभिपूर्यते।
कामानुसारी पुरुषः काममननुविनश्यति॥45।।

जो मूढ़ता को तो लाङ्घ चुके हैं, परन्तु जिनको ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, वे सुख की परिस्थिति आने पर अत्यन्त हर्ष से फूल उठते हैं और दुःख की परिस्थिति में अतिशय संताप का अनुभव करने लगते हैं।।36।। मूर्ख मनुष्य स्वर्ग में देवताओं की भाँति सदा विषय सुख में मग्न रहते हैं; क्योंकि उनका चित्त विषयासक्ति के कीचड़ में लथपथ होकर मोहित हो जाता है।।37।। आरम्भ में आलस्य सुख सा जान पड़ता है, परन्तु वह अन्त में दुःखदायी होता है और कार्य कौशल दुःख सा लगता है, परन्तु वह सुख का उत्पादक है। कार्य-कुशल पुरुष में ही लक्ष्मी सहित ऐश्वर्य निवास करता है, आलसी में नहीं।।38।। अतः बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि सुख या दुःख, प्रिय अथवा अप्रिय, जो-जो प्राप्त हो जाए, उसका हृदय ये स्वागत करे, कभी हिम्मत न हारे।।39।। शोक के हजारों स्थान हैं और भय के सैकड़ों स्थान हैं; किन्तु वे प्रतिदिन मूर्खों पर ही प्रभाव डालते हैं, विद्वानों पर नहीं।।40।। जो बुद्धिमान्, ऊहापोह में कुशल एवं शिक्षित बुद्धि

वाला, अध्यात्म शास्त्र के श्रवण की इच्छा रखने वाला, किसी के दोष न देखने वाला, मन को वश में रखने वाला और जितेन्द्रिय है, उस मनुष्य को शोक कभी छू भी नहीं सकता।।41।। विद्वान् पुरुष को चाहिए कि वह इसी विचार का आश्रय लेकर मन को काम, क्रोध आदि शत्रुओं से सुरक्षित रखते हुए उत्तम बर्ताव करे। जो उत्पत्ति और विनाश के तत्त्व को जानता है, उसे शोक छू नहीं सकता।।42।। जिसके कारण शोक, ताप अथवा दुःख हो या जिसके कारण अधिक श्रम उठाना पड़े, वह दुःख का मूल कारण अपने शरीर का एक अङ्ग भी हो तो उसे त्याग देना चाहिए।।43।। मनुष्य जब किसी भी पदार्थ में ममत्व कर लेता है, तब वे ही सब उसके वैसे दुःख के कारण बन जाते हैं।।44।। वह कामनाओं में से जिस-जिसका परित्याग कर देता है, वही उसके सुख की पूर्ति करने वाली हो जाती है। जो पुरुष कामनाओं का अनुसरण करता है, वह उन्हीं के पीछे नष्ट हो जाता है।।45।।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥46।।
पूर्वदेहकृतं कर्म शुभं वा यदि वाशुभम्।
प्राज्ञं मूढं तथा शूरं भजते यादृशं कृतम्॥47।।
एवमेव किलैतानि प्रियाण्येवाप्रियाणि च।
जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च॥48।।
एतां बुद्धिं समास्थाय सुखमास्ते गुणान्वितः।
सर्वान् कामान् जुगुप्सेत कामान् कुर्वीत पृष्ठतः॥49।।
वृत्त एष हृदि प्रौढो मृत्युरेष मनोभवः।
क्रोधो नाम शरीरस्थो देहिनां प्रोच्यते बुधैः॥50।।
यदा संहरते कामान्कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
तदाऽऽत्मज्योतिरात्मायमात्मन्येव प्रपश्यति॥51।।
न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥52।।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ भयाभये।
प्रियाप्रिये परित्यज्य प्रशान्तात्मा भविष्यति॥53।।
यदा न कुरुते धीरः सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥54।।
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥55।।

संसार में जो कुछ इस लोक के भोगों का सुख है और जो स्वर्ग का महान् सुख है, वे दोनों तृष्णा क्षय से होने वाले सुख की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं।।46।। मनुष्य बुद्धिमान् हो, मूर्ख हो अथवा शूरवीर हो, उसने पूर्वजन्म में जैसा शुभ या अशुभ कर्म किया है, उसका वैसा ही फल उसे भोगना पड़ता है।।47।। इस प्रकार जीवों को

प्रिय अप्रिय और सुख-दुःख की प्राप्ति बार-बार क्रम से होती रहती है, इसमें सन्देह नहीं है।।48।। ऐसी बुद्धि का आश्रय लेकर कामनाओं के त्यागरूपी गुण से युक्त हुआ मनुष्य सुख से रहता है; इसलिए सब प्रकार के भोगों से विरक्त होकर उन्हें पीठ पीछे कर दे अर्थात् उनसे विमुख हो जाए।।49।। हृदय से उत्पन्न होने वाला यह काम हृदय में ही पुष्ट होता है, फिर यह मृत्यु का रूप धारण कर लेता है; क्योंकि (जब इसकी सिद्धि में कोई बाधा आती है, तब) विद्वानों द्वारा यही प्राणियों के शरीर के भीतर क्रोध के नाम से पुकारा जाता है।।50।। कछुआ जैसे अपने अङ्गों को सब ओर से समेट लेता है, उसी प्रकार यह जीव जब अपनी सब कामनाओं का सङ्कोच कर देता है, तब यह अपने विशुद्ध अन्तःकरण में ही स्वयं प्रकाश स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है।।51।। जब यह किसी से भय नहीं मानता और इससे भी किसी को भय नहीं होता तथा जब यह किसी वस्तु को न तो चाहता है और उससे द्वेष ही करता है, तब परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।।52।। जब यह साधक सत्य और असत्य अर्थात् जगत् के व्यक्त और अव्यक्त पदार्थों का, शोक और हर्ष का, भय और अभय का तथा प्रिय और अप्रिय आदि समस्त द्वन्द्वों का परित्याग कर देता है, तब उसका चित्त शान्त हो जाता है।।53।। जब धैर्य सम्पन्न ज्ञानवान् पुरुष किसी भी प्राणि के प्रति मन, वाणी और क्रिया द्वारा पापपूर्ण बर्ताव नहीं करता, तब परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।।54।। खोटी बुद्धि वाले मनुष्यों के लिए जिसका त्याग करना कठिन है, जो मनुष्य के जीण जीर्ण (वृद्ध) हो जाने पर भी स्वयं कभी जीर्ण नहीं होती तथा जो प्राणों के साथ जाने वाला रोग बनकर रहती है, उस तृष्णा को जो त्याग देता है, उसी को सुख मिलता है।।55।।

पिङ्गला गीता

अत्र पिङ्गलया गीता गाथाः श्रूयन्ति पार्थिव।
यथा सा कृच्छ्रकालेऽपि लेभे धर्मं सनातनम्।।56।।
सङ्केते पिङ्गला वेश्या कान्तेनासीद् विनाकृता।
अथ कृच्छ्रगता शान्ता बुद्धिमास्थापयत् तदा।।57।।

राजन्! इस विषय में पिङ्गला की गायी हुई गाथाएँ सुनी जाती हैं, जिसके अनुसार चलकर सङ्कट काल में भी उसने सनातन धर्म को प्राप्त कर लिया था।।56।। एक बार पिङ्गला वेश्या बहुत देर तक सङ्केत स्थान पर बैठी रही, तब भी उसका प्रियतम उसके पास नहीं आया; इससे वह बड़े कष्ट में पड़ गयी तथापि शान्त रहकर इस प्रकार विचार करने लगी।।57।।

पिङ्गलोवाच

उन्मत्ताहमनुन्मत्तं कान्तमन्ववसं चिरम्।
अन्तिके रमणं सन्तं नैनमध्यगमं पुरा।।58।।

एकस्थूणं नवद्वारमपिधास्याम्यगारकम्।
का हि कान्तमिहायान्तमयं कान्तेति मंस्यते॥59।।
अकामां कामरूपेण धूर्ता नरकरूपिणः।
न पुनर्वञ्चयिष्यन्ति प्रतिबुद्धास्मि जागृमि॥60।।
अनर्थो हि भवेदर्थो दैवात् पूर्वकृतेन वा।
सम्बुद्धाहं निराकारा नाहमद्याजितेन्द्रिया॥61।।
सुखं निराशः स्वपिति नैराश्यं परमं सुखम्।
आशामनाशां कृत्वा हि सुखं स्वपिति पिङ्गला॥62।।

पिङ्गला बोली—मेरे सच्चे प्रियतम चिरकाल से मेरे निकट ही रहते हैं। मैं सदा से उनके साथ ही रहती आयी हूँ। वे कभी उन्मत्त नहीं होते; परन्तु मैं ऐसी मतवाली हो गई थी कि आज से पहले उन्हें पहचान ही न सकी।।58।। जिसमें एक ही खम्भा और नौ दरवाजे हैं, उस शरीररूपी घर को आज से मैं दूसरों के लिए बन्द कर दूँगी। यहाँ आने वाले उस सच्चे प्रियतम को जानकर भी कौन नारी किसी हाड़ मांस के पुतले को अपना प्राणवल्लभ मानेगी?।।59।। अब मैं मोह निद्रा से जग गयी हूँ और निरन्तर सजग हूँ—कामनाओं का भी त्याग कर चुकी हूँ। अतः वे नरकरूपी धूर्त मनुष्य काम का रूप धारण करके अब मुझे धोखा नहीं दे सकेंगे।।60।। भाग्य से अथवा पूर्वकृत शुभ कर्मों के प्रभाव से कभी-कभी अनर्थ भी अर्थरूप हो जाता है, जिससे आज निराश होकर मैं उत्तम ज्ञान से सम्पन्न हो गई हूँ। अब मैं अजितेन्द्रिय नहीं रही हूँ।।61।। वास्तव में जिसे किसी प्रकार की आशा नहीं है, वही सुख से सोता है। आशा का न होना ही परम सुख है। देखो, आशा को निराशा के रूप में परिणत करके पिङ्गला सुख की नींद सोने लगी।।62।।

भीष्म उवाच

एतैश्चान्यैश्च विप्रस्य हेतुमद्भिः प्रभाषितैः।
पर्यवस्थापितो राजा सेनजिन्मुमुदे सुखी॥63।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मण के कहे हुए इन पूर्वोक्त तथा अन्य युक्तियुक्त वचनों से राजा सेनजित् का चित्त स्थिर हो गया। वे शोक छोड़कर सुखी हो गए और प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे।।63।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि ब्राह्मणसेनजित्संवादकथने चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 174 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में ब्राह्मण और सेनजित् के संवाद का कथन विषयक एक सौ चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ।।174।।

सेनजिद्गीता पिङ्गलगीता च सम्पूर्णा

शम्पाकगीता

प्रथमोऽध्यायः

त्याग की महिमा के विषय में शम्पाक ब्राह्मण का उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

धनिनश्चाधना ये च वर्तयन्ते स्वतन्त्रिणः।
सुखदुःखागमस्तेषां कः कथं वा पितामह॥1।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! धनी और निर्धन दोनों स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करते हैं; फिर उन्हें किस रूप में और कैसे सुख और दुःख की प्राप्ति होती है।।1।।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शम्पाकेनेह मुक्तेन गीतं शान्तिगतेन च॥2।।
अब्रवीन्मां पुरा कश्चिद् ब्राह्मणस्त्यागमाश्रितः।
क्लिश्यमानः कुदारेण कुचैलेन बुभुक्षया॥3।।
उत्पन्नमिह लोके वै जन्मप्रभृति मानवम्।
विविधान्युपवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च॥4।।
तयोरेकतरे मार्गे यदेनमभिसन्नयेत्।
न सुखं प्राप्य संहृष्येन्नासुखं प्राप्य सञ्ज्वरेत्॥5।।
न वै चरसि यच्छ्रेय आत्मनो वा यदीशिषे।
अकामात्मापि हि सदा धुरमुद्यम्य चैव ह॥6।।
अकिञ्चनः परिपतन् सुखमास्वादयिष्यसि।
अकिञ्चनः सुखं शेते समुत्तिष्ठति चैव ह॥7।।
आकिञ्चन्यं सुखं लोके पथ्यं शिवमनामयम्।
अनमित्रपथो ह्येष दुर्लभः सुलभो मतः॥8।।
अकिञ्चनस्य शुद्धस्य उपपन्नस्य सर्वतः।
अवेक्षमाणस्त्रींल्लोकान् न तुल्यमिह लक्षये॥9।।
आकिञ्चन्यं च राज्यं च तुलया समतोलयम्।
अत्यरिच्यत दारिद्र्यं राज्यादपि गुणाधिकम्॥10।।
आकिञ्चन्ये च राज्ये च विशेषः सुमहानयम्।
नित्योद्विग्नो हि धनवान् मृत्योरास्यगतो यथा॥11।।

भीष्मजी ने कहा—युधिष्ठिर! इस विषय में विद्वान् पुरुष इस पुरातन इतिहास का उदाहरण देते हैं, जिसे परम शान्त जीवन्मुक्त शम्पाक ने यहाँ कहा था।।2।। पहले की बात है, फटे पुराने वस्त्रों एवं अपनी दुष्टा स्त्री के और भूख के कारण अत्यन्त कष्ट पाने वाले एक त्यागी ब्राह्मण ने जिसका नाम शम्पाक था, मुझसे इस प्रकार कहा।।3।। 'इस संसार में जो भी मनुष्य उत्पन्न होता है (वह धनी हो या निर्धन) उसे जन्म से ही नाना प्रकार के सुख-दुःख प्राप्त होने लगते हैं।।4।। विधाता यदि उसे सुख और दुःख इन दोनों में से किसी एक के मार्ग पर ले जाए तो वह न सुख पाकर प्रसन्न हो और न दुःख में पड़कर परितप्त हो।।5।। तुम जो कामना रहित होकर भी अपने कल्याण का कारण नहीं कर रहे हो और मन को वश में नहीं कर रहे हो, इसका कारण यही है कि तुमने राज्य का बोझा अपने पर उठा रखा है।।6।। यदि तुम सब कुछ त्यागकर किसी वस्तु का संग्रह नहीं रखोगे तो सर्वत्र विचरते हुए सुख का ही अनुभव करोगे; क्योंकि जो अकिञ्चन होता है—जिसके पास कुछ नहीं रहता है, वह सुख से सोता और जागता है।।7।। संसार में अकिञ्चनता ही सुख है। वही हितकारक, कल्याणकारी और निरापद है। इस मार्ग में किसी प्रकार के शत्रु का भी खटका नहीं है। यह दुर्लभ होने पर भी सुलभ है।।8।। मैं तीनों लोकों पर दृष्टि डालकर देखता हूँ तो मुझे अकिञ्चन, शुद्ध एवं सब ओर से वैराग्य सम्पन्न पुरुष के समान दूसरा कोई नहीं दिखायी देता है।।9।। मैंने अकिञ्चनता तथा राज्य को बुद्धि की तराजू पर रखकर तौला तो गुणों में अधिक होने के कारण राज्य से भी अकिञ्चनता का ही पलड़ा भारी निकला।।10।। अकिञ्चनता तथा राज्य में बड़ा भारी अन्तर यह है कि धनी राजा सदा इस प्रकार उद्विग्न रहता है, मानो मौत के मुख में पड़ा हुआ हो।।11।।

नैवास्याग्निर्न चारिष्टो न मृत्युर्न च दस्यवः।
प्रभवन्ति धनत्यागाद् विमुक्तस्य निराशिषः॥12।।
तं वै सदा कामचरमनुपस्तीर्णशायिनम्।
बाहूपधानं शाम्यन्तं प्रशंसन्ति दिवौकसः॥13।।
धनवान् क्रोधलोभाभ्यामाविष्टो नष्टचेतनः।
तिर्यगीक्षः शुष्कमुखः पापको भ्रुकुटीमुखः॥14।।
निर्दशन्नधरोष्ठं च क्रुद्धो दारुणभाषिता।
कस्तमिच्छेत् परिद्रष्टुं दातुमिच्छति चेन्महीम्॥15।।
श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो मोहयत्यविचक्षणम्।
सा तस्य चित्तं हरति शारदाभ्रमिवानिलः॥16।।
अथैनं रूपमानश्च धनमानश्च विन्दति।
अभिजातोऽस्मि सिद्धोऽस्मि नास्मि केवलमानुषः॥17।।
इत्येभिः कारणैस्तस्य त्रिभिश्चित्तं प्रमाद्यति।
सम्प्रसक्तमना भोगान् विसृज्य पितृसञ्चितान्।

परिक्षीणः परस्वानामादानं साधु मन्यते॥18॥
तमतिक्रान्तमर्यादमाददानं ततस्ततः।
प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः॥19॥
एवमेतानि दुःखानि तानि तानीह मानवम्।
विविधान्युपपद्यन्ते गात्रसंस्पर्शजान्यपि॥20॥
तेषां परमदुःखानां बुद्ध्या भैषज्यमाचरेत्।
लोकधर्ममवज्ञाय ध्रुवाणामध्रुवैः सह॥21॥
नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम्।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव॥22॥
इत्येतद्धास्तिनपुरे ब्राह्मणेनोपवर्णितम्।
शम्पाकेन पुरा मह्यं तस्मात् त्यागः परो मतः॥23॥

परन्तु जो मनुष्य धन को त्यागकर उसी आसक्ति से मुक्त हो गया है और मन में किसी तरह की कामना नहीं रखता, उस पर न अग्नि का जोर चलता है, न अरिष्टकारी ग्रहों का, न मृत्यु उसका कुछ बिगाड़ सकती है, न डाकू और लुटेरे ही।।12।। वह सदा दैव इच्छा के अनुसार विचरता है। बिना बिछौने के भूतल पर सोता है। बाँहों की ही तकिया लगाता है और सदा शान्त भाव से रहता है। देवता लोग भी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।।13।। जो धनवान् है, वह क्रोध और लोभ के आवेश में आकर अपनी विचार शक्ति को खो बैठता है, टेढ़ी आँखों से देखता है, उसका मुँह सूखा रहता है, भौंहें चढ़ी होती हैं और वह पाप में ही मग्न रहा करता है।।14।। क्रोध के कारण वह ओठ चबाता रहता है और अत्यन्त कठोर वचन बोलता है। ऐसा मनुष्य सारी पृथ्वी का राज्य ही दे देना चाहता हो, तो भी उसकी ओर कौन देखना चाहेगा?।।15।। सदा धन सम्पत्ति का सहवास मूर्ख मनुष्य के चित्त को लुभाकर उसे मोह में ही डाले रहता है। जैसे वायु शरद् ऋतु के बादलों को उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार वह सम्पत्ति मनुष्य के मन को हर लेती है।।16।। फिर उसके ऊपर रूप का अहङ्कार और धन का मद सवार हो जाता है और वह ऐसा मानने लगता है कि मैं बड़ा कुलीन हूँ, सिद्ध हूँ, कोई साधारण मनुष्य नहीं हूँ।।17।। रूप, धन और कुल—इन तीनों के अभिमान के कारण उसके चित्त में प्रमाद भर जाता है, वह भोगों में आसक्त होकर बाप-दादों के जोड़े हुए पैसों को खो बैठता है और दरिद्र होकर दूसरों के धन को हड़प लाना अच्छा मानने लगता है।।18।। इस तरह मर्यादा का उल्लङ्घन करके जब वह इधर-उधर से लूट-खसोट कर धन ले आता है, तब राजा उसे उसी प्रकार कठोर दण्ड देकर रोकते हैं, जैसे व्याध बाणों से मारकर मृगों की गति रोक देते हैं।।19।। इस प्रकार मन को तप्त करने वाले और शरीर के स्पर्श से होने वाले ये नाना प्रकार के दुःख मनुष्य को प्राप्त होते हैं।।20।। अतः अनित्य शरीरों के साथ सदैव लगे रहने वाले पुत्रैषणा आदि लोकधर्मों की अवहेलना करके अवश्य प्राप्त होने वाले पूर्वोक्त महान् दुःखों की विचारपूर्वक चिकित्सा करनी

चाहिये।।21।। कोई मनुष्य त्याग किए बिना सुख नहीं पाता, त्याग किए बिना परमात्मा को नहीं पा सकता और त्याग किए बिना निर्भय सो नहीं सकता; इसलिए तुम भी सब कुछ त्यागकर सुखी हो जाओ।।22।। इस प्रकार पूर्वकाल में शम्पाक नामक ब्राह्मण ने हस्तिनापुर में मुझसे त्याग की महिमा का वर्णन किया था। अत: त्याग ही सबसे श्रेष्ठ माना गया है।।23।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शम्पाकगीतायां
षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 176 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में शम्पाक गीता विषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ।।176।।

शम्पाकगीता सम्पूर्णा

मङ्किगीता

प्रथमोऽध्यायः

धन की तृष्णा से दुःख और उसकी कामना के त्याग से परम सुख की प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

ईहमानः समारम्भान् यदि नासादयेद् धनम्।
धनतृष्णाभिभूतश्च किं कुर्वन्सुखमाप्नुयात्॥1।।

युधिष्ठिर ने पूछा—दादाजी! यदि कोई मनुष्य धन की तृष्णा से ग्रस्त होकर तरह-तरह के उद्योग करने पर भी धन न पा सके तो वह क्या करे, जिससे उसे सुख की प्राप्ति हो सके?।।1।।

भीष्म उवाच

सर्वसाम्यमनायासं सत्यवाक्यं च भारत।
निर्वेदश्चाविधित्सा च यस्य स्यात् स सुखी नरः॥2।।
एतान्येव पदान्याहुः पञ्च वृद्धाः प्रशान्तये।
एष स्वर्गश्च धर्मश्च सुखं चानुत्तमं मतम्॥3।।
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
निर्वेदान्मङ्किना गीतं तन्निबोध युधिष्ठिर॥4।।
ईहमानो धनं मङ्किर्भग्नेहश्च पुनः पुनः।
केनचिद् धनशेषेण क्रीतवान् दम्यगोयुगम्॥5।।
सुसम्बद्धौ तु तौ दम्यौ दमनायाभिनिःसृतौ।
आसीनमुष्ट्रं मध्येन सहसैवाभ्यधावताम्॥6।।
तयोः सम्प्राप्तयोरुष्ट्रः स्कन्धदेशममर्षणः।
उत्थायोत्क्षिप्य तौ दम्यौ प्रससार महाजवः॥7।।
ह्रियमाणौ तु तौ दम्यौ तेनोष्ट्रेण प्रमाथिना।
म्रियमाणौ च सम्प्रेक्ष्य मङ्किस्तत्राब्रवीदिदम्॥8।।
न चैवाविहितं शक्यं दक्षेणापीहितुं धनम्।
युक्तेन श्रद्धया सम्यगीहां समनुतिष्ठता॥9।।
कृतस्य पूर्वं चानर्थैर्युक्तस्याप्यनुतिष्ठतः।
इमं पश्यत सङ्गत्या मम दैवमुपप्लवम्॥10।।

उद्यम्योद्यम्य मे दम्यौ विषमेणैव गच्छतः।
उत्क्षिप्य काकतालीयमुत्पथेनैव धावतः॥11॥
मणी वोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम।
शुद्धं हि दैवमेवेदं हठेनैवास्ति पौरुषम्॥12॥

भीष्मजी ने कहा—भारत! सबमें समता का भाव, व्यर्थ परिश्रम का अभाव, सत्य भाषण, संसार से वैराग्य और कर्मासक्ति का अभाव—ये पाँचों जिस मनुष्य में होते हैं, वह सुखी होता है।।2।। ज्ञानवृद्ध पुरुष इन्हीं पाँच वस्तुओं को शान्ति का कारण बताते हैं। यही स्वर्ग है, यही धर्म है और यही परम उत्तम सुख माना गया है।।3।। युधिष्ठिर! इस विषय में जानकार पुरुष एक प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं। मङ्कि नामक मुनि ने भोगों से विरक्त होकर जो उद्‌गार प्रकट किया था, वही इस इतिहास में वर्णित है। उसे बताता हूँ, सुनो।।4।। मङ्कि धन के लिए अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करते थे; परन्तु हर बार उनका प्रयत्न व्यर्थ हो जाता था। अन्त में जब बहुत थोड़ा धन शेष रह गया तो उसे देकर उन्होंने दो नये बछड़े खरीदे।।5।। एक दिन उन दोनों बछड़ों को परस्पर जोड़कर वे हल चलाने की शिक्षा देने के लिए ले जा रहे थे। जब वे दोनों बछड़े गाँव से बाहर निकले तो बैठे हुए एक ऊँट को बीच में करके सहसा दौड़ पड़े।।6।। जब वे उसकी गर्दन के पास पहुँचे तो ऊँट के लिए यह असह्य हो उठा। वह रोष में भरकर खड़ा हो गया और उन दोनों को बछड़ों को ऊपर लटकाये बड़े जोर से भागने लगा।।7।। बलपूर्वक अपहरण करने वाले उस ऊँट के द्वारा उन दोनों बछड़ों को अपहृत होते और मरते देख मङ्कि ने इस प्रकार कहा—।।8।। 'मनुष्य कैसा ही चतुर क्यों न हो, जो उसके भाग्य में नहीं है, उस धन को वह श्रद्धापूर्वक भलीभाँति प्रयत्न करके भी नहीं पा सकता।।9।। पहले मैंने जो प्रयत्न किया था, उसमें अनेक प्रकार के अनर्थ खड़े हो गये थे। उन अनर्थों से युक्त होने पर भी मैं धनोपार्जन की ही चेष्टा में लगा रहा; परन्तु देखो, आज इन बछड़ों की सङ्गति से मुझ पर कैसा दैवी उपद्रव आ गया?।।10।। यह ऊँट मेरे बछड़ों को उछाल उछाल कर विषम मार्ग से ही जा रहा है। काकतालीय[1] न्याय से (अर्थात् दैव संयोग से) इन्हें गर्दन पर उठाकर बुरे मार्ग से ही दौड़ रहा है। इस ऊँट के गले में मेरे दोनों प्यारे बछड़े दो मणियों के समान लटक रहे हैं। यह केवल दैव की ही लीला है। हठपूर्वक किए हुए पुरुषार्थ से क्या होता है?।।11-12।।

---

1. एक ताड़ के वृक्ष के नीचे एक बटोही बैठा था। उसी वृक्ष के ऊपर एक काक भी आ बैठा। काक के आते ही ताड़ का एक पका हुआ फल नीचे गिरा। यद्यपि फल पककर आपसे आप ही गिरा था, पर पथिक दोनों बातों को साथ होते देख, यही समझ गया कि कौवे के आने से ही ताड़ का फल गिरा है; अतः जहाँ संयोगवश अचानक कोई घटना घटित हो जए, वहाँ उसे काकतालीय न्याय से घटित हुई बताया जाता है। यहाँ बछड़ों का आना और ऊँट का रास्ते में बैठा रहना—ये बातें संयोगवश हो गई थीं।

यदि वाप्युपपद्येत पौरुषं नाम कर्हिचित्।
अन्विष्यमाणं तदपि दैवमेवावतिष्ठते॥13॥
तस्मान्निर्वेद एवेह गन्तव्यः सुखमिच्छता।
सुखं स्वपिति निर्विण्णो निराशश्चार्थसाधने॥14॥
अहो सम्यक् शुकेनोक्तं सर्वतः परिमुच्यता।
प्रतिष्ठता महारण्यं जनकस्य निवेशनात्॥15॥
यः कामानाप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥16॥
नान्तं सर्वविधित्सानां गतपूर्वोऽस्ति कश्चन।
शरीरे जीविते चैव तृष्णा मन्दस्य वर्धते॥17॥
निवर्तस्व विधित्साभ्यः शाम्य निर्विद्य कामुक।
असकृच्चासि निकृतो न च निर्विद्यसे ततः॥18॥
यदि नाहं विनाश्यस्ते यद्येवं रमसे मया।
मा मां योजय लोभेन वृथा त्वं वित्तकामुक॥19॥
सञ्चितं सञ्चितं द्रव्यं नष्टं तव पुनः पुनः।
कदाचिन्मोक्ष्यसे मूढ धनेहां धनकामुक॥20॥
अहो नु मम बालिश्यं योऽहं क्रीडनकस्तव।
किं नैवं जातु पुरुषः परेषां प्रेष्यतामियात्॥21॥
न पूर्वे नापरे जातु कामानामन्तमाप्नुवन्।
त्यक्त्वा सर्वसमारम्भान् प्रतिबुद्धोऽस्मि जागृमि॥22॥

यदि कभी कोई पुरुषार्थ सफल होता दिखायी देता है तो वहाँ भी खोज करने पर दैव का ही सहयोग सिद्ध होता है॥13॥ अतः सुख की इच्छा रखने वाले पुरुष को धन आदि की ओर से वैराग्य का ही आश्रय लेना चाहिये। धनोपार्जन की चेष्टा से निराश होकर जो विरक्त हो जाता है, वह सुख की नींद सोता है॥14॥ अहा! शुकदेव मुनि ने जनक के राजमहल से विशाल वन की ओर जाते समय सब ओर से बन्धन मुक्त हो क्या ही अच्छा कहा था?॥15॥ जो मनुष्य अपनी समस्त कामनाओं को पा लेता है तथा जो इन सबका केवल त्याग कर देता है—इन दोनों के कार्यों में समस्त कामनाओं को प्राप्त करने की अपेक्षा उनका त्याग ही श्रेष्ठ है॥16॥ कोई भी पहले कभी धन आदि के लिए होने वाली सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का अन्त नहीं पा सका है। शरीर और जीवन के प्रति मूर्ख मनुष्य की ही तृष्णा बढ़ती है॥17॥ ओ कामनाओं के दास मन! तू सब प्रकार की चेष्टाओं से निवृत्त हो जा और वैराग्यपूर्वक शान्ति धारण कर। तू धन की चेष्टा करके बारम्बार ठगा गया है तो भी उसकी ओर से वैराग्य नहीं होता है॥18॥ ओ धन की कामना वाले मन! यदि तुझे मेरा विनाश नहीं करना है। यदि तू इसी प्रकार मेरे साथ

आनन्दपूर्वक रहना चाहता है तो मुझे व्यर्थ लोभ में न फँसा।।19।। तूने बार-बार द्रव्य का सञ्चय किया और वह बारम्बार नष्ट होता चला गया। धन की इच्छा रखने वाले मूढ़! क्या कभी तू धन की इस तृष्णा और चेष्टा का त्याग भी करेगा?।।20।। अहो! यह मेरी कैसी नादानी है? जो मैं तेरे हाथ का खिलौना बना हुआ हूँ। यदि ऐसी बात न होती तो क्या कोई समझदार पुरुष कभी दूसरों की दासता स्वीकार कर सकता है?।।21।। पूर्वकाल के तथा पीछे के मनुष्य भी कभी कामनाओं का अन्त नहीं पा सके हैं, अत: मैं समस्त कर्मों का आयोजन त्याग कर सावधान हो गया हूँ और मैं पूर्णत: जग गया हूँ।।22।।

नूनं ते हृदयं काम वज्रसारमयं दृढम्।
यदनर्थशताविष्टं शतधा न विदीर्यते॥23।।
जानामि काम त्वां चैव यच्च किञ्चित् प्रियं तव।
तवाहं प्रियमन्विच्छन्नात्मन्युपलभे सुखम्॥24।।
काम जानामि ते मूलं सङ्कल्पात् किल जायसे।
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि समूलो न भविष्यसि॥25।।
ईहा धनस्य न सुखा लब्ध्वा चिन्ता च भूयसी।
लब्धनाशे यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा॥26।।
परित्यागे न लभते ततो दुःखतरं नु किम्।
न च तुष्यति लब्धेन भूय एव च मार्गति॥27।।
अनुतर्षुल एवार्थः स्वादु गाङ्गमिवोदकम्।
मद्विलापनमेतत्तु प्रतिबुद्धोऽस्मि सन्त्यज॥28।।
य इमं मामकं देहं भूतग्रामः समाश्रितः।
स यात्वितो यथाकामं वसतां वा यथासुखम्॥29।।
न युष्मास्विह मे प्रीतिः कामलोभानुसारिषु।
तस्मादुत्सृज्य कामान् वै सत्त्वमेवशश्रयाम्यहम्॥30।।
सर्वभूतान्यहं देहे पश्यन् मनसि चात्मनः।
योगे बुद्धिं श्रुते सत्त्वं मनो ब्रह्मणि धारयन्॥31।।
विहरिष्याम्यनासक्तः सुखी लोकान् निरामयः।
यया मां त्वं पुनर्नैवं दुःखेषु प्रणिधास्यसि॥32।।

काम! निश्चय ही तेरा हृदय फौलाद का बना हुआ है; अतएव अत्यन्त सुदृढ़ है। यही कारण है कि सैकड़ों अनर्थों से व्याप्त होने पर भी इसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते।।23।। काम! मैं तुझे अच्छी तरह जानता हूँ और जो कुछ तुझे प्रिय लगता है, उससे भी परिचित हूँ। चिरकाल से तेरा प्रिय करने की चेष्टा करता चला आ रहा हूँ, परन्तु कभी मेरे मन में सुख का अनुभव नहीं हुआ।।24।। काम! मैं तेरी जड़ को जानता हूँ। निश्चय ही तू सङ्कल्प से उत्पन्न होता है। अब मैं तेरा सङ्कल्प ही नहीं करूँगा, जिससे

समूल नष्ट हो जाएगा।।25।। धन की इच्छा अथवा चेष्टा सुखदायिनी नहीं है। यदि धन मिल भी जाए तो उसकी रक्षा आदि के लिए बड़ी भारी चिन्ता बढ़ जाती है और यदि एक बार मिलकर वह नष्ट हो जाए, तब तो मृत्यु के समान ही भयङ्कर कष्ट होता है और उद्योग करने पर भी धन मिलेगा या नहीं, यह निश्चय नहीं होता।।26।। शरीर को निछावर कर देने पर भी मनुष्य जब धन नहीं पाता है तो उसके लिए इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या हो सकता है? यदि धन की उपलब्धि हो भी जाए तो उतने से ही वह सन्तुष्ट नहीं होता है अपितु अधिक धन की तलाश करने लग जाता है।।27।। काम! स्वादिष्ट गङ्गाजल के समान यह धन तृष्णा की ही वृद्धि करने वाला है। मैं अच्छी तरह जान गया हूँ कि यह तृष्णा की वृद्धि मेरे विनाश का कारण है; अतः तू मेरा पिण्ड छोड़ दे।।28।। मेरे इस शरीर का आश्रय लेकर जो पाँचों भूतों का समुदाय स्थित है, वह इसमें से अपनी इच्छा के अनुसार सुखपूर्वक चला जाए या इसमें रहे, इसकी मुझे परवा नहीं है।।29।। पञ्चभूतगण! अहङ्कार आदि के साथ तुम सब लोग काम और लोभ के पीछे लगे रहने वाले हो। अतः तुम पर यहाँ मेरा रत्ती भर भी स्नेह नहीं है। इसलिए मैं समस्त कामनाओं को छोड़कर केवल अब सत्त्व गुण का आश्रय ले रहा हूँ।।30।। मैं अपने शरीर में मन के अन्दर सम्पूर्ण भूतों को देखता हुआ बुद्धि को योग में, एकाग्रचित्त को श्रवण मनन आदि साधनों में और मन को परब्रह्म परमात्मा में लगाकर रोग-शोक से रहित एवं सुखी हो सम्पूर्ण लोकों में अनासक्त भाव से विचरूंगा, जिससे तू फिर मुझे इस प्रकार दुःखों में न डाल सकेगा।।31-32।।

त्वया हि मे प्रणुन्नस्य गतिरन्या न विद्यते।
तृष्णाशोकश्रमाणां हि त्वं काम प्रभवः सदा॥33।।
धननाशेऽधिकं दुःखं मन्ये सर्वमहत्तरम्।
ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते मित्राणि च धनाच्च्युतम्॥34।।
अवज्ञानसहस्रैस्तु दोषाः कष्टतराऽधने।
धने सुखकला या तु सापि दुःखैर्विधीयते॥35।।
धनमस्येति पुरुषं पुरो निघ्नन्ति दस्यवः।
क्लिश्यन्ति विविधैर्दण्डैर्नित्यमुद्वेजयन्ति च॥36।।
अर्थलोलुपता दुःखमिति बुद्धं चिरान्मया।
यद् यदालम्बसे काम तत्तदेवानुरुध्यसे॥37।।
अतत्त्वज्ञोऽसि बालश्च दुस्तोषोऽपूरणोऽनलः।
नैव त्वं वेत्थ सुलभं नैव त्वं वेत्थ दुर्लभम्॥38।।
पाताल इव दुष्पूरो मां दुःखैर्योक्तुमिच्छसि।
नाहमद्य समावेष्टुं शक्यः काम पुनस्त्वया॥39।।

निर्वेदमहमासाद्य द्रव्यनाशाद् यदृच्छया।
निर्वृत्तिं परमां प्राप्य नाद्य कामान् विचिन्तये॥40॥
अतिक्लेशान् सहामीह नाहं बुद्ध्याम्यबुद्धिमान्।
निकृतो धननाशेन शये सर्वाङ्गविज्वरः॥41॥
परित्यजामि काम त्वा हित्वा सर्वमनोगतीः।
न त्वं मया पुनः काम वत्स्यसे न च रंस्यसे॥42॥
क्षमिष्ये क्षिपमाणानां न हिंसिष्ये विहिंसितः।
द्वेष्ययुक्तः प्रियं वक्ष्याम्यनादृत्य तदप्रियम्॥43॥

काम! तृष्णा, शोक और परिश्रम—इनका उत्पत्ति स्थान सदा तू ही है। जब तक तू मुझे प्रेरित करके इधर-उधर भटकाता रहेगा, तब तक मेरे लिए दूसरी कोई गति नहीं है॥33॥ मैं तो समझता हूँ कि धन का नाश होने पर जो अत्यन्त दुःख होता है, वही सबसे बढ़कर है; क्योंकि जो धन से वञ्चित हो जाता है, उसे अपने भाई, बन्धु और मित्र भी अपमानित करने लगते हैं॥34॥ दरिद्र को सहस्र सहस्र तिरस्कार सहने पड़ते हैं; अतः निर्धन अवस्था में बहुत-से कष्टदायक दोष हैं; और धन में जो सुख का लेश प्रतीत होता है, वह भी दुःखों से ही सम्पादित होता है॥35॥ जिस पुरुष के पास धन होने का सन्देह होता है, उसे उसका धन लूटने के लिए लुटेरे मार डालते हैं अथवा उसे तरह-तरह की पीड़ाएँ देकर सताते और सदा उद्वेग में डाले रहते हैं॥36॥ धन लोलुपता दुःख का कारण है, यह बात बहुत देर के बाद मेरी समझ में आयी है। काम! तू जिस-जिस का आश्रय लेता है, उसी-उसी के पीछे पड़ जाता है॥37॥ तू तत्त्व ज्ञान से रहित और बालक के समान मूढ़ है, तुझे सन्तोष देना कठिन है। आग के समान तेरा पेट भरना असम्भव है। तू यह नहीं जानता कि कौन-सी वस्तु सुलभ है और कौन-सी दुर्लभ॥38॥ काम! पाताल के समान तुझे भरना कठिन है। तू मुझे दुःखों में फंसाना चाहता है; किन्तु अब तू फिर मेरे भीतर प्रवेश नहीं कर सकता॥39॥ अकस्मात् धन का नाश हो जाने से वैराग्य को प्राप्त होकर मुझे परम सुख मिल गया है। अब मैं भोगों का चिन्तन नहीं करूँगा॥40॥ पहले मैं बड़े-बड़े क्लेश सहता था, परन्तु ऐसा बुद्धिहीन हो गया था कि 'धन की कामना में कष्ट है' इस बात को समझ ही नहीं पाता था। परन्तु अब धन का नाश होने से उससे वञ्चित होकर मैं सम्पूर्ण अङ्गों में क्लेश और चिन्ताओं से मुक्त होकर सुख से सोता हूँ॥41॥ काम! मैं अपनी सम्पूर्ण मनोवृत्तियों को दूर हटाकर तेरा परित्याग कर रहा हूँ। अब तू फिर मेरे साथ न तो रह सकेगा और न मौज ही कर सकेगा॥42॥ अब जो लोग मुझ पर आक्षेप या मेरा तिरस्कार करेंगे, उनके उस बर्ताव को मैं चुपचाप सह लूँगा। जो लोग मुझे मारे-पीटेंगे या कष्ट देंगे, उनके साथ भी मैं बदले में वैसा बर्ताव नहीं करूँगा। द्वेष के योग्य पुरुष का भी यदि साथ हो जाए और वह मझे अप्रिय वचन कहने लगे तो मैं उस पर ध्यान न देकर उससे अप्रिय वचन नहीं बोलूँगा॥43॥

तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं यथालब्धेन वर्तयन्।
न सकामं करिष्यामि त्वामहं शत्रुमात्मनः॥44॥
निर्वेदं निर्वृतिं तृप्तिं शान्तिं सत्यं दमं क्षमाम्।
सर्वभूतदयां चैव विद्धि मां समुपागतम्॥45॥
तस्मात् कामश्च लोभश्च तृष्णा कार्पण्यमेव च।
त्यजन्तु मां प्रतिष्ठन्तं सत्त्वस्थो ह्यस्मि साम्प्रतम्॥46॥
प्रहाय कामं लोभं च सुखं प्राप्तोऽस्मि साम्प्रतम्।
नाद्य लोभवशं प्राप्तो दुःखं प्राप्स्याम्यनात्मवान्॥47॥
यद् यत् त्यजति कामानां तत्सुखस्याभिपूर्यते।
कामस्य वशगो नित्यं दुःखमेव प्रपद्यते॥48॥
कामानुबन्धं नुदते यत् किञ्चित् पुरुषो रजः।
कामक्रोधोद्भवं दुःखमह्रीररतिरेव च॥49॥
एष ब्रह्मप्रतिष्ठोऽहं ग्रीष्मे शीतमिव ह्रदम्।
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखं मामेति केवलम्॥50॥
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥51॥
आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी॥52॥
एतां बुद्धिं समास्थाय मद्भिर्निर्वेदमागतः।
सर्वान् कामान् परित्यज्य प्राप्य ब्रह्म महत्सुखम्॥53॥
दम्यनाशकृते मद्भिरमृतत्वं किलागमत्।
अच्छिनत् काममूलं स तेन प्राप महत्सुखम्॥54॥

मैं सदा सन्तुष्ट एवं स्वस्थ इन्द्रियों से सम्पन्न रहकर भाग्यवश जो कुछ मिल जाए, उसी से जीवन निर्वाह करता रहूँगा; परन्तु तुझे सफल न होने दूँगा; क्योंकि तू मेरा शत्रु है॥44॥ तू यह अच्छी तरह समझ ले कि मुझे वैराग्य, सुख, तृप्ति, शान्ति, सत्य, दम, क्षमा और समस्त प्राणियों के प्रति दया भाव—ये सभी सद्गुण प्राप्त हो गये हैं॥45॥ अतः काम, लोभ, तृष्णा और कृपणता को चाहिये कि वे मोक्ष की ओर प्रस्थान करने वाले मुझ साधक को छोड़कर चले जाएँ। अब मैं सत्त्वगुण में स्थित हो गया हूँ॥46॥ इस समय काम और लोभ का त्याग करके मैं प्रत्यक्ष ही सुखी हो गया हूँ; अतः अजितेन्द्रिय पुरुष की भाँति अब लोभ में फँस कर दुःख नहीं उठाऊंगा॥47॥ मनुष्य जिस-जिस कामना को छोड़ देता है, उस-उस की ओर से सुखी हो जाता है। कामना के वशीभूत होकर तो वह सर्वदा दुःख ही पाता है॥48॥ मनुष्य काम से सम्बन्ध रखने वाले जो कुछ भी रजोगुण हो, उसे दूर कर दे। दुःख, निर्लज्जता और असन्तोष—ये

काम और क्रोध से ही उत्पन्न होने वाले हैं।।49।। जैसे ग्रीष्म ऋतु में लोग शीतल जल वाले सरोवर में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार अब मैं परब्रह्म में प्रतिष्ठित हो गया हूँ। अब मुझे केवल सुख ही सुख मिल रहा है।।50।। इस लोक में जो विषयों का सुख है तथा परलोक में जो दिव्य एवं महान् सुख है, ये दोनों प्रकार के सुख तृष्णा के क्षय से होने वाले सुख की सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं हैं।।51।। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और ममता—ये देहधारियों के सात शत्रु हैं। इनमें सातवाँ कामरूप शत्रु सबसे प्रबल है। उन सबके साथ इस महान् शत्रु काम का नाश करके मैं अविनाशी ब्रह्मपुर में स्थित हो राजा के समान सुखी होऊँगा'।।52।। राजन्! इसी बुद्धि का आश्रय लेकर मङ्कि धन और भोगों से विरक्त हो गये और समस्त कामनाओं का परित्याग करके उन्होंने परमानन्द स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त कर लिया।।53।। बछड़ों के नाश को निमित्त बनाकर ही मङ्कि अमृतत्व को प्राप्त हो गए। उन्होंने काम की जड़ काट डाली; इसीलिए महान् सुख प्राप्त कर लिया।।54।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मङ्किगीतायां
सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 177 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में मङ्कि गीता विषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ।।177।।

मङ्किगीता सम्पूर्णा

बोध्यगीता

प्रथमोऽध्यायः

शम, वैराग्य एवं शान्ति प्राप्ति हेतु बोध्य का राजा ययाति को उपदेश

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं विदेहराजेन जनकेन प्रशाम्यता॥1।।
अनन्तमिव मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन॥2।।
अत्रैवोदाहरन्तीमं बोध्यस्य पदसञ्चयम्।
निर्वेदं प्रति विन्यस्तं तं निबोध युधिष्ठिर॥3।।
बोध्यं शान्तमृषिं राजा नाहुषः पर्यपृच्छत।
निर्वेदाच्छान्तिमापन्नं शास्त्रप्रज्ञानतर्पितम्॥4।।
उपदेशं महाप्राज्ञ शमस्योपदिशस्व मे।
कां बुद्धिं समनुध्याय शान्तश्चरसि निर्वृतः॥5।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इसी विषय में शान्त भाव को प्राप्त हुए विदेहराज जनक ने जो उद्‌गार प्रकट किया था, उसी प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है।।1।। (जनक बोले—)मेरे पास अनन्त सा धन-वैभव है; फिर भी मेरा कुछ नहीं है। इस मिथिलापुरी में आग लग जाए तो भी मेरा कुछ नहीं जलता।।2।। युधिष्ठिर! इसी प्रसङ्ग में वैराग्य को लक्ष्य करके बोध्य मुनि ने जो वचन कहे हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो।।3।। कहते हैं, किसी समय नहुषनन्दन राजा ययाति ने वैराग्य से शान्त भाव को प्राप्त हुए शास्त्र के उत्कृष्ट ज्ञान से परितृप्त परम शान्त बोध्य ऋषि से पूछा—।।4।। 'महाप्राज्ञ! आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे मुझे शान्ति मिले। कौन-सी ऐसी बुद्धि है, जिसका आश्रय लेकर आप शान्ति और सन्तोष के साथ विचरते हैं?'।।5।।

बोध्य उवाच

उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कञ्चन।
लक्षणं तस्य वक्ष्येऽहं तत् स्वयं परिमृश्यताम्॥6।।
पिङ्गला कुररः सर्पः सारङ्गान्वेषणं वने।
इषुकारः कुमारी च षडेते गुरवो मम॥7।।

बोध्य ने कहा—राजन्! मैं किसी को उपदेश नहीं देता बल्कि स्वयं दूसरों से प्राप्त हुए उपदेश के अनुसार आचरण करता हूँ। मैं अपने को मिले हुए उपदेश का लक्षण

बता रहा हूँ (जिनसे उपदेश मिला है, उन गुरुओं का सङ्केत मात्र कर रहा हूँ), उस पर तुम स्वयं विचार करो।।6।। पिङ्गला, कुरर पक्षी, सर्प, वन में सारङ्ग का अन्वेषण, बाण बनाने वाला और कुमारी कन्या—ये छः मेरे गुरु हैं।।7।।

भीष्म उवाच

आशा बलवती राजन्नैराश्यं परमं सुखम्।
आशां निराशां कृत्वा तु सुखं स्वपिति पिङ्गला॥8।।
सामिषं कुररं दृष्ट्वा वध्यमानं निरामिषैः।
आमिषस्य परित्यागात् कुररः सुखमेधते॥9।।
गृहारम्भो हि दुःखाय न सुखाय कदाचन।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते॥10।।
सुखं जीवन्ति मुनयो भैक्ष्यवृत्तिं समाश्रिताः।
अद्रोहेणैव भूतानां सारङ्गा इव पक्षिणः॥11।।
इषुकारो नरः कश्चिदिषावासक्तमानसः।
समीपेनापि गच्छन्तं राजानं नावबुद्धवान्॥12।।
बहूनां कलहो नित्यं द्वयोः सङ्कथनं ध्रुवम्।
एकाकी विचरिष्यामि कुमारीशङ्खको यथा॥13।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! बोध्य को अपने गुरुओं से जो उपदेश प्राप्त हुआ था, वह इस प्रकार समझना चाहिए—आशा बड़ी प्रबल है। वही सबको दुःख देती है। निराशा ही परम सुख है। आशा को निराशा के रूप में परिणत करके पिङ्गला वेश्या सुख से सो गयी (पिङ्गला आशा के त्याग का उपदेश देने के कारण गुरु हुई)।।8।। चोंच में मांस का टुकड़ा लिए उड़ते हुए कुरर (क्रौञ्च) पक्षी को देखकर दूसरे पक्षी जो मांस नहीं लिए हुए थे, उसे मारने लगे। तब उसने उस मांस के टुकड़े को त्याग दिया। अतः पक्षियों ने उसका पीछा करना छोड़ दिया। इस प्रकार आमिष के त्याग से क्रौंच पक्षी सुखी हो गया। भोगों के परित्याग का उपदेश देने के कारण कुरर (क्रौंच) पक्षी गुरु हुआ।।9।। घर बनाने का खटपट करना दुःख का ही कारण है। उससे कभी सुख नहीं मिलता। देखो, साँप दूसरों के बनाये हुए घर (बिल) में प्रवेश करके सुख से रहता है (अतः अनिकेत रहने—घर-द्वार के चक्कर में न पड़ने का उपदेश देने के कारण सर्प गुरु हुआ)।।10।। जिस प्रकार पपीहा पक्षी किसी प्राणी से वैर न करके याचना वृत्ति से अपना निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार मुनिजन भिक्षावृत्ति का आश्रय लेकर सुख से जीवन व्यतीत करते हैं (अद्रोह का उपदेश देने के कारण पपीहा गुरु हुआ)।।11।। एक बार एक बाण बनाने वाले को देखा गया, वह अपने काम में ऐसा दत्तचित्त था कि उसके पास से निकली हुई राजा की सवारी का भी उसे कुछ पता नहीं चला (उसके द्वारा एकाग्रचित्तता का उपदेश प्राप्त हुआ; इसलिए वह गुरु हो गया)।।12।। बहुत मनुष्य एक साथ रहें तो उनमें प्रतिदिन कलह होता है और दो रहें तो भी उनमें बातचीत तो अवश्य

ही होती है; अत: मैं कुमारी कन्या के हाथ में धारण की हुई शङ्ख की एक-एक चूड़ी के समान अकेला ही विचरूंगा[1]।।13।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि बोध्यगीतायां
अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्याय:॥ 178 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में बोध्य गीता विषयक एक सौ अट्ठात्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ।।178।।

बोध्यगीता सम्पूर्णा

1. एक गृहस्थ के घर पर कुछ अतिथि आ गये। घर के सब लोग कहीं बाहर चले गये थे। भीतर केवल एक कुमारी कन्या थी, जिस पर अतिथियों के भोजन आदि का भार आ पड़ा। वह उनके निमित्त रसोई बनाने के लिए धान कूटने लगी। उसके हाथों में शङ्ख की बनी हुई कई चूड़ियाँ थीं, जो धान कूटते समय खनखना उठीं। अतिथियों को इस बात का पता न चल जाए; इसलिए एक-एक करके उसने चूड़ियाँ निकाल लीं, दोनों हाथों में केवल एक-एक चूड़ी ही शेष रह गयी; फिर उनका बजना बन्द हो गया। इस तरह एकाकी रहने का उपदेश देने के कारण वह कुमारी गुरु हुई।

आजगरगीता

प्रथमोऽध्यायः

प्रह्लाद और अवधूत का संवाद वैराग्य साधिका आजगर वृत्ति की प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वीतशोकश्चरेन्महीम्।
किञ्च कुर्वन्नरो लोके प्राप्नोति गतिमुत्तमाम्॥1।।

राजा युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! आप सदाचार के स्वरूप को जानने वाले हैं। कृपया यह बताइये, किस तरह के आचार को अपना कर मनुष्य शोकरहित हो इस पृथ्वी पर विचरण कर सकता है? और इसी जगत् में कौन-सा कर्म करके वह उत्तम गति पा सकता है?।।1।।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च॥2।।
चरन्तं ब्राह्मणं कञ्चित् कल्पचित्तमनामयम्।
पप्रच्छ राजा प्रह्लादो बुद्धिमान् बुद्धिसम्मतम्॥3।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इस विषय में भी प्रह्लाद तथा अजगर वृत्ति से रहने वाले एक मुनि के संवाद रूप प्राचीन इतिहास का दृष्टान्त दिया जाता है।।2।। एक सुदृढ़ चित्त, दुःख-शोक से रहित तथा बुद्धि सम्मत ब्राह्मण को पृथ्वी पर विचरते देख बुद्धिमान् राजा प्रह्लाद ने उससे इस प्रकार पूछा।।3।।

प्रह्लाद उवाच

स्वस्थः शक्तो मृदुर्दान्तो निर्विधित्सोऽनसूयकः।
सुवाक्प्रगल्भो मेधावी प्राज्ञश्चरसि बालवत्॥4।।
नैव प्रार्थयसे लाभं नालाभेष्वनुशोचसि।
नित्यतृप्त इव ब्रह्मन् न किञ्चिदिव मन्यसे॥5।।
स्रोतसा ह्रियमाणासु प्रजासु विमना इव।
धर्मकामार्थकार्येषु कूटस्थ इव लक्ष्यसे॥6।।
नानुतिष्ठसि धर्मार्थौ न कामे चापि वर्तसे।
इन्द्रियार्थाननादृत्य मुक्तश्चरसि साक्षिवत्॥7।।
का नु प्रज्ञा श्रुतं वा किं वृत्तिर्वा का नु ते मुने।
क्षिप्रमाचक्ष्व मे ब्रह्मन् श्रेयो यदिह मन्यसे॥8।।

प्रह्लाद बोले—ब्रह्मन्! आप स्वस्थ, शक्तिमान, मृदु, जितेन्द्रिय, कर्मारम्भ से दूर रहने वाले, दूसरों के दोषों पर दृष्टि न डालने वाले, सुन्दर और मधुर वचन बोलने वाले, निर्भीक, प्रतिभाशाली, मेधावी तथा तत्त्वज्ञ होकर भी बालकों के समान विचर रहे हैं।।4।। न आप कोई लाभ चाहते हैं और न हानि होने पर उसके लिए ही शोक करते हैं। ब्रह्मन्! आप नित्य तृप्त से रहते हुए न किसी वस्तु को प्रिय मानते हैं और न अप्रिय।।5।। सारी प्रजा काम-क्रोध आदि के प्रवाह में पड़कर बही जा रही है; परन्तु आप उधर से उदासीन जैसे जान पड़ते हैं तथा धर्म, अर्थ एवं काम सम्बन्धी कार्यों के प्रति भी निश्चेष्ट से दिखायी देते हैं।।6।। धर्म और अर्थ सम्बन्धी कार्यों का आप अनुष्ठान नहीं करते हैं, काम में भी आपकी प्रवृत्ति नहीं है। आप इन्द्रियों के सम्पूर्ण विषयों की उपेक्षा करके साक्षी के समान मुक्त रूप से विचरते हैं।।7।। मुने! आपके पास कौन-सी ऐसी बुद्धि, कैसा शास्त्र ज्ञान अथवा कौन-सी वृत्ति है, जिससे आपका जीवन ऐसा बन गया है? ब्रह्मन्! आपके मत से इस जगत् में मेरे लिए जो श्रेय का साधन हो, उसे शीघ्र बतावें।।8।।

भीष्म उवाच

अनुयुक्तः स मेधावी लोकधर्मविधानवित्।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा प्रह्लादमनपार्थया॥9।।
पश्य प्रह्लाद भूतानामुत्पत्तिमनिमित्ततः।
ह्रासं वृद्धिं विनाशं च न प्रहृष्ये न च व्यथे॥10।।
स्वभावादेव संदृश्या वर्तमानाः प्रवृत्तयः।
स्वभावनिरताः सर्वाः परितुष्येन्न केनचित्॥11।।
पश्य प्रह्लाद संयोगान् विप्रयोगपरायणान्।
सञ्चयांश्च विनाशान्तान् न क्वचिद् विदधे मनः॥12।।
अन्तवन्ति च भूतानि गुणयुक्तानि पश्यतः।
उत्पत्तिनिधनज्ञस्य किं कार्यमवशिष्यते॥13।।
जलजानामपि ह्यन्तं पर्यायेणोपलक्षये।
महतामपि कायानां सूक्ष्माणां च महोदधौ॥14।।
जङ्गमस्थावराणां च भूतानामसुराधिप।
पार्थिवानामपि व्यक्तं मृत्युं पश्यामि सर्वशः॥15।।
अन्तरिक्षचराणां च दानवोत्तम पक्षिणाम्।
उत्तिष्ठते यथाकालं मृत्युर्बलवतामपि॥16।।
दिवि सञ्चरमाणानि ह्रस्वानि च महान्ति च।
ज्योतींष्यपि यथाकालं पतमानानि लक्षये॥17।।
इति भूतानि सम्पश्यन्ननुषक्तानि मृत्युना।
सर्वसामान्यगो विद्वान्कृतकृत्यः सुखं स्वपे॥18।।
सुमहान्तमपि ग्रासं ग्रसे लब्धं यदृच्छया।

शये पुनरभुञ्जानो दिवसानि बहून्यपि॥19॥
आशयन्त्यपि मामन्नं पुनर्बहुगुणं बहु।
पुनरल्पं पुनःस्तोकं पुनर्नैवोपपद्यते॥20॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! प्रह्लाद के इस प्रकार पूछने पर लोक धर्म के विधान को जानने वाले उन मेधावी मुनि ने उनसे मधुर एवं सार्थक वाणी में इस प्रकार कहा—॥9॥ 'प्रह्लाद! देखो, इस जगत् के प्राणियों की उत्पत्ति, वृद्धि, ह्रास और विनाश कारण रहित सत्स्वरूप परमात्मा से ही हुए हैं; इस कारण मैं उनके लिए न तो हर्ष प्रकट करता हूँ और न व्यथित ही होता हूँ॥10॥ ऐसा समझना चाहिए, पूर्वकृत कर्मानुसार बने हुए स्वभाव से ही प्राणियों की वर्तमान प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई हैं; अतः समस्त प्रजा स्वभाव में ही तत्पर है, उनका दूसरा कोई आश्रय नहीं है। इस रहस्य को समझकर मनुष्य को किसी भी परिस्थिति में सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये॥11॥ प्रह्लाद! देखो, जितने संयोग हैं, उनका पर्यवसान वियोग में ही होता है और जितने संयोग हैं, उनकी समाप्ति विनाश में ही होती है। यह सब देखकर मैं कहीं भी अपने मन को नहीं लगाता हूँ॥12॥ जो गुणयुक्त सम्पूर्ण भूतों को नाशवान् देखता है तथा उत्पत्ति और प्रलय के तत्त्व को जानता है, उसके लिए यहाँ कौन-सा कार्य अवशिष्ट रह जाता है?॥13॥ महासागर के जल में पैदा होने वाले विशाल शरीर वाले तिमि आदि मत्स्यों तथा छोटे-छोटे कीड़ों का भी बारी-बारी से विनाश होता देखता हूँ॥14॥ असुरराज! पृथ्वी पर भी जितने स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, उन सबकी मृत्यु मुझे स्पष्ट दिखायी दे रही है॥15॥ दानवश्रेष्ठ! आकाश में विचरने वाले बलवान् पक्षियों के समक्ष भी यथासमय मृत्यु आ पहुँचती है॥16॥ आकाश में जो छोटे-बड़े ज्योतिर्मय नक्षत्र विचार रहे हैं, उन्हें भी मैं यथासमय नीचे गिरते देखता हूँ॥17॥ इस प्रकार सारे प्राणियों को मैं मृत्यु के पाश में बद्ध देखता हूँ; इसलिए तत्त्व को जानकर कृतकृत्य हो सबके प्रति समान भाव रखता हुआ सुख से सोता हूँ॥18॥ यदि दैवेच्छा से अकस्मात् अधिक भोजन प्राप्त हो जाए तो मैं बहुत खा लेता हूँ, ग्रास मात्र मिले तो उसी में सन्तुष्ट रहता हूँ और न मिला तो बहुत दिनों तक बिना खाये पीये भी सो रहता हूँ॥19॥ फिर कितने ही लोग आकर मुझे अनेक गुणों से सम्पन्न बहुत-सा अन्न खिला देते हैं। पुनः कभी बहुत थोड़ा, कभी थोड़े-से भी थोड़ा भोजन मिलता है और कभी वह भी नहीं मिलता॥20॥

कणं कदाचित् खादामि पिण्याकमपि च ग्रसे।
भक्षये शालिमांसानि भक्षांश्चोच्चावचान् पुनः॥21॥
शये कदाचित् पर्यङ्के भूमावपि पुनः शये।
प्रासादे चापि मे शय्या कदाचिदुपपद्यते॥22॥
धारयामि च चीराणि शाणक्षौमाजिनानि च।
महार्हाणि च वासांसि धारयाम्यहमेकदा॥23॥
न सन्निपतितं धर्म्यमुपभोगं यदृच्छया।
प्रत्याचक्षे न चाप्येनमनुरुध्ये सुदुर्लभम्॥24॥

अचलमनिधनं शिवं विशोकं शुचिमतुलं विदुषां मते प्रविष्टम्।
अनभिमतमसेवितं विमूढैर्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥25॥
अचलितमतिरच्युतः स्वधर्मात् परिमितसंसरणः परावरज्ञः।
विगतभयकषायलोभमोहो व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥26॥
अनियतफलभक्ष्यभोज्यपेयं विधिपरिणामविभक्तदेशकालम्।
हृदयसुखमसेवितं कदर्यैर्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥27॥
इदमिदमिति तृष्णयाभिभूतं जनमनवाप्तधनं विषीदमानम्।
निपुणमनुनिशम्य तत्त्वबुद्ध्या व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥28॥
बहुविधमनुदृश्य चार्थहेतोः कृपणमिहार्यमनार्यमाश्रयन्तम्।
उपशमरुचिरात्मवान् प्रशान्तो व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥29॥
सुखमसुखमलाभमर्थलाभं रतिमरतिं मरणं च जीवितं च।
विधिनियतमवेक्ष्य तत्त्वतोऽहं व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥30॥

कभी चावल की कनी खाता हूँ, कभी तिल की खली ही खाकर रह जाता हूँ और कभी अगहनी के चावल का भात भरपेट खाता हूँ। इस प्रकार मुझे बढ़िया-घटिया सभी तरह के भोजन बारम्बार प्राप्त होते रहते हैं॥21॥ कभी पलङ्ग पर सोता हूँ, कभी पृथ्वी पर ही पड़ा रहता हूँ और कभी-कभी मुझे महल के भीतर बिछी हुई बहुमूल्य शय्या भी उपलब्ध हो जाती है॥22॥ मैं कभी तो चिथड़े अथवा वल्कल पहनकर रहता हूँ, कभी सन के, कभी रेशम के और कभी मृगचर्म के वस्त्र धारण करता हूँ तथा किसी एक काल में बहुत-से बहुमूल्य वस्त्रों को भी पहन लेता हूँ॥23॥ यदि दैववश मुझे कोई धर्मानुकूल भोग्य पदार्थ प्राप्त हो जाए तो मैं उससे द्वेष नहीं करता हूँ और प्राप्त न होने पर किसी दुर्लभ भोग की भी कभी इच्छा नहीं करता॥24॥ मैं सदा पवित्र भाव से रहकर इस अजगर वृत्ति का अनुसरण करता हूँ। यह अत्यन्त सुदृढ़, मृत्यु से दूर रखने वाली, कल्याणमय, शोकहीन, शुद्ध, अनुपम और विद्वानों के मत के अनुकूल है। मूर्ख मनुष्य न तो इसे मानते हैं और न इसका सेवन ही करते हैं॥25॥ मेरी बुद्धि अविचल है, मैं अपने धर्म से च्युत नहीं हुआ हूँ, मेरा सांसारिक व्यवहार परिमित हो गया है, मुझे उत्तम और अधम का ज्ञान है, मेरे हृदय से भय, राग-द्वेष, लोभ और मोह दूर हो गए हैं तथा पवित्र भाव से रहकर इस अजगरोचित व्रत का आचरण करता हूँ॥26॥ यह अजगर सम्बन्धी व्रत मेरे हृदय को सुख देने वाला है। इसमें भक्ष्य, भोज्य, पेय और फल आदि के मिलने की कोई नियत व्यवस्था नहीं रहती—अनियत रूप से जो कुछ मिल जाए, उसी से निर्वाह करना होता है। इस व्रत में प्रारब्ध के परिणाम के अनुसार देश और काल का विभाग नियत है। विषयलोलुप नीच पुरुष इसका सेवन नहीं करते, मैं पवित्र भाव से इसी व्रत का आचरण करता हूँ॥27॥ जो यह मिले, वह मिले, इस प्रकार तृष्णा से दबे रहते हैं और धन न मिलने के कारण निरन्तर विषाद करते हैं; ऐसे लोगों की दशा अच्छी तरह देखकर तात्त्विक बुद्धि से सम्पन्न हुआ मैं पवित्र भाव से इस आजगर व्रत का आचरण करता हूँ॥28॥ मैं बारम्बार देखता हूँ कि श्रेष्ठ मनुष्य भी धन के लिए दीन भाव से नीच पुरुष का आश्रय लेते हैं। यह देखकर मेरी रुचि प्रशान्त हो गई है। अतः मैं

अपने स्वरूप को प्राप्त और सर्वथा शान्त हो गया हूँ और पवित्र भाव से इस आजगर व्रत का आचरण करता हूँ।।29।। सुख-दुःख, लाभ-हानि, अनुकूल और प्रतिकूल तथा जीवन और मरण—ये सब दैव के अधीन हैं। इस प्रकार यथार्थ रूप से जानकर मैं शुद्ध भाव से इस आजगर व्रत का आचरण करता हूँ।।30।।

अपगतभयरागमोहदर्पो धृतिमतिबुद्धिसमन्वितः प्रशान्तः।
उपगतफलभोगिनो निशम्य व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥31।।
अनियतशयनासनः प्रकृत्या दमनियमव्रतसत्यशौचयुक्तः।
अपगतफलसञ्चयः प्रहृष्टो व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥32।।
अपगतमसुखार्थमीहनार्थैरुपगतबुद्धिरवेक्ष्य चात्मसंस्थम्।
तृषितमनियतं मनो नियन्तुं व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥33।।
न हृदयमनुरुध्य वाङ्मनो वा प्रियसुखदुर्लभतामनित्यतां च।
तदुभयमुपलक्षयन्निवाह व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥34।।
बहुकथितमिदं हि बुद्धिमद्भिः कविभिरपि प्रथयद्भिरात्मकीर्तिम्।
इदमिदमिति तत्र तत्र हन्त स्वपरमतैर्गहनं प्रतर्कयद्भिः॥35।।
तदिदमनुनिशम्य विप्रपातं पृथगभिपन्नमिहाबुधैर्मनुष्यैः।
अनवसितमनन्तदोषपारं नृषु विहरामि विनीतदोषतृष्णः॥36।।

मेरे भय, राग, मोह और अभिमान नष्ट हो गए हैं। मैं धृति, मति और बुद्धि से सम्पन्न एवं पूर्णतया शान्त हूँ। और प्रारब्धवश स्वतः अपने समीप आयी हुई वस्तु का ही उपभोग करने वालों को देखकर मैं पवित्र भाव से इस आजगर व्रत का आचरण करता हूँ।।31।। मेरे सोने-बैठने का कोई नियत स्थान नहीं है। मैं स्वभावतः दम, नियम, व्रत, सत्य और शौचाचार से सम्पन्न हूँ। मेरे कर्म फल सञ्चय का नाश हो चुका है। मैं प्रसन्नतापूर्वक पवित्र भाव से इस आजगर व्रत का आचरण करता हूँ।।32।। जिनका परिणाम दुःख है, उन इच्छा के विषयभूत समस्त पदार्थों से जो विरक्त हो चुका है, ऐसे आत्मनिष्ठ महापुरुष को देखकर मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है। अतः मैं तृष्णा से व्याकुल असंयत मन को वश में करने के लिए पवित्र भाव से इस आजगर व्रत का आचरण करता हूँ।।33।। मन, वाणी और बुद्धि की उपेक्षा करके इनको प्रिय लगने वाले विषय सुखों की दुर्लभता तथा अनित्यता इन दोनों को देखने वाले की भाँति मैं पवित्र भाव से इस आजगर व्रत का आचरण करता हूँ।।34।। अपनी कीर्ति का विस्तार करने वाले विद्वानों और बुद्धिमानों ने अपने और दूसरों के मत से गहन तर्क और वितर्क करके 'ऐसे करना चाहिये' 'ऐसे करना चाहिये' इत्यादि कह कर इस व्रत की अनेक प्रकार से व्याख्या की है।।35।। मूर्ख लोग इस अजगर वृत्ति को सुनकर इसे पहाड़ की चोटी से गिरने की भाँति भयङ्कर समझते हैं। परन्तु उनकी वह मान्यता भिन्न है। मैं इस अजगर वृत्ति को अज्ञान का नाशक और समस्त दोषों से रहित मानता हूँ। अतः दोष और तृष्णा का त्याग करके मनुष्यों में विचरता हूँ।।36।।

भीष्म उवाच

अजगरचरितं व्रतं महात्मा य इह नरोऽनुचरेद् विनीतरागः।
अपगतभयलोभमोहमन्युः स खलु सुखी विचरेदिमं विहारम्॥37॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! जो महापुरुष राग, भय, लोभ, मोह और क्रोध को त्यागकर इस आजगर व्रत का पालन करता है, वह इस लोक में सानन्द विचरण करता है॥37॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि आजगरप्रह्लादसंवादे एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 179 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में अजगर वृत्ति से रहने वाले मुनि और प्रह्लाद का संवाद विषयक एक सौ उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥179॥

आजगरगीता सम्पूर्णा

शृगालगीता

प्रथमोऽध्यायः

सद्‌बुद्धि का आश्रय लेकर आत्महत्यादि पापकर्म से निवृत्त होने के सम्बन्ध में काश्यप ब्राह्मण और इन्द्र का संवाद

युधिष्ठिर उवाच

बान्धवाः कर्म वित्तं वा प्रज्ञा वेह पितामह।
नरस्य का प्रतिष्ठा स्यादेतत् पृष्टो वदस्व मे॥1॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! अब मेरे प्रश्न के अनुसार मुझे यह बताइये कि मनुष्य को बन्धुजन, कर्म, धन अथवा बुद्धि—इनमें से किसका आश्रय लेना चाहिये?॥1॥

भीष्म उवाच

प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां प्रज्ञा लाभः परो मतः।
प्रज्ञा निःश्रेयसी लोके प्रज्ञा स्वर्गो मतः सताम्॥2॥
प्रज्ञया प्रापितार्थो हि बलिरैश्वर्यसङ्क्षये।
प्रह्लादो नमुचिर्मङ्किस्तस्याः किं विद्यते परम्॥3॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
इन्द्रकाश्यपसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर॥4॥
वैश्यः कश्चिदृषिसुतं काश्यपं संशितव्रतम्।
रथेन पातयामास श्रीमान् दृप्तस्तपस्विनम्॥5॥
आर्तः स पतितः क्रुद्धस्त्यक्त्वाऽऽत्मानमथाब्रवीत्।
मरिष्याम्यधनस्येह जीवितार्थो न विद्यते॥6॥
तथा मुमूर्षुमासीनमकूजन्तमचेतसम्।
इन्द्रः शृगालरूपेण बभाषे लुब्धमानसम्॥7॥
मनुष्ययोनिमिच्छन्ति सर्वभूतानि सर्वशः।
मनुष्यत्वे च विप्रत्वं सर्व एवाभिनन्दति॥8॥
मनुष्यो ब्राह्मणश्चासि श्रोत्रियश्चासि काश्यप।
सुदुर्लभमवाप्यैतन्न दोषान् मर्तुमर्हसि॥9॥
सर्वे लाभाः साभिमाना इति सत्यवती श्रुतिः।
सन्तोषणीयरूपोऽसि लोभाद् यदभिमन्यसे॥10॥
अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः।
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणयः॥11॥

पाणिमद्भ्यः स्पृहास्माकं यथा तव धनस्य वै।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते॥12॥

भीष्मजी ने कहा—राजन्! प्राणियों का प्रधान आश्रय बुद्धि है। बुद्धि ही उनका सबसे बड़ा लाभ है। संसार में बुद्धि ही उनका कल्याण करने वाली है। सत्पुरुषों के मत में बुद्धि ही स्वर्ग है॥2॥ राजा बलि ने अपना ऐश्वर्य क्षीण हो जाने पर पुनः उसे बुद्धि बल से ही पाया था। प्रह्लाद, नमुचि और मङ्कि ने भी बुद्धि बल से ही अपना-अपना अर्थ सिद्ध किया था। संसार में बुद्धि से बढ़कर और क्या है?॥3॥ युधिष्ठिर! इस विषय में विज्ञ पुरुष इन्द्र और काश्यप के संवाद रूप प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो॥4॥ कहते हैं, पूर्व काल में धन के अभिमान से मतवाले हुए किसी धनी वैश्य ने कठोर व्रत का पालन करने वाले तपस्वी ऋषिकुमार काश्यप को अपने रथ से धक्के देकर गिरा दिया॥5॥ वे पीड़ा से कराहकर गिर पड़े और कुपित होकर आत्महत्या के लिए उद्यत हो इस प्रकार बोले—'अब मैं प्राण दे दूँगा; क्योंकि इस संसार में निर्धन मनुष्य का जीवन व्यर्थ है'॥6॥ उन्हें इस प्रकार मरने की इच्छा लेकर बैठे मूर्च्छा से अचेत हो कुछ न बोलते और मन-ही-मन धन के लिए ललचाते देखकर इन्द्रदेव सियार का रूप धारण करके आये और उनसे इस प्रकार कहने लगे—॥7॥ 'मुने! सभी प्राणी सब प्रकार से मनुष्य योनि पाने की इच्छा रखते हैं। उसमें भी ब्राह्मणत्व की प्रशंसा तो सभी लोग करते हैं॥8॥ काश्यप! आप तो मनुष्य हैं, ब्राह्मण हैं और श्रोत्रिय भी हैं। ऐसा परम दुर्लभ शरीर पाकर आपको उसमें दोष दृष्टि करके स्वयं ही मरने के लिए उद्यत होना उचित नहीं है॥9॥ संसार में जितने लाभ है, वे सभी अभिमानपूर्ण हैं, ऐसा सत्य अर्थ का प्रतिपादन करने वाली श्रुति का कथन है (अर्थात् मैंने यह लाभ अपने पुरुषार्थ से किया है, ऐसा अहङ्कार प्रायः सभी मनुष्य कर लेते हैं)। आपका स्वरूप तो सन्तोष रखने के योग्य है। आप लोभवश ही उसकी अवहेलना करते हैं॥10॥ अहो! जिनके पास भगवान् के दिए हुए हाथ हैं, उनको तो मैं कृतार्थ मानता हूँ। इस जगत् में जिनके पास एक से अधिक हाथ हैं, उनके जैसा सौभाग्य पाने की इच्छा मुझे बारम्बार होती है॥11॥ जैसे आपके मन में धन की लालसा है, उसी प्रकार हम पशुओं को हाथ वाले मनुष्यों से हाथ पाने की अभिलाषा रहती है। हमारी दृष्टि में हाथ मिलने से अधिक दूसरा कोई लाभ नहीं॥12॥

अपाणित्वाद् वयं ब्रह्मन् कण्टकं नोद् वरामहे।
जन्तूनुच्चावचानङ्गे दशतो न कषाम वा॥13॥
अथ येषां पुनः पाणी देवदत्तौ दशाङ्गुली।
उद्धरन्ति कृमीनङ्गाद् दशतो निकषन्ति च॥14॥
वर्षाहिमातपानां च परित्राणानि कुर्वते।
चैलमन्नं सुखं शय्यां निवातं चोपभुञ्जते॥15॥
अधिष्ठाय च गां लोके भुञ्जते वाहयन्ति च।
उपायैर्बहुभिश्चैव वश्यानात्मनि कुर्वते॥16॥

ये खल्वजिह्वाः कृपणा अल्पप्राणा अपाणयः।
सहन्ते तानि दुःखानि दिष्ट्या त्वं न तथा मुने॥17।।
दिष्ट्या त्वं न शृगालो वै न कृमिर्न च मूषकः।
न सर्पो न च मण्डूको न चान्यः पापयोनिजः॥18।।
एतावतापि लाभेन तोष्टुमर्हसि काश्यप।
किं पुनर्योऽसि सत्त्वानां सर्वेषां ब्राह्मणोत्तमः॥19।।
इमे मां कृमयोऽदन्ति येषामुद्धरणाय वै।
नास्ति शक्तिरपाणित्वात् पश्यावस्थामिमां मम॥20।।
अकार्यमिति चैवेमं नात्मानं सन्त्यजाम्यहम्।
नातः पापीयसीं योनिं पतेयमपरामिति॥21।।
मध्ये वै पापयोनीनां शार्गालीं यामहं गतः।
पापीयस्यो बहुतरा इतोऽन्याः पापयोनयः॥22।।

ब्रह्मन्! हमारे शरीर में काँटे गड़ जाते हैं; परन्तु हाथ न होने से हम उन्हें निकाल नहीं पाते हैं। जो छोटे-बड़े जीव-जन्तु हमारे शरीर में डँसते हैं, उनको भी हम हटा नहीं सकते।।13।। परन्तु जिनके पास भगवान् के दिए हुए दस अङ्गुलियों से युक्त दो हाथ हैं, वे अपने अङ्गों से उन कीड़ों को हटाते या नष्ट कर देते हैं, जो उन्हें डँसते हैं।।14।। वे वर्षा, सर्दी और धूप से अपनी रक्षा कर लेते हैं, कपड़ा पहनते हैं, सुखपूर्वक अन्न खाते हैं, शय्या बिछा कर सोते हैं तथा एकान्त स्थान का उपभोग करते हैं।।15।। हाथ वाले मनुष्य बैलों से जुती हुई गाड़ी पर चढ़कर उन्हें हाँकते हैं और जगत् में उनका यथेष्ट उपभोग करते हैं तथा हाथ से ही अनेक प्रकार के उपाय करके लोगों को अपने वश में कर लेते हैं।।16।। मुने! जो दुःख बिना हाथ के दीन, दुर्बल और बेजबान प्राणी सहते हैं, सौभाग्यवश वे तो आपको नहीं सहने पड़ते हैं।।17।। आपका बड़ा भाग्य है कि आप गीदड़, कीड़ा, चूहा, साँप, मेढ़क या किसी दूसरी पाप योनियों में नहीं उत्पन्न हुए।।18।। काश्यप! आपको इतने ही लाभ से सन्तुष्ट रहना चाहिये। इससे अधिक लाभ क्या होगा कि आप सभी प्राणियों में श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं।।19।। मुझे ये कीड़े खा रहे हैं, जिन्हें निकाल फेंकने की शक्ति मुझ में नहीं है। हाथ न होने के कारण होने वाली मेरी इस दुर्दशा को आप प्रत्यक्ष देख लें।।20।। आत्महत्या करना पाप है; यह सोचकर ही मैं अपने इस शरीर का परित्याग नहीं करता हूँ। मुझे भय है कि मैं इससे भी बढ़कर किसी दूसरी पाप योनि में न गिर जाऊँ।।21।। यद्यपि मैं इस समय शृगाल योनि में हूँ, इसकी गणना भी पाप योनियों में ही है, तथापि दूसरी बहुत-सी पाप योनियाँ इससे भी नीची श्रेणी की हैं।।22।।

जात्यैवैके सुखितराः सन्त्यन्ये भृशदुःखिताः।
नैकान्तं सुखमेवेह क्वचित् पश्यामि कस्यचित्॥23।।
मनुष्या ह्याढ्यतां प्राप्य राज्यमिच्छन्त्यनन्तरम्।
राज्याद् देवत्वमिच्छन्ति देवत्वादिन्द्रतामपि॥24।।

भवेस्त्वं यद्यपि त्वाढ्यो न राजा न च दैवतम्।
देवत्वं प्राप्य चेन्द्रत्वं नैव तुष्येस्तथा सति॥25।।
न तृप्तिः प्रियलाभेऽस्ति तृष्णा नाद्धिः प्रशाम्यति।
सम्प्रज्वलति सा भूयः समिद्धिरिव पावकः॥26।।
अस्त्येव त्वयि शोकोऽपि हर्षश्चापि तथा त्वयि।
सुखदुःखे तथा चोभे तत्र का परिदेवना॥27।।
परिच्छिद्यैव कामानां सर्वेषां चैव कर्मणाम्।
मूलं बुद्धीन्द्रियग्रामं शकुन्तानिव पञ्जरे॥28।।
न द्वितीयस्य शिरसश्छेदनं विद्यते क्वचित्।
न च पाणेस्तृतीयस्य यन्नास्ति न ततो भयम्॥29।।
न खल्वप्यरसज्ञस्य कामः क्वचन जायते।
संस्पर्शाद् दर्शनाद् वापि श्रवणाद् वापि जायते॥30।।
न त्वं स्मरसि वारुण्या लङ्वाकानां च पक्षिणाम्।
ताभ्यां चाभ्यधिको भक्ष्यो न कश्चिद् विद्यते क्वचित्॥31।।
यानि चान्यानि भूतेषु भक्ष्यजातानि कस्यचित्।
येषामभुक्तपूर्वाणि तेषामस्मृतिरेव ते॥32।।
अप्राशनमसंस्पर्शमसन्दर्शनमेव च।
पुरुषस्यैष नियमो मन्ये श्रेयो न संशयः॥33।।

कुछ देवता आदि जाति से ही सुखी हैं, दूसरे पशु आदि जाति से ही अत्यन्त दुःखी हैं; परन्तु मैं कहीं किसी को ऐसा नहीं देखता, जिसको सर्वथा सुख ही सुख हो।।23।। मनुष्य धनी हो जाने पर राज्य पाना चाहते हैं, राज्य से देवत्व की इच्छा करते हैं और देवत्व से फिर इन्द्र पद प्राप्त करना चाहते हैं।।24।। यदि आप धनी हो जाएँ तो भी ब्राह्मण होने के कारण राजा नहीं हो सकते। यदि कदाचित राजा हो जाएँ तो देवता नहीं हो सकते। देवता और इन्द्र का पद भी पा जाएँ तो भी आप उतने से सन्तुष्ट नहीं रह सकेंगे।।25।। प्रिय वस्तुओं का लाभ होने से कभी तृप्ति नहीं होती। बढ़ती हुई तृष्णा जल से नहीं बुझती। ईंधन पाकर जलने वाली आग के समान वह और भी प्रज्वलित होती जाती है।।26।। तुम्हारे भीतर शोक भी है और हर्ष भी। साथ ही सुख और दुःख दोनों हैं; फिर शोक करना किस काम का?।।27।। बुद्धि और इन्द्रियाँ ही समस्त कामनाओं और कर्मों की मूल हैं। उन्हें पिंजड़े में बन्द पक्षियों की तरह अपने काबू में रखा जाए तो कोई भय नहीं है।।28।। मनुष्य को दूसरे सिर और तीसरे हाथ के कटने का कभी भय नहीं होता है। जो वास्तव में है ही नहीं, उसके कारण भय भी नहीं होता है।।29।। जो किसी विषय का रस नहीं जानता, उसके मन में कभी उसकी कामना भी नहीं होती। स्पर्श से, दर्शन से अथवा श्रवण से भी कामना का उदय होता है।।30।। वारुणी मदिरा तथा चिड़िया—इन दोनों का आप कभी स्मरण नहीं करते होंगे; क्योंकि इनको आपने नहीं खाया है; परन्तु (जो तामसी मनुष्य इनको खाते हैं उनके लिए) कहीं और कोई भी भक्ष्य पदार्थ उन दोनों से बढ़कर नहीं है।।31।। प्राणियों में किसी के भी जो अन्यान्य

भक्ष्य पदार्थ हैं, जिनका तुमने पहले उपभोग नहीं किया है, उन भोजनों की स्मृति तुमको कभी नहीं होगी।।32।। मैं ऐसा मानता हूँ कि किसी वस्तु को न खाने, न छूने और न देखने का नियम लेना ही पुरुष के लिए कल्याणकारी है, इसमें संशय नहीं।।33।।

पाणिमन्तो बलवन्तो धनवन्तो न संशयः।
मनुष्या मानुषैरेव दासत्वमुपपादिताः॥34।।
वधबन्धपरिक्लेशैः क्लिश्यन्ते च पुनः पुनः।
ते खल्वपि रमन्ते च मोदन्ते च हसन्ति च॥35।।
अपरे बाहुबलिनः कृतविद्या मनस्विनः।
जुगुप्सितां च कृपणां पापवृत्तिमुपासते॥36।।
उत्सहन्ते च ते वृत्तिमन्यामप्युपसेवितुम्।
स्वकर्मणा तु नियतं भवितव्यं तु तत् तथा॥37।।
न पुल्कसो न चाण्डाल आत्मानं त्यक्तुमिच्छति।
तया तुष्टः स्वया योन्या मायां पश्यस्व यादृशीम्॥38।।
दृष्ट्वा कुणीन् पक्षहतान् मनुष्यानामयाविनः।
सुसम्पूर्णः स्वया योन्या लब्धलाभोऽसि काश्यप॥39।।
यदि ब्राह्मण देहस्ते निरातङ्को निरामयः।
अङ्गानि च समग्राणि न च लोकेषु धिक्कृतः॥40।।
न केनचित् प्रवादेन सत्येनैवापहारिणा।
धर्मायोत्तिष्ठ विप्रर्षे नात्मानं त्यक्तुमर्हसि॥41।।
यदि ब्रह्मञ्शृणोष्येतच्छ्रद्दधासि च मे वचः।
वेदोक्तस्यैव धर्मस्य फलं मुख्यमवाप्स्यसि॥42।।
स्वाध्यायमग्निसंस्कारमप्रमत्तोऽनुपालय।
सत्यं दमं च दानं च स्पर्धिष्ठा मा च केनचित्॥43।।

जिनके दोनों हाथ बने हुए हैं, निस्सन्देह वे ही बलवान् और धनवान् हैं। मनुष्यों को तो मनुष्यों ने ही दास बना रखा है।।34।। कितने ही मनुष्य बारम्बार वध और बन्धन के क्लेश भोगते रहते हैं, परन्तु वे भी (आत्महत्या करके प्राण नहीं देते, बल्कि) आपस में क्रीड़ा करते, आनन्दित होते और हँसते हैं।।35।। दूसरे बहुत-से बाहुबल से सम्पन्न विद्वान् और मनस्वी मनुष्य दीन, निन्दित एवं पापपूर्ण वृत्ति से जीविका चलाते हैं।।36।। वे दूसरी वृत्ति का सेवन करने के लिए भी उत्साह रखते हैं; परन्तु अपने कर्म के अनुसार जो नियत है, वैसा ही भविष्य में होता है।।37।। भङ्गी अथवा चाण्डाल भी अपने शरीर को त्यागना नहीं चाहता है, वह अपनी उसी योनि से सन्तुष्ट रहता है। देखिये, भगवान् की कैसी माया है?।।38।। काश्यप! कुछ मनुष्य लूले और लङ्गड़े हैं, कुछ लोगों को लकवा मार गया है, बहुत-से मनुष्य निरन्तर रोगी ही रहते हैं। उन सबकी ओर देखकर यह कहना पड़ता है कि आप अपनी योनि के अनुसार नीरोग और परिपूर्ण अङ्ग वाले हैं। आपको मानव शरीर का लाभ मिल चुका है।।39।। ब्राह्मणदेव! यदि आपका शरीर

निर्भय और नीरोग है, आपके सारे अङ्ग ठीक हैं, किसी में कोई विकार नहीं आया है तो लोक में कोई भी आपको धिक्कार नहीं सकता—आप धिक्कार के पात्र नहीं हो सकते।।40।। यदि आप पर जाति च्युत करने वाला कोई सच्चा कलङ्क लगा हो तो भी आपको प्राण त्याग का विचार नहीं करना चाहिये। ब्रह्मर्षे! आप धर्म पालन के लिए उठ खड़े होइये।।41।। ब्रह्मन्! यदि आप मेरी बात सुनेंगे और उस पर श्रद्धा करेंगे तो आपको वेदोक्त धर्म के पालन का ही मुख्य फल प्राप्त होगा।।42।। आप सावधान होकर स्वाध्याय, अग्निहोत्र, सत्य, इन्द्रियसंयम तथा दान धर्म का पालन कीजिये। किसी के साथ स्पर्धा न कीजिये।।43।।

ये केचन स्वध्ययनाः प्राप्ता यजनयाजनम्।
कथं ते चानुशोचेयुर्ध्यायेयुर्वाप्यशोभनम्।
इच्छन्तस्ते विहाराय सुखं महदवाप्नुयुः॥44।।
उत जाताः सुनक्षत्रे सुतिथौ सुमुहूर्तजाः।
यज्ञदानप्रजेहायां यतन्ते शक्तिपूर्वकम्॥45।।
नक्षत्रेष्वासुरेष्वन्ये दुस्तिथौ दुर्मुहूर्तजाः।
सम्पतन्त्यासुरीं योनिं यज्ञप्रसववर्जिताः॥46।।
अहमासं पण्डितको हैतुको वेदनिन्दकः।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम्॥47।।
हेतुवादान् वदिता वक्ता संसत्सु हेतुमत्।
आक्रोष्टा चाभिवक्ता च ब्रह्मवाक्येषु च द्विजान्॥48।।
नास्तिकः सर्वशङ्की च मूर्खः पण्डितमानिकः।
तस्येयं फलनिर्वृत्तिः शृगालत्वं मम द्विज॥49।।
अपि जातु तथा तस्मादहोरात्रशतैरपि।
यदहं मानुषीं योनिं शृगालः प्राप्नुयां पुनः॥50।।
सन्तुष्टश्चाप्रमत्तश्च यज्ञदानतपोरतिः।
ज्ञेयज्ञाता भवेयं वै वर्ज्यवर्जयिता तथा॥51।।
ततः स मुनिरुत्थाय काश्यपस्तमुवाच ह।
अहो बतासि कुशलो बुद्धिमांश्चेति विस्मितः॥52।।
समवैक्षत तं विप्रो ज्ञानदीर्घेण चक्षुषा।
ददर्श चैनं देवानां देवमिन्द्रं शचीपतिम्॥53।।
ततः सम्पूजयामास काश्यपो हरिवाहनम्।
अनुज्ञातस्तु तेनाथ प्रविवेश स्वमालयम्॥54।।

जो ब्राह्मण स्वाध्याय में लगे रहते हैं तथा यज्ञ करते और कराते हैं, वे किसी प्रकार की चिन्ता क्यों करेंगे और कोई आत्महत्या आदि बुरी बात भी क्यों सोचेंगे? वे यदि चाहें तो यज्ञादि के द्वारा विहार करते हुए महान् सुख पा सकते हैं।।44।। जो उत्तम नक्षत्र, उत्तम तिथि और उत्तम मुहूर्त में पैदा हुए हैं, वे अपनी शक्ति के अनुसार यज्ञ एवं

दान करते और न्यायानुकूल सन्तानोत्पादन की चेष्टा भी करते हैं।।45।। दूसरे जो लोग आसुर नक्षत्र, दूषित तिथि तथा अशुभ मुहूर्त में उत्पन्न होते हैं, वे यज्ञ तथा सन्तान से रहित होकर आसुरी योनि में पड़ते हैं।।46।। पूर्वजन्म में मैं एक पण्डित था और कुतर्क का आश्रय लेकर वेदों की निन्दा करता था। प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमान को प्रधानता देने वाली थोथी तर्क विद्या पर ही उस समय मेरा अधिक अनुराग था।।47।। मैं सभाओं में जाकर तर्क और युक्ति की बातें ही अधिक बोलता। जहाँ दूसरे ब्राह्मण श्रद्धापूर्वक वेद वाक्यों पर विचार करते, वहाँ मैं बलपूर्वक आक्रमण करके उन्हें खरी-खोटी सुना देता और स्वयं ही अपना तर्कवाद बका करता था।।48।। मैं नास्तिक, सब पर सन्देह करने वाला तथा मूर्ख होकर भी अपने को पण्डित मानने वाला था। विप्रवर! यह शृगाल योनि मेरे उसी कुकर्म का फल है।।49।। अब मैं सैकड़ों दिन रातों तक साधन करके भी क्या कभी वह उपाय कर सकता हूँ, जिससे आज सियार की योनि में पड़ा हुआ मैं पुनः वह मनुष्य योनि पा सकूँ।।50।। जिस मनुष्य योनि में मैं सन्तुष्ट और सावधान रहकर यज्ञ, दान और तपस्या में लगा रह सकूँ, जिसमें मैं जानने योग्य वस्तु को जान लूँ और त्यागने योग्य वस्तु का त्याग कर दूँ।।51।। यह सुनकर काश्यप मुनि आश्चर्य से चकित होकर खड़े हो गये और बोले—'अहो! तुम तो बड़े कुशल और बुद्धिमान् हो'।।52।। ऐसा कहकर ब्रह्मर्षि ने उसी ओर ज्ञान दृष्टि से देखा। तब उसके रूप में इन्हें देवदेव शचीपति इन्द्र दिखायी दिये।।53।। तदनन्तर काश्यप ने इन्द्रदेव का पूजन किया और उनकी आज्ञा लेकर वे पुनः अपने घर को लौट गये।।54।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शृगालकाश्यपसंवादे अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 180 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में गीदड़ और काश्यप का संवाद विषयक एक सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।180।।

शृगालगीता सम्पूर्णा

कर्मफलगीता

प्रथमोऽध्यायः

शुभाशुभ कर्मों का परिणाम कर्त्ता को अवश्य भोगना पड़ता है, इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा तपस्तप्तं तथैव च।
गुरूणां वापि शुश्रूषा तन्मे ब्रूहि पितामह॥1।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! यदि दान, यज्ञ, तप अथवा गुरु शुषूषा पुण्यकर्म है और उसका कुछ फल होता है तो वह मुझे बताइये।।1।।

भीष्म उवाच

आत्मनानर्थयुक्तेन पापे निविशते मनः।
स्वकर्मकलुषं कृत्वा कृच्छ्रे लोके विधीयते॥2।।
दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात् क्लेशं भयाद्भयम्।
मृतेभ्यः प्रमृतं यान्ति दरिद्राः पापकारिणः॥3।।
उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात् स्वर्गं सुखात् सुखम्।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनाढ्याः शुभकारिणः॥4।।
व्यालकुञ्जरदुर्गेषु सर्पचोरभयेषु च।
हस्तावापेन गच्छन्ति नास्तिकाः किमतः परम्॥5।।
प्रियदेवातिथेयाश्च वदान्याः प्रियसाधवः।
क्षेम्यमात्मवतां मार्गमास्थिता हस्तदक्षिणम्॥6।।
पुलाका इव धान्येषु पुत्तिका इव पक्षिषु।
तद्विधास्ते मनुष्याणां येषां धर्मो न कारणम्॥7।।
सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति।
शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम्॥8।।
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति।
करोति कुर्वतः कर्म च्छायेवानुविधीयते॥9।।
येन येन यथा यद् यत् पुरा कर्म समीहितम्।
तत्तदेकतरो भुङ्क्ते नित्यं विहितमात्मना॥10।।

भीष्मजी ने कहा—राजन्! काम, क्रोध आदि दोषों से युक्त बुद्धि की प्रेरणा से मन पापकर्म में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार मनुष्य अपने ही कार्यों द्वारा पाप करके

दुःखमय लोक (नरक) में निवास करते हैं।।2।। पापाचारी दरिद्र मनुष्य दुर्भिक्ष से दुर्भिक्ष, क्लेश से क्लेश और भय पाते हुए मरे हुओं से भी अधिक मृतक तुल्य हो जाते हैं।।3।। जो श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, धन सम्पन्न तथा शुभ कर्म परायण होते हैं, वे उत्सव से अधिक उत्सव हो, स्वर्ग से अधिक स्वर्ग को तथा सुख से अधिक सुख को प्राप्त करते हैं।।4।। नास्तिक मनुष्यों के हाथ में हथकड़ी डालकर राजा उन्हें राज्य से दूर निकाल देता है और वे उन जङ्गलों में चले जाते हैं, जो मतवाले हाथियों के कारण दुर्गम तथा सर्प और चोर आदि के भय से भरे हुए होते हैं। इससे बढ़कर उन्हें और क्या दण्ड मिल सकता है?।।5।। जिन्हें देवपूजा और अतिथि सत्कार प्रिय है, जो उदार है तथा श्रेष्ठ पुरुष जिन्हें अच्छे लगते हैं, वे पुण्यात्मा मनुष्य अपने दाहिने हाथ के समान मङ्गलकारी एवं मन को वश में रखने वाले योगियों को ही प्राप्त होने योग्य मार्ग पर आरूढ़ होते हैं।।6।। जिनका उद्देश्य धर्म नहीं है, ऐसे मनुष्य मानव समाज के भीतर वैसे ही समझे जाते हैं, जैसे धान में थोथा पौधा और पङ्ख वाले जीवों में मच्छर।।7।। जिस-जिस मनुष्य ने जैसा कर्म किया है, वह उसके पीछे लगा रहता है। यदि कर्त्ता पुरुष शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है तो वह भी उतनी ही तेजी के साथ उसके पीछे जाता है। जब वह सोता है तो उसका कर्मफल भी उसके साथ ही सो जाता है। जब वह खड़ा होता है तो वह भी पास ही खड़ा रहता है और जब मनुष्य चलता है तो उसके पीछे-पीछे वह भी चलने लगता है। इतना ही नहीं, कोई कार्य करते समय भी कर्म संस्कार उसका साथ नहीं छोड़ता। सदा छाया के समान पीछे लगा रहता है।।8-9।। जिस-जिस मनुष्य ने अपने-अपने पूर्व जन्मों में जैसे-जैसे कर्म किए हैं, वह अपने ही किए हुए उन कर्मों का फल सदा अकेला ही भोगता है।।10।।

स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम्।
भूतग्राममिमं कालः समन्तात् परिकर्षति॥11।।
अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्वं कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम्॥12।।
सम्मानश्चावमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ।
प्रवृत्ता विनिवर्तन्ते विधानान्ते पुनः पुनः॥13।।
आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम्।
गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम्॥14।।
बालो युवा च वृद्धश्च यत् करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत् फलं प्रतिपद्यते॥15।।
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥16।।
समुन्नमग्रतो वस्त्रं पश्चाच्छुध्यति कर्मणा।
उपवासैः प्रतप्तानां दीर्घं सुखमनन्तकम्॥17।।
दीर्घकालेन तपसा सेवितेन तपोवने।
धर्मनिर्धूतपापानां सम्पद्यन्ते मनोरथाः॥18।।

शकुनानामिवाकाशे मत्स्यानामिव चोदके।
पदं यथा न दृश्येत तथा ज्ञानविदां गतिः॥19॥
अलमन्यैरुपालम्भैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः।
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः॥20॥

अपने-अपने कर्म का फल एक धरोहर के समान है, जो कर्मजनित अदृष्ट के द्वारा सुरक्षित रहता है। उपयुक्त अवसर आने पर यह काल इस कर्मफल को प्राणि समुदाय के पास खींच लाता है॥11॥ जैसे फूल और फल किसी की प्रेरणा के बिना ही अपने समय पर वृक्षों में लग जाते हैं, उसी प्रकार पहले के किए हुए कर्म भी अपने फल भोग के समय का उल्लङ्घन नहीं करते॥12॥ सम्मान-अपमान, लाभ-हानि तथा उन्नति-अवनति—ये पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार बार-बार प्राप्त होते हैं और प्रारब्ध भोग के पश्चात् निवृत्त हो जाते हैं॥13॥ दुःख अपने ही किए हुए कर्मों का फल है और सुख भी अपने ही पूर्वकृत कर्मों का परिणाम है। जीव माता की गर्भ शय्या में आते ही पूर्व शरीर द्वारा उपार्जित सुख-दुःख का उपभोग करने लगता है॥14॥ कोई बालक हो, तरुण हो या बूढ़ा हो, वह जो भी शुभाशुभ कर्म करता है, दूसरे जन्म में उसी-उसी अवस्था में उस-उस कर्म का फल उसे प्राप्त होता है॥15॥ जैसे बछड़ा हजारों गौओं में से अपनी माँ को पहचान कर उसे पा लेता है, वैसे ही पहले का किया हुआ कर्म भी अपने कर्त्ता के पास पहुँच जाता है॥16॥ जैसे पहले से क्षार आदि में भिगोया हुआ कपड़ा पीछे धोने से साफ हो जाता है, उसी प्रकार जो उपवासपूर्वक तपस्या करते हैं, उन्हें कभी समाप्त न होने वाला महान् सुख मिलता है॥17॥ तपोवन में रहकर की हुई दीर्घकाल तक की तपस्या से तथा धर्म से जिनके सारे पाप धुल गये हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ सफल हो जाते हैं॥18॥ जैसे आकाश में पक्षियों के और जल में मछलियों के चरण चिह्न दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार ज्ञानियों की गति का पता नहीं चलता॥19॥ दूसरों को उलाहने देने तथा लोगों के अन्यान्य अपराधों की चर्चा करने से कोई प्रयोजन नहीं है। जो काम सुन्दर, अनुकूल और अपने लिए हितकर जान पड़े, वही कर्म करना चाहिए॥20॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि
एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥181॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥181॥

कर्मफलगीता सम्पूर्णा

भृगुगीता

प्रथमोऽध्यायः

भरद्वाज और भृगु के संवाद में जगत् की उत्पत्ति का और विभिन्न तत्त्वों का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कुतः सृष्टमिदं विश्वं जगत् स्थवरजङ्गमम्।
प्रलये च कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह॥1।।
ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः।
सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयं केन निर्मितः॥2।।
कथं सृष्टानि भूतानि कथं वर्णविभक्तयः।
शौचाशौचं कथं तेषां धर्माधर्मविधिः कथम्॥3।।
कीदृशो जीवतां जीवः क्व वा गच्छन्ति ये मृताः।
अस्माल्लोकादमुं लोकं सर्वं शंसतु नो भवान्॥4।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! इस सम्पूर्ण स्थावर जङ्गम जगत् की उत्पत्ति कहाँ से हुई है? प्रलयकाल में यह किसमें लीन होता है? यह मुझे बताइये।।1।। समुद्र, आकाश, पर्वत, मेघ, भूमि, अग्नि और वायु सहित इस संसार का निर्माण किसने किया है?।।2।। प्राणियों की सृष्टि किस प्रकार हुई? वर्णों का विभाग किस तरह किया गया? उनमें शौच और अशौच की व्यवस्था कैसे हुई? तथा धर्म और अधर्म का विधान किस प्रकार किया गया?।।3।। जीवित प्राणियों का जीवात्मा कैसा है? जो मर गये, वे कहाँ चले जाते हैं? इस लोक से उस लोक में जाने का क्रम क्या है? ये सब बातें आप हमें बतावें।।4।।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
भृगुणाभिहितं शास्त्रं भरद्वाजाय पृच्छते॥5।।
कैलासशिखरे दृष्ट्वा दीप्यमानं महौजसम्।
भृगुं महर्षिमासीनं भरद्वाजोऽन्वपृच्छत॥6।।
ससागरः सगगनः सशैलः सबलाहकः।
सभूमिः साग्निपवनो लोकोऽयं केन निर्मितः॥7।।
कथं सृष्टानि भूतानि कथं वर्णविभक्तयः।
शौचाशौचं कथं तेषां धर्माधर्मविधिः कथम्॥8।।
कीदृशो जीवतां जीवः क्व वा गच्छन्ति ये मृताः।

परलोकमिमं चापि सर्वं शंसितुमर्हसि॥9॥
एवं स भगवान् पृष्टो भरद्वाजेन संशयम्।
ब्रह्मर्षिर्ब्रह्मसङ्काशः सर्वं तस्मै ततोऽब्रवीत्॥10॥

भीष्मजी बोले—राजन्! विज्ञ पुरुष इस विषय में एक प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें भरद्वाज के प्रश्न करने पर भृगु के उपदेश का उल्लेख हुआ है॥5॥ कैलास पर्वत के शिखर पर अपने तेज से देदीप्यमान होते हुए महातेजस्वी महर्षि भृगु को बैठा देख भरद्वाज मुनि ने पूछा—॥6॥ 'समुद्र, आकाश, पर्वत, मेघ, भूमि, अग्नि और वायु सहित इस संसार का किसने निर्माण किया है?॥7॥ प्राणियों की सृष्टि किस प्रकार हुई? वर्णों का विभाग किस तरह किया गया? उनमें शौच और अशौच की व्यवस्था कैसे हुई? तथा धर्म और अधर्म का विधान किस प्रकार किया गया?॥8॥ जीवित प्राणियों का जीवात्मा कैसा है? जो मर गए, वे कहाँ चले जाते हैं? तथा यह लोक और परलोक कैसा है? यह सब मुझे बताने की कृपा करें॥9॥ भरद्वाज मुनि के इस प्रकार अपना संशय पूछने पर ब्रह्माजी के समान तेजस्वी ब्रह्मर्षि भगवान् भृगु ने उन्हें सब कुछ बताया॥10॥

भृगुरुवाच

(नारायणो जगन्मूर्तिरन्तरात्मा सनातनः।
कूटस्थोऽक्षर अव्यक्तो निर्लेपो व्यापकः प्रभुः॥
प्रकृतेः परतो नित्यमिन्द्रियैरप्यगोचरः।
स सिसृक्षुः सहस्रांशादसृजत् पुरुषं प्रभुः।)
मानसो नाम विख्यातः श्रुतपूर्वो महर्षिभिः।
अनादिनिधनो देवस्तथाभेद्योऽजरामरः॥11॥
अव्यक्त इति विख्यातः शाश्वतोऽथाक्षयोऽव्ययः।
यतः सृष्टानि भूतानि जायन्ते च म्रियन्ति च॥12॥
सोऽसृजत् प्रथमं देवो महान्तं नाम नामतः।
महान् ससर्जाहङ्कारं स चापि भगवान्थ॥13॥
आकाशमिति विख्यातं सर्वभूतधरः प्रभुः।
आकाशादभवद् वारि सलिलादग्निमारुतौ।
अग्निमारुतसंयोगात् ततः समभवन्मही॥14॥
ततस्तेजोमयं दिव्यं पद्मं सृष्टं स्वयम्भुवा।
तस्मात् पद्मात् समभवद् ब्रह्मा वेदमयो निधिः॥15॥
अहङ्कार इति ख्यातः सर्वभूतात्मभूतकृत्।
ब्रह्मा वै स महातेजा य एते पञ्च धातवः॥16॥
शैलास्तस्यास्थिसञ्ज्ञास्तु मेदो मांसं च मेदिनी।
समुद्रास्तस्य रुधिरमाकाशमुदरं तथा॥17॥
पवनश्चैव निःश्वासस्तेजोऽग्निर्निम्नगाः शिराः।

अग्निषोमौ तु चन्द्रार्कौ नयने तस्य विश्रुते॥18॥
नभश्चोर्ध्वं शिरस्तस्य क्षितिः पादौ भुजौ दिशः।
दुर्विज्ञेयो ह्यचिन्त्यात्मा सिद्धैरपि न संशयः॥19॥
स एष भगवान् विष्णुरनन्त इति विश्रुतः।
सर्वभूतात्मभूतस्थो दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः॥20॥
अहङ्कारस्य यः स्रष्टा सर्वभूतभवाय वै।
यतः समभवद् विश्वं पृष्टोऽहं यदिह त्वया॥21॥

भृगु बोले—ब्रह्मन्! भगवान् नारायण सम्पूर्ण जगत् स्वरूप हैं। वे ही सबके अन्तरात्मा और सनातन पुरुष हैं। वे ही कूटस्थ, अविनाशी, अव्यक्त, निर्लेप, सर्वव्यापी, प्रभु, प्रकृति से परे और इन्द्रियातीत हैं। उन भगवान् नारायण के हृदय में जब सृष्टि विषयक सङ्कल्प का उदय हुआ तो उन्होंने अपने हजारवें अंश से एक पुरुष को उत्पन्न किया, महर्षियों ने सर्वप्रथम जिसको इसी नाम से सुना था, जो मानस पुरुष के नाम से प्रसिद्ध है। पूर्वकाल में उत्पन्न वह मानस देव अनादि, अनन्त, अभेद्य, अजर और अमर है॥11॥ उसी की अव्यक्त नाम से प्रसिद्धि है। वही शाश्वत, अक्षय और अविनाशी है। उससे उत्पन्न सब प्राणी जन्मते और मरते रहते हैं॥12॥ उस स्वयम्भू देव ने पहले महत्तत्व (समष्टि बुद्धि) की रचना की। फिर उस महत्तत्त्व स्वरूप भगवान् ने अहङ्कार (समष्टि अहङ्कार) की सृष्टि की॥13॥ सम्पूर्ण भूतों को धारण करने वाले अहङ्कार स्वरूप भगवान् ने शब्द तन्मात्रा रूप आकाश को उत्पन्न किया। आकाश से जल और जल से अग्नि एवं वायु की उत्पत्ति हुई। अग्नि और वायु के संयोग से इस पृथ्वी का प्रादुर्भाव हुआ[1]॥14॥ उसके बाद उस स्वयम्भू मानसदेव ने पहले एक तेजोमय दिव्य कमल उत्पन्न किया। उसी कमल से वेदमय निधिरूप ब्रह्माजी प्रकट हुए॥15॥ वे अहङ्कार नाम से भी विख्यात हैं और समस्त भूतों के आत्मा तथा उन भूतों की सृष्टि करने वाले हैं। ये जो पाँच महाभूत हैं, इनके रूप में महातेजस्वी ब्रह्मा ही प्रकट हुए हैं॥16॥ पर्वत उनकी हड्डियाँ हैं, पृथ्वी उनका मेद और मांस है। समुद्र उनका रुधिर है और आकाश उदर है॥17॥ वायु निःश्वास है, अग्नि तेज है, नदियाँ नाड़ियाँ हैं, सूर्य और चन्द्रमा जिन्हें अग्नि और सोम भी कहते हैं, ब्रह्माजी के नेत्रों के रूप में प्रसिद्ध हैं॥18॥ आकाश का ऊपरी भाग उनका सिर है, पृथ्वी पैर है और दिशाएँ भुजाएँ हैं। वे अचिन्त्य स्वरूप ब्रह्मा सिद्ध पुरुषों के लिए भी दुर्विज्ञेय हैं, इसमें संशय नहीं है॥19॥ वह स्वयम्भू ही भगवान् विष्णु हैं, जो अनन्त नाम से प्रसिद्ध हैं, वे ही सम्पूर्ण भूतों के अन्तःकरण में अन्तर्यामी आत्मा के रूप में विद्यमान हैं। जिनका हृदय शुद्ध नहीं है, उनके लिए इनके स्वरूप को ठीक-ठीक जानना बहुत कठिन है॥20॥ वे ही सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति के लिए प्राकृत अहङ्कार की सृष्टि करने वाले हैं। तुमने मुझसे जो पूछा था कि इस विश्व की उत्पत्ति किससे हुई है, वह सब मैंने तुम्हें बता दिया॥21॥

---

1. यहाँ जो सृष्टि का क्रम बताया गया है, वह श्रुति सम्मत क्रम से भिन्न है। श्रुति ने आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति का क्रम बताया है।

भरद्वाज उवाच

गगनस्य दिशां चैव भूतलस्यानिलस्य वा।
कान्यत्र परिमाणानि संशयं छिन्धि तत्त्वतः॥22॥

भरद्वाज ने पूछा—प्रभो! आकाश, दिशा, पृथ्वी और वायु का कितना-कितना परिमाण है? यह ठीक-ठीक बताकर मेरा संशय दूर कीजिये॥22॥

भृगुरुवाच

अनन्तमेतदाकाशं सिद्धदैवतसेवितम्।
रम्यं नानाश्रयाकीर्णं यस्यान्तो नाधिगम्यते॥23॥
ऊर्ध्वं गतेरधस्तात् तु चन्द्रादित्यौ न दृश्यतः।
तत्र देवाः स्वयं दीप्ता भास्वराभाग्निवर्चसः॥24॥
ते चाप्यन्तं न पश्यन्ति नभसः प्रथितौजसः।
दुर्गमत्वादनन्तत्वादिति मे विद्धि मानद॥25॥
उपरिष्टोपरिष्टात् तु प्रज्वलद्भिः स्वयम्प्रभैः।
निरुद्धमेतदाकाशमप्रमेयं सुरैरपि॥26॥
पृथिव्यन्ते समुद्रास्तु समुद्रान्ते तमः स्मृतम्।
तमसोऽन्ते जलं प्राहुर्जलस्यान्तेऽग्निरेव च॥27॥
रसातलान्ते सलिलं जलान्ते पन्नगाधिपाः।
तदन्ते पुनराकाशमाकाशान्ते पुनर्जलम्॥28॥
एवमन्तं भगवतः प्रमाणं सलिलस्य च।
अग्निमारुततोयेभ्यो दुर्ज्ञेयं दैवतैरपि॥29॥
अग्निमारुततोयानां वर्णाः क्षितितलस्य च।
आकाशादवगृह्यन्ते भिद्यन्तेऽतत्त्वदर्शनात्॥30॥
पठन्ति चैव मुनयः शास्त्रेषु विविधेषु च।
त्रैलोक्ये सागरे चैव प्रमाणं विहितं यथा॥31॥
अदृश्याय त्वगम्याय कः प्रमाणमुदाहरेत्।
सिद्धानां देवतानां च यदा परिमिता गतिः॥32॥
तदा गौणमनन्तस्य नामानन्तेति विश्रुतम्।
नामधेयानुरूपस्य मानसस्य महात्मनः॥33॥
यदा तु दिव्यं तद्रूपं ह्रसते वर्धते पुनः।
कोऽन्यस्तद्वेदितुं शक्तो योऽपि स्यात् तद् विधोऽपरः॥34॥
ततः पुष्करतः सृष्टः सर्वज्ञो मूर्तिमान् प्रभुः।
ब्रह्मा धर्ममयः पूर्वः प्रजापतिरनुत्तमः॥35॥

भृगुजी ने कहा—मुने! यह आकाश तो अनन्त है, इसमें अनेकानेक सिद्ध और देवता निवास करते हैं। इसमें उनके भिन्न-भिन्न लोक भी स्थित हैं। यह बड़ा ही रमणीय है और इतना महान् है कि कहीं इसका अन्त नहीं मिलता॥23॥ ऊपर तथा नीचे से

जहाँ सूर्य और चन्द्रमा नहीं दिखायी देते, वहाँ सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी देवता स्वयं अपने प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं।।24।। मानद! परन्तु वे तेजस्वी नक्षत्र स्वरूप देवता भी इस आकाश का अन्त नहीं देख पाते; क्योंकि यह दुर्गम और अनन्त है, यह बात तुम्हें मेरे मुख से सुनकर अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए।।25।। ऊपर ऊपर प्रकाशित होने वाले स्वयं प्रकाश देवताओं से यह अप्रमेय आकाश भी भरा हुआ सा प्रतीत होता है।।26।। पृथ्वी के अन्त में समुद्र हैं। समुद्र के अन्त में घोर अन्धकार है। अन्धकार के अन्त में जल है और जल के अन्त में अग्नि की स्थिति बतायी गई है।।27।। रसातल के अन्त में जल है। जल के अन्त में नागराज शेष हैं। उनके अन्त में पुनः आकाश और आकाश ही अन्त भाग में पुनः जल है।।28।। इस प्रकार भगवान् का, आकाश का, जल का तथा अग्नि और वायु का भी अन्त और परिमाण जानना देवताओं के लिए भी अत्यन्त कठिन है।।29।। अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी—इनके रङ्ग-रूप आकाश से ही गृहीत होते हैं; अतः उससे भिन्न नहीं हैं। तत्त्वज्ञान न होने से उनमें भेद की प्रतीति होती है।।30।। ऋषियों ने विविध शास्त्रों में तीनों लोकों और समुद्रों के विषय में तो कुछ निश्चित प्रमाण भी बताया है; परन्तु जो दृष्टि से परे हैं और जहाँ तक इन्द्रियों की पहुँच नहीं है, उस परमात्मा का परिमाण कोई कैसे बतायेगा? आखिर इन सिद्धों और देवताओं का ज्ञान भी तो परिमित ही है।।31-32।। अतः परमात्मा मानसदेव अपने नाना के अनुरूप ही अनन्त हैं। उनका सुप्रसिद्ध अनन्त नाम उनके गुण के अनुसार ही है।।33।। जब उन परमात्मा का वह दिव्यरूप उनकी माया से कभी बहुत छोटा हो जाता है और कभी बहुत बढ़ जाता है, तब कोई उनसे भिन्न दूसरा उन्हीं के समान प्रतिभाशाली कौन है, जो कि उस स्वरूप का यथार्थ परिमाण जान सके अर्थात् ऐसा कोई नहीं है।।34।। तदनन्तर पूर्वोक्त कमल से सर्वज्ञ, मूर्तिमान्, प्रभावशाली, परम उत्तम तथा प्रथम प्रजापति धर्ममय ब्रह्मा का प्रादुर्भाव हुआ।।35।।

भरद्वाज उवाच

पुष्कराद् यदि सम्भूतो ज्येष्ठं भवति पुष्करम्।
ब्रह्माणं पूर्वजं चाह भवान् सन्देह एव मे॥36।।

भरद्वाज ने पूछा—प्रभो! यदि ब्रह्माजी कमल से प्रकट हुए तब तो कमल ही ज्येष्ठ प्रतीत होता है; परन्तु आपने ब्रह्माजी को पूर्वज बताया है; अतः यह सन्देह मेरे मन में बना ही रह गया।।36।।

भृगुरुवाच

मानसस्येह या मूर्तिर्ब्रह्मत्वं समुपागता।
तस्यासनविधानार्थं पृथिवी पद्ममुच्यते॥37।।
कर्णिका तस्य पद्मस्य मेरुर्गगनमुच्छ्रितः।
तस्य मध्ये स्थितो लोकान् सृजते जगतः प्रभुः॥38।।

भृगु ने कहा—मुने! मानसदेव का जो स्वरूप बताया गया है, वही ब्रह्मरूप में प्रकट है। उन्हीं ब्रह्माजी के आसन के लिए इस पृथ्वी को ही पद्म (कमल) कहते

हैं।।37।। इस कमल की कर्णिका मेरुपर्वत है, जो आकाश में बहुत ऊँचे तक गया है। उसी पर्वत के मध्य भाग में स्थिर होकर जगदीश्वर ब्रह्मा सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि करते हैं।।38।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 182 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में भृगु और भरद्वाज का संवाद विषयक एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।182।।

द्वितीयोऽध्यायः

आकाश से अन्य चार स्थूल भूतों की उत्पत्ति का वर्णन

भरद्वाज उवाच

प्रजाविसर्गं विविधं कथं स सृजते प्रभुः।
मेरुमध्ये स्थितो ब्रह्मा तद् ब्रूहि द्विजसत्तम॥1।।

भरद्वाज ने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! मेरुपर्वत के मध्य भाग में स्थित होकर ब्रह्माजी नाना प्रकार की प्रजा सृष्टि कैसे करते हैं, यह मुझे बताइये।।1।।

भृगुरुवाच

प्रजाविसर्गं विविधं मानसो मनसासृजत्।
संरक्षणार्थं भूतानां सृष्टं प्रथमतो जलम्॥2।।
यत् प्राणः सर्वभूतानां वर्धन्ते येन च प्रजाः।
परित्यक्ताश्च नश्यन्ति तेनेदं सर्वमावृतम्॥3।।
पृथिवी पर्वता मेघा मूर्तिमन्तश्च ये परे।
सर्वं तद् वारुणं ज्ञेयमापस्तस्तम्भिरे यतः॥4।।

भृगु ने कहा—उन मानसदेव ने अपने मानसिक सङ्कल्प से ही नाना प्रकार की प्रजा सृष्टि की है। उन्होंने प्राणियों की रक्षा के लिए सबसे पहले जल की सृष्टि की।।2।। वह जल समस्त प्राणियों का जीवन है। उसी से प्रजा की वृद्धि होती है। जल के न मिलने से प्राणी नष्ट हो जाते हैं। उसी ने इस सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर रखा है।।3।। पृथ्वी, पर्वत, मेघ तथा अन्य जो मूर्तिमान् वस्तुएँ हैं, उन सबको जलमय समझना चाहिये; क्योंकि जल ने ही उन सबको स्थिर कर रखा है।।4।।

भरद्वाज उवाच

कथं सलिलमुत्पन्नं कथं चैवाग्निमारुतौ।
कथं वा मेदिनी सृष्टेत्यत्र मे संशयो महान्॥5।।

भरद्वाज ने पूछा—भगवन्! जल की उत्पत्ति कैसे हुई? अग्नि और वायु की सृष्टि किस प्रकार हुई तथा पृथ्वी की भी रचना कैसे की गई, इस विषय में मुझे महान् सन्देह है।।5।।

भृगुरुवाच

ब्रह्मकल्पे पुरा ब्रह्मन् ब्रह्मर्षीणां समागमे।
लोकसम्भवसन्देहः समुत्पन्नो महात्मनाम्॥6॥
तेऽतिष्ठन् ध्यानमालम्ब्य मौनमास्थाय निश्चलाः।
त्यक्ताहाराः पवनपा दिव्यं वर्षशतं द्विजाः॥7॥
तेषां ब्रह्ममयी वाणी सर्वेषां श्रोत्रमागमत्।
दिव्या सरस्वती तत्र सम्बभूव नभस्तलात्॥8॥
पुरा स्तिमितमाकाशमनन्तमचलोपमम्।
नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव सम्बभौ॥9॥
ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीवापरं तमः।
तस्माच्च सलिलोत्पीडादुदतिष्ठत मारुतः॥10॥
यथा भाजनमच्छिद्रं निःशब्दमिव लक्ष्यते।
तच्चाम्भसा पूर्यमाणं सशब्दं कुरुतेऽनिलः॥11॥
तथा सलिलसंरुद्धे नभसोऽन्ते निरन्तरे।
भित्त्वार्णवतलं वायुः समुत्पतति घोषवान्॥12॥
स एष चरते वायुरर्णवोत्पीडसम्भवः।
आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति॥13॥
तस्मिन् वाय्वम्बुसङ्घर्षे दीप्ततेजा महाबलः।
प्रादुरभूदूर्ध्वशिखः कृत्वा निस्तिमिरं नभः॥14॥
अग्निः पवनसंयुक्तः कं समाक्षिपते जलम्।
सोऽग्निमारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते॥15॥
तस्याकाशे निपतितः स्नेहस्तिष्ठति योऽपरः।
स सङ्घातत्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति॥16॥
रसानां सर्वगन्धानां स्नेहानां प्राणिनां तथा।
भूमिर्योनिरिह ज्ञेया यस्यां सर्वं प्रसूयते॥17॥

भृगु ने कहा—ब्रह्मन्! पूर्व काल में जब ब्रह्मकल्प चल रहा था, उस समय ब्रह्मर्षियों का परस्पर समागम हुआ। उन महात्माओं की उस सभा में लोक सृष्टि विषयक सन्देह उपस्थित हुआ॥6॥ वे ब्रह्मर्षि भोजन छोड़कर वायु पीकर रहते हुए सौ दिव्य वर्षों तक ध्यान लगाकर मौन का आश्रय ले निश्चल भाव से बैठे रह गए॥7॥ उस ध्यानावस्था में उन सबके कानों में ब्रह्ममयी वाणी सुनायी पड़ी। उस समय वहाँ से आकाश से दिव्य सरस्वती प्रकट हुई॥8॥ वह आकाशवाणी इस प्रकार है—'पूर्व काल में अनन्त आकाश पर्वत के समान निश्चल था। उसमें चन्द्रमा, सूर्य अथवा वायु किसी के दर्शन नहीं होते थे। वह सोया हुआ सा जान पड़ता था॥9॥ तदनन्तर आकाश से जल की उत्पत्ति हुई; मानो अन्धकार में ही दूसरा अन्धकार प्रकट हुआ हो। उस जल प्रवाह से वायु का उत्थान हुआ॥10॥ जैसे कोई छिद्र रहित पात्र निःशब्द सा लक्षित

होता है; परन्तु जब उसमें छिद्र करके जल भरा जाता है, तब वायु उसमें आवाज प्रकट कर देती है।।11।। इसी प्रकार जल से आकाश का सारा प्रान्त ऐसा अवरुद्ध हो गया था कि उमसें कहीं थोड़ा-सा भी अवकाश नहीं था। तब उस एकार्णव के तल प्रदेश का भेदन करके बड़ी भारी आवाज के साथ वायु का प्राकट्य हुआ।।12।। इस प्रकार समुद्र के जल समुदाय से प्रकट हुई यह वायु सर्वत्र विचरने लगी और आकाश के किसी भी स्थान में पहुँच कर वह शान्त नहीं हुई।।13।। वायु और जल के उस सङ्घर्ष से अत्यन्त तेजोमय महाबली अग्निदेव का प्राकट्य हुआ, जिनकी लपटें ऊपर की ओर उठ रही थीं। वह आग आकाश के सारे अन्धकार को नष्ट करके प्रकट हुई थी।।14।। वायु का संयोग पाकर अग्नि जल को आकाश में उछालने लगी; फिर वही जल अग्नि और वायु के संयोग से घनीभूत हो गया।।15।। उसका जो वह गीलापन आकाश में गिरा, वही घनीभूत होकर पृथ्वी के रूप में परिणत हो गया।।16।। इस पृथ्वी को सम्पूर्ण रसों, गन्धों, स्नेहों तथा प्राणियों का कारण समझना चाहिये। इसी से सबकी उत्पत्ति होती है'।।17।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे मानसभूतोत्पत्तिकथने त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 183 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्मपर्व में भृगु और भरद्वाजसंवाद के प्रसङ्ग में मानसभूतों की उत्पत्ति का वर्णन विषयक एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।183।।

तृतीयोऽध्यायः

पञ्चमहाभूतों के गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन

भरद्वाज उवाच

त एते धातवः पञ्च ब्रह्मा यानसृजत् पुरा।
आवृता यैरिमे लोका महाभूताभिसञ्ज्ञिताः॥1।।
यदासृजत् सहस्राणि भूतानां स महामतिः।
पञ्चानामेव भूतत्वं कथं समुपपद्यते॥2।।

भरद्वाज ने पूछा—भगवन्! लोक में ये पाँच धातु ही 'महाभूत' कहलाते हैं, जिन्हें ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में रचा था। ये ही इन समस्त लोकों में व्याप्त हैं।।1।। परन्तु जब महाबुद्धिमान् ब्रह्माजी ने और भी हजारों भूतों की रचना की है, तब इन पाँच को ही 'भूत' कहना कहाँ तक युक्तिसङ्गत है?।।2।।

भृगुरुवाच

अमितानां महाशब्दो यान्ति भूतानि सम्भवम्।
ततस्तेषां महाभूतशब्दोऽयमुपपद्यते॥3।।
चेष्टा वायुः खमाकाशमूष्माग्निः सलिलं द्रवः।
पृथिवी चात्र सङ्घातः शरीरं पाञ्चभौतिकम्॥4।।

इत्येतै: पञ्चभिर्भूतैर्युक्तं स्थावरजङ्गमम्।
श्रोत्रं घ्राणं रस: स्पर्शो दृष्टिश्चेन्द्रियसञ्ज्ञिता:॥5॥

भृगुजी ने कहा—मुने! ये पाँच भूत ही असीम हैं, इसलिए इन्हीं के साथ 'महा' शब्द जोड़ा जाता है। इन्हीं से भूतों की उत्पत्ति होती है; अत: इन्हीं के लिए 'महाभूत' शब्द का प्रयोग सुसङ्गत है॥3॥ प्राणियों का शरीर इन पाँच महाभूतों का ही सङ्घात है। इसमें जो चेष्टा या गति है, वह वायु का भाग है। जो खोखलापन है, वह आकाश का अंश है। ऊष्मा (गर्मी) अग्नि का अंश है। लोहू आदि तरल पदार्थ जल के अंश हैं और हड्डी मांस आदि ठोस पदार्थ पृथ्वी के अंश हैं॥4॥ इस प्रकार सारा स्थावर जङ्गम जगत् इन पाँच भूतों से युक्त है। इन्हीं के सूक्ष्म अंश श्रोत्र (कान), घ्राण (नासिका), रसना, त्वचा और नेत्र—इन पाँच इन्द्रियों के नाम से प्रसिद्ध हैं॥5॥

भरद्वाज उवाच

पञ्चभिर्यदि भूतैस्तु युक्ता: स्थावरजङ्गमा:।
स्थावराणां न दृश्यन्ते शरीरे पञ्च धातव:॥6॥
अनूष्मणामचेष्टानां घनानां चैव तत्त्वत:।
वृक्षाणां नोपलभ्यन्ते शरीरे पञ्च धातव:॥7॥
न शृण्वन्ति न पश्यन्ति न गन्धरसवेदिन:।
न च स्पर्शं विजानन्ति ते कथं पाञ्चभौतिका:॥8॥
अद्रवत्वादनग्नित्वादभूमित्वादवायुत:।
आकाशस्याप्रमेयत्वाद् वृक्षाणां नास्ति भौतिकम्॥9॥

भरद्वाज ने पूछा—भगवन्! आपके कथनानुसार यदि समस्त स्थावर-जङ्गम पदार्थ इन पाँच महाभूतों से ही संयुक्त हैं तो स्थावरों के शरीरों में तो पाँच भूत नहीं दिखायी देते हैं॥6॥ वृक्षों के शरीर में गर्मी नहीं है, कोई चेष्टा भी नहीं है तथा वास्तव में वे घन हैं; अत: उनके शरीर में पाँचों भूतों की उपलब्धि नहीं होती है॥7॥ वे न सुनते हैं, न देखते हैं, न गन्ध और रस का ही अनुभव करते हैं और न उन्हें स्पर्श का ही ज्ञान होता है; फिर वे पाञ्चभौतिक कैसे कहे जाते हैं?॥8॥ उनमें न तो द्रवत्व देखा जाता है, न अग्नि का अंश, न पृथ्वी और वायु का ही भाग उपलब्ध होता है। आकाश तो अप्रमेय है; अत: वह भी वृक्षों में नहीं है, इसलिए वृक्षों की पाञ्चभौतिकता नहीं सिद्ध होती है॥9॥

भृगुरुवाच

घनानामपि वृक्षाणामाकाशोऽस्ति न संशय:।
तेषां पुष्पफलव्यक्तिर्नित्यं समुपपद्यते॥10॥
ऊष्मतो म्लायते पर्णं त्वक् फलं पुष्पमेव च।
म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते॥11॥
वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषै: फलं पुष्पं विशीर्यते।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपा:॥12॥

वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति।
न ह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात् पश्यन्ति पादपाः॥13।।
पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः॥14।।
पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनां चापि दर्शनात्।
व्याधिप्रतिक्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे॥15।।
वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्ध्वं जलमाददेत्।
तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः॥16।।
सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात्।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते॥17।।
तेन तज्जलमादत्तं जरयत्यग्निमारुतौ।
आहारपरिणामाच्च स्नेहो वृद्धिश्च जायते॥18।।
जङ्गमानां च सर्वेषां शरीरे पञ्च धातवः।
प्रत्येकशः प्रभिद्यन्ते यैः शरीरं विचेष्टते॥19।।
त्वक् च मांसं तथास्थीनि मज्जा स्नायुश्च पञ्चमम्।
इत्येतदिह सङ्घातं शरीरे पृथिवीमयम्॥20।।
तेजो ह्यग्निस्तथा क्रोधश्चक्षुरूष्मा तथैव च।
अग्निर्जरयते यश्च पञ्चाग्नेयाः शरीरिणः॥21।।
श्रोत्रं घ्राणं तथाऽऽस्यं च हृदयं कोष्ठमेव च।
आकाशात् प्राणिनामेते शरीरे पञ्च धातवः॥22।।
श्लेष्मा पित्तमथ स्वेदो वसा शोणितमेव च।
इत्यापः पञ्चधा देहे भवन्ति प्राणिनां सदा॥23।।
प्राणात् प्रणीयते प्राणी व्यानाद् व्यायच्छते तथा।
गच्छत्यपानोऽधश्चैव समानो हृद्यवस्थितः॥24।।
उदानादुच्छ्वसिति च प्रतिभेदाच्च भाषते।
इत्येते वायवः पञ्च चेष्टयन्तीह देहिनम्॥25।।

भृगुजी ने कहा—मुने! यद्यपि वृक्ष ठोस जान पड़ते हैं तो भी उनमें आकाश है, इसमें संशय नहीं है। इसी से उनमें नित्य प्रति फल-फूल आदि की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है।।10।। वृक्षों के भीतर जो ऊष्मा या गर्मी है, उसी से उनके पत्ते, छाल, फल, फूल कुम्हलाते हैं, मुरझाकर झड़ जाते हैं; इससे उनमें स्पर्श का होना भी सिद्ध होता है।।11।। यह भी देखा जाता है कि वायु, अग्नि और बिजली की कड़क आदि भीषण शब्द होने पर वृक्षों के फल-फूल झड़ कर गिर जाते हैं। शब्द का ग्रहण तो श्रवणेन्द्रिय से ही होता है; ।।12।। लता वृक्ष को चारों ओर से लपेट लेती है और उसके ऊपरी भाग तक चढ़ जाती है। बिना देखे किसी को अपने जाने का मार्ग नहीं मिल सकता; इससे सिद्ध है कि वृक्ष देखते भी हैं।।13।। पवित्र और अपवित्र गन्ध से तथा नाना प्रकार के धूपों की गन्ध से वृक्ष नीरोग होकर फूलने-फलने लग जाते हैं; इससे प्रमाणित

होता है कि वृक्ष भी सूँघते हैं।।14।। वृक्ष अपनी जड़ से जल पीते हैं और कोई रोग होने पर जड़ में ओषधि डालकर उनकी चिकित्सा भी की जाती है; इससे सिद्ध है कि वृक्ष में रसनेन्द्रिय भी है।।15।। जैसे मनुष्य कमल की नाल मुँह में लगाकर उसके द्वारा ऊपर को जल खींचता है, उसी तरह वायु की सहायता से युक्त वृक्ष अपनी जड़ों द्वारा ऊपर की ओर पानी खींचता है।।16।। वृक्ष कट जाने पर उनमें नया अङ्कुर उत्पन्न हो जाता है और वे सुख-दुःख को ग्रहण करते हैं। इससे मैं देखता हूँ कि वृक्षों में जीव भी है। वे अचेतन नहीं हैं।।17।। वृक्ष अपनी जड़ से जो जल खींचता है, उसे उसके अन्दर रहने वाली वायु और अग्नि पचाती है। आहार का परिपाक होने से वृक्ष में स्निग्धता आती है और वे बढ़ते हैं।।18।। समस्त जङ्गमों के शरीरों में भी पाँच भूत रहते हैं; परन्तु वहाँ उनके स्वरूप में भेद होता है। उन पाँच भूतों के सहयोग से ही शरीर चेष्टाशील होता है।।19।। शरीर में त्वचा, मांस, हड्डी, मज्जा और स्नायु—इन पाँच वस्तुओं का समुदाय पृथ्वीमय है।।20।। तेज, क्रोध, नेत्र, ऊष्मा और जठरानल—ये पाँच वस्तुएँ देहधारियों के शरीर में अग्निमय हैं।।21।। कान, नासिका, मुख, हृदय और उदर प्राणियों के शरीर में ये पाँच धातुमय खोखलापन आकाश से उत्पन्न हुए हैं।।22।। कफ, पित्त, स्वेद, चर्बी और रुधिर—ये प्राणियों के शरीर में रहने वाली पाँच गीली वस्तुएँ जल रूप हैं।।23।। प्राण से प्राणी चलने फिरने का काम करता है, व्यान से व्यायाम (बल साध्य उद्यम) करता है, अपान वायु ऊपर से नीचे की ओर जाती है, समान वायु हृदय में स्थित होती है, उदान से पुरुष उच्छ्वास लेता है और कण्ठ, तालु आदि स्थानों के भेद से शब्दों एवं अक्षरों का उच्चारण करता है। इस प्रकार ये पाँच वायु के परिणाम हैं, जो शरीरधारी को चेष्टाशील बनाते हैं।।24-25।।

भूमेर्गन्धगुणान् वेत्ति रसं चाद्भ्यः शरीरवान्।
ज्योतिषा चक्षुषा रूपं स्पर्शं वेत्ति च वाहिना॥26।।
गन्धः स्पर्शो रसो रूपं शब्दश्चात्र गुणाः स्मृताः।
तस्य गन्धस्य वक्ष्यामि विस्ताराभिहितान् गुणान्॥27।।
इष्टश्चानिष्टगन्धश्च मधुरः कटुरेव च।
निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो विशद एव च॥28।।
एवं नवविधो ज्ञेयः पार्थिवो गन्धविस्तरः।
ज्योतिः पश्यति चक्षुभ्यां स्पर्शं वेत्ति च वायुना॥29।।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसश्चापि गुणाः स्मृताः।
रसज्ञानं तु वक्ष्यामि तन्मे निगदतः शृणु॥30।।
रसो बहुविधः प्रोक्त ऋषिभिः प्रथितात्मभिः।
मधुरो लवणस्तिक्तः कषायोऽम्लः कटुस्तथा॥31।।
एष षड् विधविस्तारो रसो वारिमयः स्मृतः।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च त्रिगुणं ज्योतिरुच्यते॥32।।
ज्योतिः पश्यति रूपाणि रूपञ्च बहुधा स्मृतम्।

ह्रस्वो दीर्घस्तथा स्थूलश्चतुरस्रोऽनुवृत्तवान्॥33॥
शुक्लः कृष्णस्तथा रक्तः पीतो नीलारुणस्तथा।
कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छिलो मृदुदारुणः॥34॥
एवं षोडशविस्तारो ज्योतीरूपगुणः स्मृतः।
शब्दस्पर्शौ च विज्ञेयौ द्विगुणो वायुरित्युत॥35॥
वायव्यस्तु गुणः स्पर्शः स्पर्शश्च बहुधा स्मृतः।
उष्णः शीतः सुखो दुःखः स्निग्धो विशद एव च॥36॥
तथा खरो मृदू रूक्षो लघुर्गुरुतरोऽपि च।
एवं द्वादशधा स्पर्शो वायव्यो गुण उच्यते॥37॥

जीव भूमि से ही (अर्थात् घ्राणेन्द्रिय द्वारा) गन्ध गुण का अनुभव करता है, जल सम्बन्धी इन्द्रिय रसना से शरीरधारी पुरुष रस का आस्वादन करता है, तेजोमय नेत्र के द्वारा रूप का तथा वायु सम्बन्धी त्वगिन्द्रिय के द्वारा उसे स्पर्श का ज्ञान होता है॥26॥ गन्ध, स्पर्श, रस, रूप और शब्द—ये पृथ्वी के गुण माने गए हैं। इनमें से प्रधान गन्ध के गुणों का मैं विस्तारपूर्वक वर्णन करता हूँ॥27॥ अनुकूल, प्रतिकूल, मधुर, कटु, निर्हारी अर्थात् दूर से आने वाली, तेज गन्धमिश्रित, स्निग्ध, रूक्ष और विशद—ये गन्ध के नौ भेद जानने चाहिये। इस प्रकार पार्थिव गन्ध का विस्तार बताया गया। मनुष्य दोनों नेत्रों से रूप को देखता है और त्वगिन्द्रिय से स्पर्श का अनुभव करता है। शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये जल के गुण माने गये हैं। उनमें प्रधान गुण रस है, उसकी जानकारी के लिए अब मैं उसके भेदों का वर्णन करता हूँ॥28-30॥ उदारचेता महर्षियों ने रस के अनेक भेद बताये हैं—मधुर, लवण, तिक्त, कषाय, अम्ल और कटु। इन छः रूपों में विस्तार को प्राप्त हुआ रस जलमय माना गया है॥31॥ शब्द, स्पर्श और रूप—ये अग्नि के तीन गुण बताये जाते हैं। ज्योतिर्मय नेत्र रूप को देखते हैं। अग्नि के प्रधान गुण रूप को भी अनेक प्रकार का माना गया है। ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चौकोर और सब ओर से गोल, सफेद, काला, लाल, पीला और आकाश की भाँति नीला, कठिन, चिक्कण, अल्प, पिच्छिल, मृदु और दारुण—इस प्रकार ज्योतिर्मय रूप नामक गुण सोलह भेदों में विस्तार को प्राप्त हुआ है। वायु के दो गुण जानने चाहिये—शब्द और स्पर्श। वायु का प्रमुख गुण स्पर्श ही है, जिसके अनेक भेद माने गये हैं—उष्ण, शीत, सुख, दुःख, स्निग्ध, विशद, खर, मृदु, रूक्ष, हल्का, भारी और अधिक भारी—इस प्रकार वायु सम्बन्धी स्पर्श गुण के बारह भेद कहे जाते हैं॥32-37॥

तत्रैकगुणमाकाशं शब्द इत्येव तत् स्मृतम्।
तस्य शब्दस्य वक्ष्यामि विस्तरं विविधात्मकम्॥38॥
षड्ज ऋषभगान्धारौ मध्यमो धैवतस्तथा।
पञ्चमश्चापि विज्ञेयस्तथा चापि निषादवान्॥39॥
एष सप्तविधः प्रोक्तो गुण आकाशसम्भवः।
ऐश्वर्येण तु सर्वत्र स्थितोऽपि पटहादिषु॥40॥

मृदङ्गभेरीशङ्खानां स्तनयित्नो रथस्य च।
यः कश्चिच्छ्रूयते शब्दः प्राणिनोऽप्राणिनोऽपि वा।
एतेषामेव सर्वेषां विषये सम्प्रकीर्तितः॥41॥
एवं बहुविधाकारः शब्द आकाशसम्भवः।
आकाशजं शब्दमाहुरेभिर्वायुगुणैः सह॥42॥
अव्याहतैश्चेतयते न वेत्ति विषमस्थितैः।
आप्याय्यन्ते च ते नित्यं धातवस्तैस्तु धातुभिः॥43॥
आपोऽग्निर्मारुतश्चैव नित्यं जाग्रति देहिषु।
मूलमेते शरीरस्य व्याप्य प्राणानिह स्थिताः॥44॥

आकाश का एकमात्र गुण शब्द ही माना गया है। उस शब्द गुण का अनेक भेदों में जो विस्तार हुआ है, उसका वर्णन करता हूँ—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा निषाद—ये आकाशजनित शब्द गुण के सात भेद बताये गये हैं, जिन्हें जानना चाहिये। अपने व्यापक स्वरूप से तो शब्द सर्वत्र है, किन्तु पटह (नगाड़े) आदि में इसकी विशेष रूप से अभिव्यक्ति होती है। मृदङ्ग, भेरी, शङ्ख, मेघ तथा रथ की घर्घराहट आदि में जो कुछ शब्द सुना जाता है और जड़ या चेतन का जो कुछ भी शब्द श्रवण गोचर होता है, वह सब इन सात भेदों के ही अन्तर्गत बताया गया है।।38-41।। इस प्रकार आकाशजनित शब्द के अनेक भेद हैं। वायु सम्बन्धी गुणों के साथ ही आकाशजनित शब्द होता है; ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं।।42।। जब वायु सम्बन्धी गुण बाधित न होकर शब्द के साथ रहता है, तब मनुष्य शब्द को सुनता और समझता है; किन्तु जब वायु सम्बन्धी गुण दीवार अथवा प्रतिकूल वायु से बाधित होकर विषम अवस्था में हो जाते हैं, तब शब्द का ग्रहण नहीं होता है। वे शब्द आदि के उत्पादक धातु (इन्द्रिय गोलक) धातुओं (इन पाँचों भूतों) द्वारा ही पोषित होते हैं।।43।। जल, अग्नि और वायु—ये तीन तत्त्व सदा देहधारियों में जाग्रत् रहते हैं। ये ही शरीर के मूल हैं और प्राणों में ओत-प्रोत होकर शरीर में स्थित रहते हैं।।44।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 184 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में भृगु-भरद्वाज संवाद विषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।184।।

चतुर्थोऽध्यायः

शरीर के भीतर जठरानल तथा प्राण अपान आदि वायुओं की स्थिति आदि का वर्णन

भरद्वाज उवाच

पार्थिवं धातुमासाद्य शारीरोऽग्निः कथं प्रभो।
अवकाशविशेषेण कथं वर्तयतेऽनिलः॥1॥

भरद्वाज ने पूछा—प्रभो! शरीर के भीतर रहने वाली अग्नि पार्थिव धातु (पाञ्चभौतिक देह) का आश्रय लेकर कैसे रहती है और वायु भी उसी पार्थिव धातु का आश्रय लेकर अवकाश विशेष के द्वारा देह को कैसे चेष्टाशील बनाती है?।।1।।

भृगुरुवाच

वायोर्गतिमहं ब्रह्मन् कथयिष्यामि तेऽनघ।
प्राणिनामनिलो देहान् यथा चेष्टयते बली॥2।।
श्रितो मूर्धानमात्मा तु शरीरं परिपालयन्।
प्राणो मूर्धनि चाग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते॥3।।
स जन्तुः सर्वभूतात्मा पुरुषः स सनातनः।
मनो बुद्धिरहङ्कारो भूतानि विषयश्च सः॥4।।
एवं त्विह स सर्वत्र प्राणेन परिचाल्यते।
पृष्ठतस्तु समानेन स्वां स्वां गतिमुपाश्रितः॥5।।
बस्तिमूलं गुदं चैव पावकं समुपाश्रितः।
वहन्मूत्रं पुरीषं चाप्यपानः परिवर्तते॥6।।
प्रयत्ने कर्मणि बले य एकस्त्रिषु वर्तते।
उदान इति तं प्राहुरध्यात्मविदुषो जनाः॥7।।
सन्धिष्वपि च सर्वेषु सन्निविष्टस्तथानिलः।
शरीरेषु मनुष्याणां व्यान इत्युपदिश्यते॥8।।
धातुष्वग्निस्तु विततः समानेन समीरितः।
रसान् धातूंश्च दोषांश्च वर्तयन्नवतिष्ठते॥9।।
अपानप्राणयोर्मध्ये प्राणापानसमाहितः।
समन्वितस्त्वधिष्ठानं सम्यक् पचति पावकः॥10।।

भृगु ने कहा—ब्रह्मन्! निष्पाप महर्षे! मैं तुमसे वायु की गति का वर्णन करता हूँ। प्रबल वायु प्राणियों के शरीरों को किस प्रकार चेष्टाशील बनाती है? यह बताता हूँ।।2।। आत्मा मस्तक के रन्ध्र स्थान में स्थित होकर सम्पूर्ण शरीर की रक्षा करता है और प्राण मस्तक तथा अग्नि दोनों में स्थित होकर शरीर को चेष्टाशील बनाता है।।3।। वह प्राण से संयुक्त आत्मा ही जीव है, वही सम्पूर्ण भूतों का आत्मा सनातन पुरुष है। वही मन, बुद्धि, अहङ्कार, पाँचों भूत और विषय रूप हो रहा है।।4।। इस प्रकार (जीवात्मा से संयुक्त हुए) प्राण के द्वारा शरीर के भीतर के समस्त विभाग तथा इन्द्रिय आदि सारे बाह्य अङ्ग परिचालित होते हैं। तत्पश्चात् समान वायु के रूप में परिणत हो प्राण ही अपनी-अपनी गति के आश्रित शरीर का सञ्चालक होता है।।5।। अपान वायु जठरानल, मूत्राशय और गुदा का आश्रय ले मल एवं मूत्र को निकालता हुआ ऊपर से नीचे को घूमता रहता है।।6।। जिस एक ही वायु की प्रयत्न, कर्म और बल तीनों में प्रवृत्ति होती है, उसे अध्यात्म तत्त्व के जानने वाले पुरुषों ने उदान कहा है।।7।। जो मनुष्यों के शरीरों में और उनकी समस्त सन्धियों में भी व्याप्त है, उस वायु को 'व्यान' कहते हैं।।8।। शरीर

के समस्त धातुओं में व्याप्त जो अग्नि है, वह समान वायु द्वारा सञ्चालित होती है। वह समान वायु ही शरीरगत रसों, धातुओं (इन्द्रियों) और दोषों (कफ आदि) का सञ्चालन करती हुई सम्पूर्ण शरीर में स्थित है।।9।। अपान और प्राण के मध्य भाग (नाभि) में प्राण और अपान दोनों का आश्रय लेकर स्थित हुआ जठरानल खाये हुए अन्न को भलीभाँति पचाता है।।10।।

आस्यं हि पायुपर्यन्तमन्ते स्याद् गुदसञ्ज्ञितम्।
स्रोतस्तस्मात् प्रजायन्ते सर्वस्रोतांसि देहिनाम्॥11।।
प्राणानां सन्निपाताच्च सन्निपातः प्रजायते।
ऊष्मा चाग्निरिति ज्ञेयो योऽन्नं पचति देहिनाम्॥12।।
अग्निवेगवहः प्राणो गुदान्ते प्रतिहन्यते।
स ऊर्ध्वमागम्य पुनः समुत्क्षिपति पावकम्॥13।।
पक्वाशयस्त्वधो नाभ्यामूर्ध्वमामाशयः स्थितः।
नाभिमध्ये शरीरस्य सर्वे प्राणाश्च संस्थिताः॥14।।
प्रस्थिता हृदयात् सर्वे तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा।
वहन्त्यन्नरसान् नाड्यो दश प्राणप्रचोदिताः॥15।।
एष मार्गोऽथ योगानां येन गच्छन्ति तत् पदम्।
जितक्लमाः समा धीरा मूर्धन्यात्मानमादधन्॥16।।
एवं सर्वेषु विहितः प्राणापानेषु देहिनाम्।
तस्मिन् समिध्यते नित्यमग्निः स्थाल्यामिवाहितः॥17।।

मुख से लेकर पायु (गुदा) तक जो महान् स्रोत (प्राण के प्रवाहित होने का मार्ग) है, वही अन्तिम छोर में गुदा के नाम से प्रसिद्ध है। उसी महान् स्रोत से देहधारियों के अन्य सभी छोटे-छोटे स्रोत (प्राणों के सञ्चरण के मार्ग अथवा नाड़ी समुदाय) प्रकट होते हैं।।11।। उन स्रोतों द्वारा सारे अङ्गों में प्राणों का सम्बन्ध या प्रसार होने से उसके साथ रहने वाले जठरानल का भी सम्बन्ध या प्रसार हो जाता है। प्राणियों के शरीर में जो गर्मी का अनुभव होता है, उसे उस जठरानल का ही ताप समझना चाहिये। वही देहधारियों के खाये हुए अन्न को पचाता है।।12।। अग्नि के वेग से बहता हुआ प्राण गुदा के निकट जाकर प्रतिहत हो जाता है; फिर ऊपर की ओर लौटकर समीपवर्ती अग्नि को भी ऊपर उठा देता है।।13।। नाभि से नीचे पक्वाशय और ऊपर आमाशय स्थित है तथा नाभि के मध्य भाग में शरीर सम्बन्धी सभी प्राण स्थित हैं।।14।। वे समस्त प्राण हृदय से इधर-उधर और ऊपर-नीचे प्रस्थान करते हैं; इसलिए दस[1] प्राणों से परिचालित होकर सारी नाड़ियाँ अन्न का रस वहन करती हैं।।15।। यह मुख से लेकर गुदा तक का जो महान् स्रोत है, वह योगियों का मार्ग है। उससे वे योगी परमपद को प्राप्त होते हैं, जिन्होंने सारे

1. प्राणवायु के दस भेद इस प्रकार हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान तथा नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय।

क्लेशों को जीत लिया है, जो सर्वत्र समदर्शी और धीर हैं तथा जिन महात्माओं ने सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा मस्तक में पहुँच कर वहीं अपने आपको स्थित कर दिया है।।16।। प्राणियों के प्राण, अपान आदि सभी वायुओं में स्थापित हुई जठराग्नि शरीर में ही रहकर सदा अग्नि कुण्ड में रखी हुई अग्नि की भाँति प्रज्वलित होती रहती है।।17।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥185॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में भृगु-भरद्वाज संवाद विषयक एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।185।।

पञ्चमोऽध्यायः

जीव की सत्ता पर नाना प्रकार की युक्तियों से शङ्का उपस्थित करना

भरद्वाज उवाच

यदि प्राणयते वायुर्वायुरेव विचेष्टते।
श्वसित्याभाषते चैव तस्माज्जीवो निरर्थकः॥1॥
यद्यूष्मभाव आग्नेयो वह्निना पच्यते यदि।
अग्निर्जरयते चैतत् तस्माज्जीवो निरर्थकः॥2॥
जन्तोः प्रमीयमाणस्य जीवो नैवोपलभ्यते।
वायुरेव जहात्येनमूष्मभावश्च नश्यति॥3॥
यदि वायुमयो जीवः संश्लेषो यदि वायुना।
वायुमण्डलवद् दृश्यो गच्छेत् सह मरुद्गणैः॥4॥
संश्लेषो यदि वातेन यदि तस्मात् प्रणश्यति।
महार्णवविमुक्तत्वादन्यत्सलिलभाजनम्॥5॥
कूपे वा सलिलं दद्यात् प्रदीपं वा हुताशने।
क्षिप्रं प्रविश्य नश्येत तथा नश्यत्यसौ तथा॥6॥
पञ्चधारणके ह्यस्मिन् शरीरे जीवितं कुतः।
तेषामन्यतराभावाच्चतुर्णां नास्ति संशयः॥7॥
नश्यन्त्यापो ह्यनाहाराद् वायुरुच्छ्वासनिग्रहात्।
नश्यते कोष्ठभेदात् खमग्निर्नश्यत्यभोजनात्॥8॥
व्याधिव्रणपरिक्लेशैर्मेदिनी चैव शीर्यते।
पीडितेऽन्यतरे ह्येषां सङ्घातो याति पञ्चधा॥9॥
तस्मिन् पञ्चत्वमापन्ने जीवः किमनुधावति।
किं वेदयति वा जीवः किं शृणोति ब्रवीति च॥10॥

भरद्वाज ने पूछा—भगवन्! यदि वायु ही प्राणी को जीवित रखती है, वायु ही शरीर को चेष्टाशील बनाती है, वही साँस लेती और वही बोलती भी है, तब तो इस

शरीर में जीव की सत्ता स्वीकार करना व्यर्थ ही है।।1।। यदि शरीर में गर्मी अग्नि का अंश है, यदि अग्नि से ही खाये हुए अन्न का परिपाक होता है, यदि अग्नि ही सबको जीर्ण करती है, तब तो जीव की सत्ता मानना व्यर्थ ही है।।2।। जब किसी प्राणी की मृत्यु होती है; तब वहाँ जीव की उपलब्धि नहीं होती। प्राणवायु ही इस प्राणी का परित्याग करती है और शरीर की गर्मी नष्ट हो जाती है।।3।। यदि जीव वायुमय है, यदि वायु से उसका घनिष्ठ सम्पर्क है, तब तो वायुमण्डल के समान उसे प्रत्यक्ष अनुभव में आना चाहिये। वह मृत्यु के पश्चात् वायु के साथ ही जाता हुआ दिखायी देना चाहिये।।4।। यदि वायु के साथ जीव का दृढ़ संयोग है और उसी के कारण वह वायु के साथ ही नष्ट हो जाता है, तब तो जैसे जल पात्र में पत्थर भरकर उसे कोई समुद्र में डाल दे और वह डूब जाए, उसी प्रकार वायु के सम्पर्क से ही जीव का विनाश मानना पड़ेगा। उस दशा में जैसे प्रस्तर से पृथक् जलपात्र की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार प्राण वायु से पृथक् जीव की उपलब्ध होनी चाहिए।।5।। अथवा जैसे कुओं में जल गिराया जाए या जलती आग में दीपक डाल दिया जाए, तो वे दोनों शीघ्र ही उनमें प्रविष्ट होकर अपना पृथक् अस्तित्व खो बैठते हैं। उसी प्रकार पाञ्चभौतिक शरीर का नाश होने पर जीव भी पाँचों तत्त्व में विलीन होकर अपने पृथक् अस्तित्व से रहित हो जाना चाहिये, ऐसा मान लेने पर तो पाँच भूतों से धारण किये हुए शरीर में जीव है ही कहाँ? अत: यह सिद्ध हुआ कि पाञ्चभौतिक सङ्घात से भिन्न जीव नहीं है; उन पाँच तत्त्वों में से किसी एक का अभाव होने पर शेष चारों का भी अभाव हो जाता है—इसमें संशय नहीं है।।6-7।। जल का सर्वथा त्याग करने से शरीर के जलीय अंश का नाश हो जाता है, श्वास रुक जाने से वायु का नाश होता है। उदर का भेदन होने से आकाश तत्त्व नष्ट होता है और भोजन बन्द कर देने से शरीर के अग्नि तत्त्व का नाश हो जाता है।।8।। ज्वर आदि रोग, घाव तथा अन्यान्य प्रकार के क्लेशों से शरीर का पृथ्वी तत्त्व बिखर जाता है। इन पाँचों तत्त्वों में से एक तत्त्व को भी यदि हानि पहुँची तो इनका सारा सङ्घात ही पञ्चतत्त्व को प्राप्त हो जाता है।।9।। पाञ्चभौतिक सङ्घात (शरीर) के नष्ट होने पर यदि जीव है तो वह किसके पीछे दौड़ता है? क्या अनुभव करता है? क्या सुनता है और क्या बोलता है?।।10।।

एषा गौः परलोकस्थं तारयिष्यति मामिति।
यो दत्त्वा म्रियते जन्तुः सा गौः कं तारयिष्यति॥11।।
गौश्च प्रतिग्रहीता च दाता चैव समं यदा।
इहैव विलयं यान्ति कुतस्तेषां समागमः॥12।।
विहगैरुपभुक्तस्य शैलाग्रात् पतितस्य च।
अग्निना चोपयुक्तस्य कुतः सञ्जीवनं पुनः॥13।।
छिन्नस्य यदि वृक्षस्य न मूलं प्रतिरोहति।
बीजान्यस्य प्रवर्तन्ते मृतः क्व पुनरेष्यति॥14।।
बीजमात्रं पुरा सृष्टं यदेतत् परिवर्तते।
मृतामृताः प्रणश्यन्ति बीजाद् बीजं प्रवर्तते॥15।।

मृत्यु के समय लोग इस आशा से गोदान करते हैं कि यह गौ परलोक में जाने पर मुझे तार देगी; परन्तु जीव तो गोदान करके मर जाता है; फिर वह गौ किसको तारेगी?।।11।। गौ, गोदान करने वाला मनुष्य तथा उसको लेने वाला ब्राह्मण—ये तीनों जब यहीं मर जाते हैं, तब परलोक में उनका कैसे समागम होता है?।।12।। इनमें से जो मरता है, उसे या तो पक्षी खा जाते हैं या वह पर्वत के शिखर से गिरकर चूर-चूर हो जाता है अथवा आग में जलकर भस्म हो जाता है। ऐसी दशा में उनका पुनः जीवित कैसे सम्भव है?।।13।। यदि जड़ से कटे हुए वृक्ष का मूल फिर से अङ्कुरित नहीं होता है, केवल उसके बीज ही जमते हैं, तब मरा हुआ मनुष्य फिर कहाँ से आ जाएगा?।।14।। पूर्वकाल में बीजमात्र की सृष्टि हुई थी, जिससे यह जगत् चलता आ रहा है। जो लोग मर जाते हैं, वे तो नष्ट हो जाते हैं और बीज से बीज पैदा होता रहता है।।15।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे जीवस्वरूपाक्षेपे षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 186 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में भृगु-भरद्वाज संवाद में जीव के स्वरूप पर आक्षेप विषयक एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।186।।

षष्ठोऽध्यायः

जीव की सत्ता तथा नित्यता को युक्तियों से सिद्ध करना

भृगुरुवाच

न प्रणाशोऽस्ति जीवस्य दत्तस्य च कृतस्य च।
याति देहान्तरं प्राणी शरीरं तु विशीर्यते॥1।।
न शरीराश्रितो जीवस्तस्मिन् नष्टे प्रणश्यति।
समिधामिव दग्धानां यथाग्निर्दृश्यते तथा॥2।।

भृगुजी ने कहा—ब्रह्मन्! जीव का तथा उसके दिए हुए दान एवं किए हुए कर्म का कभी नाश नहीं होता है। जीव तो दूसरे शरीर में चला जाता है, केवल उसका छोड़ा हुआ शरीर ही यहाँ नष्ट होता है।।1।। शरीर के आश्रय से रहने वाला जीव उसके नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है। जैसे समिधाओं के आश्रित हुई आग उनके जल जाने पर भी देखी जाती है, उसी प्रकार जीव की सत्ता का भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है।।2।।

भरद्वाज उवाच

अग्नेर्यथा तथा तस्य यदि नाशो न विद्यते।
इन्धनस्योपयोगान्ते स चाग्निर्नोपलभ्यते॥3।।
नश्यतीत्येव जानामि शान्तमग्निमनिन्धनम्।
गतिर्यस्य प्रमाणं वा संस्थानं वा न विद्यते॥4।।

भरद्वाज ने पूछा—भगवन्! यदि अग्नि के समान जीव का नाश नहीं होता तो ईंधन के जल जाने पर वह भी तो बुझ ही जाती है; फिर उसकी तो उपलब्धि नहीं होती

है।।3।। अतः मैं ईंधन रहित बुझी हुई आग को यही समझता हूँ कि वह नष्ट हो गई; क्योंकि जिसकी गति, प्रमाण अथवा स्थिति नहीं है, उसका नाश भी मानना पड़ता है। यही दशा जीव की भी है।।4।।

भृगुरुवाच

समिधामुपयोगान्ते यथाग्निर्नोपलभ्यते।
आकाशानुगतत्वाद्धि दुर्ग्राह्यो हि निराश्रयः॥5।।
तथा शरीरसन्त्यागे जीवो ह्याकाशवत् स्थितः।
न गृह्यते तु सूक्ष्मत्वाद् यथा ज्योतिर्न संशयः॥6।।
प्राणान् धारयते ह्यग्निः स जीव उपधार्यताम्।
वायुसन्धारणो ह्यग्निर्नश्यत्युच्छ्वासनिग्रहात्॥7।।
तस्मिन् नष्टे शरीराग्नौ ततो देहमचेतनम्।
पतितं याति भूमित्वमयनं तस्य हि क्षितिः॥8।।
जङ्गमानां हि सर्वेषां स्थावराणां तथैव च।
आकाशं पवनोऽन्वेति ज्योतिस्तमनुगच्छति।
तेषां त्रयाणामेकत्वाद् द्वयं भूमौ प्रतिष्ठितम्॥9।।
यत्र खं तत्र पवनस्तत्राग्निर्यत्र मारुतः।
अमूर्तयस्ते विज्ञेया मूर्तिमन्तः शरीरिणाम्॥10।।

भृगुजी ने कहा—मुने! समिधाओं के जल जाने पर अग्नि का नाश नहीं होता। वह आकाश में अव्यक्त रूप से स्थित हो जाती है; इसलिए उसकी उपलब्धि नहीं होती; क्योंकि बिना किसी आश्रय के अग्नि का ग्रहण होना अत्यन्त कठिन है।।5।। उसी प्रकार शरीर को त्याग देने पर जीव आकाश की भाँति स्थित होता है। वह अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण बुझी हुई आग के समान अनुभव में नहीं आता, परन्तु रहता अवश्य है; इसमें संशय नहीं है।।6।। अग्नि प्राणों को धारण करती है। जीव को उस अग्नि के समान ही ज्योतिर्मय समझो। उस अग्नि को वायु देह के भीतर धारण किए रहती है। श्वास रुक जाने पर वायु के साथ-साथ अग्नि भी नष्ट हो जाती है।।7।। उस शरीराग्नि के नष्ट होने पर अचेतन शरीर पृथ्वी पर गिरकर पार्थिव भाव को प्राप्त हो जाता है; क्योंकि पृथ्वी ही उसका आधार है। समस्त स्थावरों और जङ्गमों की प्राणवायु आकाश को प्राप्त होती है और अग्नि भी उस वायु का ही अनुसरण करती है। इस प्रकार आकाश, वायु और अग्नि—ये तीन तत्त्व एकत्र हो जाते हैं और जल तथा पृथ्वी—दो तत्त्व भूमि पर ही रह जाते हैं।।8-9।। जहाँ आकाश होता है, वहीं वायु की स्थिति होती है और जहाँ वायु होती है, वहीं अग्नि भी रहती है। ये तीनों तत्त्व यद्यपि निराकार हैं तथापि देहधारियों के शरीरों में स्थित होकर मूर्तिमान् समझे जाते हैं।।10।।

भरद्वाज उवाच

यद्यग्निमारुतौ भूमिः खमापश्च शरीरिषु।
जीवः किंलक्षणस्तत्रेत्येतदाचक्ष्व मेऽनघ॥11।।

पञ्चात्मके पञ्चरतौ पञ्चविज्ञानचेतने।
शरीरे प्राणिनां जीवं वेत्तुमिच्छामि यादृशम्॥12।।
मांसशोणितसङ्घाते मेदःस्नाय्वस्थिसञ्चये।
भिद्यमाने शरीरे तु जीवो नैवोपलभ्यते॥13।।
यद्यजीवं शरीरं तु पञ्चभूतसमन्वितम्।
शारीरे मानसे दुःखे कस्तां वेदयते रुजम्॥14।।
शृणोति कथितं जीवः कर्णाभ्यां न शृणोति तत्।
महर्षे मनसि व्यग्रे तस्माज्जीवो निरर्थकः॥15।।
सर्वं पश्यति यद् दृश्यं मनोयुक्तेन चक्षुषा।
मनसि व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति॥16।।
न पश्यति न चाघ्राति न शृणोति न भाषते।
न च स्पर्शरसौ वेत्ति निद्रावशगतः पुनः॥17।।
हृष्यति क्रुद्ध्यते कोऽत्र शोचत्युद्विजते च कः।
इच्छति ध्यायति द्वेष्टि वाचमीरयते च कः॥18।।

भरद्वाज ने पूछा—निष्पाप मुनिवर! यदि देहधारियों के शरीरों में केवल अग्नि, वायु, भूमि, आकाश और जल तत्त्व ही विद्यमान है तो उनमें रहने वाले जीव के क्या लक्षण हैं? यह मुझे बताइये।।11।। प्राणियों का शरीर पाञ्चभौतिक है। पाँच विषयों में इसकी रति है। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और चित्त उपलब्ध होते हैं। इसमें रहने वाले जीव का स्वरूप कैसा है; इस बात को मैं जानना चाहता हूँ।।12।। रक्त और मांस के समूह, चर्बी, नाड़ी और हड्डियों के संग्रह रूपी इस शरीर को चीरने फाड़ने पर इसके भीतर कोई जीव नहीं उपलब्ध होता।।13।। यदि इस पाञ्चभौतिक शरीर को जीव रहित मान लिया जाए, तब प्रश्न यह होता है कि शरीर अथवा मन में पीड़ा होने पर उसके कष्ट का अनुभव कौन करता है?।।14।। महर्षे! जीव किसी की कही हुई बात को पहले दोनों कानों से सुनता है; परन्तु यदि मन में व्यग्रता रही तो वह सुनकर भी नहीं सुनता; इसलिए मन के अतिरिक्त किसी जीव की सत्ता मानना व्यर्थ है।।15।। जो भी दृश्य पदार्थ है, उसे प्राणी तभी देख पाता है जबकि उसकी दृष्टि के साथ मन का संयोग हो। यदि मन व्याकुल हो तो उसकी आँख देखती हुई भी नहीं देख पाती है।।16।। निद्रा के वश में पड़ा हुआ पुरुष (सम्पूर्ण इन्द्रियों के होते हुए भी) न देखता है, न सूँघता है, न सुनता है, न बोलता है और न स्पर्श तथा रस का ही अनुभव करता है।।17।। अतः यह जिज्ञासा होती है कि इस शरीर के अन्दर कौन हर्ष और कौन क्रोध करता है? किसे शोक और उद्वेग होता है? इच्छा, ध्यान, द्वेष और बातचीत कौन करता है?।।18।।

भृगुरुवाच

न पञ्चसाधारणमत्र किञ्चिच्छरीरमेको वहतेऽन्तरात्मा।
स वेत्ति गन्धांश्च रसाञ्श्रुतीश्च स्पर्शं च रूपं च गुणाश्च येऽन्ये॥19।।
पञ्चात्मके पञ्चगुणप्रदर्शी स सर्वगात्रानुगतोऽन्तरात्मा।
स वेत्ति दुःखानि सुखानि चात्र तद्विप्रयोगात् तु न वेत्ति देहः॥20।।

यदा न रूपं न स्पर्शो नोष्मभावश्च पञ्चके।
तदा शान्ते शरीराग्नौ देहत्यागे न नश्यति॥21।।
आपोमयमिदं सर्वमापो मूर्तिः शरीरिणाम्।
तत्रात्मा मानसो ब्रह्मा सर्वभूतेषु लोककृत्॥22।।
आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥23।।
आत्मानं तं विजानीहि सर्वलोकहितात्मकम्।
तस्मिन् यः संश्रितो देहे ह्यब्बिन्दुरिव पुष्करे॥24।।
क्षेत्रज्ञं तं विजानीहि नित्यं लोकहितात्मकम्।
तमो रजश्च सत्त्वं च विद्धि जीवगुणानिमान्॥25।।
सचेतनं जीवगुणं वदन्ति स चेष्टते चेष्टयते च सर्वम्।
अतः परं क्षेत्रविदो वदन्ति प्रावर्तयद् यो भुवनानि सप्त॥26।।
न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति दशार्धतैवास्य शरीरभेदः॥27।।
एवं सर्वेषु भूतेषु गूढश्चरति संवृतः।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया तत्त्वदर्शिभिः॥28।।
तं पूर्वापररात्रेषु युञ्जानः सततं बुधः।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि॥29।।
चित्तस्य हि प्रसादेन हित्वा कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमानन्त्यमश्नुते॥30।।
मानसोऽग्निः शरीरेषु जीव इत्यभिधीयते।
सृष्टिः प्रजापतेरेषा भूताध्यात्मविनिश्चये॥31।।

भृगुजी ने कहा—मुने! मन भी पाञ्चभौतिक ही है; अतः वह पाँचों भूतों से भिन्न कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। एकमात्र अन्तरात्मा ही इस शरीर का भार वहन करता है, वही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द का और दूसरे भी जो गुण हैं, उनका अनुभव करता है।।19।। वह अन्तरात्मा पाँचों इन्द्रियों के गुणों को धारण करने वाले मन का द्रष्टा है और वही इस पाञ्चभौतिक शरीर के सम्पूर्ण अवयवों में व्याप्त होकर सुख-दुःख का अनुभव करता है। जब उसका शरीर के साथ सम्बन्ध छूट जाता है, तब इस शरीर को सुख-दुःख का भान नहीं होता है (इससे मन के अतिरिक्त उसके साक्षी आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है)।।20।। जब पाञ्चभौतिक शरीर में रूप, स्पर्श और गर्मी का भान नहीं होता, उस अवस्था में शरीर स्थित अग्नि के शान्त हो जाने पर जीवात्मा इस शरीर को त्यागकर भी नष्ट नहीं होता।।21।। यह सब प्रपञ्च जलमय है, प्राणियों का यह शरीर भी प्रायः जलमय ही है। उसमें मन में रहने वाला आत्मा विद्यमान है। वही सम्पूर्ण भूतों में लोकस्रष्टा ब्रह्मा के नाम से विख्यात है; क्योंकि समस्त जीवों के सङ्घात का ही नाम ब्रह्मा है।।22।। आत्मा जब प्राकृत गुणों से युक्त होता है, तब उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं और उन्हीं गुणों से जब वह मुक्त हो जाता है, तब परमात्मा कहलाता है।।23।। तुम

क्षेत्रज्ञ को आत्मा ही समझो। वह सर्वलोक हितकारी है। इस शरीर में रहकर भी वह कमल पत्र पर पड़े हुए जल बिन्दु की तरह वास्तव में इससे पृथक् ही है।।24।। उस क्षेत्रज्ञ को सदा आत्मा ही जानो। वह सम्पूर्ण जगत् का हित स्वरूप है। तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण—इन तीनों प्राकृत गुणों को प्रकृति स्थित होने के कारण जीव के गुण समझो।।25।। चेतन जीव के सम्बन्ध से उपर्युक्त जीव के गुणों को चेतना युक्त कहते हैं। वह जीव स्वयं चेष्टा करता है और सबसे चेष्टा करवाता है। शरीर के तत्त्व को जानने वाले पुरुष इस क्षेत्रज्ञ आत्मा से उस परमात्मा को श्रेष्ठ बताते हैं, जिसने भूः भुवः आदि सातों लोकों को उत्पन्न किया है।।26।। देह का नाश होने पर भी जीव का नाश नहीं होता। जो जीव की मृत्यु बताते हैं, वे अज्ञानी हैं और उनका वह कथन मिथ्या है। जीव तो इस मृत देह का त्याग करके दूसरे शरीर में चला जाता है। शरीर के पाँच तत्त्वों का अलग-अलग हो जाना ही शरीर का नाश है।।27।। इस प्रकार आत्मा सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर उनकी हृदय गुफा में गूढ़ भाव से छिपा रहता है। वह तत्त्वदर्शी पुरुषों द्वारा तीक्ष्ण एवं सूक्ष्म बुद्धि से साक्षात् किया जाता है।।28।। जो विद्वान् परिमित आहार करके रात के पहले और पिछले पहर में सदा ध्यान योग का अभ्यास करता है, वह अन्तःकरण शुद्ध होने पर अपने हृदय में ही उस आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है।।29।। चित्त शुद्ध होने पर वह शुभाशुभ कर्मों से अपना सम्बन्ध हटाकर प्रसन्नचित्त हो आत्म स्वरूप में स्थित हो जाता है और अनन्त आनन्द का अनुभव करने लगता है।।30।। समस्त शरीरों में मन के भीतर रहने वाला जो अग्नि के समान प्रकाश स्वरूप चैतन्य है, उसी को समष्टि जीवस्वरूप प्रजापति कहते हैं। उसी प्रजापति से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है। यह बात अध्यात्म तत्त्व का निश्चय करके कही गई है।।31।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे जीवस्वरूपनिरूपणे सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 187 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में भृगु-भरद्वाज के संवाद के प्रसङ्ग में जीव के स्वरूप का निरूपण विषयक एक सौ सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।187।।

सप्तमोऽध्यायः

वर्ण विभागपूर्वक मनुष्यों और समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन

भृगुरुवाच

असृजद् ब्राह्मणानेव पूर्वं ब्रह्मा प्रजापतीन्।
आत्मतेजोभिनिर्वृत्तान् भास्कराग्निसमप्रभान्॥1।।
ततः सत्यं च धर्मं च तपो ब्रह्म च शाश्वतम्।
आचारं चैव शौचं च स्वर्गाय विदधे प्रभुः॥2।।
देवदानवगन्धर्वा दैत्यासुरमहोरगाः।
यक्षराक्षसनागाश्च पिशाचा मनुजास्तथा॥3।।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम।
ये चान्ये भूतसङ्घानां सङ्घास्तांश्चापि निर्ममे॥4।।
ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा॥5।।

भृगुजी कहते हैं—मुने! ब्रह्माजी ने सृष्टि के प्रारम्भ में अपने तेज से सूर्य और अग्नि के समान प्रकाशित होने वाले ब्राह्मणों, मरीचि आदि प्रजापतियों को ही उत्पन्न किया।।1।। उसके बाद भगवान् ब्रह्मा ने स्वर्ग प्राप्ति के साधनभूत सत्य, धर्म, तप, सनातन वेद, आचार और शौच के नियम बनाये।।2।। तदनन्तर देवता, दानव, गन्धर्व, दैत्य, असुर, महान् सर्प, यक्ष, राक्षस, नाग, पिशाच और मनुष्यों को उत्पन्न किया।।3।। द्विजश्रेष्ठ! फिर उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णों की रचना की और प्राणि समूहों में जो अन्य समुदाय हैं, उनकी भी सृष्टि की।।4।। ब्राह्मणों का रङ्ग श्वेत, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीला तथा शूद्रों का काला बनाया।।5।।

भरद्वाज उवाच

चातुर्वर्ण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभिद्यते।
सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्णसङ्करः॥6।।
कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः।
सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद् वर्णो विभिद्यते॥7।।
स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितम्।
तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद् वर्णो विभज्यते॥8।।
जङ्गमानामसङ्ख्येयाः स्थावराणां च जातयः।
तेषां विविधवर्णानां कुतो वर्णविनिश्चयः॥9।।

भरद्वाज ने पूछा—प्रभो! यदि चारों वर्णों में से एक वर्ण के साथ दूसरे वर्ण का रङ्ग भेद है, तब तो सभी वर्णों में विभिन्न रङ्ग के मनुष्य होने के कारण वर्ण सङ्करता ही दिखायी देती है।।6।। काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, क्षुधा और थकावट का प्रभाव हम सब लोगों पर समान रूप से ही पड़ता है; फिर वर्णों का भेद कैसे सिद्ध होता है?।।7।। हम सब लोगों के शरीर से पसीना, मल, मूत्र, कफ, पित्त और रक्त निकलते हैं। ऐसी दशा में रङ्ग के द्वारा वर्णों का विभाग कैसे किया जा सकता है?।।8।। पशु, पक्षी, मनुष्य आदि जङ्गम प्राणियों तथा वृक्ष आदि स्थावर जीवों की असंख्य जातियाँ हैं। उनके रङ्ग भी नाना प्रकार के हैं, अतः उनके वर्णों का निश्चय कैसे हो सकता है?।।9।।

भृगुरुवाच

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥10।।
कामभोगप्रियास्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः।
त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः॥11।।
गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः।

स्वधर्मान् नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः॥12॥
हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः॥13॥
इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते॥14॥
इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात् त्वज्ञानतां गताः॥15॥
ब्राह्मणा ब्रह्मतन्त्रस्थास्तपस्तेषां न नश्यति।
ब्रह्म धारयतां नित्यं व्रतानि नियमांस्तथा॥16॥
ब्रह्म चैव परं सृष्टं ये न जानन्ति तेऽद्विजाः।
तेषां बहुविधास्त्वन्यास्तत्र तत्र हि जातयः॥17॥
पिशाचा राक्षसाः प्रेता विविधा म्लेच्छजातयः।
प्रणष्टज्ञानविज्ञानाः स्वच्छन्दाचारचेष्टिताः॥18॥
प्रजा ब्राह्मणसंस्काराः स्वकर्मकृतनिश्चयाः।
ऋषिभिः स्वेन तपसा सृज्यन्ते चापरे परैः॥19॥
आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाक्षयाव्यया।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा॥20॥

भृगुजी ने कहा—मुने! पहले वर्णों में कोई अन्तर नहीं था, ब्रह्माजी से उत्पन्न होने के कारण यह सारा जगत् ब्राह्मण ही था। पीछे विभिन्न कर्मों के कारण उनमें वर्ण भेद हो गया॥10॥ जो अपने ब्राह्मणोचित धर्म का परित्याग करके विषय भोग के प्रेमी, तीखे स्वभाव वाले, क्रोधी और साहस का काम पसन्द करने वाले हो गये और इन्हीं कारणों से जिनके शरीर का रङ्ग लाल हो गया, वे ब्राह्मण क्षत्रिय भाव को प्राप्त हुए—क्षत्रिय कहलाने लगे॥11॥ जिन्होंने गौओं से तथा कृषि कर्म के द्वारा जीविका चलाने की वृत्ति अपना ली और उसी के कारण जिनके रङ्ग पीले पड़ गये तथा जो ब्राह्मणोचित धर्म को छोड़ बैठे, वे ही ब्राह्मण वैश्य भाव को प्राप्त हुए॥12॥ जो शौच और सदाचार से भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्य के प्रेमी हो गये, लोभवश व्याधों के समान सभी तरह के निन्द्य कर्म करके जीविका चलाने लगे और इसीलिए जिनके शरीर का रङ्ग काला पड़ गया, वे ब्राह्मण शूद्र भाव को प्राप्त हो गये॥13॥ इन्हीं कर्मों के कारण ब्राह्मणत्व से अलग होकर वे सभी ब्राह्मण दूसरे दूसरे वर्ण के हो गये, किन्तु उनके लिए नित्य धर्मानुष्ठान और यज्ञकर्म का कभी निषेध नहीं किया गया है॥14॥ इस प्रकार ये चार वर्ण हुए, जिनके लिए ब्रह्माजी ने पहले ब्राह्मी सरस्वती (वेदवाणी) प्रकट की। परन्तु लोभ विशेष के कारण शूद्र अज्ञान भाव को प्राप्त हुए—वेदाध्ययन के अनधिकारी हो गये॥15॥ जो ब्राह्मण वेद की आज्ञा के अधीन रहकर सारा कार्य करते, वेद मन्त्रों को स्मरण रखते और सदा व्रत एवं नियमों का पालन करते हैं, उनकी तपस्या कभी नष्ट नहीं होती॥16॥ जो इस सारी सृष्टि को परब्रह्म परमात्मा का रूप नहीं जानते हैं, वे द्विज कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। ऐसे लोगों को नाना प्रकार की दूसरी दूसरी योनियों में

जन्म लेना पड़ता है।।।17।। वे ज्ञान-विज्ञान से हीन और स्वेच्छाचारी लोग पिशाच, राक्षस, प्रेत तथा नाना प्रकार की म्लेच्छ जाति के होते हैं।।18।। पीछे से ऋषियों ने अपनी तपस्या के बल से कुछ ऐसी प्रजा उत्पन्न की, जो वैदिक संस्कारों से सम्पन्न तथा अपने धर्म-कर्म में दृढ़तापूर्वक डटी रहने वाली थी। इस प्रकार प्राचीन ऋषियों द्वारा अर्वाचीन ऋषियों की सृष्टि होने लगी।।19।। किन्तु जो सृष्टि आदिदेव ब्रह्मा के मन से उत्पन्न हुई है, जिसके जड़ मूल केवल ब्रह्माजी ही हैं तथा जो अक्षय, अविकारी एवं धर्म में तत्पर रहने वाली है, वह सृष्टि मानसी कहलाती है।।20।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे वर्णविभागकथने अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 188 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में भृगु-भरद्वाज के प्रसङ्ग में वर्णों के विभाग का वर्णन विषयक एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।188।।

अष्टमोऽध्यायः

चारों वर्णों के अलग-अलग कर्मों का और सदाचार का वर्णन तथा वैराग्य से परब्रह्म की प्राप्ति

भरद्वाज उवाच

ब्राह्मणः केन भवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तम।
वैश्यः शूद्रश्च विप्रर्षे तद् ब्रूहि वदतां वर॥1।।

भरद्वाज ने पूछा—वक्ताओं में श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे! द्विजोत्तम! अब मुझे यह बताइये कि मनुष्य कौन-सा कर्म करने से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र होता है?।।1।।

भृगुरुवाच

जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः।
वेदाध्ययनसम्पन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः॥2।।
शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः।
नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते॥3।।
सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥4।।
क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसङ्गतः।
दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते॥5।।
वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः।
वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति सञ्ज्ञितः॥6।।
सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः।
त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः॥7।।

शूद्रे चैतद् भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥8॥
सर्वोपायैस्तु लोभस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
एतत् पवित्रं ज्ञानानां तथा चैवात्मसंयमः॥9॥
वार्यौ सर्वात्मना तौ हि श्रेयोघातार्थमुच्छ्रितौ।
नित्यं क्रोधाच्छ्रियं रक्षेत् तपो रक्षेच्च मत्सरात्॥10॥
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः।
यस्य सर्वे समारम्भा निराशीर्बन्धना द्विज॥11॥
त्यागे यस्य हुतं सर्वं स त्यागी च स बुद्धिमान्।
अहिंस्रः सर्वभूतानां मैत्रायणगतश्चरेत्॥12॥
परिग्रहान् परित्यज्य भवेद् बुद्ध्या जितेन्द्रियः।
अशोकं स्थानमातिष्ठेदिह चामुत्र चाभयम्॥13॥

भृगुजी ने कहा—जो जाति, कर्म आदि संस्कारों से सम्पन्न, पवित्र तथा वेदों के स्वाध्याय में संलग्न है (यजन-याजन, अध्ययनाध्यापन और दान-प्रतिग्रह—इन) छः कर्मों में स्थित रहता है, शौच एवं सदाचार का पालन तथा परम उत्तम यज्ञ शिष्ट अन्न का भोजन करता है, गुरु के प्रति प्रेम रखता, नित्य व्रत का पालन करता तथा सत्य में तत्पर रहता है, वही ब्राह्मण कहलाता है॥2-3॥ जिसमें सत्य, दान, द्रोह न करने का भाव, क्रूरता का अभाव, लज्जा, दया और तप—ये सद्गुण देखे जाते हैं, वह ब्राह्मण माना गया है॥4॥ जो क्षत्रियोचित युद्ध आदि कर्म का सेवन करता है, वेदों के अध्ययन में लगा रहता है, ब्राह्मणों को दान देता है और प्रजा से कर लेकर उसकी रक्षा करता है, वह क्षत्रिय कहलाता है॥5॥ इसी प्रकार जो वेदाध्ययन से सम्पन्न होकर व्यापार, पशु पालन और खेती का काम करके अन्न संग्रह करने की रुचि रखता और पवित्र रहता है, वह वैश्य कहलाता है॥6॥ किन्तु जो वेद और सदाचार का परित्याग करके सदा सब कुछ खाने में अनुरक्त रहता है और सब तरह के काम करता है, साथ ही बाहर भीतर से अपवित्र रहता है, वह शूद्र कहा गया है॥7॥ उपर्युक्त सत्य आदि सात गुण यदि शूद्र में दिखायी दें और ब्राह्मणों में न हों तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं है॥8॥ क्रोध और लोभ मनुष्य के कल्याण में बाधा डालने के लिए सदा उद्यत रहते हैं; अतः पूरी शक्ति लगाकर इन दोनों का निवारण करना चाहिये। धन सम्पत्ति को क्रोध के आघात से बचाना चाहिये, तप को मात्सर्य के आघात से बचाना चाहिये, विद्या को मान-अपमान से और अपने आपको प्रमाद के आक्रमण से बचाना चाहिये। ब्रह्मन्! जिसके सभी कार्य कामनाओं के बन्धन से रहित होते हैं तथा जिसने त्याग की आग में सब कुछ होम दिया है, वही त्यागी और वही बुद्धिमान् है। किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, सबके साथ मैत्रीपूर्ण बर्ताव करे। स्त्री पुत्र आदि की ममता एवं आसक्ति को त्याग कर बुद्धि के द्वारा इन्द्रियों को वश में करे और उस स्थिति को प्राप्त करे, जो इहलोक और परलोक में भी निर्भय एवं शोकरहित है॥9-13॥

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना॥14।।
इन्द्रियैर्गृह्यते यद् यत् तत् तद् व्यक्तमिति स्थितिः।
अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम्॥15।।
अविस्रम्भे न गन्तव्यं विस्रम्भे धारयेन्मनः।
मनः प्राणे निगृह्णीयात् प्राणं ब्रह्मणि धारयेत्॥16।।
निर्वेदादेव निर्वाणं न च किञ्चिद्विचिन्तयेत्।
सुखं वै ब्राह्मणो ब्रह्म निर्वेदेनाधिगच्छति॥17।।
शौचेन सततं युक्तः सदाचारसमन्वितः।
सानुक्रोशश्च भूतेषु तद् द्विजातिषु लक्षणम्॥18।।

नित्य तप करे, मननशील होकर इन्द्रियों का दमन और मन का संयम करे। आसक्ति के आश्रयभूत देह गेह आदि में आसक्त न होकर अजित (परमात्मा) को जीतने (प्राप्त करने) की इच्छा रखे।।14।। इन्द्रियों से जिसका ग्रहण होता है, वह सब व्यक्त कहलाता है। जो इन्द्रियातीत होने के कारण अनुमान से ही जाना जाए, उसे अव्यक्त समझना चाहिए।।15।। जो विश्वास के योग्य नहीं है, उस मार्ग पर न चले ओर जो विश्वास करने योग्य है, उसमें मन लगावे। मन को प्राण में और प्राण को ब्रह्म में स्थापित करे।।16।। वैराग्य से ही निर्वाण पद (मोक्ष) प्राप्त होता है। उसे पाकर मनुष्य किसी अनात्म पदार्थ का चिन्तन नहीं करता है। ब्राह्मण संसार से वैराग्य होने पर सुख स्वरूप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।।17।। सर्वदा शौच और सदाचार का पालन करे और समस्त प्राणियों पर दया भाव बनाये रखे; यह ब्राह्मण का प्रधान लक्षण है।।18।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे वर्णस्वरूपकथने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 189 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में भृगु-भरद्वाज संवाद के प्रसङ्ग में वर्णों के स्वरूप का कथन विषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ।।189।।

नवमोऽध्यायः

सत्य की महिमा, असत्य के दोष तथा लोक और परलोक के सुख-दुःख का विवेचन

भृगुरुवाच

सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं सत्यं विसृजते प्रजाः।
सत्येन धार्यते लोकः स्वर्गं सत्येन गच्छति॥1।।
अनृतं तमसो रूपं तमसा नीयते ह्यधः।
तमोग्रस्ता न पश्यन्ति प्रकाशं तमसाऽऽवृताः॥2।।
स्वर्गः प्रकाश इत्याहुर्नरकं तम एव च।

सत्यानृतं तदुभयं प्राप्यते जगतीचरैः॥3॥
तत्राप्येवंविधा लोके वृत्तिः सत्यानृते भवेत्।
धर्माधर्मौ प्रकाशश्च तमो दुःखं सुखं तथा॥4॥
तत्र यत् सत्यं स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाशस्तत् सुखमिति।
तत्र यदनृतं सोऽधर्मो योऽधर्मस्तत् तमो यत् तमस्तद् दुःखमिति॥5॥

अत्रोच्यते-

शारीरैर्मानसैर्दुःखैः सुखैश्चाप्यसुखोदयैः।
लोकसृष्टिं प्रपश्यन्तो न मुह्यन्ति विचक्षणाः॥6॥
तत्र दुःखविमोक्षार्थं प्रयतेत विचक्षणः।
सुखं ह्यनित्यं भूतानामिहलोके परत्र च॥7॥
राहुग्रस्तस्य सोमस्य यथा ज्योत्स्ना न भासते।
तथा तमोऽभिभूतानां भूतानां नश्यते सुखम्॥8॥
तत् खलु द्विविधं सुखमुच्यते शारीरं मानसञ्च।
इह खल्वमुष्मिंश्च लोके वस्तुप्रवृत्तयः सुखार्थमभिधीयन्ते।
न ह्यतः परं त्रिवर्गफलं विशिष्टतरमस्ति स एव काम्यो गुणविशेषो धर्मार्थगुणारम्भस्तद्धेतुरस्योत्पत्तिः सुखप्रयोजनार्थ आरम्भः॥9॥

भृगुजी कहते हैं—मुने! सत्य ही ब्रह्म है, सत्य ही तप है, सत्य ही प्रजा की सृष्टि करता है, सत्य के ही आधार पर संसार टिका हुआ है और सत्य के ही प्रभाव से मनुष्य स्वर्ग में जाता है॥1॥ असत्य अन्धकार का रूप है। वह मनुष्य को नीचे गिराता है। अज्ञानान्धकार से धिरे हुए मनुष्य तमोगुण से ग्रस्त होकर ज्ञान के प्रकाश को नहीं देख पाते हैं॥2॥ स्वर्ग प्रकाशमय है और नरक अन्धकारमय है, ऐसा कहते हैं। सत्य और अनृत से युक्त जो मानव योनि है, वह ज्ञान और अज्ञान दोनों के सम्मिश्रण से जगत् के जीवों को प्राप्त होती है॥3॥ उसमें भी लोक में ऐसी वृत्ति जाननी चाहिए, जो सत्य और अनृत हैं, वे ही धर्म और अधर्म, प्रकाश और अन्धकार तथा दुःख और सुख हैं॥4॥ वहाँ जो सत्य है, वही धर्म है, जो धर्म है वही प्रकाश है और जो प्रकाश है, वही सुख है। इसी प्रकार वहाँ जो अनृत अर्थात् असत्य है, वही अधर्म है और जो अधर्म है, वही अन्धकार है और जो अन्धकार है, वही दुःख है॥5॥ इस विषय में ऐसा कहा जाता है—संसार की सृष्टि शारीरिक और मानसिक क्लेशों से युक्त है। इसमें जो सुख हैं, वे भी अन्त में दुःख ही उत्पन्न करने वाले हैं। ऐसी दृष्टि रखने विद्वान् पुरुष कभी मोह में नहीं पड़ते हैं॥6॥ अतः विज्ञ एवं बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि सदा दुःख से छूटने के लिए प्रयत्न करे। इहलोक और परलोक में भी प्राणियों को जो सुख मिलता है, वह अनित्य है॥7॥ जैसे राहु से ग्रस्त होने पर चन्द्रमा की चाँदनी प्रकाश में नहीं आती, उसी प्रकार तम (अज्ञान एवं दुःख) से पीड़ित हुए प्राणियों का सुख नष्ट हो जाता है॥8॥ सुख दो प्रकार का बताया जाता है—शारीरिक और मानसिक। इहलोक और परलोक में जो वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रवृत्तियाँ हैं, वे सुख के लिए ही बतायी जाती

हैं। इस सुख से बढ़कर त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का और कोई अत्यन्त विशिष्ट फल नहीं है। वह सुख ही प्राणी का वांछनीय गुण विशेष है। धर्म और अर्थ जिसके अङ्ग हैं, उस सुख के लिए ही कर्मों का आरम्भ किया जाता है; क्योंकि सुख की उत्पत्ति में उद्यम ही हेतु हैं; अतः सुख के उद्देश्य से ही कर्मों का आरम्भ किया जाता है।।9।।

भरद्वाज उवाच

यदेतद् भवताभिहितं सुखानां परमा स्थितिरिति न तदुपगृह्णीमो न ह्येषामृषीणां महति स्थितानामप्राप्य एष काम्यो गुणविशेषो न चैनमभिलषन्ति च तपसि श्रूयते त्रिलोककृद् ब्रह्मा प्रभुरेकाकी तिष्ठति। ब्रह्मचारी न कामसुखेष्वात्मानमवदधाति। अपि च भगवान् विश्वेश्वर उमापतिः काममभिवर्तमानमनङ्गत्वेन शममनयत्। तस्माद् ब्रूमो न तु महात्मभिरयं प्रतिगृहीतो न त्वेषां तावद् विशिष्टो गुणविशेष इति। नैतद् भगवतः प्रत्येमि भगवता तूक्तं सुखान्न परमस्तीति लोकप्रवादो हि द्विविधः फलोदयः सुकृतात्सुखमवाप्यते दुष्कृताद् दुःखमिति॥10।।

भरद्वाज ने पूछा—प्रभो! आपने जो यह बताया है कि सुखों का ही सबसे ऊँचा स्थान है—सुख से बढ़कर त्रिवर्ग का और कोई फल नहीं है, आपकी यह बात हमारे मन में ठीक नहीं जँचती है; क्योंकि जो महान् तप में स्थित ऋषिगण हैं, उनके लिए यह वांछनीय गुण विशेष सुख यद्यपि प्राप्त हो सकता है, तो भी वे इसे नहीं चाहते हैं। सुना जाता है कि तीनों लोकों की सृष्टि करने वाले भगवान् ब्रह्मा अकेले ही रहते हैं, ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और काम सुख में कभी मन नहीं लगाते हैं। भगवती उमा के प्राणवल्लभ भगवान् विश्वनाथ ने भी अपने सामने आये हुए काम को जलाकर शान्त कर दिया और उसे अनङ्ग बना दिया; इसलिए हम कहते हैं कि महात्मा पुरुषों ने कभी इसे स्वीकार नहीं किया है। उनके लिए यह काम सुख अर्थात् सांसारिक भोगों का सुख सबसे बढ़कर सुख विशेष नहीं है; परन्तु आपकी बातों से मुझे ऐसी प्रतीति नहीं होती है। आपने तो यह कहा है कि इस सुख से बढ़कर दूसरा कोई फल नहीं है। लोक में ऐसा कहा जाता है कि फल की उत्पत्ति दो प्रकार की होती है। पुण्य कर्म से सुख प्राप्त होता है और पाप कर्म से दुःख।।10।।

भृगुरुवाच

अत्रोच्यते—अनृतात् खलु तमः प्रादुर्भूतं ततस्तमोग्रस्ता अधर्ममेवानुवर्तन्ते न धर्मं क्रोधलोभहिंसानृतादिभिरवच्छन्ना न खल्वस्मिँल्लोके नामुत्र सुखमाप्नुवन्ति। विविधव्याधिरुजोपतापैरवकीर्यन्ते। वधबन्धनपरिक्लेशादिभिश्च क्षुत्पिपासाश्रमकृतैरुपतापैरुपतप्यन्ते। वर्षवातात्युष्णातिशीतकृतैश्च प्रतिभयैः शारीरैर्दुःखैरुपतप्यन्ते। बन्धुधनविनाशविप्रयोगकृतैश्च मानसैः शोकैरभिभूयन्ते जरामृत्युकृतैश्चान्यैरिति॥11।।

यस्त्वेतैः शारीरमानसैर्दुःखैर्न संस्पृश्यते स सुखं वेद।
न चैते दोषाः स्वर्गे प्रादुर्भवन्ति। तत्र खलु भवन्ति॥12।।

सुसुखः पवनः स्वर्गे गन्धश्च सुरभिस्तथा।
क्षुत्पिपासा श्रमो नास्ति न जरा न च पापकम्॥13॥
नित्यमेव सुखं स्वर्गे सुखं दुःखमिहोभयम्।
नरके दुःखमेवाहुः सुखं तत्परमं पदम्॥14॥
पृथिवी सर्वभूतानां जनित्री तद्विधाः स्त्रियः।
पुमान् प्रजापतिस्तत्र शुक्रं तेजोमयं विदुः॥15॥
इत्येतल्लोकनिर्माणं ब्रह्मणा विहितं पुरा।
प्रजाः समनुवर्तन्ते स्वैः स्वैः कर्मभिरावृताः॥16॥

भृगुजी ने कहा—मुने! असत्य से अज्ञान की उत्पत्ति हुई है; अतः तमोग्रस्त मनुष्य अधर्म के ही पीछे चलते हैं; धर्म का अनुसरण नहीं करते हैं। जो लोग क्रोध, लोभ, हिंसा और असत्य आदि से आच्छादित हैं, वे न तो इस लोक में सुखी होते हैं और न परलोक में ही। वे नाना प्रकार के रोग, व्याधि और ताप से संतप्त होते रहते हैं। वध और बन्धन आदि के क्लेशों से तथा भूख, प्यास और थकावट के कारण होने वाले संतापों से भी पीड़ित होते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें आँधी, पानी, अत्यन्त गर्मी और अधिक सर्दी से उत्पन्न हुए भयङ्कर शारीरिक कष्ट भी सहन करने पड़ते हैं। बन्धु बान्धवों की मृत्यु, धन के नाश और प्रेमीजनों के वियोग के कारण होने वाले मानसिक शोक भी उन्हें सताते रहते हैं। बुढ़ापा और मृत्यु के कारण भी बहुत-से दूसरे दूसरे क्लेश भी उन्हें पीड़ा देते रहते हैं।।11।। जो इन शारीरिक और मानसिक दुःखों के सम्बन्ध से रहित है, उसी को सुख का अनुभव होता है। स्वर्गलोक में ये पूर्वोक्त दुःख रूप दोष नहीं उत्पन्न होते हैं। वहाँ निम्नाङ्कित बातें होती हैं।।12।। स्वर्ग में अत्यन्त सुखदायिनी हवा चलती है। मनोहर सुगन्ध छायी रहती है। भूख, प्यास, परिश्रम, बुढ़ापा और पाप के फल का कष्ट वहाँ कभी नहीं भोगना पड़ता है।।13।। स्वर्ग में सदा सुख ही होता है। इस मर्त्य लोक में सुख और दुःख दोनों होते हैं। नरक में केवल दुःख ही दुःख बताया गया है। वास्तविक सुख तो वह परमपद स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही हैं।।14।। पृथ्वी सम्पूर्ण भूतों की जननी है। संसार की स्त्रियाँ भी पृथ्वी के समान ही सन्तान की जननी होती हैं। पुरुष ही वहाँ प्रजापति के समान है। पुरुष का जो वीर्य है, उसे तेजःस्वरूप समझा जाता है।।15।। पूर्वकाल में ब्रह्माजी ने इस स्त्री-पुरुष स्वरूप जगत् की सृष्टि की थी। यहाँ समस्त प्रजा अपने-अपने कर्मों से आवृत होकर सुख-दुःख का अनुभव करती है।।16।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे
नवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 190 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में भृगु-भरद्वाज संवाद विषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ।।190।।

दशमोऽध्याय:

ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य आश्रमों के धर्म का वर्णन

भरद्वाज उवाच

दानस्य किं फलं प्राहुर्धर्मस्य चरितस्य च।
तपसश्च सुतप्तस्य स्वाध्यायस्य हुतस्य वा॥1।।

भरद्वाज ने पूछा—ब्रह्मन्! आचरण में लाए हुए दान रूप धर्म का, भलीभाँति की हुई तपस्या का तथा स्वाध्याय और अग्निहोत्र का क्या फल बताया गया है?।।1।।

भृगुरुवाच

हुतेन शाम्यते पापं स्वाध्यायैः शान्तिरुत्तमा।
दानेन भोगानित्याहुस्तपसा स्वर्गमाप्नुयात्॥2।।
दानं तु द्विविधं प्राहुः परत्रार्थमिहैव च।
सद्भ्यो यद् दीयते किञ्चित् तत्परत्रोपतिष्ठते॥3।।
असद्भ्यो दीयते यत् तु तद् दानमिह भुज्यते।
यादृशं दीयते दानं तादृशं फलमश्नुते॥4।।

भृगुजी ने कहा—मुने! अग्निहोत्र से पाप का निवारण किया जाता है, स्वाध्याय से उत्तम शान्ति मिलती है, दान से भोगों की प्राप्ति बतायी गयी है और तपस्या से मनुष्य स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है।।2।। दान दो प्रकार का बताया जाता है—एक परलोक के लिए है और दूसरा इहलोक के लिए। सत्पुरुषों को जो कुछ दिया जाता है, वह दान परलोक में अपना फल देने के लिए उपस्थित होता है और असत्पुरुषों को जो दान दिया जाता है, उसका फल यहीं भोगा जाता है। जैसा दान दिया जाता है, वैसा ही उसका फल भी भोगने में आता है।।3-4।।

भरद्वाज उवाच

किं कस्य धर्माचरणं किं वा धर्मस्य लक्षणम्।
धर्मः कतिविधो वापि तद् भवान् वक्तुमर्हति॥5।।

भरद्वाज ने पूछा—ब्रह्मन्! किसका धर्माचरण कैसा होता है अथवा धर्म का लक्षण क्या है? या धर्म के कितने भेद हैं? यह सब आप मुझे बताने की कृपा करें।।5।।

भृगुरुवाच

स्वधर्माचरणे युक्ता ये भवन्ति मनीषिणः।
तेषां स्वर्गफलावाप्तिर्योऽन्यथा स विमुह्यते॥6।।

भृगुजी ने कहा—मुने! जो मनीषी पुरुष अपने वर्णाश्रमोचित धर्म के आचरण में सावधानी के साथ लगे रहते हैं, उन्हें स्वर्गरूपी फल की प्राप्ति होती है। जो इसके विपरीत अधर्म का आचरण करता है, वह मोह के वशीभूत होता है[1]।।6।।

---

1. इस श्लोक में पूर्वोक्त तीनों प्रश्नों का एक साथ ही सामान्य उत्तर दे दिया गया है। जो जिस वर्ण अथवा आश्रम का है, उसका धर्माचरण भी वैसा ही है। धर्म का लक्षण है—स्वर्ग प्राप्ति कराने वाला वर्णाश्रमोचित आचार। वर्ण और आश्रम के जितने भेद हैं, उतने ही उनके धर्म के भी हैं।

भरद्वाज उवाच

यदेतच्चातुराश्रम्यं ब्रह्मर्षिविहितं पुरा।
तेषां स्वे स्वे समाचारास्तान्मे वक्तुमिहार्हसि॥7॥

भरद्वाज ऋषि ने पूछा—भगवन्! ब्रह्मर्षि ने पूर्व काल में जो चार आश्रमों का विभाग किया है, उनके अपने-अपने धर्म क्या हैं? उन्हें बताने की कृपा कीजिये॥7॥

भृगुरुवाच

पूर्वमेव भगवता ब्रह्मणा लोकहितमनुतिष्ठता धर्मसंरक्षणार्थ-माश्रमाश्चत्वारोऽभिनिर्दिष्टाः। तत्र गुरुकुलवासमेव प्रथममाश्रममुदाहरन्ति। सम्यग्यत्र शौचसंस्कारनियमव्रतविनियतात्मा उभे सन्ध्ये भास्कराग्निदैवतान्यु-पस्थाय विहाय तन्द्र्यालस्ये गुरोरभिवादनवेदाभ्यासश्रवणपवित्रीकृतान्तरात्मा त्रिषवणमुपस्पृश्य ब्रह्मचर्याग्निपरिचरणगुरुशुश्रूषानित्यभिक्षाभैक्ष्यादिसर्व-निवेदितान्तरात्मा गुरुवचननिर्देशानुष्ठानाप्रतिकूलो गुरुप्रसादलब्ध-स्वाध्यायतत्परः स्यात्॥8॥

भवति चात्र श्लोकः--

गुरुं यस्तु समाराध्य द्विजो वेदमवाप्नुयात्।
तस्य स्वर्गफलावाप्तिः सिध्यते चास्य मानसमिति॥9॥

गार्हस्थ्यं खलु द्वितीयमाश्रमं वदन्ति। तस्य समुदाचारलक्षणं सर्वमनु-व्याख्यास्यामः। समावृत्तानां सदाचाराणां सहधर्मचर्यफलार्थिना गृहाश्रमो विधीयते। धर्मार्थकामावाप्तिर्ह्यत्र त्रिवर्गसाधनमपेक्ष्यागर्हितेन कर्मणा धनान्यादाय स्वाध्यायोपलब्धप्रकर्षेण वा ब्रह्मर्षिनिर्मितेन वा अद्रिसारगतेन वा हव्यकव्यनियमाभ्यासदैवतप्रसादोपलब्धेन वा धनेन गृहस्थो गार्हस्थ्यं वर्तयेत्। तद्धि सर्वाश्रमाणां मूलमुदाहरन्ति॥ गुरुकुलनिवासिनः परिव्राजका ये चान्ये सङ्कल्पितव्रतनियमधर्मानुष्ठायिनस्तेषामप्यत एव भिक्षाबलिसंविभागाः प्रवर्तन्ते॥10॥

भृगुजी ने कहा—मुने! जगत् का कल्याण करने वाले भगवान् ब्रह्मा ने पूर्वकाल में ही धर्म की रक्षा के लिए चार आश्रमों का निर्देश किया था। उनमें से ब्रह्मचर्य पालनपूर्वक गुरुकुल वास को ही पहला आश्रम कहते हैं। उसमें रहने वाले ब्रह्मचारी को बाहर भीतर की शुद्धि, वैदिक संस्कार तथा व्रत नियमों का पालन करते हुए अपने मन को वश में रखना चाहिये। सुबह और शाम दोनों संध्याओं के समय संध्योपासना, सूर्योपस्थान और अग्निहोत्र के द्वारा अग्निदेव की आराधना करनी चाहिये। तन्द्रा और आलस्य को त्याग कर प्रतिदिन गुरु को प्रणाम करे और वेदों के अभ्यास तथा श्रवण से अपनी अन्तरात्मा को पवित्र करे। ब्रह्मचर्य का पालन, अग्नि की उपासना और गुरु की सेवा करे। प्रतिदिन भिक्षा माँग कर लाये। भिक्षा में जो कुछ प्राप्त हो, वह सब गुरु को अर्पण कर दे। अपनी अन्तरात्मा को भी गुरु के चरणों में निछावर कर दे। गुरुजी जो कुछ कहें, जिसके लिए सङ्केत करें और जिस कार्य के निमित्त स्पष्ट शब्दों में आज्ञा दें,

उसके विपरीत आचरण न करे। गुरु के कृपा प्रसाद से मिले हुए स्वाध्याय में तत्पर होवे।।8।। इस विषय में यह श्लोक है—जो द्विज गुरु की आराधना करके वेदाध्ययन करता है, उसे स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है और उसका मानसिक सङ्कल्प सिद्ध होता है।।9।। गार्हस्थ्य को दूसरा आश्रम कहते हैं। अब हम उसमें पालन करने योग्य समस्त उत्तम आचरणों की व्याख्या करेंगे। जो सदाचार का पालन करने वाले ब्रह्मचारी विद्या पढ़कर गुरुकुल से स्नातक होकर लौटते हैं, उन्हें यदि सहधर्मिणी के साथ रहकर धर्माचरण करने और उसका फल पाने की इच्छा हो तो उनके लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की विधि है। इस आश्रम में धर्म, अर्थ और काम तीनों की प्राप्ति होती है; इसलिए त्रिवर्ग साधन की इच्छा रखकर गृहस्थ को उत्तम कर्म के द्वारा धन संग्रह करना चाहिये, अर्थात् वह स्वाध्याय से प्राप्त हुई विशिष्ट योग्यता से, ब्रह्मर्षियों द्वारा धर्मशास्त्रों में निश्चित किए हुए मार्ग से अथवा पर्वत से उपलब्ध हुए उसके सारभूत मणिरत्न, दिव्यौषधि एवं स्वर्ण आदि से धन का सञ्चय करे। अथवा हव्य (यज्ञ), कव्य (श्राद्ध), नियम, वेदाभ्यास तथा देवताओं की प्रसन्नता से प्राप्त धन के द्वारा गृहस्थ पुरुष अपनी गृहस्थी का निर्वाह करे; क्योंकि गार्हस्थ्य आश्रम को सब आश्रमों का मूल कहते हैं। गुरुकुल में निवास करने वाले ब्रह्मचारी, वन में रहकर सङ्कल्प के अनुसार व्रत, नियम तथा धर्मों का पालन करने वो अन्यान्य वानप्रस्थ एवं सब कुछ त्याग कर सर्वत्र विचरने वाले संन्यासी भी इस गृहस्थाश्रम से ही भिक्षा, भेंट, उपहार तथा दान आदि पाकर अपने-अपने धर्म के पालन में प्रवृत्त होते हैं।।10।।

वानप्रस्थानां च द्रव्योपस्कार इति प्रायशः खल्वेते साधवः साधुपथ्यौदनाः स्वाध्यायप्रसङ्गिनस्तीर्थाभिगमनदेशदर्शनार्थं पृथिवीं पर्यटन्ति तेषां प्रत्युत्थानाभिगमनाभिवादनानसूयवाक्प्रदानसुख-शक्त्यासनसुख-शयनाभ्यवहारसत्क्रिया चेति॥11।।

भवन्ति चात्र श्लोकः—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति॥12।।
अपि चात्र यज्ञक्रियाभिर्देवताः प्रीयन्ते॥ निवापेन पितरो विद्याभ्यासश्रवण-धारणेन ऋषयः॥ अपत्योत्पादनेन प्रजापतिरिति॥13।।

श्लोकौ चात्र भवतः--

वात्सल्यात्सर्वभूतेभ्यो वाच्याः श्रोत्रसुखा गिरः।
परितापोपघातश्च पारुष्यं चात्र गर्हितम्॥14।।
अवज्ञानमहङ्कारो दम्भश्चैव विगर्हितः।
अहिंसा सत्यमक्रोधः सर्वाश्रमगतं तपः॥15।।
अपि चात्र माल्याभरणवस्त्राभ्यङ्गनित्योपभोगनृत्यगीतवादित्रश्रुतिसुख-नयनाभिरामदर्शनानां प्राप्तिर्भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयचोष्याणामभ्यवहार्याणां विविधानामुपभोगः। स्वविहारसन्तोषः कामसुखावाप्तिरिति॥16।।

त्रिवर्गगुणनिर्वृत्तिर्यस्य नित्यं गृहाश्रमे।
स सुखान्यनुभूयेह शिष्टानां गतिमाप्नुयात्॥17।।
उञ्छवृत्तिर्गृहस्थो यः स्वधर्माचरणे रतः।
त्यक्तकामसुखारम्भः स्वर्गस्तस्य न दुर्लभः॥18।।

वानप्रस्थों के लिए धन का संग्रह करना निषिद्ध है। ये श्रेष्ठ लोग प्रायः शुद्ध एवं हितकर अन्न मात्र के इच्छुक होकर स्वाध्याय, तीर्थयात्रा एवं देश दर्शन के निमित्त सारी पृथ्वी पर घूमते फिरते हैं। ये घर पर पधारें तो उठकर, आगे बढ़कर इनका स्वागत करे। इनके चरणों में मस्तक झुकावे, दोष दृष्टि न रखकर उनसे उत्तम वचन बोले। यथाशक्ति सुखद आसन दे, सुखद शय्या पर उन्हें सुलावे और उत्तम भोजन करावे। इस प्रकार उनका पूर्ण सत्कार करे। यही उन श्रेष्ठ पुरुष के प्रति गृहस्थ का कर्त्तव्य है।।11।। जिस गृहस्थ के दरवाजे से कोई अतिथि भिक्षा न पाने के कारण निराश होकर लौट जाता है, वह उस गृहस्थ को अपना पाप दे उसका पुण्य लेकर चला जाता है।।12।। इसके सिवा गृहस्थाश्रम में रहकर यज्ञ करने से देवता, श्राद्ध-तर्पण करने से पितर, वेद शास्त्रों के श्रवण, अभ्यास और धारण से ऋषि तथा सन्तानोत्पादन से प्रजापति प्रसन्न होते हैं।।13।। वाणी ऐसी बोलनी चाहिये, जिसमें सब प्राणियों के प्रति स्नेह भरा हो तथा जो सुनते समय कानों को सुखद जान पड़े। दूसरों का पीड़ा देना, मारना और कटुवचन सुनाना—ये सब निन्दित कार्य हैं।।14।। किसी का अनादर करना, अहङ्कार दिखाना और ढोंग करना—इन दुर्गुणों की भी विशेष निन्दा की गई है। किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना और मन में क्रोध न आने देना—यह सभी आश्रम वालों के लिए उपयोगी तप है।।15।। इसके सिवा इस गृहस्थ आश्रम में फूलों की माला, नाना प्रकार के आभूषण, वस्त्र, अङ्गराग (तेल-उबटन), नित्य उपभोग की वस्तु, नृत्य, गीत, वाद्य, श्रवण सुखद शब्द और नयनाभिराम रूप के दर्शन की भी प्राप्ति होती है। भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय और चोष्य रूप नाना प्रकार के भोजन सम्बन्धी पदार्थ खाने-पीने को भी मिलते हैं। अपने उद्यान में घूमने-फिरने का आनन्द प्राप्त होता है और काम सुख की भी उपलब्धि होती है।।16।। जिस पुरुष को गृहस्थाश्रम में सदा धर्म, अर्थ और काम के गुणों की सिद्धि होती रहती है, वह इस लोक में सुख का अनुभव करके अन्त में शिष्ट पुरुषों की गति को प्राप्त कर लेता है।।17।। जो गृहस्थ ब्राह्मण अपने धर्म के आचरण में तत्पर हो उञ्छ वृत्ति से (खेत या बाजार में बिखरे हुए अनाज के एक-एक दाने को बीनकर) जीविका चलाता है तथा काम सुख का परित्याग कर देता है, उसके लिए स्वर्ग कोई दुर्लभ वस्तु नहीं है।।18।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे
एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 191 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में भृगु-भरद्वाज संवाद विषयक एक सौ इक्यानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ।।191।।

एकादशोऽध्यायः

वानप्रस्थ और संन्यास धर्मों का वर्णन तथा हिमालय के उत्तर पार्श्व में स्थित उत्कृष्ट लोक की विलक्षणता एवं महत्ता का प्रतिपादन, भृगु–भरद्वाज संवाद का उपसंहार

भृगुरुवाच

वानप्रस्थाः खल्वपि धर्ममनुसरन्तः पुण्यानि तीर्थानि नदीप्रस्रवणानि सुविविक्तेष्वरण्येषु मृगमहिषवराहशार्दूलवनगजाकीर्णेषु तपस्यन्तोऽनुसञ्चरन्ति त्यक्तग्राम्यवस्त्राभ्यवहारोपभोगा वन्यौषधिफलमूलपर्णपरिमितविचित्र–नियताहाराः स्थानासनिनो भूमिपाषाणसिकताशर्करावालुकाभस्मशायिनः काशकुशचर्मवल्कलसंवृताङ्गाः केशश्मश्रुनखरोमधारिणो नियतकालोप–स्पर्शना अस्कन्दितकालबलिहोमानुष्ठायिनः समित्कुशकुसुमापहारसम्मार्जन–लब्धविश्रामाः शीतोष्णवर्षपवनविष्टम्भविभिन्नसर्वत्वचो विविधनियमो–पयोगचर्यानुष्ठानविहितपरिशुष्कमांसशोणितत्वगस्थिभूता धृतिपराः सत्त्वयोगाच्छरीराण्युद्वहन्ते॥1॥

यस्त्वेतां नियतश्चर्यां ब्रह्मर्षिविहितां चरेत्स दहेदग्निवद्दोषान्जयेल्लोकांश्च दुर्जयान्॥2॥

परिव्राजकानां पुनराचारः—तद् यथा विमुच्याग्निधनकलत्रपरिबर्हणं सङ्गेष्वात्मनः स्नेहपाशानवधूय परिव्रजन्ति। समलोष्टाश्मकाञ्चनास्त्रिवर्ग–प्रवृत्तेष्वसक्तबुद्ध्योऽरिमित्रोदासीनानां तुल्यदर्शनाः स्थावरजरायुजाण्डज–स्वेदजोद्भिज्जानां भूतानां वाङ्मनः कर्मभिरनभिद्रोहिणोऽनिकेताः पर्वत–पुलिनवृक्षमूलदेवतायतनान्यनुचरन्तो वासार्थमुपेयुर्नगरं ग्रामं वा नगरे पञ्चरात्रिका ग्रामे चैकरात्रिकाः प्रविश्य च प्राणधारणार्थं द्विजातीनां भवनान्यसङ्कीर्णकर्मणामुपतिष्ठेयुः पात्रपतितायाचितभैक्ष्याः कामक्रोध–दर्पलोभमोहकार्पण्यदम्भपरिवादाभिमानहिंसानिवृत्ता इति॥3॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित्॥4॥

कृत्वाग्निहोत्रं स्वशरीरसंस्थं शारीरमग्निं स्वमुखे जुहोति।
विप्रस्तु भैक्ष्यौपगतैर्हविर्भिश्चिताग्निनां स व्रजते हि लोकम्॥5॥

मोक्षाश्रमं यश्चरते यथोक्तं शुचिः सुसङ्कल्पितमुक्तबुद्धिः।
अनिन्धनं ज्योतिरिव प्रशान्तं स ब्रह्मलोकं श्रयते मनुष्यः॥6॥

भृगुजी कहते हैं—मुने! तीसरे आश्रम वानप्रस्थ का पालन करने वाले मनुष्य धर्म का अनुसरण करते हुए पवित्र तीर्थों में, नदियों के किनारे, झरनों के आस–पास तथा मृग, भैंसे, सूअर, सिंह एवं जङ्गली हाथियों से भरे हुए एकान्त वनों में तप करते

हुए विचरते रहते हैं। गृहस्थों के उपभोग में आने वाले ग्रामजनोचित सुन्दर वस्त्र, स्वादिष्ट भोजन और विषय भोगों का परित्याग करके वे जङ्गल में अपने आप होने वाले अन्न, फल, मूल तथा पत्तों का परिमित, विचित्र एवं नियत आहार करते हैं। भूमि पर ही बैठते हैं। जमीन, पत्थर, रेत, कङ्करीली मिट्टी, बालू अथवा राख पर ही सोते हैं। काश, कुश, मृगचर्म और वृक्षों की छाल से बने वस्त्रों से अपना शरीर ढकते हैं। सिर के बाल, दाढ़ी, मूँछ, नख और रोम सदा धारण किए रहते हैं। नियत समय पर स्नान करके निश्चित काल का उल्लङ्घन न करते हुए बलिवैश्वदेव तथा अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान करते हैं। सवेरे हवन पूजन के लिए समिधा, कुशा और फूल आदि का संग्रह करके आश्रम को झाड़ बुहार लेने के पश्चात् उन्हें कुछ विश्राम मिलता है। सर्दी, गर्मी, वर्षा और हवा का वेग सहते-सहते उनके शरीर के चमड़े फट जाते हैं। नाना प्रकार के नियमों का पालन और सत्कर्मों का अनुष्ठान करते रहने से उनके रक्त और मांस सूख जाते हैं और शरीर की जगह चाम से ढकी हुई हड्डियों का ढाँचा मात्र रह जाता है; फिर भी धैर्य रखकर साहसपूर्वक शरीर का भार ढोते रहते हैं।।1।। जो पुरुष नियम के साथ रहकर ब्रह्मर्षियों द्वारा आचरण में लायी हुई इस वानप्रस्थ धर्म की विधि का अनुष्ठान करता है, वह अगिन की भाँति अपने दोषों को भस्म करके दुर्लभ लोकों को प्राप्त कर लेता है।।2।।

अब संन्यासियों का आचरण बतलाया जाता है। वह इस प्रकार है—इसमें प्रवेश करने वाले पुरुष अग्निहोत्र, धन, स्त्री आदि परिवार तथा घर की सारी सामग्री का परित्याग करके भोगों और सङ्गों के प्रति अपनी आसक्ति के बन्धनों को तोड़कर सदा के लिए घर से बाहर निकल जाते हैं। ढेले, पत्थर और सुवर्ण को समान समझते हैं। धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी प्रवृत्तियों में उनकी बुद्धि आसक्त नहीं होती है। शत्रु, मित्र और उदासीन—सबके प्रति वे समान दृष्टि रखते हैं। स्थावर, पिण्डज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज प्राणियों के प्रति मन, वाणी और क्रियाओं द्वारा कभी द्रोह नहीं करते हैं, कुटी या मठ बनाकर नहीं रहते हैं। उन्हें चाहिये कि चारों ओर विचरते रहें तथा रात्रि में ठहरने के लिए पर्वत की गुफा, नदी का किनारा, वृक्ष की जड़, देव मन्दिर, नगर अथवा गाँव में चले जाया करें। नगर में पाँच रात्रि और गाँव में एक रात से अधिक न ठहरें। प्राण धारण के लिए अपने विशुद्ध धर्मों का पालन करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन द्विजातियों के ऐसे घरों पर जाकर खड़े हो जाएँ, जहाँ संकीर्णता न हो। बिना माँगे ही पात्र में जितनी भिक्षा आ जाए, उतनी ही स्वीकार करें। काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह, कृपणता, दम्भ, निन्दा, अभिमान तथा हिंसा से सर्वथा दूर रहें।।3।। इस विषय में ये श्लोक प्रसिद्ध है—जो मुनि सब प्राणियों को अभयदान देकर विचरता है, उसको सम्पूर्ण प्राणियों में किसी से भी कहीं भय नहीं प्राप्त होता है।।4।। जो ब्राह्मण अग्निहोत्र को अपने शरीर में आरोपित करके शरीरस्थ अग्नि के उद्देश्य से अपने मुख में प्राप्त भिक्षा रूप हविष्य का होम करता है, वह अग्नि चयन करने वाले अग्निहोत्रियों के लोक में जाता है।।5।। जो बुद्धि को सङ्कल्प रहित करके पवित्र हो शास्त्रोक्त विधि के अनुसार मोक्ष

आश्रम (संन्यास) के नियमों का पालन करता है, वह मनुष्य बिना ईंधन की आग के समान परम शान्त ज्योतिर्मय ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।।6।।

भरद्वाज उवाच

अस्माल्लोकात् परो लोकः श्रूयते नोपलभ्यते।
तमहं ज्ञातुमिच्छामि तद्भवान् वक्तुमर्हति॥7।।

भरद्वाज ने पूछा—ब्रह्मन्! इस लोक से कोई श्रेष्ठ लोक सुना जाता है; किन्तु वह देखने में नहीं आता। मैं उसे जानना चाहता हूँ, आप उसे बताने की कृपा करें।।7।।

भृगुरुवाच

उत्तरे हिमवत् पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते।
पुण्यः क्षेम्यश्च काम्यश्च स परो लोक उच्यते॥8।।
तत्र ह्यपापकर्माणः शुचयोऽत्यन्तनिर्मलाः।
लोभमोहपरित्यक्ता मानवा निरुपद्रवाः॥9।।
स स्वर्गसदृशो देशस्तत्र ह्युक्ताः शुभा गुणाः।
काले मृत्युः प्रभवति स्पृशन्ति व्याधयो न च॥10।।
न लोभः परदारेषु स्वदारनिरतो जनः।
नान्योन्यं बध्यते तत्र द्रव्येषु च न विस्मयः।
परो ह्यधर्मो नैवास्ति सन्देहो नापि जायते॥11।।
कृतस्य तु फलं तत्र प्रत्यक्षमुपलभ्यते।
पानासनाशनोपेताः प्रासादभवनाश्रयाः॥12।।
सर्वकामैर्वृताः केचिद्धेमाभरणभूषिताः।
प्राणधारणमात्रं तु केषाञ्चिदुपपद्यते।
श्रमेण महता केचित् कुर्वन्ति प्राणधारणम्॥13।।
इह धर्मपराः केचित्केचिन्नैकृतिका नराः।
सुखिता दुःखिता केचिन्निर्धना धनिनोऽपरे॥14।।
इह श्रमो भयं मोहः क्षुधा तीव्रा च जायते।
लोभश्चार्थकृतो नृणां येन मुह्यन्त्यपण्डिताः॥15।।
इह वार्ता बहुविधा धर्माधर्मस्य कारिणः।
यस्तद्वेदोभयं प्राज्ञः पाप्मना न स लिप्यते॥16।।
सोपधं निकृतिः स्तेयं परीवादो ह्यसूयिता।
परोपघातो हिंसा च पैशुन्यमनृतं तथा॥17।।
एतानासेवते यस्तु तपस्तस्य प्रहीयते।
यस्त्वेतान् नाचरेद् विद्वांस्तपस्तस्य प्रवर्धते॥18।।

भृगुजी ने कहा—मुने! उत्तर दिशा में हिमालय के पार्श्व भाग में, जो सर्वगुण सम्पन्न एवं पुण्यमय प्रदेश है, वहाँ के भू-भाग पर श्रेष्ठ लोक बताया जाता है, वह पवित्र, कल्याणकारी और कमनीय लोक है।।8।। वहाँ पापकर्म से रहित, पवित्र, अत्यन्त निर्मल,

लोभ और मोह से शून्य तथा सब प्रकार के उपद्रवों से रहित मानव निवास करते हैं।।9।। वह देश स्वर्ग के तुल्य है। वहाँ सभी शुभ गुणों की स्थिति बतायी गयी है। वहाँ समय पर ही मृत्यु होती है। रोग-व्याधि किसी का स्पर्श नहीं करते हैं।।10।। वहाँ किसी के मन में परायी स्त्रियों के प्रति लोभ नहीं होता। सब लोग अपनी ही स्त्रियों में अनुरक्त रहते हैं। वहाँ के निवासी धन के लिए एक-दूसरे का वध नहीं करते। किसी को बन्धन में नहीं डालते। उन्हें कभी महान् विस्मय नहीं होता। अधर्म का तो वहाँ नाम भी नहीं है। वहाँ किसी के मन में सन्देह नहीं पैदा होता है।।11।। वहाँ किए हुए कर्म का फल प्रत्यक्ष में उपलब्ध होता है। उस लोक में कुछ लोग बड़े-बड़े महलों में रहते, अच्छे आसनों पर बैठते और उत्तमोत्तम वस्तुएँ खाते-पीते हैं। समस्त कामनाओं से सम्पन्न और सुवर्णमय आभूषणों से विभूषित होते हैं तथा कुछ लोगों को प्राण धारण मात्र के लिए भोजन प्राप्त होता है, कुछ लोग बड़े परिश्रम से तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए प्राण धारण करते हैं (इस प्रकार वह लोक इस लोक से सर्वथा उत्कृष्ट है)[1]।।12-13।। इस मनुष्य लोक में कुछ मनुष्य धर्मपरायण होते हैं तो कुछ बड़े भारी ठग निकलते हैं। इसीलिए कोई सुखी और कोई दुःखी होते हैं। कुछ धनवान् और कुछ लोग निर्धन हो जाते हैं।।14।। इहलोक में श्रम, भय, मोह और तीव्र भूख का कष्ट होता है। मनुष्यों में धन का लोभ विशेष होता है, जिससे अज्ञानी पुरुष मोह में पड़ जाते हैं।।15।। इस देश में धर्म और अधर्म करने वाले मनुष्यों के विषय में नाना प्रकार की बातें सुनी जाती हैं। जो धर्म और अधर्म दोनों के परिणाम को जानता है, वह विद्वान् पुरुष पाप से लिप्त नहीं होता है।।16।। कपट, शठता, चोरी, निन्दा, दूसरों के दोष देखना, दूसरों को हानि पहुँचाना, प्राणियों की हिंसा करना, चुगली खाना और झूठ बोलना—जो इन दुर्गुणों का सेवन करता है, उसकी तपस्या क्षीण होती है और जो विद्वान् इन दोषों को कभी अपने आचरण में नहीं लाता, उसकी तपस्या निरन्तर बढ़ती रहती है।।17-18।।

इह चिन्ता बहुविधा धर्माधर्मस्य कर्मणः।
कर्मभूमिरियं लोके इह कृत्वा शुभाशुभम्।
शुभैः शुभमवाप्नोति तथाशुभमथान्यथा।।19।।
इह प्रजापतिः पूर्वं देवाः सर्षिगणास्तथा।
इष्ट्वेष्टतपसः पूता ब्रह्मलोकमुपाश्रिताः।।20।।
उत्तरः पृथिवीभागः सर्वपुण्यतमः शुभः।
इहस्थास्तत्र जायन्ते ये वै पुण्यकृतो जनाः।।21।।
असत्कर्माणि कुर्वन्तस्तिर्यग्योनिषु चापरे।
क्षीणायुषस्तथा चान्ये नश्यन्ति पृथिवीतले।।22।।
अन्योन्यभक्षणासक्ता लोभमोहसमन्विताः।

---

1. आचार्य नीलकण्ठ ने 'उत्तरे हिमवत्पार्श्वे' इत्यादि से लेकर इस अध्याय के अन्त तक के श्लोकों का आध्यात्मिक अर्थ किया है। वे परलोक या उत्कृष्ट लोक का अर्थ परमात्मा मानते हैं और इसी दृष्टि से उन्होंने श्रुति और युक्ति का आश्रय ले पूरे प्रकरण की सङ्गति लगायी है।

इहैव परिवर्तन्ते न ते यान्त्युत्तरां दिशम्॥23॥
ये गुरून् पर्युपासन्ते नियता ब्रह्मचारिणः।
पन्थानं सर्वलोकानां विजानन्ति मनीषिणः॥24॥
इत्युक्तोऽयं मया धर्मः सङ्क्षिप्तो ब्रह्मनिर्मितः।
धर्माधर्मौ हि लोकस्य यो वै वेत्ति स बुद्धिमान्॥25॥

इस लोक में पुण्य और पाप कर्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार होते रहते हैं। यह कर्मभूमि है। इस जगत् में शुभ और अशुभ कर्म करके मनुष्य शुभ कर्मों का शुभ फल पाता है और अशुभ कर्मों का अशुभ फल भोगता है॥19॥ पूर्वकाल में यहीं प्रजापति, देवता तथा ऋषियों ने यज्ञ और अभीष्ट तपस्या करके पवित्र हो ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लिया॥20॥ पृथ्वी का उत्तर भाग सबसे अधिक पवित्र और मङ्गलमय है। इस लोक में जो पुण्यात्मा मनुष्य हैं, वे ही मृत्यु के पश्चात् उस भू-भाग में जन्म लेते हैं॥21॥ दूसरे लोग जो यहाँ पाप कर्म करते हैं, वे पशु-पक्षियों की योनि में जन्म ग्रहण करते हैं और दूसरे कितने ही आयु क्षय होने पर नष्ट हो जाते हैं और पाताल में चले जाते हैं॥22॥ जो लोभ और मोह से युक्त हो एक-दूसरे को खा जाने के लिए उद्यत रहते हैं, वे भी इसी लोक में आवागमन करते रहते हैं, उत्तर दिशा के उत्कृष्ट लोक में नहीं जाने पाते हैं॥23॥ जो मन और इन्द्रियों को संयम में रखकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुरुजनों की उपासना करते हैं, वे मनीषी पुरुष सभी लोकों के मार्ग को जानते हैं॥24॥ इस प्रकार मैंने यहाँ ब्रह्माजी के द्वारा निर्मित इस धर्म का सङ्क्षेप से वर्णन किया है। जो लोक में करने और न करने योग्य धर्म और अधर्म को जानता है, वही बुद्धिमान् है॥25॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तो भृगुणा राजन् भरद्वाजः प्रतापवान्।
भृगुं परमधर्मात्मा विस्मितः प्रत्यपूजयत्॥26॥
एष ते प्रसवो राजन् जगतः सम्प्रकीर्तितः।
निखिलेन महाप्राज्ञ किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥27॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! भृगुजी के इस प्रकार कहने पर परम धर्मात्मा प्रतापी भरद्वाज ने आश्चर्यचकित होकर उनकी पूजा की॥26॥ परम बुद्धिमान् नरेश! इस प्रकार मैंने तुमसे जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ये सारी बातें बतायी हैं। अब और क्या सुनना चाहते हो?॥27॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि भृगुभरद्वाजसंवादे द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 192 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में भृगु-भरद्वाज संवाद विषयक एक सौ बानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥192॥

भृगुगीता सम्पूर्णा

जापकगीता

प्रथमोऽध्याय:

जापक को सावित्री का वरदान, उसके पास धर्म, यम, मृत्यु और काल का आगमन, राजा इक्ष्वाकु और जापक ब्राह्मण का संवाद, सत्य की महिमा तथा जापक की परम गति का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कालमृत्युयमानां ते इक्ष्वाकोर्ब्राह्मणस्य च।
विवादो व्याहृतः पूर्वं तद्भवान्वक्तुमर्हति॥1।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! आपने काल, मृत्यु, यम, इक्ष्वाकु और ब्राह्मण के विवाद की पहले चर्चा की थी; अत: उसे बताने की कृपा करें।।1।।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
इक्ष्वाकोः सूर्यपुत्रस्य यद् वृत्तं ब्राह्मणस्य च॥2।।
कालस्य मृत्योश्च तथा यद् वृत्तं तन् निबोध मे।
यथा स तेषां संवादो यस्मिन् स्थानेऽपि चाभवत्॥3।।
ब्राह्मणो जापकः कश्चिद् धर्मवृत्तो महायशाः।
षडङ्गविन् महाप्राज्ञः पैप्पलादिः स कौशिकः॥4।।
तस्यापरोक्षं विज्ञानं षडङ्गेषु बभूव ह।
वेदेषु चैव निष्णातो हिमवत्पादसंश्रयः॥5।।
सोद्यं ब्राह्मं तपस्तेपे संहितां संयतो जपन्।
तस्य वर्षसहस्रं तु नियमेन तथा गतम्॥6।।
स देव्या दर्शितः साक्षात् प्रीतास्मीति तदा किल।
जप्यमावर्तयंस्तूष्णीं न स तां किञ्चिदब्रवीत्॥7।।
तस्यानुकम्पया देवी प्रीता समभवत् तदा।
वेदमाता ततस्तस्य तज्जप्यं समपूजयत्॥8।।
समाप्तजप्यस्तूत्थाय शिरसा पादयोस्तदा।
पपात देव्या धर्मात्मा वचनं चेदमब्रवीत्॥9।।
दिष्ट्या देवि प्रसन्ना त्वं दर्शनं चागता मम।
यदि चापि प्रसन्नासि जप्ये मे रमतां मनः॥10।।

भीष्मजी ने कहा—युधिष्ठिर! इसी प्रसङ्ग में उस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं, जिसमें राजा इक्ष्वाकु, सूर्यपुत्र यम, ब्राह्मण, काल और मृत्यु के वृत्तान्त का उल्लेख है। जिस स्थान पर और जिस रूप में उनका वह संवाद हुआ था, उसे बताता हूँ, मुझसे सुनो।।2-3।। कहते हैं कि हिमालय पर्वत के निकटवर्ती पहाड़ियों पर एक महायशस्वी धर्मात्मा ब्राह्मण रहता था, जो वेद के छहों अङ्गों का ज्ञाता, परम बुद्धिमान् तथा जप में तत्पर रहने वाला था। वह पिप्पलाद का पुत्र था और कौशिक वंश में उसका जन्म हुआ था। वेद के छहों अङ्गों का विज्ञान उसे प्रत्यक्ष हो गया था, अत: वह वेदों का पारङ्गत विद्वान् था।।4-5।। वह अर्थज्ञानपूर्वक संहिता का जप करता हुआ इन्द्रियों को संयम में रखकर ब्राह्मणोचित तपस्या करने लगा। नियमपूर्वक जप तप करते हुए उसके एक हजार वर्ष व्यतीत हो गये।।6।। कहते हैं, उसके उस जप से प्रसन्न होकर देवी सावित्री ने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा कि मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। ब्राह्मण अपने जपनीय वेद संहिता के गायत्री मन्त्र की आवृत्ति कर रहा था; इसलिए सावित्री देवी के आने पर भी चुपचाप बैठा ही रह गया। उनसे कुछ न बोला।।7।। देवी सावित्री की उस पर कृपा हो गयी थी; अत: वे उसके उस समय के व्यवहार से भी प्रसन्न ही हुईं। वेदमाता ने ब्राह्मण के उस नियमानुकूल जप की मन-ही-मन प्रशंसा की।।8।। जब जप समाप्त हो गया, तब धर्मात्मा ब्राह्मण ने उठकर देवी सावित्री के चरणों में मस्तक रखकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—।।9।। 'देवि! आज मेरा अहोभाग्य है कि आपने प्रसन्न होकर मुझे दर्शन दिया। यदि वास्तव में आप मुझ पर सन्तुष्ट हैं तो ऐसी कृपा कीजिये जिससे मेरा मन जप में लगा रहे'।।10।।

सावित्र्युवाच

किं प्रार्थयसि विप्रर्षे किं चेष्टं करवाणि ते।
प्रब्रूहि जपतां श्रेष्ठ सर्वं तत् ते भविष्यति॥11।।
इत्युक्त: स तदा देव्या विप्र: प्रोवाच धर्मवित्।
जप्यं प्रति ममेच्छेयं वर्धत्विति पुन: पुन:॥12।।
मनसश्च समाधिर्मे वर्धेताहरह: शुभे।
तत् तथेति ततो देवी मधुरं प्रत्यभाषत॥13।।
इदं चैवापरं प्राह देवी तत्प्रियकाम्यया।
निरयं नैव याता त्वं यत्र याता द्विजर्षभा:॥14।।
यास्यसि ब्रह्मण: स्थानमनिमित्तमनिन्दितम्।
साधये भविता चैतद् यत् त्वयाहमिहार्थिता॥15।।
नियतो जप चैकाग्रो धर्मस्त्वां समुपैष्यति।
कालो मृत्युर्यमश्चैव समायास्यन्ति तेऽन्तिकम्।।16
भविता च विवादोऽत्र तव तेषां च धर्मत:।

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा भगवती जगाम भवनं स्वकम्।।17।।
ब्राह्मणोऽपि जपन्नास्ते दिव्यं वर्षशतं तथा।

सदा दान्तो जितक्रोधः सत्यसन्धोऽनसूयकः।।18।।
समाप्ते नियमे तस्मिन्नथ विप्रस्य धीमतः।
साक्षात्प्रीतस्तदा धर्मो दर्शयामास तं द्विजम्।।19।।

सावित्री ने कहा—ब्रह्मर्षे! तुम कृपा चाहते हो? कौन-सी वस्तु तुम्हें अभीष्ट है? बताओ। मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगी। जप करने वालों में श्रेष्ठ ब्राह्मण! तुम अपनी अभिलाषा बताओ। तुम्हारी वह सारी इच्छा पूर्ण हो जाएगी'।।11।। सावित्री देवी के ऐसा कहने पर वह धर्मात्मा ब्राह्मण बोला—'शुभे! इस मन्त्र के जप में मेरी यह इच्छा बराबर बढ़ती रहे और मेरे मन की एकाग्रता भी प्रतिदिन बढ़े। तब सावित्री ने मधुर वाणी में 'तथास्तु' कहा। इसके बाद देवी ने ब्राह्मण का प्रिय करने की इच्छा से यह दूसरा वचन और कहा—'विप्रवर! जहाँ दूसरे श्रेष्ठ ब्राह्मण गये हैं, उन स्वर्गादि निम्न श्रेणी के लोकों में तुम नहीं जाओगे। तुम्हें स्वभाव सिद्ध एवं निर्दोष ब्रह्मपद की प्राप्ति होगी। तुमने मुझसे जो यहाँ प्रार्थना की है, वह पूरी होगी। मैं उसे पूर्ण करने की चेष्टा करूँगी। तुम नियमपूर्वक एकाग्रचित्त होकर जप करो। धर्म स्वयं तुम्हारी सेवा में उपस्थित होगा। काल, मृत्यु और यम भी तुम्हारे निकट पधारेंगे, उन सबके साथ यहाँ धर्मानुकूल वाद विवाद भी होगा'।।12-16।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर भगवती सावित्री देवी अपने धाम को चली गयीं और ब्राह्मण भी दिव्य सौ वर्षों तक पूर्ववत् जप में संलग्न रहा। वह सदा मन और इन्द्रियों को संयम में रखता था, क्रोध को जीत चुका था। अपनी की हुई प्रतिज्ञा का सच्चाई के साथ पालन करता था और किसी के दोष नहीं देखता था। बुद्धिमान् ब्राह्मण का वह नियम पूर्ण होने पर साक्षात् भगवान् धर्म उस समय उस पर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिया।।17-19।।

धर्म उवाच

द्विजाते पश्य मां धर्ममहं त्वां द्रष्टुमागतः।
जप्यस्यास्य फलं यत्तत् सम्प्राप्तं तच्च मे शृणु।।20।।
जिता लोकास्त्वया सर्वे ये दिव्या ये च मानुषाः।
देवानां निलयान् साधो सर्वानुत्क्रम्य यास्यसि।।21।।
प्राणत्यागं कुरु मुने गच्छ लोकान् यथेप्सितान्।
त्यक्त्वाऽऽत्मनः शरीरं च ततो लोकानवाप्स्यसि।।22।।

धर्म बोले—विप्रवर! तुम मेरी ओर देखो। मैं धर्म हूँ और तुम्हारा दर्शन करने के लिए आया हूँ। तुम्हें इस जप का जो फल प्राप्त हुआ है, वह सब मुझसे सुन लो।।20।। तुमने दिव्य और मानुष सभी लोकों पर विजय प्राप्त की है। साधो! तुम सम्पूर्ण देवताओं के लोकों को लाङ्घ कर उनसे भी ऊपर जाओगे।।21।। मुने! अब तुम अपने प्राणों का परित्याग करो और अभीष्ट लोकों में जाओ। अपने शरीर का परित्याग करने के पश्चात् ही तुम उन पुण्यलोकों में जाओगे।।22।।

ब्राह्मण उवाच

किं नु लोकैर्हि मे धर्म गच्छ त्वं च यथासुखम्।
बहुदु:खसुखं देहं नोत्सृजेयमहं विभो॥23॥

ब्राह्मण ने कहा—धर्म! मुझे उन लोकों को लेकर क्या करना है? आप सुखपूर्वक यहाँ से अपने स्थान को पधारिये। प्रभो! मैनें इस शरीर के साथ बहुत दु:ख और सुख उठाया है; अत: इसका त्याग नहीं कर सकता॥23॥

धर्म उवाच

अवश्यं भो: शरीरं ते त्यक्तव्यं मुनिपुङ्गव।
स्वर्गमारोह भो विप्र किं वा वै रोचतेऽनघ॥24॥

धर्म बोले—निष्पाप मुनिश्रेष्ठ! शरीर तो तुम्हें अवश्य त्यागना पड़ेगा। विप्रवर! अब स्वर्गलोक पर आरूढ़ हो जाओ अथवा तुम्हारी क्या रुचि है? बताओ॥24॥

ब्राह्मण उवाच

न रोचये स्वर्गवासं विना देहमहं विभो।
गच्छ धर्म न मे श्रद्धा स्वर्गं गन्तुं विनाऽऽत्मना॥25॥

ब्राह्मण ने कहा—प्रभो! मैं इस शरीर के बिना स्वर्गलोक में निवास करना नहीं चाहता; अत: धर्मदेव! आप यहाँ से जाइये। इस शरीर को छोड़कर स्वर्गलोक में जाने के लिए मेरे मन में तनिक भी उत्साह नहीं है॥25॥

धर्म उवाच

अलं देहे मन: कृत्वा त्यक्त्वा देहं सुखी भव।
गच्छ लोकानरजसो यत्र गत्वा न शोचसि॥26॥

धर्म बोले—मुने! शरीर में मन को आसक्त रखना ठीक नहीं है। तुम देह त्यागकर सुखी हो जाओ। उन रजोगुण रहित निर्मल लोकों में जाओ, जहाँ जाकर फिर तुम्हें शोक नहीं करना पड़ेगा॥26॥

ब्राह्मण उवाच

रमे जपन्महाभाग किं नु लोकै: सनातनै:।
सशरीरेण गन्तव्यं मया स्वर्गं न वा विभो॥27॥

ब्राह्मण ने कहा—महाभाग! मैं तो जप में ही सुख मानता हूँ। मुझे सनातन लोकों को लेकर क्या करना है? भगवन्! यह बताइये, मैं सशरीर स्वर्गलोक में जा सकता हूँ या नहीं?॥27॥

धर्म उवाच

यदि त्वं नेच्छसे त्यक्तुं शरीरं पश्य वै द्विज।
एष कालस्तथा मृत्युर्यमश्च त्वामुपागता:॥28॥

धर्म बोले—ब्रह्मन्! यदि तुम शरीर छोड़ना नहीं चाहते हो तो देखो, ये काल, मृत्यु और यम तुम्हारे पास आये हैं।।28।।

भीष्म उवाच

अथ वैवस्वतः कालो मृत्युश्च त्रितयं विभो।
ब्राह्मणं तं महाभागमुपगम्येदमब्रुवन्॥29।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर वैवस्वत यम, काल और मृत्यु—तीनों उस महाभाग ब्राह्मण के पास जाकर इस प्रकार बोले—।।29।।

यम उवाच

तपसोऽस्य सुतप्तस्य तथा सुचरितस्य च।
फलप्राप्तिस्तव श्रेष्ठा यमोऽहं त्वामुपब्रुवे॥30।।

यमराज बोले—ब्रह्मन्! तुम्हारे द्वारा भलीभाँति की हुई इस तपस्या का तथा शुभ आचरणों का भी तुम्हें उत्तम फल प्राप्त हुआ है। मैं यमराज हूँ और स्वयं तुमसे यह बात कहता हूँ।।30।।

काल उवाच

यथावदस्य जप्यस्य फलं प्राप्तमनुत्तमम्।
कालस्ते स्वर्गमारोढुं कालोऽहं त्वामुपागतः॥31।।

काल ने कहा—विप्रवर! तुम्हारे इस जप का यथायोग्य सर्वोत्तम फल प्राप्त हुआ है। अतः अब तुम्हारे लिए स्वर्गलोक में जाने का समय आया है। यही सूचित करने के लिए मैं साक्षात् काल तुम्हारे पास आया हूँ।।31।।

मृत्युरुवाच

मृत्युं मां विद्धि धर्मज्ञ रूपिणं स्वयमागतम्।
कालेन चोदितो विप्र त्वामितो नेतुमद्य वै॥32।।

मृत्यु ने कहा—धर्मज्ञ ब्राह्मण! मुझे मृत्यु समझो। मैं स्वयं ही शरीर धारण करके यहाँ आया हूँ। विप्रवर! मैं काल से प्रेरित होकर आज तुम्हें यहाँ से ले जाने के लिए उपस्थित हुआ हूँ।।32।।

ब्राह्मण उवाच

स्वागतं सूर्यपुत्राय कालाय च महात्मने।
मृत्यवे चाथ धर्माय किं कार्यं करवाणि वः॥33।।

ब्राह्मण ने कहा—सूर्यपुत्र यम, महामना काल, मृत्यु तथा धर्म—इन सबका स्वागत है। बताइये, मैं आप लोगों का कौन-सा कार्य करूँ?।।33।।

भीष्म उवाच

अर्घ्यं पाद्यं च दत्त्वा स तेभ्यस्तत्र समागमे।
अब्रवीत् परमप्रीतः स्वशक्त्या किं करोमि वः॥34।।

तस्मिन्नेवाथ काले तु तीर्थयात्रामुपागतः।
इक्ष्वाकुरगमत् तत्र समेता यत्र ते विभो॥35॥
सर्वानेव तु राजर्षिः सम्पूज्याथ प्रणम्य च।
कुशलप्रश्नमकरोत् सर्वेषां राजसत्तमः॥36॥
तस्मै सोऽथासनं दत्त्वा पाद्यमर्घ्यं तथैव च।
अब्रवीद् ब्राह्मणो वाक्यं कृत्वा कुशलसंविदम्॥37॥
स्वागतं ते महाराज ब्रूहि यद् यदिहेच्छसि।
स्वशक्त्या किं करोमीह तद्भवान् प्रब्रवीतु माम्॥38॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! वहाँ उन सबका समागम होने पर ब्राह्मण ने उनके लिए अर्घ्य और पाद्य देकर बड़ी प्रसन्नता के साथ कहा—'देवताओ! मैं अपनी शक्ति के अनुसार आप लोगों की क्या सेवा करूँ?'॥34॥ इसी समय तीर्थयात्रा के लिए आये हुए राजा इक्ष्वाकु भी उस स्थान पर आ पहुँचे, जहाँ वे सब लोक एकत्र हुए थे॥35॥ नृपश्रेष्ठ राजर्षि इक्ष्वाकु ने उन सबको प्रणाम करके उनकी पूजा की और उन सबका कुशल समाचार पूछा॥36॥ ब्राह्मण ने भी राजा को अर्घ्य, पाद्य और आसन देकर कुशल-मङ्गल पूछने के बाद इस प्रकार कहा—॥37॥ 'महाराज! आपका स्वागत है! आपकी जो-जो इच्छा हो, उसे यहाँ बताइये। मैं अपनी शक्ति के अनुसर आपकी क्या सेवा करूँ? यह आप मुझे बतावें'॥38॥

राजोवाच

राजाहं ब्राह्मणश्च त्वं यदा षट्कर्मसंस्थितः।
ददानि वसु किञ्चित् ते प्रथितं तद् वदस्व मे॥39॥

राजा ने कहा—विप्रवर! मैं क्षत्रिय राजा हूँ और आप छः कर्मों में स्थित रहने वाले ब्राह्मण। अतः मैं आपको कुछ धन देना चाहता हूँ। आप प्रसिद्ध धनरत्न मुझसे मांगिये॥39॥

ब्राह्मण उवाच

द्विविधा ब्राह्मणा राजन् धर्मश्च द्विविधः स्मृतः।
प्रवृत्ताश्च निवृत्ताश्च निवृत्तोऽहं प्रतिग्रहात्॥40॥
तेभ्यः प्रयच्छ दानानि ये प्रवृत्ता नराधिप।
अहं न प्रतिगृह्णामि किमिष्टं किं ददामि ते।
ब्रूहि त्वं नृपतिश्रेष्ठ तपसा साधयामि किम्॥41॥

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! ब्राह्मण दो प्रकार के होते हैं और धर्म भी दो प्रकार का माना गया है—प्रवृत्ति और निवृत्ति। मैं प्रतिग्रह से निवृत्त ब्राह्मण हूँ॥40॥ नरेश्वर! आप उन ब्राह्मणों को दान दीजिये, जो प्रवृत्ति मार्ग में हों। मैं आपसे दान नहीं लूँगा। नृपश्रेष्ठ! इस समय आपको क्या अभीष्ट है? मैं आपको क्या दूँ? बताइये, मैं अपनी तपस्या द्वारा आपका कौन-सा कार्य सिद्ध करूँ?॥41॥

राजोवाच

क्षत्रियोऽहं न जानामि देहीति वचनं क्वचित्।
प्रयच्छ युद्धमित्येवंवादिनः स्मो द्विजोत्तम॥42॥

राजा बोले—द्विजश्रेष्ठ! मैं क्षत्रिय हूँ। 'दीजिये' ऐसा कहकर याचना करने की बात को मैं कभी नहीं जानता। माँगने के नाम तो हम लोग तो यह कहना जानते हैं कि 'युद्ध दो'॥42॥

ब्राह्मण उवाच

तुष्यसि त्वं स्वधर्मेण तथा तुष्टा वयं नृप।
अन्योन्यस्यान्तरं नास्ति यदिष्टं तत्समाचर॥43॥

ब्राह्मण ने कहा—नरेश्वर! जैसे आप अपने धर्म से सन्तुष्ट हैं, उसी तरह हम भी अपने धर्म से सन्तुष्ट हैं। हम दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अतः आपको जो अच्छा लगे, वह कीजिये॥43॥

राजोवाच

स्वशक्त्याहं ददानीति त्वया पूर्वमुदाहृतम्।
याचे त्वां दीयतां मह्यं जप्यस्यास्य फलं द्विज॥44॥

राजा ने कहा—ब्रह्मन्! आपने मुझसे पहले कहा है कि 'मैं अपनी शक्ति के अनुसार दान दूँगा' तो मैं आपसे यही माँगता हूँ कि आप अपने जप का फल मुझे दे दीजिये॥44॥

ब्राह्मण उवाच

युद्धं मम सदा वाणी याचतीति विकत्थसे।
न च युद्धं मया सार्धं किमर्थं याचसे पुनः॥45॥

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! आप तो बहुत बढ़ बढ़ कर बातें बना रहे थे कि मेरी वाणी सदा युद्ध की ही याचना करती है, तब आप मेरे साथ भी युद्ध की ही याचना क्यों नहीं कर रहे हैं?॥45॥

राजोवाच

वाग्वज्रा ब्राह्मणाः प्रोक्ताः क्षत्रिया बाहुजीविनः।
वाग्युद्धं तदिदं तीव्रं मम विप्र त्वया सह॥46॥

राजा ने कहा—विप्रवर! ब्राह्मणों की वाणी ही वज्र के समान प्रभाव डालने वाली होती है और क्षत्रिय बाहुबल से जीवन निर्वाह करने वाले होते हैं, अतः आपके साथ मेरा यह तीव्र वाग्युद्ध उपस्थित हुआ है॥46॥

ब्राह्मण उवाच

सैवाद्यापि प्रतिज्ञा मे स्वशक्त्या किं प्रदीयताम्।
ब्रूहि दास्यामि राजेन्द्र विभवे सति मा चिरम्॥47॥

ब्राह्मण ने कहा—राजेन्द्र! मेरी वही प्रतिज्ञा इस समय भी है। मैं अपनी शक्ति के अनुसार आपको क्या दूँ? बोलिये, विलम्ब न कीजिये। मैं शक्ति रहते आपको मुँहमांगी वस्तु अवश्य प्रदान करूँगा।।47।।

राजोवाच

यत् तद्वर्षशतं पूर्णं जप्यं वै जपता त्वया।
फलं प्राप्तं तत् प्रयच्छ मम दित्सुर्भवान् यदि॥48।।

राजा ने कहा—मुने! यदि आप देना ही चाहते हैं तो पूरे सौ वर्षों तक जप करके आपने जिस फल को प्राप्त किया है, वही मुझे दे दीजिये।।48।।

ब्राह्मण उवाच

परमं गृह्यतां तस्य फलं यज्जपितं मया।
अर्धं त्वमविचारेण फलं तस्य ह्यवाप्नुहि॥49।।
अथवा सर्वमेवेह मामकं जापकं फलम्।
राजन् प्राप्नुहि कामं त्वं यदि सर्वमिहेच्छसि॥50।।

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! मैंने जो जप किया है, उसका उत्तम फल आप ग्रहण करें। मेरे जप का आधा फल तो आप बिना विचारे ही प्राप्त करें अथवा यदि आप मेरे द्वारा किये हुए जप का सारा ही फल लेना चाहते हों तो अवश्य अपनी इच्छा के अनुसार वह सब प्राप्त कर लें।।49-50।।

राजोवाच

कृतं सर्वेण भद्रं ते जप्यं यद् याचितं मया।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि किञ्च तस्य फलं वद॥51।।

राजा ने कहा—ब्रह्मन्! मैंने जो जप का फल माँगा है, उन सबकी पूर्ति हो गयी। आपका भला हो, कल्याण हो। मैं चला जाऊँगा; किन्तु यह तो बता दीजिये कि उसका फल क्या है?।।51।।

ब्राह्मण उवाच

फलप्राप्तिं न जानामि दत्तं यज्जपितं मया।
अयं धर्मश्च कालश्च यमो मृत्युश्च साक्षिणः॥52।।

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! इस जप का फल क्या मिलेगा? इसको मैं नहीं जानता; परन्तु मैंने जो कुछ जप किया था, वह सब आपको दे दिया। ये धर्म, यम, मृत्यु और काल इस बात के साक्षी हैं।।52।।

राजोवाच

अज्ञातमस्य धर्मस्य फलं किं मे करिष्यति।
फलं ब्रवीषि धर्मस्य न चेज्जप्यकृतस्य माम्।
प्राप्नोतु तत् फलं विप्रो नाहमिच्छे ससंशयम्॥53।।

राजा ने कहा—ब्रह्मन्! यदि आप मुझे अपने जप जनित धर्म का फल नहीं बता रहे हैं तो इस धर्म का अज्ञात फल मेरे किस काम आएगा? वह सारा फल आप ही के पास रहे। मैं संदिग्ध फल नहीं चाहता।।53।।

ब्राह्मण उवाच

नाददेऽपरवक्तव्यं दत्तं चास्य फलं मया।
वाक्यं प्रमाणं राजर्षे ममाद्य तव चैव हि॥54।।
नाभिसन्धिर्मया जप्ये कृतपूर्वः कदाचन।
जप्यस्य राजशार्दूल कथं वेत्स्याम्यहं फलम्॥55।।
ददस्वेति त्वया चोक्तं ददानीति मया तथा।
न वाचं दूषयिष्यामि सत्यं रक्ष स्थिरो भव॥56।।
अथैवं वदतो मेऽद्य वचनं न करिष्यसि।
महानधर्मो भविता तव राजन् मृषा कृतः॥57।।
न युक्तं तु मृषा वाणी त्वया वक्तुमरिन्दम।
तथा मयाप्यभिहितं मिथ्या कर्तुं न शक्यते॥58।।
संश्रुतं च मया पूर्वं ददानीत्यविचारितम्।
तद्गृह्णीष्वाविचारेण यदि सत्ये स्थितो भवान्॥59।।
इहागम्य हि मां राजन् जाप्यं फलमयाचथाः।
तन्मे निसृष्टं गृह्णीष्व भव सत्ये स्थिरोऽपि च॥60।।

ब्राह्मण ने कहा—राजर्षे! अब तो मैं अपने जप का फल दे चुका; अतः दूसरी कोई बात नहीं स्वीकार करूँगा। इस विषय में आज मेरी और आपकी बातें ही प्रमाण स्वरूप हैं (हम दोनों को अपनी-अपनी बातों पर दृढ़ रहना चाहिये)।।54।। राजसिंह! मैंने जप करते समय कभी फल की कामना नहीं की थी; अतः इस जप का क्या फल होगा, यह कैसे जान सकूँगा?।।55।। आपने कहा था कि 'दीजिये' और मैंने कहा था कि 'दूँगा'—ऐसी दशा में मैं अपनी बात झूठी नहीं करूँगा। आप सत्य की रक्षा कीजिये और इसके लिए सुस्थिर हो जाइये।।56।। राजन्! यदि इस तरह स्पष्ट बात करने पर भी आप आज मेरे वचन का पालन नहीं करेंगे तो आपको असत्य का महान् पाप लगेगा।।57।। शत्रुदमन नरेश! आपके लिए भी झूठ बोलना उचित नहीं है और मैं भी अपनी कही हुई बात को मिथ्या नहीं कर सकता।।58।। मैंने बिना कुछ सोच-विचार किये ही पहले देने की प्रतिज्ञा कर ली है; अतः आप भी बिना विचारे मेरा दिया हुआ जप ग्रहण करें। यदि आप सत्य पर दृढ़ हैं तो आपको ऐसा अवश्य करना चाहिये।।59।। राजन्! आपने स्वयं यहाँ आकर मुझसे जप के फल की याचना की है और मैंने उसे आपके लिए दे दिया है; अतः आप उसे ग्रहण करें और सत्य पर डटे रहें।।60।।

नायं लोकोऽस्ति न परो न च पूर्वान् स तारयेत्।
कुत एव जनिष्यांस्तु मृषावादपरायणः॥61।।

न यज्ञाध्ययने दानं नियमास्तारयन्ति हि।
यथा सत्यं परे लोके तथेह पुरुषर्षभ॥62।।
तपांसि यानि चीर्णानि चरिष्यन्ति च यत् तपः।
शतैः शतसहस्रैश्च तैः सत्यान्न विशिष्यते॥63।।
सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यमेकाक्षरं तपः।
सत्यमेकाक्षरो यज्ञः सत्यमेकाक्षरं श्रुतम्॥64।।
सत्यं वेदेषु जागर्ति फलं सत्ये परं स्मृतम्।
सत्याद् धर्मो दमश्चैव सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥65।।
सत्यं वेदास्तथाङ्गानि सत्यं विद्यास्तथा विधिः।
व्रतचर्या तथा सत्यमोङ्कारः सत्यमेव च॥66।।
प्राणिनां जननं सत्यं सत्यं सन्ततिरेव च।
सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रविः॥67।।
सत्येन चाग्निर्दहति स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः।
सत्यं यज्ञस्तपो वेदाः स्तोभा मन्त्राः सरस्वती॥68।।
तुलामारोपितो धर्मः सत्यं चैवेति नः श्रुतम्।
समकक्षां तुलयतो यतः सत्यं ततोऽधिकम्॥69।।
यतो धर्मस्ततः सत्यं सर्वं सत्येन वर्धते।
किमर्थमनृतं कर्म कर्तुं राजंस्त्वमिच्छसि॥70।।
सत्ये कुरु स्थिरं भावं मा राजन्ननृतं कृथाः।
कस्मात्त्वमनृतं वाक्यं देहीति कुरुषेऽशुभम्॥71।।
यदि जप्यफलं दत्तं मया नैषिष्यसे नृप।
धर्मेभ्यः सम्परिभ्रष्टो लोकाननुचरिष्यसि॥72।।
संश्रुत्य यो न दित्सेत याचित्वा यश्च नेच्छति।
उभावानृतिकावेतौ न मृषा कर्तुमर्हसि॥73।।

जो झूठ बोलने वाला है, उस मनुष्य को न इस लोक में सुख मिलता है और न परलोक में ही। वह अपने पूर्वजों को भी नहीं तार सकता; फिर भविष्य में होने वाली सन्तति का उद्धार तो कर ही कैसे सकता है?।।61।। पुरुषश्रेष्ठ! परलोक में सत्य जिस प्रकार जीवों का उद्धार करता है, उस प्रकार यज्ञ, वेदाध्ययन, दान और नियम भी नहीं तार सकते हैं।।62।। लोगों ने अब तक जितनी तपस्याएँ की हैं और भविष्य में भी जितनी करेंगे, उन सबको सौ गुना या लाख गुना करके एकत्र किया जाए तो भी उनका महत्त्व सत्य से बढ़कर नहीं सिद्ध होगा।।63।। सत्य ही एकमात्र अविनाशी ब्रह्म है। सत्य ही एकमात्र अक्षय तप है, सत्य ही एकमात्र अविनाशी यज्ञ है, सत्य ही एकमात्र नाशरहित सनातन वेद है।।64।। वेदों में सत्य ही जागता है—उसी की महिमा बतायी गयी है। सत्य का ही सबसे श्रेष्ठ फल माना गया है। धर्म और इन्द्रिय संयम की सिद्धि भी सत्य से ही होती है। सत्य के ही आधार पर सब कुछ टिका हुआ है।।65।। सत्य ही वेद और वेदाङ्ग है। सत्य ही विद्या तथा विधि है। सत्य ही व्रतचर्या तथा सत्य ही ओङ्कार

है।।66।। सत्य प्राणियों को जन्म देने वाला (पिता) है, सत्य ही सन्तति है, सत्य से ही वायु चलती है और सत्य से ही सूर्य तपता है।।67।। सत्य से ही आग जलती है तथा सत्य पर ही स्वर्गलोक प्रतिष्ठित है। यज्ञ, तप, वेद, स्तोभ, मन्त्र और सरस्वती—सब सत्य के ही स्वरूप हैं।।68।। मैंने सुना है कि किसी समय धर्म और सत्य को तराजू पर, जिसके दोनों पलड़े बराबर थे, रखा और तौला गया; उस समय जिस ओर सत्य था, उधर का ही पलड़ा भारी हुआ।।69।। जहाँ धर्म है, वहाँ सत्य है। सत्य से ही सबकी वृद्धि होती है। राजन्! आप क्यों असत्यपूर्ण बर्ताव करना चाहते हैं?।।70।। महाराज! आप सत्य में ही अपने मन को स्थिर कीजिये। मिथ्यापूर्ण बर्ताव न कीजिये।यदि लेना ही नहीं था तो आपने 'दीजिये' यह झूठा और अशुभ वचन क्यों मुँह से निकाला था।।71।। नरेश्वर! यदि आप मेरे दिये हुए इस जप के फल को नहीं स्वीकार करेंगे तो धर्मभ्रष्ट होकर सम्पूर्ण लोकों में भटकते फिरेंगे।।72।। जो पहले देने की प्रतिज्ञा करके फिर देना नहीं चाहता तथा जो याचना तो करता है, किन्तु मिलने पर उसे लेना नहीं चाहता, वे दोनों ही मिथ्यावादी होते हैं; अतः आप अपनी और मेरी भी बात मिथ्या न कीजिये।।73।।

राजोवाच

योद्धव्यं रक्षितव्यं च क्षत्रधर्मः किल द्विज।
दातारः क्षत्रियाः प्रोक्ता गृह्णीयां भवतः कथम्॥74।।

राजा ने कहा—ब्रह्मन्! क्षत्रिय का धर्म तो प्रजा की रक्षा और युद्ध करना है। क्षत्रियों को दाता कहा गया है; फिर मैं उल्टे ही आपसे दान कैसे ले सकता हूँ?।।74।।

ब्राह्मण उवाच

न च्छन्दयामि ते राजन्नापि ते गृहमाव्रजम्।
इहागम्य तु याचित्वा न गृह्णीषे पुनः कथम्॥75।।

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! दान लेने के लिए मैंने आपसे अनुरोध या आग्रह नहीं किया था और न मैं देने के लिए आपके घर ही गया था। आपने स्वयं यहाँ आकर याचना की है; फिर लेने से कैसे इन्कार करते हैं?।।75।।

धर्म उवाच

अविवादोऽस्तु युवयोर्वित्त मां धर्ममागतम्।
द्विजो दानफलैर्युक्तो राजा सत्यफलेन च॥76।।

धर्म बोले—आप दोनों में विवाद न हो। आपको विदित होना चाहिये कि मैं साक्षात् धर्म यहाँ आया हूँ। ब्राह्मण देवता दान के फल से युक्त हो जाएँ और राजा भी सत्य के फल से सम्पन्न हों।।76।।

स्वर्ग उवाच

स्वर्गं मां विद्धि राजेन्द्र रूपिणं स्वयमागतम्।
अविवादोऽस्तु युवयोरुभौ तुल्यफलौ युवाम्॥77।।

स्वर्ग बोला—राजेन्द्र! आपको विदित हो कि मैं स्वर्ग हूँ और स्वयं ही शरीर धारण करके यहाँ आया हूँ। आप दोनों में विवाद न हो। आप दोनों समान फल के भागी हों।।77।।

राजोवाच

कृतं स्वर्गेण मे कार्यं गच्छ स्वर्ग यथागतम्।
विप्रो यदीच्छते गन्तुं चीर्णं गृह्णातु मे फलम्॥78।।

राजा ने कहा—मुझे स्वर्ग की कोई आवश्यकता नहीं है। स्वर्ग! तुम जैसे आये थे, वैसे ही लौट जाओ। यदि ये ब्राह्मण देवता स्वर्ग में जाना चाहते हों तो मेरे किये हुए पुण्य फल को ग्रहण करें।।78।।

ब्राह्मण उवाच

बाल्ये यदि स्यादज्ञानान्मया हस्तः प्रसारितः।
निवृत्तलक्षणं धर्ममुपासे संहितां जपन्॥79।।
निवृत्तं मां चिराद् राजन् विप्रलोभयसे कथम्।
स्वेन कार्यं करिष्यामि त्वत्तो नेच्छे फलं नृप।
तपःस्वाध्यायशीलोऽहं निवृत्तश्च प्रतिग्रहात्॥80।।

ब्राह्मण ने कहा—यदि बाल्यावस्था में अज्ञानवश मैंने कभी किसी के सामने हाथ फैलाया हो तो उसका मुझे स्मरण नहीं है; परन्तु अब तो संहिता—गायत्री मन्त्र का जप करता हुआ निवृत्ति धर्म की उपासना करता हूँ।।79।। राजन्! मैं निवृत्ति मार्ग का पथिक हूँ, आप बहुत देर से मुझे लुभाने का प्रयत्न क्यों करते हैं? नरेश्वर! मैं स्वयं ही अपना कर्त्तव्य करूँगा, आपसे कोई फल नहीं लेना चाहता। मैं प्रतिग्रह से निवृत्त होकर तप और स्वाध्याय में लगा हुआ हूँ।।80।।

राजोवाच

यदि विप्र विसृष्टं ते जप्यस्य फलमुत्तमम्।
आवयोर्यत् फलं किञ्चित् सहितं नौ तदस्त्विह॥81।।
द्विजाः प्रतिग्रहे युक्ता दातारो राजवंशजाः।
यदि धर्मः श्रुतो विप्र सहैव फलमस्तु नौ॥82।।
मा वा भूत् सहभोज्यं नौ मदीयं फलमाप्नुहि।
प्रतीच्छ मत्कृतं धर्मं यदि ते मय्यनुग्रहः॥83।।

राजा ने कहा—विप्रवर! यदि आपने अपने जप का उत्तम फल दे ही दिया है तो ऐसा कीजिये कि हम दोनों के जो भी पुण्य फल हों, उन्हें एकत्र करके हम दोनों साथ ही भोगें—हम दोनों का उन पर समान अधिकार रहे।।81।। ब्राह्मणों को दान लेने का अधिकार है और क्षत्रिय केवल दान देते हैं, लेते नहीं; यह धर्म आपने भी सुना होगा; अत: विप्रवर! हम दोनों के कार्य का फल साथ ही हम दोनों के उपयोग में आवे।।82।। अथवा यदि आपकी इच्छा न हो तो हमें साथ रहकर कर्म फल भोगने की आवश्यकता

नहीं है। उस अवस्था में मैं यही प्रार्थना करूँगा कि यदि आपका मुझ पर अनुग्रह हो तो आप ही मेरे शुभ कर्मों का पूरा-पूरा फल ग्रहण कर लें। मैंने जो कुछ भी धर्म किया है, वह सब आप स्वीकार कर लें।।83।।

भीष्म उवाच

ततो विकृतवेषौ द्वौ पुरुषौ समुपस्थितौ।
गृहीत्वान्योन्यमावेष्ट्य कुचैलावूचतुर्वचः॥84।।
न मे धारयसीत्येको धारयामीति चापरः।
इहास्ति नौ विवादोऽयमयं राजानुशासकः॥85।।
सत्यं ब्रवीम्यहमिदं न मे धारयते भवान्।
अनृतं वदसीह त्वमृणं ते धारयाम्यहम्॥86।।
तावुभौ सुभृशं तप्तौ राजानमिदमूचतुः।
परीक्ष्य त्वं यथा स्यावो नावामिह विगर्हितौ॥87।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इसी समय वहाँ विकराल वेषधारी दो पुरुष उपस्थित हुए। दोनों ने एक-दूसरे को पकड़ कर अपने हाथों से आवेष्टित कर रखा था। दोनों के शरीर पर मैले वस्त्र थे (उनमें से एक का नाम विकृत था और दूसरे का नाम विरूप)। वे दोनों बारम्बार इस प्रकार कह रहे थे।।84।। एक ने कहा—भाई! तुम्हारे ऊपर मेरा कोई ऋण नहीं है। दूसरा कहता—नहीं, मैं तुम्हारा ऋणी हूँ। पहले ने कहा—यहाँ जो हम दोनों का विवाद है, इसका निर्णय ये सबका शासन करने वाले राजा करेंगे।।85।। दूसरा बोला—मैं सच कहता हूँ कि तुम पर मेरा कोई ऋण नहीं है। पहले ने कहा—तुम झूठ बोलते हो। मुझ पर तुम्हारा ऋण है।।86।। तब वे दोनों अत्यन्त संतप्त होकर राजा से इस प्रकार बोले—आप हमारे मामले की जाँच-पड़ताल करके फैसला कर दें, जिससे हम दोनों यहाँ दोष के भागी और निन्दा के पात्र न हों।।87।।

विरूप उवाच

धारयामि नरव्याघ्र विकृतस्येह गोः फलम्।
ददतश्च न गृह्णति विकृतो मे महीपते॥88।।

विरूप बोला—पुरुषसिंह! मैं विकृत के एक गोदान का फल ऋण के तौर पर अपने यहाँ रखता हूँ। पृथ्वीनाथ! उस ऋण को आज मैं दे रहा हूँ; परन्तु यह विकृत ले नहीं रहा है।।88।।

विकृत उवाच

न मे धारयते किञ्चिद् विरूपोऽयं नराधिप।
मिथ्या ब्रवीत्ययं हिं त्वां सत्याभासं नराधिप॥89।।

विकृत ने कहा—नरेश्वर! इस विरूप पर मेरा कोई ऋण नहीं है। यह आपसे झूठ बोलता है। इसकी बात में सत्य का आभास मात्र है।।89।।

राजोवाच

विरूप किं धारयते भवानस्य ब्रवीतु मे।
श्रुत्वा तथा करिष्येऽहमिति मे धीयते मनः॥90॥

राजा बोले—विरूप! तुम्हारे ऊपर विकृत का कौन-सा ऋण है। बताओ, मैं उसे सुनकर कोई निर्णय करूँगा। मेरे मन का ऐसा ही निश्चय है॥90॥

विरूप उवाच

शृणुष्वावहितो राजन् यथैतद् धारयाम्यहम्।
विकृतस्यास्य राजर्षे निखिलेन नराधिप॥91॥
अनेन धर्मप्राप्त्यर्थं शुभा दत्ता पुरानघ।
धेनुर्विप्राय राजर्षे तपःस्वाध्यायशीलिने॥92॥
तस्याश्चायं मया राजन् फलमभ्येत्य याचितः।
विकृतेन च मे दत्तं विशुद्धेनान्तरात्मना॥93॥
ततो मे सुकृतं कर्म कृतमात्मविशुद्धये।
गावौ च कपिले क्रीत्वा वत्सले बहुदोहने॥94॥
ते चोञ्छवृत्तये राजन् मया समपवर्जिते।
यथाविधि यथाश्रद्धं तदस्याहं पुनः प्रभो॥95॥
इहाद्यैव गृहीत्वा तु प्रयच्छे द्विगुणं फलम्।
एवं स्यात् पुरुषव्याघ्र कः शुद्धः कोऽत्र दोषवान्॥96॥
एवं विवदमानौ स्वस्त्वामिहाभ्यागतौ नृप।
कुरु धर्ममधर्मं वा विनये नौ समादध॥97॥
यदि नेच्छति मे दानं यथा दत्तमनेन वै।
भवानत्र स्थिरो भूत्वा मार्गे स्थापयिताद्य नौ॥98॥

विरूप बोला—राजन्! नरेश्वर! आप सावधान होकर सुनें, राजर्षे! इस विकृत का ऋण जिस प्रकार मैं धारण करता हूँ, वह सब पूर्ण रूप से बता रहा हूँ॥91॥ निष्पाप राजर्षे! इसने धर्म की प्राप्ति के लिए एक तपस्वी और स्वाध्यायशाली ब्राह्मण को एक दूध देने वाली उत्तम गाय दी थी॥92॥ राजन्! मैंने इसके घर जाकर इससे उसी गोदान का फल माँगा था और विकृत ने शुद्ध हृदय से मुझे वह दे दिया था॥93॥ तदनन्तर मैंने भी अपनी शुद्धि के लिए पुण्य कर्म किया। राजन्! दो अधिक दूध देने वाली कपिला गौएँ, जिनके साथ उनके बछड़े भी थे, खरीद कर उन्हें मैंने एक उञ्छवृत्ति वाले ब्राह्मण को विधि और श्रद्धापूर्वक दे दिया। प्रभो! उसी गोदान का फल मैं पुन: इसे वापस करना चाहता हूँ॥94-95॥ पुरुषसिंह! इससे एक गोदान का फल लेकर आज मैं इसे दूना फल लौटा रहा हूँ। ऐसी परिस्थिति में आप स्वयं निर्णय कीजिये कि हम दोनों में से कौन शुद्ध है और कौन दोषी?॥96॥ नरेश्वर! इस प्रकार आपस में विवाद करते हुए हम दोनों यहाँ आपके समीप आये हैं। आप निर्णय कीजिये। अब आप चाहे न्याय करें या अन्याय। इस झगड़े का निपटारा कर दें। हम दोनों को विशिष्ट न्याय के मार्ग पर लगा

दें।।97।। इसने जिस तरह मुझे दान दिया है, उसी तरह यदि स्वयं भी मुझसे लेना नहीं चाहता है तो आप स्वयं सुस्थिर होकर हम दोनों को धर्म के मार्ग पर स्थिर कर दें।।98।।

राजोवाच

दीयमानं न गृह्णासि ऋणं कस्मात् त्वमद्य वै।
यथैव तेऽभ्यनुज्ञातं तथा गृह्णीष्व मा चिरम्॥99।।

राजा ने कहा—विकृत! जब विरूप तुम्हें तुम्हारा दिया हुआ ऋण लौटा रहा है, तब तुम उसे आज ग्रहण क्यों नहीं करते? जैसे इसने तुम्हारी दी हुई वस्तु स्वीकार कर ली थी, उसी प्रकार तुम भी इसकी दी हुई वस्तु को ले लो। विलम्ब न करो।।99।।

विकृत उवाच

धारयामीत्यनेनोक्तं ददानीति तथा मया।
नायं मे धारयत्यद्य गच्छतां यत्र वाञ्छति॥100।।

विकृत बोला—राजन्! विरूप ने अभी आपसे कहा है कि मैं ऋण धारण हूँ; परन्तु मैंने उस समय 'दान' कह करके वह वस्तु इसे दी थी; इसलिए इसके ऊपर मेरा कोई ऋण नहीं है। अब यह जहाँ जाना चाहे, जा सकता है।।100।।

राजोवाच

ददतोऽस्य न गृह्णासि विषमं प्रतिभाति मे।
दण्ड्यो हि त्वं मम मतो नास्त्यत्र खलु संशयः॥101।।

राजा ने कहा—विकृत! यह तुम्हें तुम्हारी वस्तु दे रहा है और तुम लेते नहीं हो। यह मुझे अनुचित जान पड़ता है, अतः मेरे मत में तुम दण्डनीय हो; इसमें कोई संशय नहीं है।।101।।

विकृत उवाच

मयास्य दत्तं राजर्षे गृह्णीयां तत् कथं पुनः।
काममत्रापराधो मे दण्डमाज्ञापय प्रभो॥102।।

विकृत बोला—राजर्षे! मैंने इसे दान दिया था; फिर वह दान इससे वापस कैसे ले लूँ। भले, इसमें मेरा अपराध समझा जाए; परन्तु मैं दिया हुआ दान वापस नहीं ले सकता। प्रभो! मुझे दण्ड भोगने की आज्ञा प्रदान करें।।102।।

विरूप उवाच

दीयमानं यदि मया नेषिष्यसि कथञ्चन।
नियंस्यति त्वां नृपतिरयं धर्मानुशासकः॥103।।

विरूप ने कहा—विकृत! यदि तुम मेरी दी हुई वस्तु स्वीकार नहीं करोगे तो ये धर्मपूर्ण शासन करने वाले नरेश तुम्हें कैद कर लेंगे।।103।।

विकृत उवाच

स्वं मया याचितेनेह दत्तं कथमिहाद्य तत्।

गृह्णीयां गच्छतु भवानभ्यनुज्ञां ददानि ते॥104॥

विकृत बोला—तुम्हारे माँगने पर मैंने अपना धन दान के रूप में दिया था; फिर आज उसे वापस कैसे ले सकता हूँ? तुम्हारे ऊपर मेरा कुछ भी पावना नहीं है। मैं तुम्हें जाने के लिए आज्ञा देता हूँ, तुम जाओ॥104॥

ब्राह्मण उवाच

श्रुतमेतत् त्वया राजन्नयोः कथितं द्वयोः।
प्रतिज्ञातं मया यत् ते तद् गृहाणाविचारितम्॥105॥

इसी बीच में जापक ब्राह्मण बोल उठा—राजन्! आपने इन दोनों की बातें सुन लीं। मैंने आपको देने के लिए जो प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार आप मेरा दान बिना विचारे ग्रहण करें॥105॥

राजोवाच

प्रस्तुतं सुमहत् कार्यमनयोर्गह्वरं यथा।
जापकस्य दृढीकारः कथमेतद् भविष्यति॥106॥
यदि तावन्न गृह्णामि ब्राह्मणेनापवर्जितम्।
कथं न लिप्येयमहं पापेन महताद्य वै॥107॥
तौ चोवाच स राजर्षिः कृतकार्यौ गमिष्यथः।
नेदानीं मामिहासाद्य राजधर्मो भवेन्मृषा॥108॥
स्वधर्मः परिपाल्यस्तु राज्ञामिति विनिश्चयः।
विप्रधर्मश्च गहनो मामनात्मानमाविशत्॥109॥

राजा ने मन-ही-मन कहा—इन दोनों का बड़ा भारी और गहन कार्य सामने आ गया है। इधर जापक ब्राह्मण का सुदृढ़ आग्रह ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। इससे निपटारा कैसे होगा॥106॥ यदि मैं आज ब्राह्मण की दी हुई वस्तु ग्रहण करूँ तो किस प्रकार महान् पाप से निर्लिप्त रह सकूँगा॥107॥ इसके बाद राजर्षि इक्ष्वाकु ने उन दोनों से कहा—'तुम दोनों अपने विवाद का निपटारा हो जाने पर ही यहाँ से जाना। इस समय मेरे पास आकर अपना कार्य पूर्ण हुए बिना न जाना। मुझे भय है कि राजधर्म मिथ्या अथवा कलङ्कित न हो जाए॥108॥ राजाओं को अपने धर्म का पालन करना चाहिये, यही शास्त्र का सिद्धान्त है। इधर मुझ अजितात्मा के भीतर गहन ब्राह्मण धर्म ने प्रवेश किया है'॥109॥

ब्राह्मण उवाच

गृहाण धारयेऽहं च याचितं संश्रुतं मया।
न चेद् ग्रहीष्यसे राजञ्शपिष्ये त्वां न संशयः॥110॥

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! आपने जो वस्तु माँगी थी और जिसे देने की मैंने प्रतिज्ञा कर ली थी, उसे मैं आपकी धरोहर के रूप में अपने पास रखता हूँ, अतः शीघ्र ही उसे ले लें। यदि नहीं लेंगे तो निस्सन्देह मैं आपको शाप दे दूँगा॥110॥

राजोवाच

धिग् राजधर्मं यस्यायं कार्यस्येह विनिश्चयः।
इत्यर्थं मे ग्रहीतव्यं कथं तुल्यं भवेदिति॥111॥
एष पाणिरपूर्वं मे निक्षेपार्थं प्रसारितः।
यन्मे धारयसे विप्र तदिदानीं प्रदीयताम्॥112॥

राजा ने कहा—धिक्कार है राजधर्म को, जिसके कार्य का यहाँ यह परिणाम निकला। ब्राह्मण को और मुझको समान फल की प्राप्ति कैसे हो, इसी उद्देश्य से मुझे यह दान ग्रहण करना है॥111॥ ब्रह्मन्! यह मेरा हाथ जो आज से पहले किसी के सामने नहीं फैलाया गया था, आज आपसे धरोहर लेने के लिए आपके सामने फैला है। आप मेरा जो कुछ भी धरोहर धारण करते हैं, उसे इस समय मुझे दे दीजिये॥112॥

ब्राह्मण उवाच

संहितां जपता यावान् गुणः कश्चित् कृतो मया।
तत् सर्वं प्रतिगृह्णीष्व यदि किञ्चिदिहास्ति मे॥113॥

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! मैंने संहिता का जप करते हुए कहीं से जितना भी पुण्य अथवा सद्गुण संग्रह किया है, वह सब आप ले लें। इसके सिवा भी मेरे पास जो कुछ पुण्य हो, उसे ग्रहण करें॥113॥

राजोवाच

जलमेतन्निपतितं मम पाणौ द्विजोत्तम।
सममस्तु सहैवास्तु प्रतिगृह्णातु वै भवान्॥114॥

राजा ने कहा—द्विजश्रेष्ठ! मेरे हाथ पर यह सङ्कल्प का जल पड़ा हुआ है। मेरा और आपका सारा पुण्य हम दोनों के लिए समान हो और हम साथ-साथ उसका उपभोग करें; इस उद्देश्य से आप मेरा दिया हुआ दान भी ग्रहण करें॥114॥

विरूप उवाच

कामक्रोधौ विद्धि नौ त्वमावाभ्यां कारितो भवान्।
सहेति च यदुक्तं ते समा लोकास्तवास्य च॥115॥
नायं धारयते किञ्चिज्जिज्ञासा त्वत्कृते कृता।
कालो धर्मस्तथा मृत्युः कामक्रोधौ तथा युवाम्॥116॥
सर्वमन्योन्यनिष्कर्षे निघृष्टं पश्यतस्तव।
गच्छ लोकान् जितान् स्वेन कर्मणा यत्र वाञ्छसि॥117॥

विरूप ने कहा—राजन्! आपको विदित हो कि हम दोनों काम और क्रोध हैं। हमने ही आपको इस कार्य में लगाया है। आपने जो साथ-साथ फल भोगने की बात कही है, इससे आपको और इस ब्राह्मण को एक समान लोक प्राप्त होंगे॥115॥ यह मेरा साथी कुछ भी धारण नहीं करता अथवा मुझ पर भी इसका कोई ऋण नहीं है। यह सब खेल तो हम लोगों ने आपकी परीक्षा लेने के लिए किया था। काल, धर्म, मृत्यु,

काम, क्रोध और आप दोनों—ये सब-के-सब एक-दूसरे की कसौटी पर आपके देखते-देखते कसे गए हैं। अब जहाँ आप की इच्छा हो, अपने कर्म से जीते हुए उन लोकों में जाइये।।116-117।।

भीष्म उवाच

जापकानां फलावाप्तिर्मया ते सम्प्रदर्शिता।
गतिः स्थानं च लोकाश्च जापकेन यथा जिताः॥118।।
प्रयाति संहिताध्यायी ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्।
अथवाग्निं समायाति सूर्यमाविशतेऽपि वा॥119।।
स तैजसेन भावेन यदि तत्र रमत्युत।
गुणांस्तेषां समाधत्ते रागेण प्रतिमोहितः॥120।।
एवं सोमे तथा वायौ भूम्याकाशशरीरगः।
सरागस्तत्र वसति गुणांस्तेषां समाचरन्॥121।।
अथ तत्र विरागी स गच्छति त्वथ संशयम्।
परमव्ययमिच्छन् स तमेवाविशते पुनः॥122।।
अमृताच्चामृतं प्राप्तः शान्तीभूतो निरात्मवान्।
ब्रह्मभूतः स निर्द्वन्द्वः सुखी शान्तो निरामयः॥123।।
ब्रह्मस्थानमनावर्तमेकमक्षरसञ्ज्ञकम्।
अदुःखमजरं शान्तं स्थानं तत् प्रतिपद्यते॥124।।
चतुर्भिर्लक्षणैर्हीनं तथा षड्भिः सषोडशैः।
पुरुषं तमतिक्रम्य आकाशं प्रतिपद्यते॥125।।
अथ नेच्छति रागात्मा सर्वं तदधितिष्ठति।
यच्च प्रार्थयते तच्च मनसा प्रतिपद्यते॥126।।
अथवा चेक्षते लोकान् सर्वान् निरयसञ्ज्ञितान्।
निस्पृहः सर्वतो मुक्तस्तत्र वै रमते सुखम्॥127।।
एवमेषा महाराज जापकस्य गतिर्यथा।
एतत् ते सर्वमाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥128।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! जापकों को किस प्रकार फल की प्राप्ति होती है? इस बात का दिग्दर्शन मैंने तुम्हें करा दिया। जापक ब्राह्मण ने कौन-सी गति प्राप्त की? किस स्थान पर अधिकार किया? कौन-कौन-से लोक उसके लिए सुलभ हुए? और यह सब किस प्रकार सम्भव हुआ? ये बातें आगे बतायी जाएँगी।।118।। संहिता का स्वाध्याय करने वाला द्विज परमेष्ठी ब्रह्मा को प्राप्त होता है अथवा अग्नि में समा जाता है अथवा सूर्य में प्रवेश कर जाता है।।119।। यदि वह जापक तैजस शरीर से उन लोकों में रमण करता है तो राग से मोहित होकर उनके गुणों को अपने भीतर धारण कर लेता है।।120।। इसी प्रकार संहिता का जप करने वाला पुरुष रागयुक्त होने पर चन्द्रलोक, वायुलोक, भूमिलोक तथा अन्तरिक्षलोक के योग्य शरीर धारण करके वहाँ निवास करता

है और उन लोकों में रहने वाले पुरुषों के गुणों का आचरण करता रहता है।।121।। यदि उन लोकों की उत्कृष्टता में सन्देह हो जाए तो वह उत्कृष्ट एवं अविनाशी मोक्ष की इच्छा रखता हुआ फिर उसी परमेष्ठी ब्रह्मा में प्रवेश कर जाता है।।122।। अन्य लोकों की अपेक्षा परमेष्ठि भाव की प्राप्ति अमृत रूप है। उससे भी उत्कृष्ट कैवल्य रूपी अमृत को प्राप्त होकर वह शान्त (निष्काम), अहङ्कार शून्य, निर्द्वन्द्व, सुखी, शान्ति परायण तथा रोग शोक से रहित ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।।123।। ब्रह्मपद पुनरावृत्ति रहित, एक, अविनाशी, संज्ञारहित, दुःखशून्य, अजर और शान्त आश्रय है, उसे ही वह जापक प्राप्त होता है।।124।। जापक पूर्वोक्त परमेष्ठी पुरुष (सगुण ब्रह्म) से भी ऊपर उठकर आकाश स्वरूप निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त होता है। वहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—इन चारों प्रमाणों और लक्षणों की पहुँच नहीं है। क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह तथा जरा और मृत्यु—ये छः तरङ्गें वहाँ नहीं हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचों प्राण तथा मन—इन सोलह उपकरणों से भी वह रहित है।।125।। यदि उसके मन में भोगों के प्रति राग है और वह निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त होना नहीं चाहता है तो वह सभी पुण्य लोकों का अधिष्ठाता बन जाता है और मन से जिस वस्तु को पाना चाहता है, उसे तुरन्त प्राप्त कर लेता है।।126।। अथवा वह सम्पूर्ण उत्तम लोकों को भी नरक के तुल्य देखता है और सब ओर से निःस्पृह एवं मुक्त होकर उसी निर्गुण ब्रह्म में सुखपूर्वक रमण करता है।।127।। महाराज! इस प्रकार यह जापक की गति बतायी गयी है। यह सारा प्रसङ्ग मैंने कह सुनाया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?।।128।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ 199 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्षधर्म पर्व में जापक का उपाख्यान विषयक एक सौ निन्यानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ।।199।।

द्वितीयोऽध्यायः

जापक ब्राह्मण और राजा इक्ष्वाकु की उत्तम गति का वर्णन तथा जापक को मिलने वाले फल की उत्कृष्टता

युधिष्ठिर उवाच

किमुत्तरं तदा तौ स्म चक्रतुस्तस्य भाषिते।
ब्राह्मणो वाथवा राजा तन्मे ब्रूहि पितामह॥1।।
अथवा तौ गतौ तत्र यदेतत् कीर्तितं त्वया।
संवादो वा तयोः कोऽभूत् किं वा तौ तत्र चक्रतुः॥2।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! उस समय विरूप के पूर्वोक्त वचन कहने पर ब्राह्मण और राजा इक्ष्वाकु उन दोनों ने उसे क्या उत्तर दिया, यह मुझे बताइये।।1।। तथा आपने जा यह सद्योमुक्ति, क्रममुक्ति और लोकान्तर की प्राप्ति रूप तीन प्रकार की गति बतायी

है, उनमें से वे दोनों किस गति को प्राप्त हुए? उस समय उन दोनों में क्या बातचीत हुई और उन्होंने क्या किया?।।2।।

भीष्म उवाच

तथेत्येवं प्रतिश्रुत्य धर्मं सम्पूज्य च प्रभो।
यमं कालं च मृत्युं च स्वर्गं सम्पूज्य चार्हतः॥3।।
पूर्वं ये चापरे तत्र समेता ब्राह्मणर्षभाः।
सर्वान् सम्पूज्य शिरसा राजानं सोऽब्रवीद् द्विजः॥4।।
फलेनानेन संयुक्तो राजर्षे गच्छ मुख्यताम्।
भवता चाभ्यनुज्ञातो जपेयं भूय एव ह॥5।।
वरश्च मम पूर्वं हि दत्तो देव्या महाबल।
श्रद्धा ते जपतो नित्यं भवत्विति विशाम्पते॥6।।

भीष्मजी ने कहा—प्रभो! तुम 'बहुत अच्छा' कहकर ब्राह्मण ने धर्म, यम, काल, मृत्यु और स्वर्ग—इन सभी पूजनीय देवताओं का पूजन किया। वहाँ पहले से जो ब्राह्मण मौजूद थे और दूसरे भी जो श्रेष्ठ ब्राह्मण वहाँ पधारे थे, उन सबके चरणों में सिर झुकाकर सबकी यथोचित पूजा करके ब्राह्मण ने राजा से कहा—।।3-4।। 'राजर्षे! इस फल से संयुक्त होकर आप श्रेष्ठ गति को प्राप्त कीजिये और आपकी आज्ञा लेकर मैं फिर जप में लग जाऊँगा।।5।। महाबली प्रजानाथ! मुझे देवी सावित्री ने वर दिया है कि जप में तुम्हारी नित्य श्रद्धा बनी रहेगी'।।6।।

राजोवाच

यद्येवमफला सिद्धिः श्रद्धा च जपितुं तव।
गच्छ विप्र मया सार्धं जापकं फलमाप्नुहि॥7।।

राजा ने कहा—विप्रवर! यदि इस प्रकार मुझे फल समर्पण करने के कारण आपको फल की प्राप्ति नहीं हो रही है और पुनः जप करने में ही आपकी श्रद्धा होती है तो आप मेरे साथ ही चलें और जप दानजनित फल को प्राप्त करें।।7।।

ब्राह्मण उवाच

कृतः प्रयत्नः सुमहान् सर्वेषां सन्निधाविह।
सह तुल्यफलावावां गच्छावो यत्र नौ गतिः॥8।।

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! मैंने यहाँ सबके समीप आपको अपने जप का फल देने के लिए महान् प्रयत्न किया है; फिर भी आपका आग्रह साथ-साथ फल का उपभोग करने का रहा है; अतः हम दोनों समान फल के ही भागी हों। चलिये, जहाँ तक हम दोनों की गति हो सके, साथ-साथ चलें।।8।।

भीष्म उवाच

व्यवसायं तयोस्तत्र विदित्वा त्रिदशेश्वरः।
सह देवैरुपययौ लोकपालैस्तथैव च॥9।।

साध्याश्च विश्वे मरुतो वाद्यानि सुमहान्ति च।
नद्यः शैलाः समुद्राश्च तीर्थानि विविधानि च॥10॥
तपांसि संयोगविधिर्वेदाः स्तोभाः सरस्वती।
नारदः पर्वतश्चैव विश्वावसुर्हाहाहूहूः॥11॥
गन्धर्वश्चित्रसेनश्च परिवारगणैर्युतः।
नागाः सिद्धाश्च मुनयो देवदेवः प्रजापतिः॥12॥
विष्णुः सहस्रशीर्षश्च देवोऽचिन्त्यः समागमत्।
अवाद्यन्तान्तरिक्षे च भेर्यस्तूर्याणि वा विभो॥13॥
पुष्पवर्षाणि दिव्यानि तत्र तेषां महात्मनाम्।
ननृतुश्चाप्सरः सङ्घास्तत्र तत्र समन्ततः॥14॥
अथ स्वर्गस्तथा रूपी ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत्।
संसिद्धस्त्वं महाभाग त्वं च सिद्धस्तथा नृप॥15॥
अथ तौ सहितौ राजन्नन्योन्यविधिना ततः।
विषयप्रतिसंहारमुभावेव प्रचक्रतुः॥16॥
प्राणापानौ तथोदानं समानं व्यानमेव च।
एवं तौ मनसि स्थाप्य दधतुः प्राणयोर्मनः॥17॥
उपस्थितकृतौ तौ च नासिकाग्रमधो भ्रुवोः।
भ्रुकुट्या चैव मनसा शनैर्धारयतस्तदा॥18॥
निश्चेष्टाभ्यां शरीराभ्यां स्थिरदृष्टी समाहितौ।
जितात्मानौ तथाऽऽधाय मूर्धन्यात्मानमेव च॥19॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! उन दोनों का वहाँ ऐसा निश्चय जानकर सम्पूर्ण देवताओं तथा लोकपालों के साथ देवराज इन्द्र उस स्थान पर आये। उनके साथ साध्यगण, विश्वेदेवगण और मरुद्गण भी थे। बड़े-बड़े वाद्य बज रहे थे। नदियाँ, पर्वत, समुद्र, नाना प्रकार के तीर्थ, तपस्या, संयोगविधि, वेद, स्तोभ (साम गान की पूर्ति के लिए बोले जाने वाले अक्षर हाई हावु इत्यादि), सरस्वती, नारद, पर्वत, विश्वावसु, हाहा, हूहू, परिवार सहित चित्रसेन, गन्धर्व, नाग, सिद्ध, मुनि, देवाधिदेव प्रजापति ब्रह्मा, सहस्रों मस्तक वाले शेषनाग तथा अचिन्त्य देव भगवान् विष्णु भी वहाँ पधारे। प्रभो! उस समय आकाश में भेरियाँ और तुरही आदि बाजे बज रहे थे॥9-13॥ वहाँ उन महात्माओं पर दिव्य फूलों की वर्षा होने लगी। झुण्ड की झुण्ड अप्सराएँ सब ओर नृत्य करने लगीं॥14॥ तदनन्तर मूर्तिमान् स्वर्ग ने ब्राह्मण से कहा—'महाभाग! तुम सिद्ध हो गये।' फिर राजा से कहा—'नरेश्वर! तुम भी सिद्ध हो गये'॥15॥ राजन्! तदनन्तर वे दोनों एक-दूसरे का उपकार करते हुए एक साथ हो गये। उन्होंने एक ही साथ अपने मन को विषयों की ओर से हटा लिया॥16॥ तदनन्तर प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान—इन पाँचों प्राण वायुओं को हृदय में स्थापित किया; इस प्रकार स्थित हुए उन दोनों ने मन को प्राण और अपान के साथ मिला दिया। भौहों के नीचे नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि रखते हुए मन सहित प्राण अपान को उन्होंने दोनों भौहों

के बीच स्थिर किया।।17-18।। इस प्रकार मन को जीतकर दृष्टि को एकाग्र करके उन दोनों ने प्राण सहित मन को सुषुम्णा मार्ग द्वारा मूर्धा में स्थापित कर दिया। उस समय उन दोनों के शरीर जड़ की भाँति चेष्टाहीन हो गये।।19।।

तालुदेशमथोद्दाल्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
ज्योतिर्ज्वाला सुमहती जगाम त्रिदिवं तदा॥20।।
हाहाकारस्तथा दिक्षु सर्वेषां सुमहानभूत्।
तज्ज्योतिः स्तूयमानं स्म ब्रह्माणं प्राविशत् तदा॥21।।
ततः स्वागतमित्याह तत् तेजः प्रपितामहः।
प्रादेशमात्रं पुरुषं प्रत्युद्गम्य विशाम्पते॥22।।
भूयश्चैवापरं प्राह वचनं मधुरं तदा।
जापकैस्तुल्यफलता योगानां नात्र संशयः॥23।।
योगस्य तावदेतेभ्यः प्रत्यक्षं फलदर्शनम्।
जापकानां विशिष्टं तु प्रत्युत्थानं समाहितम्॥24।।
उष्यतां मयि चेत्युक्त्वाचेतयत् सततं पुनः।
अथास्यं प्रविवेशास्य ब्राह्मणो विगतज्वरः॥25।।
राजाप्येतेन विधिना भगवन्तं पितामहम्।
यथैव द्विजशार्दूलस्तथैव प्राविशत् तदा॥26।।
स्वयम्भुवमथो देवा अभिवाद्य ततोऽब्रुवन्।
जापकानां विशिष्टं तु प्रत्युत्थानं समाहितम्॥27।।
जापकार्थमयं यत्नो यदर्थं वयमागताः।
कृतपूजाविमौ तुल्यौ त्वया तुल्यफलाविमौ॥28।।
योगजापकयोर्दृष्टं फलं सुमहदद्य वै।
सर्वांल्लोकानतिक्रम्य गच्छेतां यत्र वाञ्छितम्॥29।।

इसी समय महात्मा ब्राह्मण के तालुदेश (ब्रह्म रन्ध्र) का भेदन करके एक ज्योतिर्मयी विशाल ज्वाला निकली और स्वर्ग की ओर चल दी।।20।। फिर तो सम्पूर्ण दिशाओं में कोलाहल मच गया। उस ज्योति की सभी लोग स्तुति करने लगे। प्रजानाथ! प्रादेश के बराबर लम्बे पुरुष का आकार धारण किए वह तेज:पुँज ब्रह्माजी के पास पहुँचा, तब ब्रह्माजी ने आगे बढ़कर उसका स्वागत किया।।21-22।। ब्रह्माजी ने उस तेजोमय पुरुष का स्वगात करने के पश्चात् पुन: उससे मधुर वाणी में इस प्रकार कहा— 'विप्रवर! योगियों को जो फल मिलता है, निस्सन्देह वही फल जप करने वालों को भी प्राप्त होता है।।23।। योगियों को जिस फल की प्राप्ति होती है, वह इन सभासदों ने प्रत्यक्ष देखा है; किन्तु जापकों को उनसे भी श्रेष्ठ फल प्राप्त होता है, यह सूचित करने के लिए ही मैंने उठकर तुम्हारा स्वागत किया है।।24।। अब तुम मेरे भीतर सुखपूर्वक निवास करो।' इतना कहकर ब्रह्माजी ने उसे पुन: तत्त्वज्ञान प्रदान किया। आज्ञा पाकर वह ब्राह्मण तेज रोग-शोक से मुक्त हो ब्रह्माजी के मुखारविन्द में प्रविष्ट हो गया।।25।। राजा

इक्ष्वाकु भी उस श्रेष्ठ ब्राह्मण की ही भाँति विधिपूर्वक भगवान् ब्रह्माजी के मुखारविन्द में प्रविष्ट हो गये।।26।। तदनन्तर देवताओं ने ब्रह्माजी को प्रणाम करके कहा—'भगवन्! आपने जो आगे बढ़कर इस ब्राह्मण का स्वागत किया है, इससे सिद्ध हो गया कि जापकों को योगियों से भी श्रेष्ठ फल की प्राप्ति होती है।।27।। इस जापक ब्राह्मण को सद्गति देने के लिए ही आपने ऐसा उद्योग किया था। इसी को देखने के लिए हम लोग भी आये थे। आपने इन दोनों का समान रूप से आदर किया और ये दोनों ही एक-सी स्थिति में पहुँच कर आपके समान फल के भागी हुए हैं।।28।। आज हम लोगों ने योगी और जापक के महान् फल को प्रत्यक्ष देख लिया। वे सम्पूर्ण लोकों को लाङ्घ कर जहाँ उनकी इच्छा हो, जा सकते हैं'।।29।।

ब्रह्मोवाच

महास्मृतिं पठेद् यस्तु तथैवानुस्मृतिं शुभाम्।
तावप्येतेन विधिना गच्छेतां मत्सलोकताम्॥30।।
यश्च योगे भवेद् भक्तः सोऽपि नास्त्यत्र संशयः।
विधिनानेन देहान्ते मम लोकानवाप्नुयात्।
साधये गम्यतां चैव यथास्थानानि सिद्धये॥31।।

ब्रह्माजी ने कहा—देवताओ! जो महास्मृति तथा कल्याणमयी अनुस्मति का पाठ करता है, वह भी इसी विधि से मेरा सालोक्य प्राप्त कर लेता है। जो योग का भक्त है, वह भी देहत्याग के पश्चात् इसी विधि से मेरे लोकों को प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है। अब तुम सब लोग अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए अपने-अपने स्थान को जाओ। मैं तुम लोगों का अभीष्ट साधन करता रहूँगा।।30-31।।

भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा स तदा देवस्तत्रैवान्तरधीयत।
आमन्त्र्य च ततो देवा ययुः स्वं स्वं निवेशनम्॥32।।
ते च सर्वे महात्मानो धर्मं सत्कृत्य तत्र वै।
पृष्ठतोऽनुययू राजन् सर्वे सुप्रीतचेतसः॥33।।
एतत् फलं जापकानां गतिश्चैषा प्रकीर्तिता।
यथाश्रुतं महाराज किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥34।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर ब्रह्माजी वहीं अन्तर्धान हो गये। देवता भी उनकी आज्ञा पाकर अपने-अपने स्थान को चले गये।।32।। राजन्! फिर वे सभी महात्मा धर्म को सत्कारपूर्वक आगे करके प्रसन्नचित्त हो पीछे-पीछे चल दिये।।33।। महाराज! मैंने जैसा सुना था, उसके अनुसार जापकों को मिलने वाले इस उत्तम फल और गति का वर्णन किया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?।।34।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि जापकोपाख्याने द्विशततमोऽध्यायः॥200॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में जापक का उपाख्यान विषयक दो सौवाँ अध्याय पूरा हुआ॥200॥

जापकगीता सम्पूर्ण

मनुगीता–II

प्रथमोऽध्यायः

बृहस्पति के प्रश्न के उत्तर में मनु द्वारा कामनाओं के त्याग की एवं ज्ञान की प्रशंसा तथा परमात्म तत्त्व रूप का निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

किं फलं ज्ञानयोगस्य वेदानां नियमस्य च।
भूतात्मा च कथं ज्ञेयस्तन्मे ब्रूहि पितामह॥1।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! ज्ञानयोग का, वेदों का तथा वेदोक्त नियम (अग्निहोत्र आदि) का क्या फल है? समस्त प्राणियों के भीतर रहने वाले परमात्मा का ज्ञान कैसे हो सकता है? यह मुझे बताइये।।1।।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मनोः प्रजापतेर्वादं महर्षेश्च बृहस्पतेः॥2।।
प्रजापतिं श्रेष्ठतमं प्रजानां देवर्षिसङ्घप्रवरो महर्षिः।
बृहस्पतिः प्रश्नमिमं पुराणं पप्रच्छ शिष्योऽथ गुरुं प्रणम्य॥3।।
यत्कारणं यत्र विधिः प्रवृत्तो ज्ञाने फलं यत् प्रवदन्ति विप्राः।
यन्मन्त्रशब्दैरकृतप्रकाशं तदुच्यतां मे भगवन्यथावत्॥4।।
यच्चार्थशास्त्रागममन्त्रविद्भिर्यज्ञैरनेकैरथ गोप्रदानैः।
फलं महद्भिर्यदुपास्यते च किं तत् कथं वा भविता क्व वा तत्॥5।।
मही महीजाः पवनोऽन्तरिक्षं जलौकसश्चैव जलं दिवं च।
दिवौकसश्चापि यतः प्रसूतास्तदुच्यतां मे भगवन् पुराणम्॥6।।
ज्ञानं यतः प्रार्थयते नरो वै ततस्तदर्था भवति प्रवृत्तिः।
न चाप्यहं वेद परं पुराणं मिथ्याप्रवृत्तिं च कथं नु कुर्याम्॥7।।
ऋक्सामसङ्घांश्च यजूंषि चापि च्छन्दांसि नक्षत्रगतिं निरुक्तम्।
अधीत्य च व्याकरणं सकल्पं शिक्षां च भूतप्रकृतिं न वेद्मि॥8।।
स मे भवान् शंसतु सर्वमेतत्सामान्यशब्दैश्च विशेषणैश्च।
स मे भवान् शंसतु तावदेतज्ज्ञाने फलं कर्मणि वा यदस्ति॥9।।
यथा च देहाच्च्यवते शरीरी पुनः शरीरं च यथाभ्युपैति।

मनुरुवाच

यद्यत्प्रियं यस्य सुखं तदाहुस्तदेव दुःखं प्रवदन्त्यनिष्टम्॥10।।
इष्टं च मे स्यादितरच्च न स्यादेतत्कृते कर्मविधिः प्रवृत्तः।

इष्टं त्वनिष्टं च न मां भजेतेत्येतत्कृते ज्ञानविधि: प्रवृत्त:॥11॥
कामात्मकाश्छन्दसि कर्मयोगा एभिर्विमुक्त: परमश्नुवीत।
नानाविधे कर्मपथे सुखार्थी नर: प्रवृत्तो न परं प्रयाति॥12॥

भीष्मजी ने कहा—राजन्! इस विषय में प्रजापति मनु तथा महर्षि बृहस्पति के संवाद रूप प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है।।2।। एक समय की बात है, देवता और ऋषियों की मण्डली में प्रधान महर्षि बृहस्पति ने प्रजाओं के श्रेष्ठतम प्रजापति गुरु मनु को शिष्य भाव से प्रणाम करे यह प्राचीन प्रश्न पूछा—।।3।। भगवन्! जो इस जगत् का कारण है, जिसके लिए वैदिक कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है, ब्राह्मण लोग जिसे ही ज्ञान होने पर प्राप्त होने वाला फल (परब्रह्म परमात्मा) बताते हैं तथा वेद के मन्त्र वाक्यों द्वारा जिसका तत्त्व पूर्ण रूप से प्रकाश में नहीं आता, उस नित्य वस्तु का आप मेरे लिए यथावद् रूप से वर्णन कीजिये।।4।। अर्थशास्त्र, आगम (वेद) और मन्त्र को जानने वाले विद्वान् पुरुष अनेकानेक महान् यज्ञों और गोदानों द्वारा जिस सुखमय फल की उपासना करते हैं, वह क्या है, किस प्रकार प्राप्त होता है और कहाँ उसकी स्थिति है?।।5।। भगवन्! पृथ्वी, पार्थिव पदार्थ, वायु, आकाश, जलजन्तु, जल, द्युलोक और देवता जिससे उत्पन्न होते हैं, वह पुरातन वस्तु क्या है? यह मुझे बताइये।।6।। मनुष्य को जिस वस्तु का ज्ञान होता है, उसी को वह पाना चाहता है और पाने की इच्छा उत्पन्न होने पर उसके लिए वह प्रयत्न आरम्भ करता है; परन्तु मैं तो उस पुरातन परमोत्कृष्ट वस्तु के विषय में कुछ जानता ही नहीं हूँ; फिर उसे पाने के लिए झूठा प्रयत्न कैसे करूँ?।।7।। मैंने ऋक्, साम और यजुर्वेद का तथा छन्द का अर्थात् अथर्ववेद का एवं नक्षत्रों की गति, निरुक्त, व्याकरण, कल्प और शिक्षा का भी अध्ययन किया है तो भी मैं आकाश आदि पाँचों महाभूतों के उपादान कारण को न जान सका।।8।। अत: आप सामान्य और विशेष शब्दों द्वारा इस सम्पूर्ण विषय का मेरे निकट वर्णन कीजिये। तत्त्वज्ञान होने पर कौन-सा फल प्राप्त होता है? कर्म करने पर किस फल की उपलब्धि होती है? देहाभिमानी जीव देह से किस प्रकार निकलता है और फिर दूसरे शरीर में कैसे प्रवेश करता है?—ये सारी बातें भी आप मुझे बताइये।।9।।

मनु ने कहा—जिसको जो-जो विषय प्रिय होता है, वही उसके लिए सुखरूप बताया गया है और जो अप्रिय होता है, उसे ही दु:ख रूप कहा गया है। मुझे इष्ट (प्रिय) की प्राप्ति हो और अनिष्ट का निवारण हो जाए, इसी के लिए कर्मों का अनुष्ठान आरम्भ किया गया है तथा इष्ट और अनिष्ट दोनों ही मुझे प्राप्त न हों, इसके लिए ज्ञानयोग का उपदेश किया गया है।।10-11।। वेद में जो कर्मों के प्रयोग बताये गये हैं, वे प्राय: सकाम भाव से युक्त हैं। जो इन कामनाओं से मुक्त होता है, वही परमात्मा को पा सकता है। नाना प्रकार के कर्म मार्ग में सुख की इच्छा रखकर प्रवृत्त होने वाला मनुष्य परमात्मा को प्राप्त नहीं होता।।12।।

बृहस्पतिरुवाच

इष्टं त्वनिष्टं च सुखासुखे च साशीस्त्ववच्छन्दति कर्मभिश्च।

बृहस्पति ने कहा—भगवन्! सुख सबको अभीष्ट होता है और दुःख किसी को भी प्रिय नहीं होता। इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के निवारण के लिए जो कामना होती है, वही मनुष्यों से कर्म करवाती है और उन कर्मों द्वारा उनका मनोरथ पूर्ण करती है; अतः कामना को आज त्याज्य कैसे बताते हैं?

मनुरुवाच

एभिर्विमुक्तः परमाविवेश एतत् कृते कर्मविधिः प्रवृत्तः।
कामात्मकांश्छन्दति कर्मयोग एभिर्विमुक्तः परमाददीत॥13॥
आत्मादिभिः कर्मभिरिन्ध्यमानो धर्मे प्रवृत्तो द्युतिमान् सुखार्थी।
परं हि तत् कर्मपथादपेतं निराशिषं ब्रह्मपरं ह्यवैति॥14॥
प्रजाः सृष्टा मनसा कर्मणा च द्वावेवैतौ सत्पथौ लोकजुष्टौ।
दृष्टं कर्म शाश्वतं चान्तवच्च मनस्त्यागः कारणं नान्यदस्ति॥15॥
स्वेनात्मना चक्षुरिव प्रणेता निशात्यये तमसा संवृतात्मा।
ज्ञानं तु विज्ञानगुणेन युक्तं कर्माशुभं पश्यति वर्जनीयम्॥16॥
सर्पान् कुशाग्राणि तथोदपानं ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति।
अज्ञानतस्तत्र पतन्ति केचिज्ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम्॥17॥
कृत्स्नस्तु मन्त्रो विधिवत् प्रयुक्तो यथा यथोक्तास्त्विह दक्षिणाश्च।
अन्नप्रदानं मनसः समाधिः पञ्चात्मकं कर्मफलं वदन्ति॥18॥
गुणात्मकं कर्म वदन्ति वेदास्तस्मान्मन्त्रो मन्त्रपूर्वं हि कर्म।
विधिर्विधेयं मनसोपपत्तिः फलस्य भोक्ता तु तथा शरीरी॥19॥
शब्दाश्च रूपाणि रसाश्च पुण्याः स्पर्शाश्च गन्धाश्च शुभास्तथैव।
नरो न संस्थानगतः प्रभुः स्यादेतत् फलं सिद्ध्यति कर्मलोके॥20॥

मनु ने कहा—मनुष्य इन कामनाओं से मुक्त हो निष्काम भाव से कर्मों का अनुष्ठान करके परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करे, इसी उद्देश्य से कर्मों का विधान किया है, वेद में स्वर्ग आदि की कामना से योगादि कर्मों का विधान किया गया है, वह उन्हीं मनुष्यों कों अपने जाल में फँसाता है, जिनका मन भोगों में आसक्त है। वास्तव में इन कामनाओं से दूर रहकर परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न करे (भगवत् प्राप्ति के लिए ही कर्म करे, क्षुद्र भोगों के लिए नहीं)॥13॥ जब मन नित्य कर्मों के अनुष्ठान से राग आदि दोषों को दूर करके दर्पण की भाँति स्वच्छ एवं दीप्तिमान् हो जाता है, तब वह द्युतिमान् (सदसद् विवेक के प्रकाश से युक्त) और नित्य सुख का अभिलाषी (मुमुक्षु) होकर निर्वाण भाव से धर्म में प्रवृत्त होता है एवं कर्म मार्ग से अतीत तथा कामनाओं से रहित परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है॥14॥ ब्रह्माजी ने मन और कर्म—इन दोनों के सहित प्रजा की सृष्टि की है; अतः ये दोनों लोक सेवित सन्मार्ग रूप हैं। कर्म दो प्रकार का देखा गया है—एक सनातन और दूसरा विनाशशील (मोक्ष का हेतु भूत कर्म सनातन है और नश्वर भोगों की प्राप्ति कराने वाला नाशवान् है) मन के द्वारा किए जाने वाले फल की इच्छा का त्याग ही कर्मों को सनातन बनाने और उनके द्वारा परब्रह्म

की प्राप्ति कराने में कारण है, दूसरा कुछ नहीं।।15।। जब रात बीत जाती है और अन्धकार का आवरण हट जाता है, उस समय जैसे चलने में प्रवृत्त करने वाला नेत्र अपने तैजस स्वरूप से युक्त हो रास्ते में पड़े हुए त्यागने योग्य काँटे आदि को देखते हैं, उसी प्रकार बुद्धि भी मोह का पर्दा हट जाने पर ज्ञान के प्रकाश से युक्त हो त्यागने अशुभ कर्म को देखती है।।16।। मनुष्य जब जान लेते हैं कि रास्ते में सर्प है, कुशों के कांटें हैं और कुएँ हैं, तब उनसे बचकर निकलते हैं। जो नहीं जानते हैं, ऐसे कितने ही पुरुष उन्हीं पर गिर पड़ते हैं। अत: ज्ञान का जो विशिष्ट फल है, उसे तुम प्रत्यक्ष देख लो।।17।। विधिपूर्वक सम्पूर्ण मन्त्रों का उच्चारण, वेदोक्त विधान के अनुसार यज्ञों का अनुष्ठान, यथायोग्य दक्षिणा, अन्न का दान और मन की एकाग्रता—इन पाँच अङ्गों से सम्पन्न होने पर ही यज्ञ कर्म का पूरा-पूरा फल प्राप्त होता है, ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं।।18।। वेदों का कहना है कि कर्म त्रिगुणात्मक होते हैं अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार के होते हैं; इसीलिए मन्त्र भी सात्त्विक आदि भेद से तीन प्रकार के ही होते हैं; क्योंकि मन्त्रोच्चारण पूर्वक ही कर्म का अनुष्ठान किया जाता है। इसी तरह उन कर्मों की विधि, विधेय (उनके लिए किया जाने वाला कार्य), मन के द्वारा अभीष्ट फल की सिद्धि और उसका भोक्ता देहाभिमानी जीव—ये सभी तीन-तीन प्रकार के होते हैं।।19।। शब्द, रूप, पवित्र रस, सुखद स्पर्श और सुन्दर गन्ध—ये ही कर्मों के फल हैं; किन्तु इस शरीर में स्थित हुआ मनुष्य इन फलों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। कर्मों के फल की प्राप्ति जो उनका फल भोगने के लिए प्राप्त शरीर में होती है, वह दैवाधीन है।।20।।

यद् यच्छरीरेण करोति कर्म शरीरयुक्त: समुपाश्नुते तत्।
शरीरमेवायतनं सुखस्य दु:खस्य चाप्यायतनं शरीरम्॥21।।
वाचा तु यत् कर्म करोति किञ्चिद् वाचैव सर्वं समुपाश्नुते तत्।
मनस्तु यत् कर्म करोति किञ्चिन्मन:स्थ एवायमुपाश्नुते तत्॥22।।
यथा यथा कर्मगुणं फलार्थी करोत्ययं कर्मफले निविष्ट:।
तथा तथायं गुणसम्प्रयुक्त: शुभाशुभं कर्मफलं भुनक्ति॥23।।
मत्स्यो यथा स्रोत इवाभिपाती तथा कृतं पूर्वमुपैति कर्म।
शुभे त्वसौ तुष्यति दुष्कृते तु न तुष्यते वै परम: शरीरी॥24।।
यतो जगत् सर्वमिदं प्रसूतं ज्ञात्वाऽऽत्मवन्तो व्यतियान्ति यत् तत्।
यन्मन्त्रशब्दैरकृतप्रकाशं तदुच्यमानं शृणु मे परं यत्॥25।।
रसैर्विमुक्तं विविधैश्च गन्धैरशब्दमस्पर्शमरूपवच्च।
अग्राह्यमव्यक्तमवर्णमेकं पञ्चप्रकारान् ससृजे प्रजानाम्॥26।।
न स्त्री पुमान् नापि नपुंसकं च न सन्न चासत्सदसच्च तन्न।
पश्यन्ति यद् ब्रह्मविदो मनुष्यास्तदक्षरं न क्षरतीति विद्धि॥27।।

जीव शरीर से जो-जो अशुभ या शुभ कर्म करता है, शरीर से युक्त हुआ ही उसके फलों को भोगता है; क्योंकि शरीर ही सुख और दु:ख भोगने का स्थान है।।21।। मनुष्य

वाणी द्वारा जो कोई कर्म करता है, उसका सारा फल वह वाणी द्वारा ही भोगता है और जो कुछ कर्म करता है, उसका फल यह जीवात्मा मन के साथ हुआ मन से ही भोगता है।।22।। फल की इच्छा रखने वाला मनुष्य कर्म के फल में आसक्त हो जैसे गुणवाला—सात्त्विक, राजस या तामस कर्म करता है, वैसे ही वैसे गुणों से प्रेरित होकर इसे उस कर्म का शुभाशुभ फल भोगना पड़ता है।।23।। जैसे मछली जल के बहाव के साथ बह जाती है, उसी प्रकार मनुष्य पहिले के किए हुए कर्म का अनुसरण करता है। उसे उस कर्म प्रवाह में बहना पड़ता है; परन्तु उस दशा में वह श्रेष्ठ देहधारी शुभ-शुभ फल मिलने पर तो सन्तुष्ट होता है और अशुभ फल प्राप्त होने पर दुःखी हो जाता है (यह उसकी मूढ़ता ही तो है)।।24।। जिससे इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई है, जिसे जान कर मन को वश में रखने वाले ज्ञानी पुरुष इस संसार को लाङ्घ कर परम पद प्राप्त कर लेते हैं तथा वेद के मन्त्र वाक्यों द्वारा जिसका तात्त्विक स्वरूप पूर्णत: प्रकाश में नहीं आता, उस सर्वोत्कृष्ट वस्तु का मैं वर्णन करता हूँ, सुनो।।25।। वह अनिर्वचनीय वस्तु नाना प्रकार के रस और भाँति भाँति के गन्धों से रहित है। शब्द, स्पर्श एवं रूप से भी शून्य है। मन, बुद्धि और वाणी द्वारा भी उसका ग्रहण नहीं हो सकता। वह अव्यक्त, अद्वितीय तथा रूप-रङ्ग से रहित है तथापि उसी ने प्रजाओं के लिए रूप, रस आदि पाँचों विषयों की सृष्टि की है।।26।। वह न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। न सत् है, न असत् है और न सदसत् उभय रूप ही है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही उसका साक्षात्कार करते हैं। उसका कभी क्षय नहीं होता; इसलिए वह अविनाशी परब्रह्म परमात्मा अक्षर कहलाता है, इस बात को अच्छी तरह समझ लो।।27।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ 201 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में मनु और बृहस्पति का संवाद विषयक दो सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ।।201।।

द्वितीयोऽध्यायः

आत्म-तत्त्व का और बुद्धि आदि प्राकृत पदार्थों का विवेचन तथा उसके साक्षात्कार का उपाय

मनुरुवाच

अक्षरात् खं ततो वायुस्ततो ज्योतिस्ततो जलम्।
जलात् प्रसूता जगती जगत्यां जायते जगत्॥1।।
एतैः शरीरैर्जलमेव गत्वा जलाच्च तेजः पवनोऽन्तरिक्षम्।
खाद् वै निवर्तन्ति न भाविनस्ते मोक्षं च ते वै परमाप्नुवन्ति॥2।।
नोष्णं न शीतं मृदु नापि तीक्ष्णं नाम्लं कषायं मधुरं न तिक्तम्।
न शब्दवन्नापि च गन्धवत्तन्न रूपवत्तत्परमस्वभावम्॥3।।

स्पर्शं तनुर्वेद रसं च जिह्वा घ्राणं च गन्धान् श्रवणौ च शब्दान्।
रूपाणि चक्षुर्न च तत्परं यद् गृह्णन्त्यनध्यात्मविदो मनुष्याः॥4।।
निवर्तयित्वा रसनां रसेभ्यो घ्राणं च गन्धाच्छ्रवणौ च शब्दात्।
स्पर्शात् त्वचं रूपगुणात् तु चक्षुस्ततः परं पश्यति स्वं स्वभावम्॥5।।
यतो गृहीत्वा हि करोति यच्च यस्मिंश्च तामारभते प्रवृत्तिम्।
यस्मिंश्च यद् येन च यश्च कर्ता यत् कारणं ते समुदायमाहुः॥6।।
यद् व्याप्यभूद् व्यापकं साधकं च यन्मन्त्रवत् स्थास्यति चापि लोके।
यः सर्वहेतुः परमात्मकारी तत्कारणं कार्यमतो यदन्यत्॥7।।
यथा हि कश्चित् सुकृतैर्मनुष्यः शुभाशुभं प्राप्नुतेऽथाविरोधात्।
एवं शरीरेषु शुभाशुभेषु स्वकर्मजैर्ज्ञानमिदं निबद्धम्॥8।।
यथा प्रदीप्तः पुरतः प्रदीपः प्रकाशमन्यस्य करोति दीप्यन्।
तथेह पञ्चेन्द्रियदीपवृक्षा ज्ञानप्रदीप्ताः परवन्त एव॥9।।
यथा च राज्ञा बहवो ह्यमात्याः पृथक् प्रमाणं प्रवदन्ति युक्ताः।
तद्वच्छरीरेषु भवन्ति पञ्च ज्ञानैकदेशः परमः स तेभ्यः॥10।।

मनु कहते हैं—बृहस्पते! अविनाशी परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से यह पृथ्वी उत्पन्न हुई है। इस पृथ्वी में ही सम्पूर्ण पार्थिव जगत् की उत्पत्ति होती है।।1।। इन पूर्वोक्त शरीरों के साथ (पार्थिव शरीर के बाद) प्राणियों का जल में लय होता है; फिर वे जल से अग्नि में, अग्नि से वायु में और वायु से आकाश में लीन होते हैं। आकाश से सृष्टि काल में फिर वे पूर्वोक्त क्रम से उत्पन्न होते हैं; परन्तु जो ज्ञानी हैं, वे मोक्ष स्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं। उनका पुनः इस संसार में जन्म नहीं होता।।2।। वह परमात्म तत्त्व न गर्म है न शीतल, न कोमल है न तीक्ष्ण, न खट्टा है न कसैला, न मीठा है न तीता। शब्द, गन्ध और रूप से भी वह रहित है। उसका स्वरूप सबसे उत्कृष्ट एवं विलक्षण है।।3।। त्वचा स्पर्श का, जिह्वा रस का, घ्राणेन्द्रिय गन्ध का, कान शब्द का और नेत्र रूप का ही अनुभव करते हैं। ये इन्द्रियाँ परमात्मा को प्रत्यक्ष नहीं कर सकतीं। अध्यात्म ज्ञान से हीन मनुष्य परमात्म तत्त्व का अनुभव नहीं कर सकते।।4।। अतः जो जिह्वा को रस से, नासिका को गन्ध से, कानों को शब्द से, त्वचा को स्पर्श से और नेत्रों को रूप से हटाकर अन्तर्मुख बना लेता है, वही अपने मूल स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है।।5।। महर्षिगण कहते हैं जो कर्त्ता जिस कारण से, जिस फल के उद्देश्य से, जिस देश या काल में, जिस प्रिय या अप्रिय के निमित्त, जिस राग या द्वेष से प्रभावित हो प्रवृत्ति मार्ग का आश्रय ले जिस कर्म को करता है, इन सबके समुदाय का जो कारण है, वही सबका स्वरूपभूत परब्रह्म परमात्मा है।।6।। श्रुति के कथनानुसार जो व्यापक, व्याप्य और उनका साधन है, जो सम्पूर्ण लोक में सदा ही स्थित रहने वाला कूटस्थ, सबका कारण और स्वयं ही सब कुछ करने वाला है, वही परम कारण है। उसके सिवा जो कुछ है, सब कार्य मात्र है।।7।। जैसे कोई मनुष्य भलीभाँति किए हुए कर्मों द्वारा बिना किसी प्रतीकार के विभिन्न देश और काल में उनका शुभाशुभ फल पाता है, उसी प्रकार अपने कर्मानुसार प्राप्त

उत्तम और अधम शरीर में यह चिन्मय ज्ञान बिना किसी विरोध के स्थित रहता है।।8।। जिस प्रकार अग्नि से प्रज्वलित दीपक स्वयं प्रकाशित होता हुआ पास में स्थित अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार इस शरीर रूप वृक्ष में स्थित पाँच इन्द्रियाँ चैतन्य रूपी ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होकर विषयों को प्रकाशित करती हैं (उनका प्रकाश चिन्मय प्रकाश के ही अधीन होने के कारण वे पराधीन हैं। स्वतः प्रकाश करने में समर्थ नहीं हैं)।।9।। जैसे किसी राजा के द्वारा भिन्न-भिन्न कार्यों में नियुक्त किए गए बहुत-से मन्त्री अपने पृथक् पृथक् कार्यों की जानकारी राजा को कराते हैं। उसी प्रकार शरीरों में स्थित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने एकदेशीय विषय का परिचय राजस्थानीय बुद्धि को देती है। जैसे मन्त्रियों से राजा श्रेष्ठ है, उसी प्रकार उन पाँचों इन्द्रियों से उनका प्रवर्तक वह ज्ञान श्रेष्ठ है।।10।।

यथार्चिषोऽग्नेः पवनस्य वेगो मरीचयोऽर्कस्य नदीषु चापः।
गच्छन्ति चायान्ति च सञ्चरन्त्यस्तद्वच्छरीराणि शरीरिणां तु॥11।।
यथा च कश्चित् परशुं गृहीत्वा धूमं न पश्येज्ज्वलनं च काष्ठे।
तद्वच्छरीरोदरपाणिपादं छित्त्वा न पश्यन्ति ततो यदन्यत्॥12।।
तान्येव काष्ठानि यथा विमथ्य धूमं च पश्येज्ज्वलनं च योगात्।
तद्वत् सबुद्धिः सममिन्द्रियात्मा बुधः परं पश्यति तं स्वभावम्॥13।।
यथात्मनोऽङ्गं पतितं पृथिव्यां स्वप्नान्तरे पश्यति चात्मनोऽन्यत्।
श्रोत्रादियुक्तः सुमनाः सुबुद्धिर्लिङ्गात् तथा गच्छति लिङ्गमन्यत्॥14।।
उत्पत्तिवृद्धिव्ययसन्निपातैर्न युज्यतेऽसौ परमः शरीरी।
अनेन लिङ्गेन तु लिङ्गमन्यद् गच्छत्यदृष्टः फलसन्नियोगात्॥15।।
न चक्षुषा पश्यति रूपमात्मनो न चापि संस्पर्शमुपैति किञ्चित्।
न चापि तैः साधयते तु कार्यं ते तं न पश्यन्ति स पश्यते तान्॥16।।
यथा समीपे ज्वलतोऽनलस्य सन्तापजं रूपमुपैति कश्चित्।
न चान्तरं रूपगुणं बिभर्ति तथैव तद् दृश्यति रूपमस्य॥17।।
तथा मनुष्यः परिमुच्य कायमदृश्यमन्यद्विशते शरीरम्।
विसृज्य भूतेषु महत्सु देहं तदाश्रमं चैव बिभर्ति रूपम्॥18।।
खं वायुमग्निं सलिलं तथोर्वीं समन्ततोऽभ्याविशते शरीरी।
नानाश्रयाः कर्मसु वर्तमानाः श्रोत्रादयः पञ्च गुणाञ्श्रयन्ते॥19।।
श्रोत्रं खतो घ्राणमथो पृथिव्यास्तेजोमयं रूपमथो विपाकः।
जलाश्रयं स्वेदमुक्तं रसं च वाय्वात्मकः स्पर्शकृतो गुणश्च॥20।।
महत्सु भूतेषु वसन्ति पञ्च पञ्चेन्द्रियार्थाश्च तथेन्द्रियाणि।
सर्वाणि चैतानि मनोऽनुगानि बुद्धिं मनोऽन्वेति मतिः स्वभावम्॥21।।
शुभाशुभं कर्म कृतं यदन्यत् तदेव प्रत्याददते स्वदेहे।
मनोऽनुवर्तन्ति परावराणि जलौकसः स्रोत इवानुकूलम्॥22।।
चलं यथा दृष्टिपथं परैति सूक्ष्मं महद्रूपमिवाभिभाति।
स्वरूपमालोचयते च रूपं परं तथा बुद्धिपथं परैति॥23।।

जैसे अग्नि की शिखाएँ, वायु का वेग, सूर्य की किरणें और नदियों का बहता हुआ जल—ये सदा आते-जाते रहते हैं, इसी प्रकार देहधारियों के शरीर भी आवागमन के प्रवाह में पड़े हुए हैं।।11।। जैसे कोई मनुष्य कुल्हाड़ी लेकर लकड़ी को चीरे तो उसमें उसे न तो आग दिखायी देगी और न धुआँ ही प्रकट होगा, उसी प्रकार इस शरीर का पेट फाड़ने या हाथ-पैर काटने से कोई उसे नहीं देख पाता, जो अन्तर्यामी आत्मा शरीर से भिन्न है।।12।। परन्तु उन्हीं काठों का युक्तिपूर्वक मन्थन करने पर जैसे अग्नि और धूम दोनों ही देखने में आते हैं, उसी प्रकार योग के द्वारा मन और इन्द्रियों को बुद्धि के सहित समाहित कर लेने वाला बुद्धिमान् ज्ञानी पुरुष इन सबसे परमश्रेष्ठ उस ज्ञान को और आत्मा को साक्षात् कर लेता है।।13।। जैसे स्वप्न में मनुष्य अपने शरीर के कटे हुए अङ्ग को अपने से अलग और पृथ्वी पर पड़ा देखता है, उसी प्रकार दस इन्द्रिय, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वों के समुदाय का अभिमानी शुद्ध मन और बुद्धि वाला मनुष्य शरीर को अपने से पृथक् जाने। जो ऐसा नहीं जानता, वही एक शरीर से दूसरे शरीर में जन्म लेता रहता है।।14।। आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है। वह इसके उत्पत्ति, वृद्धि, क्षय और मृत्यु आदि दोषों से कभी लिप्त नहीं होता। किन्तु अज्ञानी मनुष्य पूर्वकृत कर्मों के फल के सम्बन्ध से इस ऊपर बताये हुए सूक्ष्म शरीर के सहित दूसरे शरीर में चला जाता है।।15।। कोई भी इन चर्म चक्षुओं के द्वारा आत्मा के स्वरूप को नहीं देख सकता। अपनी त्वचा से उसका स्पर्श भी नहीं कर सकता। भाव यह कि इन्द्रियों द्वारा आत्मा को जानने का कोई कार्य नहीं किया जा सकता। वे इन्द्रियाँ उसे नहीं देखतीं; पर वह आत्मा उन सबको देखता है।।16।। जैसे कोई लोहा आदि पदार्थ समीप जलती हुई आग की गर्मी से लाल रङ्ग का हो जाता है और उसमें दाहकता का गुण भी थोड़ी मात्रा में आ जाता है; परन्तु वह उसके वास्तविक आन्तरिक रूप और गुण को धारण नहीं करता, उसी प्रकार आतमा का स्वरूप चैतन्यमात्र इन्द्रियादि के समूह शरीर में दिखायी देता है, किन्तु उनका समुदाय भूत शरीर वास्तव में चेतन नहीं होता। एवं समीपस्थ वस्तु का जैसा रूप होता है वैसा ही रूप उस अग्नि का भी प्रतीत होने लगता है।।17।। इसी तरह मनुष्य अपने दृश्य शरीर का त्याग करके जब दूसरे अदृश्य शरीर में प्रवेश करता है, तब पहले के स्थूल शरीर को पञ्चमहाभूतों में मिलने के लिए छोड़कर दूसरे शरीर का आश्रय ले उसी को अपना स्वरूप मानकर धारण करता है।।18।। देहाभिमानी जीव जब शरीर को छोड़ता है, तब उस शरीर में जो आकाश का अंश होता है, वह सब प्रकार से आकाश में, वायु का अंश वायु में, अग्नि का अंश अग्नि में, जल का अंश जल में तथा पृथ्वी का अंश पृथ्वी में विलीन हो जाता है। किन्तु इन नाना भूतों के आश्रित जो श्रोत्र आदि तत्त्व हैं, वे विलीन न होकर अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं और दूसरे शरीर में जाकर पाँचों भूतों का आश्रय ले लेते हैं।।19।। आकाश से श्रोत्रेन्द्रिय (और उसका विषय शब्द), पृथ्वी से घ्राणेन्द्रिय (और उसका विषय गन्ध) होता है तथा रूप और विपाक वे दोनों (एवं नेत्र इन्द्रिय)—ये सब तेजोमय हैं। स्वेद एवं रस (और रसना) इन्द्रिय—ये जल के आश्रित हैं। एवं स्पर्श करने वाली इन्द्रिय और स्पर्श यह वायु स्वरूप है।।20।। पाँचों इन्द्रियों के पाँचों विषय तथा पाँचों इन्द्रियाँ

भी पञ्च सूक्ष्म महाभूतों में निवास करते हैं, ये शब्द आदि विषय, आकाश आदि भूत तथा श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ सब-के-सब मन के अनुगामी हैं। मन बुद्धि का अनुसरण करता है और बुद्धि आत्मा का आश्रय लेकर रहती है।।21।। जब जीवात्मा अपने कर्मों द्वारा उपार्जित नवीन शरीर में स्थिर होता है, उस समय वह पहले जो शुभाशुभ कर्म किए हुए है उन्हीं का फल प्राप्त करता है। जैसे जल जन्तु जल के अनुकूल प्रवाह का अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार पूर्वकृत अच्छे और बुरे कर्म मन का अनुगमन करते हैं अर्थात् मन के द्वारा फल प्रदान करते हैं।।22।। जैसे शीघ्रगामी नौका पर बैठे हुए पुरुष की दृष्टि में पार्श्ववर्ती वृक्ष पीछे की ओर वेग से भागते हुए दिखायी देते हैं, उसी प्रकार कूटस्थ निर्विकारी आत्मा बुद्धि के विकार से विकारवान् सा प्रतीत होता है एवं जैसे चश्मे या दूरबीन से महीन अक्षर मोटा दीखता है और छोटी आकृति बहुत बड़ी दिखायी देती है, उसी प्रकार सूक्ष्म आत्म-तत्त्व भी बुद्धि, विवेक समूह शरीर से संयुक्त होने के कारण शरीर के रूप में प्रतीत होने लगता है। तथा जैसे स्वच्छ दर्पण अपने मुख का प्रतिबिम्ब दिखा देता है, उसी प्रकार शुद्ध बुद्धि में आत्मा के स्वरूप की झाँकी उपलब्ध हो जाती है।।23।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ 202 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में मनु-बृहस्पति संवाद विषयक दो सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ।।202।।

तृतीयोऽध्यायः

शरीर, इन्द्रिय और मन-बुद्धि से अतिरिक्त आत्मा की नित्य सत्ता का प्रतिपादन

मनुरुवाच

यदिन्द्रियैस्तूपहितं पुरस्तात् प्राप्तान् गुणान् संस्मरते चिराय।
तेष्विन्द्रियेषूपहतेषु पश्चात्स बुद्धिरूपः परमः स्वभावः॥1।।
यथेन्द्रियार्थान् युगपत् समस्तान्नोपेक्षते कृत्स्नमतुल्यकालम्।
तथाचलं सञ्चरते स विद्वांस्तस्मात्स एकः परमः शरीरी॥2।।
रजस्तमः सत्त्वमथो तृतीयं गच्छत्यसौ स्थानगुणान्विरूपान्।
तथेन्द्रियाण्याविशते शरीरी हुताशनं वायुरिवेन्धनस्थम्॥3।।
न चक्षुषा पश्यति रूपमात्मनो न पश्यति स्पर्शनमिन्द्रियेन्द्रियम्।
न श्रोत्रलिङ्गं श्रवणेन दर्शनं तथा कृतं पश्यति तद् विनश्यति॥4।।
श्रोत्रादीनि न पश्यन्ति स्वं स्वमात्मानमात्मना।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वज्ञस्तानि पश्यति॥5।।
यथा हिमवतः पार्श्वं पृष्ठं चन्द्रमसो यथा।

न दृष्टपूर्वं मनुजैर्न च तन्नास्ति तावता॥6॥
तद्वद् भूतेषु भूतात्मा सूक्ष्मो ज्ञानात्मवानसौ।
अदृष्टपूर्वश्चक्षुभ्र्यां न चासौ नास्ति तावता॥7॥
पश्यन्नपि यथा लक्ष्म जगत् सोमे न विन्दति।
एवमस्ति न चोत्पन्नं न च तन्न परायणम्॥8॥
रूपवन्तमरूपत्वादुदयास्तमने बुधाः।
धिया समनुपश्यन्ति तद्गताः सवितुर्गतिम्॥9॥
तथा बुद्धिप्रदीपेन दूरस्थं सुविपश्चितः।
प्रत्यासन्नं निनीषन्ति ज्ञेयं ज्ञानाभिसंहितम्॥10॥

मनुजी कहते हैं—बृहस्पते! बुद्धि के साथ तद्रूप हुआ जो जीव नामक चेतन तत्त्व है, वह इन्द्रियों द्वारा दीर्घ काल तक पहले के भोगे हुए विषयों का कालान्तर में स्मरण करता है। यद्यपि उस समय उन विषयों का इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं है, उनका सम्बन्ध विच्छेद हो गया है तो भी वे बुद्धि में संस्कार रूप से अङ्कित हैं, इसलिए उनका स्मरण होता है (इससे बुद्धि के अतिरिक्त उसके प्रकाशक चेतन की सत्ता स्वत: सिद्ध हो जाती है)।।।1।। वह एक समय अथवा अनेक समयों में भूत और भविष्य के सम्पूर्ण पदार्थों की, जो इस जन्म में या दूसरे जन्मों में देखे गये हैं, सामान्य रूप से उपेक्षा नहीं करता अर्थात् उन्हें प्रकाशित ही करता है तथा परस्पर विलग न होने वाली तीनों अवस्थाओं मे विचरता रहता है; अत: वह सबको जानने वाली साक्षी सर्वोत्कृष्ट देह का स्वामी आत्मा एक है।।2।। बुद्धि के जो स्थान—जागरित आदि अवस्थाएँ हैं, वे सभी सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों से विभक्त हैं। इन अवस्थाओं से सम्बन्धित जो सुख-दु:ख आदि गुण हैं, वे परस्पर विलक्षण हैं। उन सबको वह आत्मा बुद्धि के सम्बन्ध से अनुभव करता है। इन्द्रियों में भी उस जीवात्मा का आवेश उसी प्रकार होता है जैसे काष्ठ में ली हुई आग में वायु का अर्थात् वायु जैसे अग्नि में प्रविष्ट होकर अग्नि को उद्दीप्त कर देती है, इसी प्रकार आत्मा इन्द्रियों को चेतना प्रदान करता है।।3।। मनुष्य नेत्रों द्वारा आत्मा के रूप का दर्शन नहीं कर सकता। त्वचा नामक इन्द्रिय उसका स्पर्श नहीं कर सकती; क्योंकि वह इन्द्रियों की भी इन्द्रिय अर्थात् उनका प्रकाशक है। उस आत्मा के स्वरूप का श्रवणेन्द्रिय के द्वारा श्रवण नहीं हो सकता; क्योंकि वह शब्द रहित है। ज्ञान विषयक विचार से जब आत्मा का साक्षात्कार किया जाता है, तब उसके साधनों का बाध हो जाता है।।4।। श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ स्वयं अपने द्वारा आपको नहीं जान सकतीं। आत्मा सर्वज्ञ और सबका साक्षी है। सर्वज्ञ होने के कारण ही वह उन सबको जानता है।।5।। जैसे मनुष्यों द्वारा हिमालय पर्वत का दूसरा पार्श्व तथा चन्द्रमा का पृष्ठ भाग देखा हुआ नहीं है तो भी इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उनके पार्श्व और पृष्ठ भाग का अस्तित्व ही नहीं है। उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों के भीतर रहने वाला उनका अन्तर्यामी ज्ञान स्वरूप आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण कभी नेत्रों द्वारा नहीं देखा गया है; अत: उतने ही से यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा है ही नहीं।।6-7।। जैसे चन्द्रमा में जो कलङ्क है, वह जगत् का अर्थात् तद्गत पृथ्वी का ही चिह्न है; परन्तु उसको

देखकर भी मनुष्य ऐसा नहीं समझता कि वह जगत् का अर्थात् पृथ्वी का चिह्न है। इसी प्रकार सबको 'मैं हूँ' इस रूप में आत्मा का ज्ञान है; परन्तु यथार्थ ज्ञान नहीं है; इस कारण मनुष्य उसके परायण आश्रित नहीं है।।8।। रूपवान् पदार्थ अपनी उत्पत्ति से पूर्व और नष्ट हो जाने के बाद रूपहीन ही रहते हैं, इस नियम से जैसे बुद्धिमान् लोग उनकी अरूपता का निश्चय करते हैं तथा सूर्य के उदय और अस्त के द्वारा विद्वान् पुरुष बुद्धि से जिस प्रकार न दिखायी देने वाले सूर्य की गति का अनुमान कर लेते हैं, उसी प्रकार विवेकी मनुष्य बुद्धि रूप दीपक के द्वारा इन्द्रियातीत ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं और इस निकटवर्ती दृश्य प्रपञ्च को उस ज्ञानस्वरूप परमात्मा में विलीन कर देना चाहते हैं।।9-10।।

न हि खल्वनुपायेन कश्चिदर्थोऽभिसिद्ध्यति।
सूत्रजालैर्यथा मत्स्यान् बध्नन्ति जलजीविनः॥11।।
मृगैर्मृगाणां ग्रहणं पक्षिणां पक्षिभिर्यथा।
गजानां च गजैरेव ज्ञेयं ज्ञानेन गृह्यते॥12।।
अहिरेव ह्यहेः पादान् पश्यतीति हि नः श्रुतम्।
तद्वन्मूर्तिषु मूर्तिस्थं ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यति॥13।।
नोत्सहन्ते यथा वेत्तुमिन्द्रियैरिन्द्रियाण्यपि।
तथैवेह परा बुद्धिः परं बोध्यं न पश्यति॥14।।
यथा चन्द्रो ह्यमावास्यामलिङ्गत्वान्न दृश्यते।
न च नाशोऽस्य भवति तथा विद्धि शरीरिणम्॥15।।
क्षीणकोशो ह्यमावास्यां चन्द्रमा न प्रकाशते।
तद्वन्मूर्तिविमुक्तोऽसौ शरीरी नोपलभ्यते॥16।।
यथाऽऽकाशान्तरं प्राप्य चन्द्रमा भ्राजते पुनः।
तद्वल्लिङ्गान्तरं प्राप्य शरीरी भ्राजते पुनः॥17।।
जन्म वृद्धिः क्षयश्चास्य प्रत्यक्षेणोपलभ्यते।
सा तु चान्द्रमसी वृत्तिर्न तु तस्य शरीरिणः॥18।।
उत्पत्तिवृद्धिवयसा यथा स इति गृह्यते।
चन्द्र एव त्वमावास्यां तथा भवति मूर्तिमान्॥19।।
नोपसर्पद् विमुञ्चद् वा शशिनं दृश्यते तमः।
विसृजंश्चोपसर्पंश्च तद्वत् पश्य शरीरिणम्॥20।।
यथा चन्द्रार्कसंयुक्तं तमस्तदुपलभ्यते।
तद्वच्छरीरसंयुक्तः शरीरीत्युपलभ्यते॥21।।
यथा चन्द्रार्कनिर्मुक्तः स राहुर्नोपलभ्यते।
तद्वच्छरीरनिर्मुक्तः शरीरी नोपलभ्यते॥22।।
यथा चन्द्रो ह्यमावास्यां नक्षत्रैर्युज्यते गतः।
तद्वच्छरीरनिर्मुक्तः फलैर्युज्यति कर्मणः॥23।।

उचित उपाय किए बिना कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, जैसे जल में रहने वाले प्राणियों से जीविका चलाने वाले सूत के जाल बनाकर उनके द्वारा मछलियों को बाँध लेते हैं, जैसे मृगों के द्वारा मृगों को, पक्षियों द्वारा पक्षियों को और हाथियों द्वारा हाथियों को पकड़ा जाता है, उसी प्रकार ज्ञेय वस्तु का ज्ञान के द्वारा ग्रहण होता है।।11-12 हमने सुना है कि सर्प के पैरों को सर्प ही पहचानता है उसी प्रकार मनुष्य समस्त शरीरों में शरीरस्थ ज्ञेय स्वरूप आत्मा को ज्ञान के द्वारा ही जान सकता है।।13।। जैसे इन्द्रियाँ भी इन्द्रियों द्वारा किसी ज्ञेय को नहीं जान सकतीं, उसी प्रकार यहाँ परा बुद्धि भी उस परम बोध्य तत्त्व को स्वयं नहीं देख पाती है; किन्तु ज्ञाता पुरुष ही बुद्धि के द्वारा उसका साक्षात् करता है।।14।। जैसे चन्द्रमा अमावास्या को प्रकाशहीन हो जाने के कारण दिखायी नहीं देता है; किन्तु उस समय उसका नाश नहीं होता। उसी प्रकार शरीरधारी आत्मा के विषय में भी समझना चाहिये अर्थात् आत्मा अदृश्य होने पर भी उसका अभाव नहीं है, ऐसा समझना चाहिये।।15।। जैसे चन्द्रमा अमावास्या को अपने प्रकाश्य स्थान से वियुक्त हो जाने के कारण दिखायी नहीं देता है, उसी प्रकार देहधारी आत्मा शरीर से वियुक्त हो जाने पर दृष्टिगोचर नहीं होता है।।16।। फिर वही चन्द्रमा जैसे अन्यत्र आकाश में स्थान पाकर पुन: प्रकाशित होने लगता है, उसी प्रकार जीवात्मा दूसरा शरीर धारण करके पुन: प्रकट हो जाता है।।17।। जन्म, वृद्धि और क्षय का जो प्रत्यक्ष दर्शन होता है, वह चन्द्र मण्डल में प्रतीत होने वाली वृत्ति चन्द्रमा की नहीं है। उसी प्रकार शरीर का ही जन्म आदि होता है, उस शरीरधारी आत्मा का नहीं।।18।। जैसे किसी व्यक्ति का जन्म होता है, वह बढ़ता है और किशोर, यौवन आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में पहुँच जाता है तो भी यही समझा जाता है कि यह वही व्यक्ति है तथा अमावास्या के बाद जब चन्द्रमा पुन: मूर्तिमान् होकर प्रकट होता है तो यही माना जाता है कि यह वही चन्द्रमा है (उसी प्रकार दूसरे शरीर में प्रवेश करने पर भी वह देहधारी आत्मा वही है—ऐसा समझना चाहिए)।।19।। जैसे अन्धकार रूप राहु चन्द्रमा की ओर आता और उसे छोड़कर जाता हुआ नहीं दिखायी देता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी शरीर में आता और उसे छोड़कर जाता हुआ नहीं दीख पड़ता है। ऐसा समझो।।20।। जैसे सूर्यग्रहण काल में चन्द्रमा सूर्य से संयुक्त होने पर सूर्य में छायारूपी राहु का दर्शन होता है, उसी प्रकार शरीर से संयुक्त होने पर शरीरधारी आत्मा की उपलब्धि होती है।।21।। जैसे चन्द्रमा सूर्य से अलग होने पर सूर्य में राहु की उपलब्धि नहीं होती, उसी प्रकार शरीर से विलग होने पर शरीरधारी आत्मा का दर्शन नहीं होता।।22।। जैसे अमावास्या का अतिक्रमण करने वाले चन्द्रमा नक्षत्रों से संयुक्त होता है, उसी प्रकार जीवात्मा एक शरीर का त्याग करने पर कर्मों के फलस्वरूप दूसरे शरीर से युक्त होता है।।23।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे त्र्यधिकद्विशततमोऽध्याय:॥ 203 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में मनु और बृहस्पति का संवाद रूप दो सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ।।203।।

चतुर्थोऽध्यायः

आत्मा एवं परमात्मा के साक्षात्कार का उपाय तथा महत्त्व

मनुरुवाच

यथा व्यक्तमिदं शेते स्वप्ने चरति चेतनम्।
ज्ञानमिन्द्रियसंयुक्तं तद्वत् प्रेत्य भवाभवौ॥1।।
यथाम्भसि प्रसन्ने तु रूपं पश्यति चक्षुषा।
तद्वत् प्रसन्नेन्द्रियत्वाज्ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यति॥2।।
स एव लुलिते तस्मिन् यथा रूपं न पश्यति।
तथेन्द्रियाकुलीभावे ज्ञेयं ज्ञाने न पश्यति॥3।।
अबुद्धिरज्ञानकृता अबुद्ध्या कृष्यते मनः।
दुष्टस्य मनसः पञ्च सम्प्रदुष्यन्ति मानसाः॥4।।
अज्ञानतृप्तो विषयेष्ववगाढो न तृप्यते।
अदृष्टवच्च भूतात्मा विषयेभ्यो निवर्तते॥5।।
तर्षच्छेदो न भवति पुरुषस्येह कल्मषात्।
निवर्तते तदा तर्षः पापमन्तगतं यदा॥6।।
विषयेषु तु संसर्गाच्छाश्वतस्य तु संश्रयात्।
मनसा चान्यथा काङ्क्षन् परं न प्रतिपद्यते॥7।।
ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः।
यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि॥8।।
प्रसृतैरिन्द्रियैर्दुःखी तैरेव नियतैः सुखी।
तस्मादिन्द्रियरूपेभ्यो यच्छेदात्मानमात्मना॥9।।
इन्द्रियेभ्यो मनः पूर्वं बुद्धिः परतरा ततः।
बुद्धेः परतरं ज्ञानं ज्ञानात् परतरं महत्॥10।।

मनु कहते हैं—बृहस्पते! जैसे स्वप्नावस्था में यह स्थूल शरीर तो सोया रहता है और सूक्ष्म शरीर विचरण करता रहता है, उसी प्रकार इस शरीर को छोड़ने पर यह ज्ञानस्वरूप जीवात्मा या तो इन्द्रियों के सहित पुनः शरीर ग्रहण कर लेता है या सुषुप्ति की भाँति मुक्त हो जाता है।।1।। जिस प्रकार मनुष्य स्वच्छ और स्थिर जल में नेत्रों द्वारा अपना प्रतिबिम्ब देखता है, वैसे ही मन सहित इन्द्रियों के शुद्ध एवं स्थिर हो जाने पर वह ज्ञान दृष्टि से ज्ञेय स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है।।2।। वही मनुष्य हिलते हुए जल में जैसे अपना रूप नहीं देख पाता, उसी प्रकार मन सहित इन्द्रियों के चञ्चल होने पर वह बुद्धि में ज्ञेय स्वरूप आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता।।3।। अविवेक से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और उस भ्रष्ट बुद्धि से मन राग आदि दोषों में फँस जाता है। इस प्रकार मन के दूषित होने से उसके अधीर रहने वाली पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी दूषित हो जाती हैं।।4।। जिसको अज्ञान से ही तृप्ति प्राप्त हो रही है, वह मनुष्य विषयों के

अगाध जल में सदा डूबा रहकर भी कभी तृप्त नहीं होता। वह जीवात्मा प्रारब्धाधीन हुआ विषय भोगों की इच्छा के कारण बारम्बार इस संसार में आता और जन्म ग्रहण करता है।।5।। पाप के कारण ही संसार में पुरुष की तृष्णा का अन्त नहीं होता। जब पापों की समाप्ति हो जाती है, तभी उसकी तृष्णा निवृत्त हो जाती है।।6।। विषयों के संसर्ग से, सदा उन्हीं रचे पचे रहनेसे तथा मन के द्वारा साधन के विपरीत भोगों की इच्छा रखने से पुरुष को परब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती है।।7।। पाप कर्मों का क्षय होने से ही मनुष्यों के अन्तःकरण में ज्ञानका उदय होता है। जैसे स्वच्छ दर्पण में ही मानव अपने प्रतिबिम्ब को अच्छी तरह देख पाता है।।8।। विषयों की ओर इन्द्रियों के फैले रहने से ही मनुष्य दुःखी होता है और उन्हीं को संयम में रखने से सुखी हो जाता है; इसलिए इन्द्रियों के विषयों से बुद्धि के द्वारा अपने मन को रोकना चाहिये।।9।। इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से ज्ञान श्रेष्ठतर है और ज्ञान से परात्पर परमात्मा श्रेष्ठ है।।10।।

अव्यक्तात् प्रसृतं ज्ञानं ततो बुद्धिस्ततो मनः।
मनः श्रोत्रादिभिर्युक्तं शब्दादीन् साधु पश्यति॥11।।
यस्तांस्त्यजति शब्दादीन्सर्वाश्च व्यक्तयस्तथा।
विमुञ्चेत् प्राकृतान् ग्रामांस्तान् मुक्त्वामृतमश्नुते॥12।।
उद्यन्हि सविता यद्वत्सृजते रश्मिमण्डलम्।
स एवास्तमपागच्छंस्तदेवात्मनि यच्छति॥13।।
अन्तरात्मा तथा देहमाविश्येन्द्रियरश्मिभिः।
प्राप्येन्द्रियगुणान् पञ्च सोऽस्तमावृत्य गच्छति॥14।।
प्रणीतं कर्मणा मार्गं नीयमानः पुनः पुनः।
प्राप्नोत्ययं कर्मफलं प्रवृत्तं धर्ममाप्तवान्॥15।।
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥16।।
बुद्धिः कर्मगुणैर्हीना यदा मनसि वर्तते।
तदा सम्पद्यते ब्रह्म तत्रैव प्रलयं गतम्॥17।।
अस्पर्शनमशृण्वानमनास्वादमदर्शनम्।
अघ्राणमवितर्कं च सत्त्वं प्रविशते परम्॥18।।
मनस्याकृतयो मग्ना मनस्त्वभिगतं मतिम्।
मतिस्त्वभिगता ज्ञानं ज्ञानं चाभिगतं परम्॥19।।
नेन्द्रियैर्मनसः सिद्धिर्न बुद्धिं बुद्ध्यते मनः।
न बुद्धिर्बुद्ध्यतेऽव्यक्तं सूक्ष्मं त्वेतानि पश्यति॥20।।

अव्यक्त परमात्मा से ज्ञान प्रसारित हुआ है। ज्ञान से बुद्धि और बुद्धि से मन प्रकट हुआ है। वह मन ही श्रोत्र आदि इन्द्रियों से युक्त होकर शब्द आदि विषयों का भलीभाँति अनुभव करता है।।11।। जो पुरुष शब्द आदि विषयों को, उनके आश्रयभूत सम्पूर्ण व्यक्त तत्त्वों को, स्थूल भूतों और प्राकृत गुण समुदायों को त्याग देता है अर्थात् उनसे

सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है, वह उन्हें त्याग कर अमृत स्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।।12।। जैसे सूर्य उदित होकर अपनी किरणों को सब ओर फैला देता है और अस्त होते समय उन समस्त किरणों को अपने भीतर ही समेट लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा देह में प्रविष्ट होकर फैली हुई इन्द्रियों की वृत्ति रूपी किरणों द्वारा पाँचों विषयों को ग्रहण करता है और शरीर को छोड़ते समय उन सबको समेट कर अपने साथ लेकर चल देता है।।13-14।। जिसने प्रवृत्ति प्रधान पुण्य-पापमय कर्म का आश्रय लिया है, वह जीवात्मा कर्मों द्वारा कर्म मार्ग पर बारम्बार लाया जाकर अर्थात् संसार चक्र में भ्रमाया जाकर सुख-दुःख रूप कर्म फल को प्राप्त होता है।।15।। इन्द्रिय द्वारा विषयों को ग्रहण न करने से पुरुष के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; परन्तु उनमें उनकी आसक्ति बनी रहती है। परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर पुरुष की वह आसक्ति भी दूर हो जाती है।।16।। जिस समय बुद्धि कर्मजनित गुणों से छूटकर हृदय में स्थित हो जाती है, उस समय जीवात्मा ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।।17।। परब्रह्म परमात्मा स्पर्श, श्रवण, रसन, दर्शन, घ्राण और सङ्कल्प विकल्प से भी रहित है; इसलिए केवल विशुद्ध बुद्धि ही उसमें प्रवेश कर पाती है।।18।। मन में शब्दादि विषयरूप समस्त आकृतियों का लय होता है। मन का बुद्धि में,बुद्धि का ज्ञान में और ज्ञान का परमात्मा में लय होता है।।19।। इन्द्रियों द्वारा मन की सिद्धि नहीं होती अर्थात् इन्द्रियाँ मन को नहीं जानती हैं। मन बुद्धि को नहीं जानता और बुद्धि सूक्ष्म एवं अव्यक्त आत्मा को नहीं जानती है; किन्तु अव्यक्त आत्मा इन सबको देखता और जानता है।।20।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ 204 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में मनु और बृहस्पति का संवाद विषयक दो सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ।।204।।

पञ्चमोऽध्यायः

परब्रह्म की प्राप्ति का उपाय

मनुरुवाच

दुःखोपघाते शारीरे मानसे चाप्युपस्थिते।
यस्मिन् न शक्यते कर्तुं यत्नस्तं नानुचिन्तयेत्॥1।।
भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
चिन्त्यमानं हि चाभ्येति भूयश्चापि प्रवर्तते॥2।।
प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात्॥3।।
अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसञ्चयः।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः॥4।।

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम्॥5॥
सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नास्ति संशयः।
स्निग्धस्य चेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम्॥6॥
परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न ते शोचन्ति पण्डिताः॥7॥
दुःखमर्था हि युज्यन्ते पालनेन च ते सुखम्।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते नाशमेषां न चिन्तयेत्॥8॥
ज्ञानं ज्ञेयाभिनिर्वृत्तं विद्धि ज्ञानगुणं मनः।
प्रज्ञाकरणसंयुक्तं ततो बुद्धिः प्रवर्तते॥9॥
यदा कर्मगुणैर्हीना बुद्धिर्मनसि वर्तते।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म ध्यानयोगसमाधिना॥10॥

मनुजी कहते हैं—बृहस्पते! जब मनुष्य पर कोई ऐसा शारीरिक या मानसिक दुःख आ पड़े, जिसके रहते हुए साधन करना अशक्य हो जाए, तब उस दुःख का चिन्तन करना छोड़ दे।।1।। दुःख को दूर करने के लिए सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका चिन्तन छोड़ दिया जाए; क्योंकि चिन्तन करने से वह सामने आता है और अधिकाधिक बढ़ता रहता है।।2।। अतः मानसिक दुःख को बुद्धि एवं विचार द्वारा तथा शारीरिक कष्ट को ओषधियों द्वारा दूर करे, यही विज्ञान की सामर्थ्य है, जिससे मनुष्य दुःख में पड़ने पर बच्चों के समान बैठकर रोये नहीं।।3।। यौवन, रूप, जीवन, धन संग्रह, आरोग्य और प्रियजनों का समागम—ये सब अनित्य हैं। विवेकशील पुरुषों को इनमें आसक्त नहीं होना चाहिये।।4।। जो दुःख सारे देश पर है, उसके लिए किसी एक व्यक्ति को शोक नहीं करना चाहिये। यदि उसे टालने का कोई उपाय दिखायी दे तो शोक न करके उस दुःख के निवारण का प्रयत्न करना चाहिये।।5।। इसमे सन्देह नहीं कि जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है। जो पुरुष विषयों में अधिक आसक्त होता है, वह मोहवश मरण रूप अप्रिय कष्ट भोगता है।।6।। जो मनुष्य सुख और दुःख दोनों को छोड़ देता है, वह अक्षय ब्रह्म को प्राप्त होता है, अतः वे ज्ञानी पुरुष कभी शोक नहीं करते हैं।।7।। विषयों के उपार्जन में दुःख है। उनकी रक्षा में भी तुम्हें सुख नहीं मिल सकता। दुःख से ही उनकी उपलब्धि होती है; अतः उनका नाश हो जाए तो चिन्ता नहीं करनी चाहिये।।8।। बृहस्पते! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि ज्ञेयरूप में परमात्मा से ज्ञान प्रकट होता है और मन ज्ञान का गुण (कार्य) है। जब वह ज्ञानेन्द्रियों से युक्त होता है, तब बुद्धि कर्मों में प्रवृत्त होती है।।9।। जिस समय बुद्धि कर्म संस्कारों से रहित होकर हृदय में स्थित हो जाती है, उसी समय ध्यान योग जनित समाधि के द्वारा ब्रह्म का भलीभाँति ज्ञान हो जाता है।।10।।

सेयं गुणवती बुद्धिर्गुणेष्वेवाभिवर्तते।
अपरादभिनिःसृत्य गिरेः शृङ्गादिवोदकम्॥11॥

यदा निर्गुणमाप्नोति ध्यानं मनसि पूर्वजम्।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म निकषं निकषे यथा॥12।।
मनस्त्वपहृतं पूर्वमिन्द्रियार्थनिदर्शकम्।
न समक्षगुणापेक्षि निर्गुणस्य निदर्शकम्॥13।।
सर्वाण्येतानि संवार्य द्वाराणि मनसि स्थितः।
मनस्येकाग्रतां कृत्वा तत्परं प्रतिपद्यते॥14।।
यथा महान्ति भूतानि निवर्तन्ते गुणक्षये।
तथेन्द्रियाण्युपादाय बुद्धिर्मनसि वर्तते॥15।।
यदा मनसि सा बुद्धिर्वर्ततेऽन्तरचारिणी।
व्यवसायगुणोपेता तदा सम्पद्यते मनः॥16।।
गुणवद्भिर्गुणोपेतं यदा ध्यानगुणं मनः।
तदा सर्वान् गुणान् हित्वा निर्गुणं प्रतिपद्यते॥17।।
अव्यक्तस्येह विज्ञाने नास्ति तुल्यं निदर्शनम्।
यत्र नास्ति पदन्यासः कस्तं विषयमाप्नुयात्॥18।।
तपसा चानुमानेन गुणैर्जात्या श्रुतेन च।
निनीषेत् परमं ब्रह्म विशुद्धेनान्तरात्मना॥19।।
गुणहीनो हि तं मार्गं बहिः समनुवर्तते।
गुणाभावात् प्रकृत्या वा निस्तर्क्यं ज्ञेयसम्मितम्॥20।।

अन्यथा जैसे जल की धारा पर्वत के शिखर से निकलकर ढाल की ओर बहती है, उसी प्रकार यह गुणवती बुद्धि अज्ञान के कारण परमात्मा से नियुक्त होकर रूप आदि गुणों की ओर बहने लग जाती है।।11।। परन्तु जब साधक सबके आदिकारण निर्गुण ध्येय तत्त्व को ध्यान द्वारा अन्तःकरण में प्राप्त कर लेता है, तब कसौटी पर कसे हुए सुवर्ण के समान ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है।।12।। परन्तु इन्द्रियों के विषयों को दिखाने वाला मन जब पहले से ही विषयों की ओर अपहृत हो जाता है, तब वह विषय रूप गुणों की अपेक्षा रखने वाला मन निर्गुण तत्त्व का दर्शन कराने में समर्थ नहीं होता।।13।। समस्त इन्द्रियों को रोककर सङ्कल्प मात्र से मन में स्थित हो उन सबको हृदय में एकत्र करके साधक उससे भी परे विद्यमान परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।।14।। जिस प्रकार गुणों का क्षय होने पर पञ्चमहाभूत निवृत्त हो जाते हैं, उसी प्रकार बुद्धि समस्त इन्द्रियों को लेकर हृदय में स्थित हो जाती है।।15।। जब निश्चयात्मिका बुद्धि अन्तर्मुखी होकर हृदय में स्थित होती है, तब मन विशुद्ध हो जाता है।।16।। शब्दादि गुणों से युक्त इन्द्रियों के सम्बन्ध से उन गुणों से घिरा हुआ मन जब ध्यानजनित गुणों से सम्पन्न होता है, तब उन समस्त गुणों को त्यागकर निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।।17।। उस अव्यक्त ब्रह्म का बोध कराने के लिए इस संसार में कोई योग्य दृष्टान्त नहीं है। जहाँ वाणी का व्यापार ही नहीं है, उस वस्तु को कौन वर्णन का विषय बना सकता है।।18।। इसलिए तप से, अनुमान से, शम आदि गुणों से, जातिगत धर्मों के पालन से तथा शास्त्रों के स्वाध्याय से अन्तःकरण को विशुद्ध करके उसके द्वारा परब्रह्म को प्राप्त

करने की इच्छा करे।।19।। उक्त तपस्या आदि गुणों से रहित मनुष्य बाहर रहकर बाह्य मार्ग का ही अनुसरण करता है। वह ज्ञेय स्वरूप परमात्मा गुणों से अतीत होने के कारण स्वभाव से ही तर्क का विषय नहीं है।।20।।

नैर्गुण्याद् ब्रह्म चाप्नोति सगुणत्वान्निवर्तते।
गुणप्रचारिणी बुद्धिर्हुताशन इवेन्धने॥21।।
यथा पञ्च विमुक्तानि इन्द्रियाणि स्वकर्मभिः।
तथा हि परमं ब्रह्म विमुक्तं प्रकृतेः परम्॥22।।
एवं प्रकृतितः सर्वे प्रवर्तन्ते शरीरिणः।
निवर्तन्ते निवृत्तौ च स्वर्गं चैवोपयान्ति च॥23।।
पुरुषः प्रकृतिर्बुद्धिर्विषयाश्चेन्द्रियाणि च।
अहंकारोऽभिमानश्च समूहो भूतसञ्ज्ञकः॥24।।
एतस्याद्या प्रवृत्तिस्तु प्रधानात् सम्प्रवर्तते।
द्वितीया मिथुनव्यक्तिमविशेषान्नियच्छति॥25।।
धर्मादुत्कृष्यते श्रेयस्तथाश्रेयोऽप्यधर्मतः।
रागवान् प्रकृतिं ह्येति विरक्तो ज्ञानवान् भवेत्॥26।।

जैसे अग्नि सूखे काठ में विचरण करती है, उसी प्रकार बुद्धि भी शब्द, स्पर्श आदि गुणों में विचरती रहती है। जब वह उन गुणों का सम्बन्ध छोड़ देती है, तब निर्गुण होने के कारण ब्रह्म को प्राप्त होती है और जब तक गुणों में आसक्त रहती है, तब तक गुणों से सम्बन्धित होने के कारण ब्रह्म को न पाकर लौट आती है।।21।। जैसे पाँचों इन्द्रियाँ अपने कार्य रूप शब्द आदि गुणों से भिन्न हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा भी प्रकृति से सर्वथा परे है।।22।। इस प्रकार समस्त प्राणी प्रकृति से उत्पन्न होते और यथासमय उसी में लय को प्राप्त होते हैं। उस लय अथवा मृत्यु के पश्चात् वे पुण्य और पाप के फलस्वरूप स्वर्ग और नरक में जाते हैं।।23।। पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, पाँच विषय, दस इन्द्रियाँ, अहङ्कार, मन और पञ्चमहाभूत—इन पच्चीस तत्त्वों का समूह ही प्राणी नाम से कहा जाता है।।24।। बुद्धि आदि तत्त्व समूह की प्रथम सृष्टि प्रकृति से ही हुई है। तदनन्तर दूसरी बार उसे उनकी सामान्यतः मैथुन धर्म से नियमपूर्वक अभिव्यक्ति होने लगी है।।25।। धर्म करने से श्रेय की वृद्धि होती है और अधर्म करने से मनुष्य का अकल्याण होता है। विषयासक्त पुरुष प्रकृति को प्राप्त होता है और विरक्त आत्मज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है।।26।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे
पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ 205 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में मनु और बृहस्पति का संवाद विषयक दो सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ।।205।।

षष्ठोऽध्यायः

परमात्म तत्त्व का निरूपण—मनु-बृहस्पति संवाद की समाप्ति

मनुरुवाच

यदा तैः पञ्चभिः पञ्च युक्तानि मनसा सह।
अथ तद् रक्ष्यते ब्रह्म मणौ सूत्रमिवार्पितम्॥1।।
तदेव च यथा सूत्रं सुवर्णे वर्तते पुनः।
मुक्तास्वथ प्रवालेषु मृन्मये राजते तथा॥2।।
तद्वद् गोऽश्वमनुष्येषु तद्वद्धस्तिमृगादिषु।
तद्वत्कीटपतङ्गेषु प्रसक्तात्मा स्वकर्मभिः॥3।।
येन येन शरीरेण यद्यत् कर्म करोत्ययम्।
तेन तेन शरीरेण तत् तत् फलमुपाश्नुते॥4।।
यथा ह्येकरसा भूमिरोषध्यर्थानुसारिणी।
तथा कर्मानुगा बुद्धिरन्तरात्मानुदर्शिनी॥5।।
ज्ञानपूर्वा भवेल्लिप्सा लिप्सापूर्वाभिसन्धिता।
अभिसन्धिपूर्वकं कर्म कर्ममूलं ततः फलम्॥6।।
फलं कर्मात्मकं विद्यात् कर्म ज्ञेयात्मकं तथा।
ज्ञेयं ज्ञानात्मकं विद्याज्ज्ञानं सदसदात्मकम्॥7।।
ज्ञानानां च फलानां च ज्ञेयानां कर्मणां तथा।
क्षयान्ते यत् फलं विद्याज्ज्ञानं ज्ञेयप्रतिष्ठितम्॥8।।
महद्धि परमं भूतं यत् प्रपश्यन्ति योगिनः।
अबुधास्तं न पश्यन्ति ह्यात्मस्थं गुणबुद्धयः॥9।।
पृथिवीरूपतो रूपमपामिह महत्तरम्।
अद्भ्यो महत्तरं तेजस्तेजसः पवनो महान्॥10।।
पवनाच्च महद् व्योम तस्मात् परतरं मनः।
मनसो महती बुद्धिर्बुद्धेः कालो महान् स्मृतः॥11।।
कालात् स भगवान् विष्णुर्यस्य सर्वमिदं जगत्।
नादिर्न मध्यं नैवान्तस्तस्य देवस्य विद्यते॥12।।

मनुजी कहते हैं—बृहस्पते! जिस समय मनुष्य शब्द आदि पाँच विषयों सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मन को काबू में कर लेता है, उस समय वह मणियों में ओत-प्रोत तागे समान सर्वत्र व्याप्त परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है।।1।। जैसे वही तागा सोने की लड़ियों में, मोतियों में, मूंगों में और मिट्टी की माला के दानों में ओत-प्रोत होकर सुशोभित होता है, उसी प्रकार एक ही परमात्मा गौ-अश्व, मनुष्य, हाथी, मृग और कीट पतङ्ग आदि समस्त शरीरों में व्याप्त है! विषयासक्त जीवात्मा अपने-अपने कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न शरीर धारण करता है।।2-3।। यह मनष्य जिस-जिस शरीर से

जो-जो कर्म करता है, उस-उस शरीर से उसी-उसी कर्म का फल भोगता है।।4।। जैसे भूमि में एक ही रस होता है तो भी उसमें जैसा बीज बोया जाता है, उसी के अनुसार वह उसमें रस उत्पन्न करती है, उसी तरह अन्तरात्मा से प्रकाशित बुद्धि पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार ही एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त होती है।।5।। मनुष्य को पहले तो विषय का ज्ञान होता है; फिर उसके मन में उसे पाने की इच्छा होती है। उसके बाद 'इस कार्य को सिद्ध करूँ' इस निश्चय और प्रयत्न आरम्भ होता है। फिर कर्म सम्पन्न होता और उसका फल मिलता है।।6।। इस प्रकार फल को कर्म स्वरूप समझे। कम को जानने में आने वाले पदार्थों का रूप समझे और ज्ञेय को ज्ञानरूप समझे तथा ज्ञान का स्वरूप कार्य और कारण जाने।।7।। ज्ञान, फल, ज्ञेय और कर्म—इन सबका अन्त होने पर जो प्राप्तव्य फल रूप से शेष रहता है, उसको ही तुम ज्ञेय मात्र में व्याप्त होकर स्थित हुआ ज्ञान स्वरूप परमात्मा समझो।।8।। उस परम महान् तत्त्व को योगिजन ही देख पाते हैं। विषयों में आसक्त अज्ञानी मनुष्य अपने भीतर ही विराजमान उस परब्रह्म परमात्मा को नहीं देख सकते हैं।।9।। इस जगत् में पृथ्वी के रूप से जल का ही रूप महान् है। जल से तेज अतिमहान् है, तेज से पवन महान् है, पवन से आकाश महान् है, आकाश से मन परतर है अर्थात् सूक्ष्म, श्रेष्ठ और महान् है। मन से बुद्धि महान् है, बुद्धि से काल अर्थात् प्रकृति महान् है और काल से भगवान् विष्णु अनन्त, सूक्ष्म, श्रेष्ठ और महान् हैं। यह सारा जगत् उन्हीं की सृष्टि है। उन भगवान् विष्णु का न कोई आदि है, न मध्य है और अन्त ही है।।10-12।।

अनादित्वादमध्यत्वादनन्तत्वाच्च सोऽव्ययः।
अत्येति सर्वदुःखानि दुःखं ह्यन्तवदुच्यते॥13।।
तद् ब्रह्म परमं प्रोक्तं तद्धाम परमं पदम्।
तद् गत्वा कालविषयाद् विमुक्ता मोक्षमाश्रिताः॥14।।
गुणेष्वेते प्रकाशन्ते निर्गुणत्वात् ततः परम्।
निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तथाऽऽनन्त्याय कल्पते॥15।।
ऋचो यजूंषि सामानि शरीराणि व्यपाश्रिताः।
जिह्वाग्रेषु प्रवर्तन्ते यत्नसाध्या विनाशिनः॥16।।
न चैवमिष्यते ब्रह्म शरीराश्रयसम्भवम्।
न यत्नसाध्यं तद् ब्रह्म नादिमध्यं न चान्तवत्॥17।।
ऋचामादिस्तथा साम्नां यजुषामादिरुच्यते।
अन्तश्चादिमतां दृष्टो न त्वादिर्ब्रह्मणः स्मृतः॥18।।
अनादित्वादनन्तत्वात् तदनन्तमथाव्ययम्।
अव्ययत्वाच्च निर्दुःखं द्वन्द्वाभावस्ततः परम्॥19।।
अदृष्टतोऽनुपायाच्च प्रतिसन्धेश्च कर्मणः।
न तेन मर्त्याः पश्यन्ति येन गच्छन्ति तत् पदम्॥20।।
विषयेषु च संसर्गाच्छाश्वतस्य च दर्शनात्।

मनसा चान्यदाकाङ्क्षन् परं न प्रतिपद्यते॥21॥
गुणान् यदिह पश्यन्ति तदिच्छन्त्यपरे जनाः।
परं नैवाभिकाङ्क्षन्ति निर्गुणत्वाद् गुणार्थिनः॥22॥

वे आदि, मध्य और अन्त से रहित होने के कारण ही अविनाशी हैं; अतएव सम्पूर्ण दुःखों से परे हैं, क्योंकि विनाशशील वस्तु ही दुःख रूप हुआ करती है॥13॥ अविनाशी विष्णु ही परब्रह्म कहे जाते हैं। वे ही परमधाम और परमपद हैं। उन्हें प्राप्त कर लेने पर जीव काल के राज्य से मुक्त हो मोक्ष धाम में स्थित हो जाते हैं॥14॥ ये वध्य जीव गुणों में अर्थात् गुणों के कार्यरूप शरीर आदि के सम्बन्ध से व्यक्त हो रहे हैं; परन्तु परमात्मा निर्गुण होने के कारण उनसे अत्यन्त परे हैं। जो निवृत्ति रूप धर्म (निष्काम कर्म) है, वह अक्षय पद (मोक्ष) की प्राप्ति कराने में समर्थ है॥15॥ ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—ये अध्ययन काल में शरीर के आश्रित रहते हैं और जिह्वा के अग्रभाग पर प्रकट होते हैं; इसिलए वे यत्नसाध्य और विनाशशील हैं अर्थात् इनका लुप्त होना स्वाभाविक है॥16॥ किन्तु परब्रह्म परमात्मा इस प्रकार शरीर का आश्रय लेकर प्रकट होने पर भी वेदाध्ययन की भाँति यत्न साध्य नहीं है; क्योंकि उनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है॥17॥ वही ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का आदि कहलाता है। जिनका कोई आदि होता है, उन पदार्थों का अन्त होता देखा गया है। ब्रह्म का कोई भी आदि नहीं बताया गया है॥18॥ वह अनादि और अनन्त होने के कारण अक्षय और अविनाशी है। अविनाशी होने से ही दुःख रहित है। उसमें हर्ष और शोक आदि द्वन्द्वों का अभाव है; अतएव वह सबसे परे है॥19॥ परन्तु दुर्भाग्य, साधनहीनता और कर्म फल विषयक आसक्ति के कारण जिससे परमात्मा की प्राप्ति होती है, मनुष्य उस मार्ग का दर्शन नहीं कर पाते हैं॥20॥ मनुष्यों की विषयों में आसक्ति है; क्योंकि विषय सुख सदा रहने वाले हैं; ऐसी उनकी भावना है तथा वे अपने मन से सांसारिक पदार्थों को पाने की इच्छा रखते हैं; इसीलिए उन्हें परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती है॥21॥ संसारी मनुष्य इस संसार में जिन जिन विषयों को देखते हैं, उन्हीं को पाना चाहते हैं। सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म परमात्मा हैं, उन्हें पाने के लिए उनके मन में इच्छा नहीं होती है; क्योंकि वे गुणार्थी (विषयाभिलाषी) होते हैं और परमात्मा निर्गुण (गुणातीत) हैं॥22॥

गुणैर्यस्त्ववरैर्युक्तः कथं विद्यात् परान् गुणान्।
अनुमानाद्धि गन्तव्यं गुणैरवयवैः परम्॥23॥
सूक्ष्मेण मनसा विद्मो वाचा वक्तुं न शक्नुमः।
मनो हि मनसा ग्राह्यं दर्शनेन च दर्शनम्॥24॥
ज्ञानेन निर्मलीकृत्य बुद्धिं बुद्ध्या मनस्तथा।
मनसा चेन्द्रियग्राममक्षरं प्रतिपद्यते॥25॥
बुद्धिप्रवीणो मनसा समृद्धो निराशिषं निर्गुणमभ्युपैति।
परं त्यजन्तीह विलोड्यमाना हुताशनं वायुरिवेन्धनस्थम्॥26॥
गुणादाने विप्रयोगे च तेषां मनः सदा बुद्धिपरावराभ्याम्।

अनेनैव विधिना सम्प्रवृत्तो गुणापाये ब्रह्म शरीरमेति॥27।।
अव्यक्तात्मा पुरुषो व्यक्तकर्मा सोऽव्यक्तत्वं गच्छति ह्यन्तकाले।
तैरेवायं चेन्द्रियैर्वर्धमानैर्ग्लायद्भिर्वाऽऽवर्ततेऽकामरूपः॥28।।
सर्वैरयं चेन्द्रियैः सम्प्रयुक्तो देहं प्राप्तः पञ्चभूताश्रयः स्यात्।
नासामर्थ्याद् गच्छति कर्मणेह हीनस्तेन परमेणाव्ययेन॥29।।
पृथ्व्यां नरः पश्यति नान्तमस्या ह्यन्तश्चास्या भविता चेति विद्धि।
परं नयन्तीह विलोड्यमानं यथा प्लवं वायुरिवार्णवस्थम्॥30।।
दिवाकरो गुणमुपलभ्य निर्गुणो यथा भवेदपगतरश्मिमण्डलः।
तथा ह्यसौ मुनिरिह निर्विशेषवान् स निर्गुणं प्रविशति ब्रह्म चाव्ययम्॥31।।
अनागतं सुकृतवतां परां गतिं स्वयम्भुवं प्रभवनिधानमव्ययम्।
सनातनं यदमृतमव्ययं ध्रुवं निचाय्य तत् परममृतत्वमश्नुते॥32।।

भला, जो इन तुच्छ विषयों में फँसा हुआ है, वह परम दिव्य गुणों को कैसे जान सकता है? जैसे धूम से अग्नि का अनुमान होता है, उसी प्रकार नित्यत्व आदि स्वरूप भूत दिव्य गुणों द्वारा परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन हो सकता है।।23।। हम ध्यान द्वारा शुद्ध और सूक्ष्म हुए मन से परमात्मा के स्वरूप का अनुभव तो कर सकते हैं, किन्तु वाणी द्वारा उसका वर्णन नहीं कर सकते; क्योंकि मन के द्वारा ही मानसिक विषय का ग्रहण हो सकता है और ज्ञान के द्वारा ही ज्ञेय को जाना जा सकता है।।24।। इसलिए ज्ञान के द्वारा बुद्धि को, बुद्धि के द्वारा मन को तथा मन के द्वारा इन्द्रिय समुदाय को निर्मल एवं शुद्ध करके अविनाशी परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है।।25।। बुद्धि में प्रवीण अर्थात् विशुद्ध और सूक्ष्म बुद्धि से सम्पन्न एवं मानसिक बल से युक्त हुआ पुरुष, समस्त इच्छा से अतीत निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त होता है। जैसे वायु काठ में रहने वाले अदृश्य अग्नि को बिना प्रज्वलित किए ही छोड़ देता है, वैसे ही कामनाओं से विकल हुए पुरुष भी अपने शरीर के भीतर स्थित परमात्मा का त्याग कर देते हैं अर्थात् उसे जानने और पाने की चेष्टा नहीं करते।।26।। जब साधक साधन रूप गुणों को धारण कर लेता है, तब उसका मन बुद्धिजन्य अच्छे-बुरे भावों से रहित होकर निरन्तर निर्मल रहता है। इस प्रकार साधन में लगा हुआ साधक जब गुणों से अतीत हो जाता है, तब ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात् कर लेता है।।27।। पुरुष का आत्मा (वास्तविक स्वरूप) अव्यक्त है और उसके कर्म शरीर रूप में व्यक्त हैं। अत: वह अन्त काल में अव्यक्त भाव को प्राप्त हो जाता है। परन्तु कामनाओं से तद्रूप हुआ वह जीव उन बढ़ी हुई विषय प्रबल इन्द्रियों से युक्त होकर पुन: संसार में आ जाता है अर्थात् पुन: शरीर को धारण कर लेता है।।28।। सम्पूर्ण इन्द्रियों से संयुक्त होकर यह देहधारी जीव पञ्चभूत स्वरूप शरीर के आश्रित हो जाता है। ज्ञान और उपासना आदि की शक्ति के बिना वह केवल कर्मों द्वारा परमात्मा को नहीं पाता। अत: वह उस अविनाशी परमेश्वर से वञ्चित रह जाता है।।29।। इस भूतल पर रहने वाला मनुष्य यद्यपि इस पृथ्वी का अन्त नहीं देखता है तो भी कहीं-न-कहीं इसका अन्त अवश्य है, ऐसा समझो। जैसे समुद्र में लहरों द्वारा ऊपर-नीचे होते हुए जहाज को प्रवाह के अनुकूल बहती हुई हवा तट पर लगा देती है, उसी प्रकार

संसार समुद्र में गोता लगाते हुए मनुष्य को अनुकूल वातावरण संसार सागर से पार कर देता है।।30।। सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक सूर्य प्रकाश रूपी गुण को पाकर भी अस्ताचल को जाते समय अपने किरण समूह को समेट कर जैसे निर्गुण हो जाता है, उसी प्रकार भेद-भाव से रहित हुआ मुनि यहाँ अविनाशी निर्गुण ब्रह्म में प्रवेश कर जाता है।।31।। जो कहीं से आया हुआ नहीं है, नित्य विद्यमान है, पुण्यवानों की परम गति है, स्वयम्भू (अजन्मा) है, सबकी उत्पत्ति और प्रलय का स्थान है, अविनाशी एवं सनातन है, अमृत, अविकारी एवं अचल है, उस परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य परम मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।।32।।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मनुबृहस्पतिसंवादे
षडधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ 206 ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म पर्व में मनु और बृहस्पति संवाद रूप दो सौ छठा अध्याय पूरा हुआ।।206।।

मनुगीता-II सम्पूर्णा

।। महाभारतीय-गीतामहोदधिः द्वितीयभागः सम्पूर्णः ।।

दर्शन विभाग द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ

		वर्ष	मूल्य
राजस्थानविश्वविद्यालयभारतीयदर्शनाध्ययनमाला:			
1.	**बौद्धार्थबाह्यार्थपर्यालोचनम्** - राजेन्द्रप्रसादशर्मा ISBN-81-86027-02-5	1993	225.00
2.	**सिद्धान्तलक्षणतत्त्वालोकप्रकाश:** - (प्रथमभाग:) पं. खड्गनाथ मिश्र, धर्मदत्त झा कृत सिद्धान्तलक्षणजगदीशीतत्त्वालोक की संस्कृत व्याख्या श्रीकृष्णशर्मा सम्पादित ISBN-81-86027-04-1	1996	400.00
3.	**न्यायलीलावती** (प्रथम भाग) श्रीवल्लभाचार्य, दुर्गाधर झा कृत शाम्भवी एवं चन्द्रकान्त दवे कृत चन्द्रकान्ति हिन्दी व्याख्या द्वय संवलित - राजेन्द्र प्रसाद शर्मा सम्पादित ISBN-81-86027-09-2	1996	400.00
4.	**सिद्धान्तलक्षणतत्त्वालोकप्रकाश:** (द्वितीयभाग:) पं. खड्गनाथ मिश्र, श्रीकृष्ण शर्मा सम्पादित ISBN-81-86027-05-10	1997	400.00
5.	**पदार्थतत्त्वनिरूपणम्** – रघुनाथशिरोमणि विश्वम्भर पाहि एवं कुसुम जैन कृत हिन्दी पदानुवाद, भावानुवाद तथा रामभद्रसार्वभौमकृत पदार्थतत्त्वविवेचनप्रकाश संस्कृत टीका सहित ISBN-81-86027-06-8	1997	125.00
6.	**वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श** –विश्वम्भर पाहि ISBN-81-86027-10-6	2000	350.00
7.	**तत्त्वसङ्ग्रह:-शब्दार्थपरीक्षा** – आचार्यशान्तरक्षित रमेशचन्द्र शर्मा कृत हिन्दी अनुवाद एवं कमलशील की पञ्जिका पर आधारित व्याख्यासहित ISBN-81-86027-11-4	2000	200.00

8.	**सिद्धान्तलक्षणतत्त्वालोकप्रकाश**: (तृतीयभाग:) पं. खड्गनाथ मिश्र, श्रीकृष्णशर्मा सम्पादित ISBN-81-86027-12-2	2003	350.00
9.	**न्यायलीलावती** (द्वितीय भाग) - श्रीवल्लभाचार्य, दुर्गाधर झा कृत शाम्भवी व्याख्या सहित, राजेन्द्रप्रसाद शर्मा सम्पादित ISBN-81-86027-13-0	2004	400.00
10.	**न्यायलीलावती** (तृतीय भाग) - श्रीवल्लभाचार्य, दुर्गाधर झा कृत शाम्भवी, व्याख्या सहित, राजेन्द्रप्रसाद शर्मा सम्पादित ISBN-81-86027-14-9	2005	400.00
11.	**पुरुषार्थ-शृङ्गारप्रकाश** श्रीभोजराजकृत शृङ्गारप्रकाश के धर्मार्थकाममोक्ष शृङ्गार रूप 18-21 प्रकाश, राजेन्द्र प्रसाद शर्मा व लोकेश कुमार शर्मा अनङ्ग कृत हिन्दी भावानुवाद सहित ISBN-81-86027-17-3	2010	300.00
12.	**गीतामहोदधि** प्रथमभाग, 1. गणेशगीता, 2. देवीगीता, 3. ईश्वरगीता, 4. रामगीता (अद्भुतरामायणोक्ता), 5. रामगीता (अध्यात्मरामायणोक्ता) तथा 6. रामगीता (स्कन्दपुराणोक्ता) का राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सानुवाद सम्पादन ISBN-81-86027-19-X	2010	300.00
13.	**गीतामहोदधि** द्वितीयभाग, 7. उद्धवगीता, 8. यमगीता, 9. कामगीता, 10. वसिष्ठगीता, 11. नारदगीता, तथा 12. विदुरगीता का राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सानुवाद सम्पादन ISBN-81-86027-20-3	2010	300.00
14.	**गीतामहोदधि** तृतीयभाग, 13. अनुगीता (काश्यपगीता व ब्राह्मणगीता), 14. हंसगीता, 15. बृहस्पतिगीता, 16. याज्ञवल्क्यगीता, 17. व्यासमैत्रेयगीता तथा 18. पराशर गीता का राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सानुवाद सम्पादन ISBN-81-86027-21-1	2010	300.00
15.	**गीतामहोदधि** चतुर्थ भाग, 19. शिवगीता, 20. अवधूतगीता, 21. अष्टावक्रगीता तथा 22. श्रीगुरुगीता का राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सानुवाद सम्पादन। ISBN-81-86027-26-2	2018	300.00

16.	**महाभारतीय गीतामहोदधि** प्रथम भाग, 1. शौनक, 2. पुलस्त्य, 3. धौम्य, 4. अष्टावक्र, 5. हनुमद्, 6. आर्ष्टिषेण, 7. नहुष, 8. मार्कण्डेय, 9. सरस्वती, 10. मत्स्योपाख्यान, 11. बक, 12. युधिष्ठिर-I, 13. कौशिक (व्याध), 14. सावित्री, 15. युधिष्ठिर-II, 16.सनत्सुजातीय गीता का राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सानुवाद सम्पादन। ISBN-81-86027-28-4	2018	600.00
17.	**महाभारतीय गीतामहोदधि** द्वितीय भाग, 17. भगवद्,18. विदुर, 19. जनक, 20. सेनजिद् I, 21.अश्म, 22. स्वायंभुवमनु, 23. भीष्मस्तवराज, 24. मनु, 25. उश्नो, 26. भार्गव, 27. यज्ञ, 28. नारायण, 29. आङ्गिरस (बृहस्पति), 30. कैकेय, 31. उतथ्य, 32. वामदेव, 33. ऋषभ, 34. ब्रह्म, 35. भीष्म, 36. खड्ग, 37. षड्ज, 38. सेनजिद् II, 39. पिङ्गला, 40. शम्पाक, 41. मङ्कि, 42. बोध्य, 43. आजगर, 44. शृगाल, 45. कर्मफल, 46. भृगु, 47. जापक, 48. मनुगीता का राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सानुवाद सम्पादन। ISBN-81-86027-29-2	2018	600.00
18.	**महाभारतीय गीतामहोदधि** तृतीय भाग, 49. विष्णुवराह (अनुस्मृति), 50. गुरुशिष्य, 51. पञ्चशिख, 52. सनत्कुमार, 53. प्रह्लाद, 54. बलिवासव, 55. लक्ष्मीवासव, 56. नमुचिवासव, 57. जैगीषव्य, 58. व्यास, 59. मृत्यु, 60. जाजलि, 61. ब्रह्म, 62. विचख्नु, 63. गौतमचिरकारी, 64. कपिल, 65. असितदेवल, 66. माण्डव्यजनक, 67. पितापुत्र, 68. हारीत, 69. वृत्र, 70. समङ्ग, 71. श्रेयोवाचिका (गालव), 72. अरिष्टनेमि, 73. शुक्र, 74. पाराशर, 75. हंस, 76. सांख्ययोग, 77. वसिष्ठ, 78. मुनि गीता का राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सानुवाद सम्पादन। ISBN-81-86027-30-0	2018	600.00
19.	**महाभारतीय गीतामहोदधि** चतुर्थ भाग, 79. याज्ञवल्क्य, 80. सुलभ, 81. व्यास, 82. ययाति, 83. नारद, 84. नारायणी, 85. बृहस्पति, 86. व्यासमैत्रेय, 87. माहेश्वर, 88. काम, 89. अनु, 90. काश्यप, 91. ब्राह्मण, 92. गुरुशिष्य, 93. अम्बरीश, 94. पाण्डव गीता का राजेन्द्रप्रसाद शर्मा द्वारा सानुवाद सम्पादन। ISBN-81-86027-31-0	2018	600.00
20.	**योग अन्वीक्षा —** सुशिम दुबे ISBN-81-86027-31-9	2018	300.00

21.	**आचार्य विश्वम्भर पाहि के दार्शनिक विचारों की समीक्षा —** राजेन्द्रप्रसाद शर्मा व अनुभव वार्ष्णेय ISBN-81-86027-32-7	2018	300.00
22.	**भारतीय दर्शन चयनिका —** राजेन्द्रप्रसाद शर्मा व समीर कुमार ISBN-81-86027-33-5	2018	300.00

University of Rajasthan Philosophy Series

1.	**The Nietzschean Vision of Man** - Shirley Jethmalani ISBN-81-86027-00-9	1993	200.00
2.	**The Burden of Poetic Consciousness** - Edited by Shirley Jethmalani & P. C. Kar ISBN-81-86027-07-6	1996	125.00
3.	**Terrorism : An Enquiry in to its Nature and Roots -** Kusum Jain & Deepak Srivastava ISBN-81-86027-15-7	2010	350.00
4.	**नीतिशास्त्र के कुछ आधारभूत निबन्ध —** हिन्दी भावानुवाद कुसुम जैन द्वारा सम्पादित ISBN-81-86027-22-0	2010	150.00
5.	**Development : Various Dimensians and Approaches -** Edited by Kusum Jain ISBN-81-86027-16-5	2010	300.00
6.	**विकास की वैकल्पिक अवधारणा —** कुसुम जैन, राजकुमार शर्मा व मनीष सिनसिनवार ISBN-81-86027-23-8	2010	350.00
7.	**Various Dimensions of Environmental Ethics** — Kusum Jain ISBN-81-86027-24-6	2011	250.00

University of Rajasthan Foundational Studies

1.	**Studies in Formal Logic** - Biswambhar Pahi ISBN-81-86027-01-7	1993	250.00
2.	**जैव–नीतिशास्त्र की आधारभूत समस्याएँ —** कुसुम जैन, अंजना रानी व शोभा बारहठ ISBN-81-86027-25-4	2005	300.00